॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

* 'पञ्चम' पुष्प *

"तामस-फल" प्रकरण

श्रीमद् भागवत दशम स्कन्ध अध्याय १६-२९

श्रीमद्वल्लभाचार्य (महाप्रभु)

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०), जोधपुर (राज०)

⁜ श्री सुबोधिनी ⁜

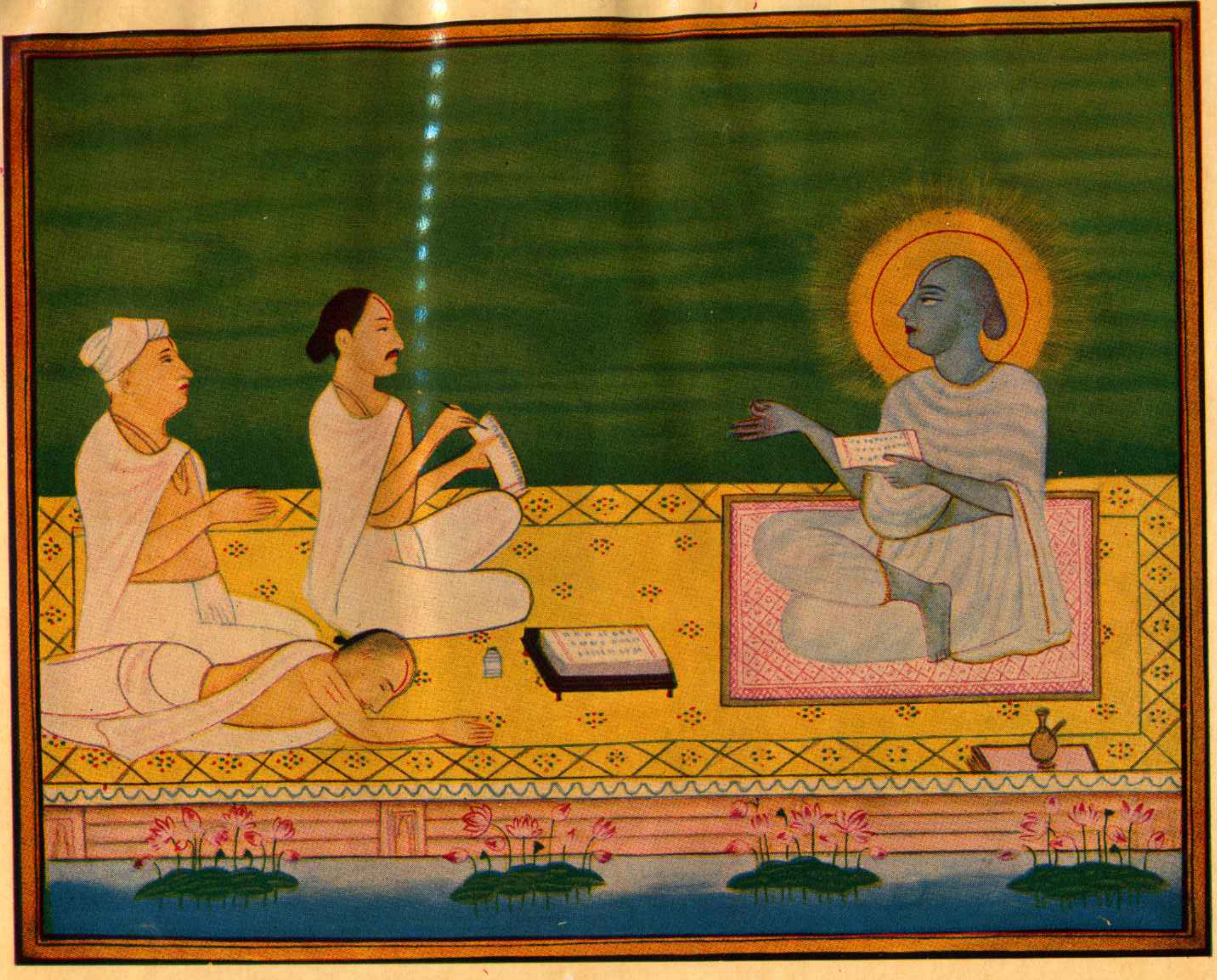

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी
काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी
मेघन

प० भ० श्रीदामोदर-
दासजी हरसानी

अखण्ड भूमण्डलचार्य
चक्र चूडामणी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण
(श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

पञ्चम् पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण-दशम स्कन्ध-पूर्वार्ध एवं उसकी श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

श्री भागवतानुसार अध्याय—२९ से ३५

श्री सुबोधिनी-तामस-फल-उप प्रकरण अध्याय—२६ से ३२

श्री भागवत्पीयूष समुद्रमथन क्षमः ।
तत्सारभूतरासस्त्री भाव पूरितविग्रह ॥ (श्रीमद्वल्लभाचार्य)
श्रीमद्विट्ठलेश प्रभु चरण

सहायक ग्रन्थ—
टिप्पणी— श्रीमद्विट्ठलेश प्रभु चरण
लेख— गो० श्री वल्लभजी महाराज
प्रकाश— गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज
योजना— प०भ० श्री लालूभट्टजी
कारिकार्थ— प०भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

अनुवादक—

प०भ० श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्याभूषण, जोधपुर (राज.) ।

प्रथम आवृत्ति–१०००
दोलोत्सव
फाल्गुन शुक्ला १५
वि.सं. २०२७
दि. १२ मार्च, १९७१

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,
जोधपुर (राज०) ।

सादर भेंट
संस्था सदस्यों
को

॥ श्री हरिः ॥

* श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल *

जोधपुर (राजस्थान);

के

उद्देश्य—

जगद् गुरू श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का राष्ट्र भाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करा कर जन-साधारण निमित्त प्रकाशन कराना।

सदस्यता—

विशिष्ट आजीवन सदस्य—रु. १०००)०० व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंट करके बन सकते हैं।

आजीवन सदस्य—रु. १२५)०० से ९९९)०० तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंट करके बन सकते हैं।

संस्था के प्रकाशन—

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित संस्कृत टीका सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित सदस्यों को भेंट।

सम्पूर्ण दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों की सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद तैयार है जिसमें से प्रथम ३५ अध्यायों का राष्ट्र भाषा हिन्दी में सरल सुबोध अनुवाद पाँच पुष्पों में छप गया है जिसमें से पञ्चम् पुष्प प्रस्तुत ग्रंथ है आगे का खण्ड छप रहा है। सब ही पुष्प सचित्र एवं अष्ट छाप के पदों से सुशोभित एवं मनमोहक हैं।

मुद्रक : हिमालय प्रिन्टर्स, कुम्हारिया कुआ, खाण्डाफलसा, जोधपुर।

॥ श्री हरिः ॥

* श्री सुबोधिनी ग्रंथमाला का पञ्चम् पुष्प *

तामस - फल अवान्तर प्रकरण

★ सामग्री ★

दो शब्द — गो० श्री व्रजभूषणलालजी महाराज-अध्यक्ष
निवेदन — श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) प्रधान मन्त्री
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण का स्वरूप-द्वादश निकुञ्ज भावना (१)
"दशदिगन्त विजयी" गो. श्री पुरुषोत्तमजी महाराज का संक्षिप्त जीवन चरित्र — गो.वा. श्री हरिशङ्करजी ऊङ्कारजी शास्त्री (७)
रास पञ्चाध्यायी पर कुछ विचार — गो.वा. श्री व्रजगोपालजी रस्तोगी (१३)
श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से चुनी हुई कुछ सौरभपूर्ण कलियाँ (२०)
श्री भागवतार्थ प्रकरण (तत्त्वार्थ दीप निबन्ध) — श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण (२२)
श्री तामस-फल अवान्तर प्रकरण की भूमिका — प.भ. श्री फतहचँदजी शास्त्री (२५)

श्रीमद्भागवतानुसार अध्याय	श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय		
२९	२६	रास-लीला का आरम्भ	१
३०	२७	श्री कृष्ण के विरह में गोपियों की दशा	१०५
३१	२८	गोपिका गीत	१६५
३२	२९	भगवान् का प्रकट होकर गोपियों को सान्तवना देना	२११
३३	३०	महा-रास	२५३
३४	३१	सुदर्शन और शङ्ख चूड़ का उद्धार	३१५
३५	३२	युगल-गीत	३४७

अनुक्रमणिका ३९५
शुद्धि-पत्र ३९९

चित्र-सूचि

पृष्ठ

तिरङ्गे चित्र—
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण सुबोधिनीजी लिखवा रहे हैं। आरंभ में
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण का तृतीयात्मक स्वरूप (१)
श्री वृन्दावनेश्वर ११
गोपियों की तन्मयता १२७
गोपियों के बीच में भगवान् का प्रकट होना २१३
महा-रास २५८

इकरङ्गे चित्र—
श्रीमद्वल्लभाचार्यजी मुख पृष्ठ
दशदिगन्त विजयी श्री गो. श्री पुरुषोत्तमजी महाराज (७)

मुख्य संरक्षक

तिलकायत गोस्वामि श्री गोविन्दलालजी महाराज	नाथद्वारा
गोस्वामि श्री व्रजरत्नलालजी महाराज	सूरत
,, ,, व्रजभूषणलालजी महाराज	काँकरोली
,, ,, दीक्षितजी महाराज	बम्बई
,, ,, पुरुषोत्तमलालजी महाराज	कोटा
,, ,, गोविन्दरायजी महाराज	पोरबन्दर
,, ,, रणछोड़ाचार्यजी महाराज प्रथमेश	जतीपुरा
,, ,, व्रजरायजी महाराज	राजनगर
,, ,, घनश्यामलालजी महाराज	कामबन
,, ,, व्रजभूषणलालजी महाराज अध्यक्ष	चौपासनी (जोधपुर), जामनगर

सम्मानित सदस्य

श्रीमान् मोहनलालजी सुखाड़िया, मुख्य मन्त्री, राजस्थान	जयपुर
,, डॉ. गोविन्ददासजी पद्म भूषण सदस्य लोकसभा	नई दिल्ली
श्रीमती सुमतिबेन मोरारजी "पामवन गाँधी ग्राम जुहु"	बम्बई
,, चन्द्रकान्ता आर; भट्ट एम.ए. विले पारले (पश्चिम)	बम्बई

तथा

विशिष्ट आजीवन सदस्यों की ओर से सादर भगवत्स्मरण

परम भगवदीय श्री नन्दलालजी मानधना	जोधपुर	रु. ५०००)
गो.वा. परम भगवदोया श्रीमती सौभाग्यवतीजी मानधना		रु. ५०००)
गो.वा. परम भगवदोय श्री जमुनादासजी मून्धड़ा, बीकानेर द्वारा उनके सुपुत्र श्री जीवनदासजी प्रभृति		रु. ३५०१)
परम भत्रदीय श्री गिरधरदासजी मून्धड़ा बोकानेर एवं उनके सुपुत्र श्री गोविन्ददासजी माधवदासजी प्रभृति		रु. ३५०१)
,, ,, श्री भगवानदासजी अग्रवाल, कलकत्ता		रु. १००१)
गो॰वा॰ श्री ईश्वरलालजी चिमनलालजी बड़ौदा		रु. १००१)
,, ,, श्री व्रजमोहनदासजी विजय, शुजालपुर मण्डी		रु. १००१)
,, ,, श्री वल्लभदासजी राठी, अमरावती		रु. १००१)
,, ,, श्री बाला भाई दामोदरदास ट्रस्ट द्वारा सेठ श्री साकरलालजी अहमदाबाद		रु. १००१)
,, ,, श्री वेलजी भाई चत्रभुजदासजी बम्बई		रु. १००१)
परम भगवदिया श्री काशोबाई बम्बई		रु. १००१)
,, ,, श्री रम्भा बेन विठ्ठलदासजी मोहता बीकानेर		रु. १००१)
,, ,, श्री रामीबाई अग्रवाल लश्कर (ग्वालियर)		रु. १००१)
परम भवदीय श्री रामनारायणजी द्वारा उनके सुपुत्र नन्ददास (रामचन्द्र) एवं ऊङ्कारलाल वर्मा प्रभृति		रु. १००१)

॥ श्री हरिः ॥

दो शब्द

श्रीमद्भागवत महापुराण के बारह स्कन्ध हैं जिनमें भगवान् के १२ अंगों का निरूपण है, इससे श्रीमद्भागवत साक्षात भगवत्स्वरूप है। इसीलिए श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने स्वरचित तत्वार्थ दीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण में आज्ञा की है कि "इतिदं द्वादश स्कन्धं पुराणं हरिरेव सः"। दशम स्कन्ध भगवत्स्वरूप भागवत का हृदय है जिसमें वर्णित लीलाओं द्वारा भगवान् ने भक्तों का निरोध सिद्ध किया है अर्थात् उनको संसार-प्रपञ्च विस्मृति करा के अपने स्वरूप में आसक्ति कराई है। हृदय में जिस प्रकार पञ्च प्राण निवास करते हैं उसी प्रकार रासलीला के पांच अध्याय समस्त भागवत के पञ्च प्राणवत् हैं। उस ही रास पंचाध्यायी का समावेश तामस-फल (उप)–प्रकरण प्रस्तुत ग्रंथ में है।

श्रुति ने परब्रह्म भगवान् कृष्ण को रस स्वरूप कहा है "रसो वै सः"। उस रसेश भगवान् ने पांच प्रकार के रमण द्वारा व्रज भक्तों (श्रुति रूपा एवं ऋषि रूपा गोपीजनों) को रस दान दिया इस बाह्य (रूप) रास लीला को पांच प्रकार से अर्थात् आत्मा, मन, वाक्-प्राण, इन्द्रियां एवं शरीर से सम्पन्न की है जिस रासलीला का वर्णन प्रथम पांच अध्यायों में है तथा अन्तर शब्दात्मिका (नाम-गुण रूप) लीला का निरूपण अन्त के दो अध्यायों में किया गया है। रास लीला का स्वरूप श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण आज्ञा करते हैं कि 'रासो नाम रसेन पूर्णः पदार्थोऽन्य सम्बन्ध रहितः" अन्य (लौकिक वैदिक) पदार्थों का सम्बन्ध जिसमें न हो वैसे रस पूर्ण पदार्थ को रास कहते हैं। उस पदार्थ का विचार कर स्पष्टीकरण करते हैं कि "प्रिया बह स्त्री कर्तृको नृत्य विशेषे भवति" अर्थात् बहुत प्रिया स्त्रियें जिसमें नृत्य करती हैं। यदि भक्त (स्त्रियें) सर्वात्म भाव वाले हों तो ही वह रस प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् भक्त के अन्तःकरण में शरण भावना और सर्वात्म भाव है तो वैसे भक्तों से भगवान् रमण कर उनको रस दान देते हैं, अन्य को नहीं। भजनानन्द रस का पान केवल स्त्रियां ही कर सकती हैं, पुरुष में कृपा शक्ति का प्रवेश हो तथा गोपीजनों का अनुग्रह हो, तो भी जब तक उसमें स्त्री भाव का उदय नहीं हुआ है तब तक वह पुरुष भजनानन्द के रस का पान करने के योग्य नहीं है. इन भावों का विस्तार पाठकों को रास पंचाध्यायी की सुबोधिनी टीका में प्राप्त होगा। आशा है भागवत रसिक भक्त जन इस ग्रंथ के द्वारा भगवद् कथा रस पान कर कृतार्थ होंगे।

मुझे परम हर्ष है कि गो.चि. श्याम मनोहरजी महोदय ने विद्याभ्यास में पूर्णतया संलग्न होने पर भी इस ग्रन्थ का अक्षरशः अवलोकन कर उचित संशोधन से इसके गहन विषय को सुस्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है जो अभिनन्दनीय है। मुझे आशा है इस महान् ज्ञान-यज्ञ में उनसे इसी प्रकार का सहयोग हमें भविष्य में भी प्राप्त होता रहेगा।

संतोषजनक कार्य व्यवस्था होने पर भी कारण वश प्रकाशन में विलम्ब हो ही जाती है, जिसका खेद है। निष्काम कार्यकर्त्ता जिस लगन से कार्य कर रहे हैं सो स्तुत्य है। इत्यलं सुज्ञे।

जामनगर, फा.शु. १३, वि सं. २०२७ **गो० व्रजभूषणलाल**

॥ श्री हरिः ॥

* निवेदन *

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध की सुबोधिनी टीका में दी गई कारिका के अनुसार दशम स्कन्ध को ५ भागों में विभाजित किया गया है, यथा—जन्म, तामस, राजस, सात्विक और गुण प्रकरण। तामस प्रकरण में ४ अवान्तर प्रकरण हैं जिनमें से यह अंतिम उप-प्रकरण फल अवान्तर प्रकरण है जो श्रीमद्भागवतानुसार दशम स्कन्ध के २९ से ३५ तथा श्री सुबोधिनी के अनुसार २६ से ३२ अध्यायों की श्री सुबोधिनी संस्कृत (टीका) का हिन्दी अनुवाद श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला के पञ्चम् पुष्प के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका मुद्रण पाँच मास पूर्व ही हो जाना चाहिए था परन्तु कारण वश ऐसा न हो सका, प्रथम तीन मास तक संस्था का अपना मुद्रणालय स्थापित करने की आशा में समय नष्ट हो गया। उपयुक्त कार्यकर्त्ता जो मुद्रणालय के कार्य को चला सके, न मिलने से मुद्रणालय स्थापित करने के विचार को सम्प्रति स्थगित करना पड़ा। गत दो मास तक बाजार में जिस कागज को इस ग्रंथ में लगाया है उसके न मिलने से मुद्रण कार्य स्थगित रहा। हरि इच्छा कह कर ही संतोष करना पड़ता है। जैसे २ कार्य का अनुभव होता जा रहा है वैसे २ सावधानी एवं सतर्कता बरती जाएगी, इससे आगे का कार्य शीघ्र होने की सम्भावना है, यदि अन्य कोई कठिनाई न आई। श्रीमदाचार्य चरण जिनकी यह कृपा का फल है उन ही की इच्छा से सब कार्य श्रेष्ठ होगा, यह दृढ़ विश्वास है।

पूर्ववत् तत्वार्थ दीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण में से तामस फल उप-प्रकरण सम्बन्धी कारिकाओं का समावेश इस ग्रन्थ में भी किया गया है जिससे श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा भागवत के सात अर्थों का पाठक अध्ययन कर सकें। यथा शक्य अध्याय के अन्त में उस २ अध्याय में वर्णित भगवद् लीला सम्बन्धी पद भी दिए गए हैं जिनसे भगवद्रसिक जन उनको पढ़ कर प्रमुदित हो सकें। श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से सोरभपूर्ण चुनी हुई कलियाँ भी इस ग्रन्थ में दी गई हैं जिनको कंठाग्र करके उनका समय २ पर आनन्द ले सकें।

श्रीमद्भागवत महापुराण के सर्वश्रेष्ठ अङ्ग 'रास पंचाध्यायी' जिसमें जो भक्ति मार्ग का उत्तमोत्तम फल है उसका इसी ग्रन्थ में समावेश है। भगवद्रसिक विद्वानों एवं भक्त जनों का निर्विवाद मत है कि श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध रूपी हृदय में रास पंचाध्याय पञ्च प्राणवत् है। इन पाँच अध्यायों की श्री सुबोधिनी टीका बहुत ही रहस्यपूर्ण है जिसके गूढ भावों को समझना महान् कठिन है, इसीलिए इसका स्पष्टीकरण श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभु चरण ने अपने स्वतंत्र लेखों द्वारा किया है। दशदिगंत विजयी गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज, गो. श्री वल्लभजी महाराज ने भी इस उप-प्रकरण में दिए गए गूढ भावों का क्रमशः 'प्रकाश' एवं 'लेख' द्वारा विपुल मात्रा में सामग्री देकर विषय को समझाने की कृपा की है।

हमारे सौभाग्य से इस ग्रन्थ का अक्षरशः अवलोकन कर उपयुक्त संशोधन सहित भाषा को सुगम व सुबोध बनाने का उदीयमान गोस्वामी चि.श्री श्याममनोहरजी महोदय ने निजपितृचरण श्रीमद् गोस्वामी श्री दीक्षितजी महाराज, सम्प्रदाय के प्रकण्ड विद्वान, के परामर्श से सफल प्रयास किया है। इसका संशोधन करने के उपलक्ष में संस्था अध्यक्ष द्वारा अर्पित पारितोषिक को पूज्य पाद गोस्वामी चिरु श्री श्याममनोहरजी महोदय ने परमोदारता सहित न रख कर उसे संस्था के सदस्य

बनने एवं किशनगढ़ (राजस्थान) में स्थित श्री गोवर्धन पुस्तकालय को इस संस्था के सदस्य बनाने के लिए आज्ञा की है। सम्प्रदाय साहित्य की आपकी यह निष्काम सेवा अतिशय सराहनीय है।

इस ग्रंथ के विषय (सामग्री) के सम्बन्ध में इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि जहाँ सर्वेश्वर सर्वात्मा भगवान् श्री कृष्ण अपने भक्त शिरोमणि व्रज सीमन्तनियों से कहते हैं कि—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधु कृत्यं विबुधायुषापि वः।
याऽमाभजन् दुर्जरगेह शृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

श्रीमद्भागवत-१०-२९-२२

अर्थात्

तब बोले व्रजराज कुँवर हों ऋणी तिहारो। अपने मन ते दूर करो यह दोष हमारो॥
कोटि कल्प लग तुम प्रति अति उपकार करूँ जो। हे मन हरणी, तरणी श्रवनि अरुणी न होऊँ तो॥
सकल विश्व आप बस कर मोहि माया सो हत हैं। प्रेम मई तिहारी माया सो मोहि मोहत है॥
तुम जो करी सो कोउ न करे, सुन नवलकिशोरी। लोक वेद की सुदृढ़ शृङ्खला तृण सम तोरी।

नन्ददासजी कृत रास पंचाध्यायी

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला के प्रथम पुष्प में श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण का, द्वितीय पुष्प में श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभु चरण का, तृतीय पुष्प में श्रीमद् गोकुलेश प्रभु चरण का, चतुर्थ पुष्प में श्रीमद् हरिराय महाप्रभु चरण का तथा इस ग्रंथ में दिशदिगंत गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज जिनने श्री सुबोधीनी टीका पर 'प्रकाश' की रचना की है उनका संक्षिप्त जीवन चरित्र दिया है जिससे पाठक आप श्री द्वारा की गई पुष्टिमार्गीय साहित्य रचना से अवगत हो सकें। साहित्य में महत्पुरुषों के जीवन चरित्र का भी एक विशिष्ठ स्थान है, जिससे पाठक लाभान्वित हो सकें।

प.भ. श्री नारायणजी शास्त्री, नाथद्वारा वाले, ग्रंथ प्रकाशन में जो समय-समय पर साहित्यिक सेवा सम्पादन करते हैं वह अभिनन्दनीय है और उनका यह संस्था मुक्त कंठ से आभार स्वीकार करती है। प.भ. श्री पुरुषोत्तमदासजी पुरोहित के अस्वस्थ होने तथा नेत्रों में मोतिया बिन्द का आक्रमण होने पर भी इस ग्रंथ की अनुक्रमणिका तैयार करने तथा भागवतार्थ प्रकरण की कारिकार्थ का संशोधन करने में जो सेवा अर्पित की है उसके लिए संस्था आपका आभार स्वीकार करती है। अन्य महानुभाव श्री सुबोधिनी ग्रंथ माला के पुष्पों का भण्डार अपने यहाँ रख कर समस्त सदस्यों को यथावत् पुष्पों को पहुँचाने की सेवा में जो सहायता दे रहे हैं वे धन्यवाद के पात्र हैं। प.भ. श्री श्रीनाथजी पुरोहित एव प.भ. श्री नन्दलालजी मानधना पूर्ववत् लगन के साथ कार्य सम्पादन में सहयोग देते हैं सो अत्यन्त सराहनीय है।

मुद्रण में सावधानी से कार्य करने पर भी हम देखते हैं कि अशुद्धियाँ रह जाती हैं जिसका हम को खेद है। श्रीमद्वल्लभाधीश की कृपा से यह कार्य हो रहा है अतः आपसे विनम्रतापूर्वक बारम्बार यही प्रार्थना है कि यह प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सुचारु रूप से पूर्ण हो और इस तुच्छ जीव पर आप श्री के तदीय जनों की कृपा बनी रहे।

प्रवर गोस्वामी आचार्य चरण एवं वल्लभीय भक्त जनों का दासानुदास
नन्ददास (रामचन्द्र)

रास-लीलामृत

बजत कुञ्ज में मञ्जु बांसुरी, ब्रजवधू बँधी प्रेम रास री।
घर तजी गयी कृष्ण पासरी, शरदचन्द कीनो उजासरी ॥
हरि कियो तबे मन्द हास री, निरखिके भयो ताप नास री।
सुमन कुञ्ज राजे विकास री, भ्रमर पुञ्ज गुञ्जें सुवास री ॥
गुन भरी तिया रूप रास री, पुनप्रवीन हे प्रेम गांस री।
अतनुमोद भाव प्रकास री, मिल गोपाल कीने विलास री ॥
मदगुमान ही जान तासुरी, हृदय में छिपे श्री निवास री।
विरह जात बाढ़ो हुतास री, तरु लतान पूंछे उदास री ॥
सघन कुञ्ज कीनी तलास री, गुन कथा रची याही आस री।
भरत नैन ऊँचे उसास री, करि कृपा मिले पीत वास री ॥
वदन कञ्ज है चारु हास री, मदन मान जातें निरास री।
कर गहे जुरी आस पास री, भरत अङ्क बाढ़ो हुलास री ॥
अधर पान कीने जू प्यास री, मिटत नाहिं जैसे उपास री।
लिपट श्याम सूँ ऐसी भास री, घन सुदामिनी भास मास री ॥
करत कृष्ण के सङ्ग रास री, सरस राग गावें हुलास री।
सुरजु सप्तनी के निकास री, मुरज बीन बाजे मिठास री ॥
बजत मञ्जु मञ्जीर लास री, नाचत मोर नाचे अवास री।
सुर-विमान छाये प्रकास री, परत पुष्प वृष्टि तहाँस री ॥
कट गई तबे गेह फाँस री, हर गयो जू संसार त्रास री।
चरन मांझ ढीजे निवास री, सरन गोकुलाधीशदास री ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण का तृतीयात्मक स्वरूप

प्रकटित
सौन्दर्यं निजहृदगतं स्त्री गूढ भावात्मकं ।
पुंरुपश्च पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत् स्वप्रिये ॥
संश्लिष्टावुभयोर्बभौ रसमयः कृष्णोहि तत्साक्षिकम् ।
रूपं तत्त्रितयात्मकं परमभिद्ध्येयं सदा वल्लभम् ॥

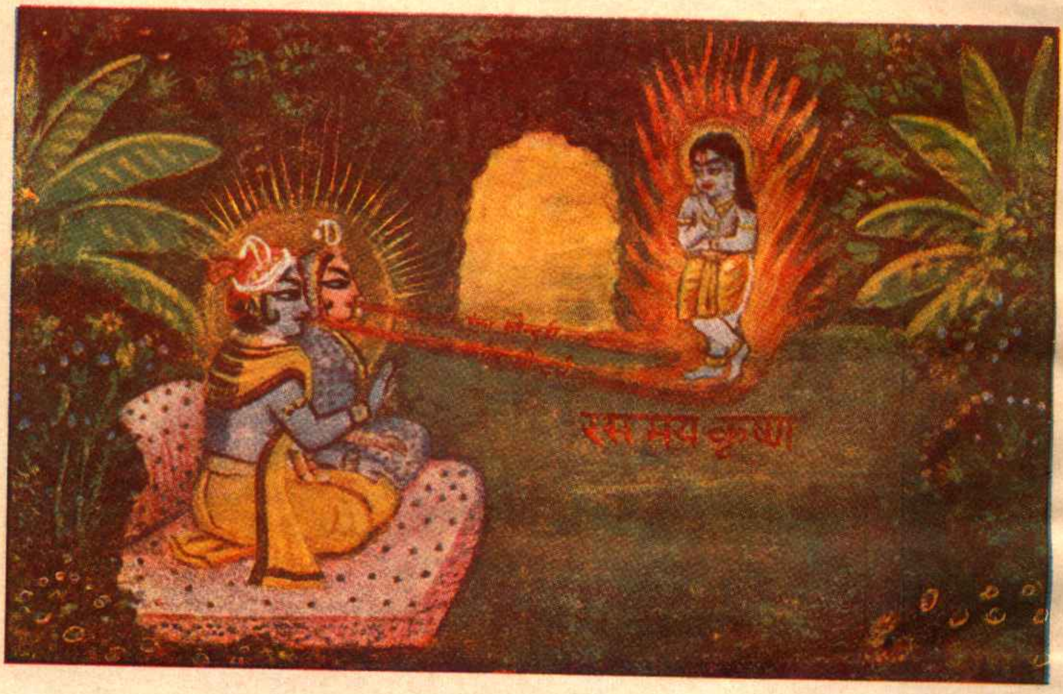

श्री भगवान् स्वयं के हृदय में बिराजा हुआ स्त्री गूढ भावात्मक और पुम्भावात्मक सौन्दर्य जो प्रकट किया वह, उसी प्रकार श्री स्वामिनीजी के हृदय में विराजमान स्त्री पुम्भावात्मक सौन्दर्य फिर से प्रकट किया वह, (इस प्रकार दोनों स्थलों का और दोनों प्रकार का सौन्दर्य) अपने प्रिय स्वरूप श्री वल्लभाचार्यजी में श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया। वे दोनों प्रकार के स्त्री पुम्भाव का संयोग होते हुए रसात्मक श्रीकृष्ण ही अपने प्रिय स्वरूप के साथ एक रस होकर शोभित हुए। जिनके साक्षी जो तीनों जिसमें समाए हुए हैं, उन श्रीमद्वल्लभाचार्य के स्वरूप का नित्य उत्तम रीति से ध्यान करें।

।। श्री हरिः ।।

रसार्णव रसेश श्री कृष्णवदनानलावतार श्री मद्वल्लभाचार्य चरण का तृतीयात्मक स्वरूप

प्रकटितं
श्लोक—सौन्दर्यं निजहृद्गतं स्त्री गूढ भावात्मकं ।
पुंरुपश्च पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत् स्वप्रिये ।।
संश्लिष्टावुभयोर्बभौ रसमयः कृष्णोहि तत्साक्षिकम् ।
रूपं तत्त्रितयात्मकं परमभिद्ध्येयं सदा वल्लभम् ।।

अर्थ—श्री भगवान् स्वयं के हृदय में बिराजा हुआ स्त्री गूढ भावात्मक और पुम्भावात्मक सौन्दर्य जो प्रकट किया वह, उसी प्रकार श्री स्वामिनीजी के हृदय में विराजमान स्त्री पुम्भावात्मक सौन्दर्य फिर से प्रकट किया वह, (इस प्रकार दोनों स्थलों का और दोनों प्रकार का सौन्दर्य) अपने प्रिय स्वरूप श्री वल्लभाचार्यजी में श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया। वे दोनों प्रकार के स्त्री पुम्भाव का संयोग होते हुए रसात्मक श्रीकृष्ण ही अपने प्रिय स्वरूप के साथ एक रस होकर शोभित हुए। जिन के साक्षी जो तीनों जिसमें समाए हुए हैं, उन श्रीमद्वल्लभाचार्य के स्वरूप का नित्य उत्तम रीति से ध्यान करें।

जिन श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के रसात्मक एवं भावात्मक स्वरूप का वर्णन उपरोक्त श्लोक में है, वे तामस फल उपप्रकरण में रसेश श्री कृष्ण चन्द्र की रसमयी रास लीला के गूढ रहस्य को प्रकट करने में परम दक्ष हैं, इससे ही श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभु चरण ने जो सर्वोत्तम स्तोत्र में आप श्री के निम्न नाम प्रकट किए हैं वे यथार्थ हैं।

श्लोक—श्री भागवत पीयूष समुद्र मथनक्षमः ।
तत्सार भूतरासस्त्री भाव पूरित विग्रह ।।
सान्निध्यमात्रदत्त श्रीकृष्ण प्रेमा विमुक्तिदः ।
रासलीलेक तात्पर्यः कृपयैतत्कथा प्रदः ।।

अर्थात् (नाम संख्या) ४१—श्री भागवत रूपी अमृत-समुद्र का मंथन करने में समर्थ, ४२-श्रीमद्भागवत के सार भूत गोपीजनों के भावों में परिपूर्ण, ४३—सान्निध्य मात्र से श्रीकृष्ण के प्रेम का दान करने वाले, ४४—पुष्टि मार्गीय मुक्ति के दाता एवं, ४५—रासलीला में तात्पर्य सहित उस (रासलीला) के भावों को भली प्रकार कथा के रूप में प्रकट करने वाले श्री महाप्रभुजी हैं।

आप श्री के भावात्मक एवं रसात्मक स्वरूप के उपरोक्त वर्णन का कथानक जिस प्रकार आप श्री के कृपा पात्र भगवद्रसिक महानुभावों से प्राप्त हुआ है उसका कुछ उल्लेख इस ग्रंथ में करने का विनम्र प्रयास किया गया है, सो अप्रासंगिक प्रतीत नहीं होगा । अनेक परम भगवदीय वैष्णवों तथा सम्प्रदाय के विद्वानों से पूछताछ की गई, कि कहीं से आचार्य चरण के तृतीयात्मक स्वरूप के चित्र के सम्बन्ध में आख्यायिका के रूप में कुछ उपयुक्त सामग्रो प्राप्त हो परन्तु कार्य सिद्धी नहीं हुई । यही चर्चा बम्बई में बहिन श्रीमती चन्द्रकान्ताजी भट्ट एम. ए. के सन्मुख की, उनने तुरन्त ही एक हस्त लिखित प्राचीन पुस्तक मुझे दी और कहा कि इससे आपके मनोरथ की पूर्ति होगी । इस पुस्तक में श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण का प्राकट्य भूतल पर कैसे हुआ उसका वर्णन उपरोक्त चित्र के अनुरूप है । यह चित्र बहुत वर्षों पूर्व गो. वा. प. भ. श्री द्वारकादासजी परीख द्वारा श्री वल्लभीय सुधा, द्वैमासिक पत्र, में दिया गया था पर इसका कथानक उनकी उस पत्रिका में दृष्टिगोचर नहीं हुआ अतः उसका अन्वेषण करना पड़ा । प्राप्त ग्रंथ व्रज भाषा में है । अतः उसकी भाषा ज्यों की त्यों ही रखी गई है क्योंकि यह हमारे आराध्यदेव, निकुञ्जनायक भगवान् वृन्दावन बिहारी की मातृ भाषा होने से सरस, आकर्षक देव वाणी है, जिससे पुष्टि सम्प्रदाय में माननीय है ।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के प्रागट्य के सम्बन्ध में एक रहस्य वार्ता प. भ. श्री व्रजदासजी वल्लभदासजी दावड़ा से भी इचलकरंजी 'महाराष्ट्र' में सुनी थी । जिसका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है :—

गोलोक में एक बार निकुंजनायक भगवान् श्रीकृष्ण को श्री ललिताजी ने अपने निकुंज में पधारने के लिए निवेदन किया । अतः रसिक नन्दनन्दन ने, जो अपने भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने में सदैव तत्पर रहते हैं, प्रेमादर से की हुई प्रार्थना स्वीकार कर ली । इसलिए श्री ललिताजी ने निज मण्डली को आमंत्रित किया और निकुंज को उत्तमोत्तम ढंग से सजाया । परम उत्साह से कई प्रकार की सामग्रियाँ सिद्ध करवाई गई और निश्चित समय पर वे श्री ठाकुरजी के पधारने की प्रतीक्षा करने लगी । गोलोक में काल का कुछ भी नियंत्रण नहीं है सो रात्रि छ महीनों तक रही, इससे श्री ललिताजी के हृदय में श्री ठाकुरजी के न पधारने से बहुत क्षोभ हुआ जब उनको अपने सेवकों द्वारा यह सूचना मिलो की प्रभु श्री चन्द्रावलीजो की निकुंज में विराज रहे हैं और हमारी निकुंज में आप श्री का अब पधारना स्थगित रहा ।

जब श्री ललिताजी की भेट चन्द्रावलीजी से हुई तो उन ने श्री चन्द्रावलीजी को श्री ठाकुरजी को इतने समय तक रोक लेने का उपालम्भ दिया और दुःखित हृदय से श्राप दिया कि आपका भूतल पर प्रागट्य हो और आपको भी छ मास का श्री ठकुरजी से वियोग हो । यह सब कार्य श्री ठाकुरजी की इच्छा से हुआ क्योंकि आप श्री को अपने रसात्मक लीला का आनन्द भूतल पर प्रकट करना था ।

यह सुनकर श्री चन्द्रावलीजी ने उत्तर दिया कि यदि आप ऐसा कहती हैं तो आपको भी इस श्राप का फल भोगना पड़ेगा और अन्त में मेरे द्वारा ही आपका कल्याण होगा । इस दुर्घटना का प्रसंग श्रीठाकुरजी एवं श्री स्वामिनीजी (जो निकुंज में विराजमान थे) के सन्मुख आया अतः

दनों स्वरूपों को अपने प्रिय भक्तों के पारस्परिक श्राप से हृदय में दुःखद विरह हुआ और उसके फल स्वरूप दोनों के मुखारविंद से एक २ ज्वाला निकल कर एकत्रित हुई जिससे एक श्याम वर्ण परम सुन्दर स्वरूप का प्राकट्य हुआ जो दोनों स्वरूपों को परम प्रिय होने से श्री वल्लभ धन्य नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री वल्लभ ने किसी सेवा के लिए प्रार्थना की, तब उनको आज्ञा हुई कि श्री चन्द्रावलीजी निकुंज समेत भूतल पर पधार रहे हैं सो आप उनको वहां से पधराकर गोलोक में लावो। इस प्रकार स्वामिनीजी के विरह भावात्मक स्वरूप श्री ठाकुरजी के मुखारविन्द से प्रकट होने से आप का वदन+अनल अवतार हैं, श्री मद्विट्ठलेश प्रभुचरण का आधिदेविक स्वरूप श्री चन्द्रावलीजी का है। श्री कृष्णदासजी अधिकारी का आधिदेविक तामस स्वरूप श्री ललिताजी का है जिनने छ मास के लिए श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभु चरण को श्रीनाथजी के दर्शनों से वियोग कराया। इस अपराध से श्री कृष्णदासजी की अचानक कूवे में गिरने से देह छूटी और उनको प्रेतयोनि प्राप्त हुई, जिससे फिर श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभु चरण की कृपा से ही वे मुक्त हुए।

इस वार्ता का समर्थन कुछ अंशों में चौरासी वैष्णवों की तीन जन्म की वार्ता में, श्री कृष्णदासजी अधिकारी की वार्ता से–होता है।

श्री द्वादश निकुञ्ज की भावना से प्राप्त प्रसंग निम्न प्रकार से है :—

जो एक समय कृष्णदास अधिकारी ने श्री गुसांईजी को श्रीनाथजी के मन्दिर में आयवे को बरजेहते। जो तुम श्रीनाथजी के मन्दिर में मती आवो। श्रीनाथजी की सेवा को अधिकार श्री आचार्यजी ने मोको सोंप्यो है। सो हों अधिकारी हों और श्री आचार्यजी के पुत्र गोपीनाथजी हैं, सो टीकेत तो वे हैं, और श्री गोपीनाथजी के पुत्र श्री पुरुषोत्तमजी हैं, सो वे धनी हैं। सो श्रीनाथजी की सेवा सिंगार तो वे करेंगे, सो ताते मन्दिर में मती आओ। ऐसे कृष्णदास अधिकारी ने गुसांईजी कूं बरजे। तब श्रीगुसांईजी कृष्णदास कूं श्री आचार्यजी महाप्रभुन को सेवक और श्रीनाथजी को अधिकारी जानके आज्ञा मानत भये। सो तब गुसांईजी मास ६ पर्यन्त श्रीनाथजी द्वार पाँउ न धारे। तब पारासोली पधारे। तहां श्री आचार्यजी महाप्रभुन की बैठक के दर्शन किए पाछे बैठक के सनिधान बैठके श्रीभागवत को पारायण किए ता समय तहां दामोदरदास हरसानी आए, सो दंडवत करके बैठे। पाछे श्रीभागवत को पारायण सम्पूर्ण भयो, सो तब दामोदरदास हरसानी ते, श्री गुसांईजी ने कह्यो, जो दामोदरदास! तुम श्री आचार्यजी महाप्रभुन को प्रागट्य और दैवी जीव लीला में ते बिछुड़े हते, इनको अंगीकार कैसे भयो, सो यह प्रसंग विस्तार करि के कहो। काहे ते, जो तुम्हारे हृदय में आचार्यजी महाप्रभुजी बिराजत हैं सौ यह प्रसंग आचार्यजी महाप्रभुन बिना कौन कहे तथा और को कैसे जानि पड़े। सो तब यह बात सुनि के दामोदरदास ने कही, जो सांची बात है। जो श्री आचार्यजी की लीला तो श्री आचार्यजी ही जाने और जीव की तो गम्य नाहिं जो श्री आचार्यजी की बात कहे। जो मो सों एक समय श्री आचार्यजी महाप्रभु आप अपने श्री मुख सों कहे हते, सो प्रसंग मैं तुमसों कहेत हों, सो आप सुनिये। जो एक समें, लीला में ये दैवी जीव, कछु प्राकृति अनुमाया को देखिके, इनने श्री ठाकुरजी की प्राकृत रमण की वासना कीनी सो इनके अन्तः करण की वासना श्री स्वामिनीजी ने जानी, सो ता समय श्री स्वामिनीजी ने इन भक्तन पे क्रोध कियो। सो तब अपनी एक सखी सों कह्यो जो ऐसे विषय वासना वारे जीवन को भूतल विषे डारि देउ। ऐसी तीन वार आज्ञा श्री स्वामिनीजी की भई। तब उन दैवी जीवन को भूतल में डार दिये। सो निज धाम ते,

देवी जीवादिकन सों बिछुड़े, सो ताको, अनेक अगणित कल्प विकल्प भये सों वे जीव, निज धाम सों बिछुड़े सो मूल सदन (ब्रह्म सदन) आये । सो वेद की ऋचा भई । तहाँ ते ब्रह्मा के सरीर में प्रवेश भये । सो ता समे ब्रह्मा यज्ञ करत हते । ता समें ब्रह्मा महा काम आतुर भये । पाछे खलित भये । तब वह धातु एक दोना में लीनो, तब ब्रह्मा ने सब ऋषीन सों पूछी, जो यह पात्र कहा धरें, तब ऋषीन ने कही जो अग्नि में डार देवो, तब ब्रह्मा ने अग्नि में डार दीनो । सो तहां ते, एक पुरुषाकार अगिणित उत्पन्न भये तब ब्रह्मा के आगे ढ़ाडे भये, तब ब्रह्मा सों कह्यो जो हमको कहा आज्ञा है । सो तब ब्रह्मा ने कह्यो जो तुम तप करो पाछे सृष्टि करो, तब ये तप को चले, सो अग्नि द्वारा उत्पन्न भये ताते अग्निकुमार इनको नाम है, सो अग्निकुमार सब ही तप को चले, तब मार्ग में नारदजी को समागम भयो, तब नारदजी ने अग्निकुमारन सों पूछ्यो जो, तुम कहां जात हो, तब अग्निकुमारन ने कह्यो जो हम तप को जात हैं हमको ब्रह्मा की आज्ञा है जो तुम तप करो और पाछे आय के सृष्टि करो । तब नारदजी ने उन अग्निकुमारन सों कह्यो जो तुम तप करके पाछे आओ मति सृष्टि करो मती और हों तुमको स्थल बताऊ तहां तुम जायके तप करो, जो विंद सरोवर के इहां एक आछि गुफा है तहाँ तुम जाइ के सब तप करो । पाछे नारदजी ने उनसों द्वादसाक्षर मंत्र को उपदेश करचो, पाछे नारदजी सों आज्ञा मांगि के बैठे सो अग्निकुमारन ने वा गुफा में जाय के तप करचो, तव तप करिके उनको ब्रह्म वदन भरि अंतर ज्ञान भयो, दर्शन भयो, तव उननें विचारी जो या पुरुष में तो अहंत्व है, याते यह भाव भलो नहीं, ता पाछे उनने स्त्री भाव सों भगवत् भजन तप कर्यो, तब थोड़े से दिन में उनकूं भगवत दर्शन भयो और आज्ञा भई जो तुम चिंता मती करो थोड़े से दिन में कृष्ण अवतार होयगो सो तब तुम्हारे सकल मनोरथ सिद्ध होयेंगे । जो प्रथम सारस्वत कल्प में श्रीकृष्णावतार भयो, उनके तीन तीन स्वरूप भये । सत्व गुन करिके श्री द्वारका में सोरह हजार स्त्री श्री ठाकुरजी की भई, सो भौमासुर को मारके राजकन्या श्री ठाकुरजी की मूर्तिए कही सबको अंगीकार किए, और जो रजोगुण, करि के मथुरा में स्त्री भईं, सो एक एक गुण के तीन तीन भाव भए सो कंस को मारि के नेत्र द्वारा इन स्त्रीन को अंगीकार किए और कितनीक स्त्रीन को गुण द्वारा कुबिजादिकन को अंगीकार किए और तमोगुण करि के व्रज में जो स्त्री भईं, सो एक एक गुण के तीन तीन भाव भये । सात्वकी-सात्वकी, सात्वकी-राजसी और सात्विक तामसी । ऐसे राजसी-राजसी, राजसी-सात्विकी और राजसी-तामसी । ऐसे तामसी-तामसी, तामसी-सात्विकी और तामसीं-राजसी । ऐसे एक एक गुण के तीन तीन भाव भये और निर्गुण प्रकार ते न्यारे भए । ऐसे दश प्रकार के भक्त भए, तामें चार प्रकार के भक्त व्रज में हैं, सात्वकी और राजसी भक्त व्रज में नहीं हैं । तामसी-तामसी, तामसी-सात्विकी तामसी-राजसी और निरगुण ऐसे चार प्रकार के भक्त व्रज में भए, तामें रास रमण समें जो भक्त अंतग्रह में हते उनने देह सम्बन्धी पति, तिन ने रोकी पाछे विरह ताप करिके सबसे पहले प्रभु जी में आय मिली सो तामसी-तामसी हती और तामसी-राजसी भक्त जो कात्यायनी देवी को व्रत करि आराधि के प्रभु को, नंदसुत, पति मांगे और गोप भारयान में दो भाव हैं, एक तो तामसी-सात्विक और दूसरे निरगुण भक्त, सो जब रासलीला में श्री ठाकुरजी सम्पूरण रात्रि करें, पाछे जब प्रातकाल भयो और जब थोरी सी रात्रि रही, जा 'समे' केती त्रीय ऊंचे, देव स्त्री अंतरक्ष में परस्पर बातें कहते, जो हम हमारे पति संग ऐसो विलास करेंगे । सों देव स्त्रीन को श्री ठाकुरजी को दर्शन तो नाहीं वहां तो मंडलाकार आव्रत हैं, याते देव स्त्रीन को नाद द्वारा ज्ञान है, उन नूपुर को नाद सुनि के देव स्त्री प्राकृत जीव को रमन मन में बिचारे, सो प्राकृत धर्म तो श्री ठाकुरजी विषे तो नांही परि ता समय कितनेक भक्तन नें देव स्त्रीनके

बचन सुनि के ऊंचे देखे, जो ये स्त्रीजन बोलत हैं और कितनेक भक्त श्री ठाकुरजी की ओर देखत हैं सो तिनको तो लेके श्री ठाकुरजी निज धाम पधारे और जिन भक्तन को देव स्त्रीन के वचन सुनि के मोह भयो, सो तिनको श्री ठाकुरजी छोड़ि के निज धाम पधारे । सो उन भक्तन में द्वै भाव हते, एक तो प्रातःकाल भयो तब मन में बिचारे जो अब तो श्री ठाकुरजी हमको छोड़ ही पधारे हैं और प्रातःकाल भयो, याते अब हम घर जांय, ऐसे विचारि के वे भक्त घर गए । पति देह सम्बन्धीन को भय मानी के, सो वे भक्त तामसी-सात्विकी जाननो । और कितनेक भक्तन ने श्री ठाकुरजी के विरहताप को क्लेश करिके वह देह छोड़ि के परित्याग करचो सो जिन भक्तन ने विरह करिके देह छोड़ के परित्याग करचो सो तिनको निरगुण भक्त जाननो । सो जो भगवदीय प्रातः काल उठि के घर गए सो श्री ठाकुरजी को यह बात नाही सुहाई, पाछे से ठाकुरजी केतेक दिन में श्री मथुराजी पधारे तबहूं केतेक भक्तन ने विरह ताप क्लेश करि के देह छोड़ी ता पाछे वे भक्त श्री ठाकुरजी सों जाय मिले । ता पाछे और भक्तन में संतोष करि के रहे, परि श्री ठाकुरजी को यह बात सुहाई नांहि, पाछे ठाकुरजी द्वारिका पधारे तब कितनेक भक्त रहे सो वे प्रभुजी ते विमुख भए सो तब उनको चेंटी ते लगाय कुंजर पर्यन्त चौरासी फेरा भए । ऐसे अगनित लक्ष चौरासी योनि गर्भवास भए परन्तु पार न आवे, प्रभुजी को मिले नाहीं ।

और लोकिक प्रथा मांही, प्रथा के आचरन करिके, आसुरी प्राय, देवी जीव भए, महा दूषित भए परि इनको तो माया के मोह करिके; वा सुधि, सब विसरी । माया ते त्रिविधा मोहित भए, सो वे या माया अविद्या के बस भए याते प्रभुजी को आश्रय तो सब ही छूटचो । तब श्रीनाथजी को विन जीवन की सुधी आई तब श्रीनाथजी ने इनके पूर्व संबंधी भक्तन को सुधी करवाई और जे सब दिखाए, तब वे निज धाम के भक्तन को, इनको विरह ताप भयो और महा दुखित भए तब श्री स्वामिनीजी इन भक्तन को दुःखी उदास देखी आपु ही दुःखित होई के क्लेश करन लागे, सो तब उदास होइ के श्री स्वामिनीजी ने श्रीनाथजी सों विनती कीनी सो इन जीवन के लिए कछु बिचारि के उपाय करिए तो ये वेगी ही आयके इन भक्तन सों मिले तब श्रीनाथजी ने कह्यो जो इन जीवन को वेगी ही मिलनो तो कठिन है काहे ते जो इनको प्रालब्ध संचार और क्रीयमान पाप पुन्य अनित्य जन्म के अत्यंत हैं सो वे कर्मानुसंधान सब ही छूटे, सो तो विन आसुरी जोवन को मोह छोड़नो कठिन है काहे ते जो ये आसुरी जीवन में रचि रह्य हैं सो उन आसुरी जीवन को संग छोड़नो कठिन है और वे आसुरी जीव याके देह सम्बन्धी हैं सो इनको छोड़ें नांही । इनको निखिल भगवत धर्म करन देत नाहीं है, याते ये तो यहां आवने कठिन है ता पाछे ऐसे कहि के श्री ठाकुरजी व श्री स्वामिनीजी भक्तन को क्लेश यूं देखि के, चिंतातुर भए और बड़े दुःखित भए, जो अब कौन उपाय करिए, पाछे, श्रीनाथजी को महा विरह ताप क्लेश भयो सो अत्यंत ताप भयो सो श्री मुख ते अग्नि की ज्वाला निकसी सो श्री स्वामिनीजी हूँ के श्री मुख ते निकसी सो दोऊ ज्वाला एकत्र भई तब वा अग्नि ज्वाला में ते घनो सुन्दर स्वरूप प्रगट भयो तब वा सुन्दर स्वरूप ने श्रीनाथजी और श्री स्वामिनीजी सों प्रार्थना करी जो हमको कहा आज्ञा है, सो तब श्रीनाथजी ने कह्यो जो तुम भूतल पे पधारो और दैवी जीव इहां ते बिछुरे हैं सो घने दिन भए हैं सो वे असुर प्रार्थ भए हैं और तेहुँ निषिद्ध भए हैं सो उन जीवन कूं वेगही मिलावो । ऐसे वचन श्रीनाथजी ने श्री आचार्यजी सो कह्यो तब श्री आचार्यजी महाप्रभु उन दैवी जीवन के उद्धारार्थ भूतल पर पधारे सो प्रथम तैलंग देश में पधारे, काकरवार नाम है । तैलङ्ग ब्राह्मण, नारायण भट्टजी रहते सो तिनने सोम यज्ञ करचो है और श्री ठाकुरजी की भक्ति

दृढता सों करे हैं, मर्यादा मार्ग की रीत सों भजन करते सो श्री ठाकुरजी नारायण भट्ट ऊपर बहुत प्रसन्न भए तब श्री ठाकरजी ने कह्यो जो तूं मांगी, हों तेरे ऊपर प्रसन्न हूं तूं मांगी। तब इन नारायण भट्ट ने कह्यो जो तुम प्रसन्न भए, इतने में ही हमारी सब कामना पूरण भई। अब तुम हमको हूँ भक्ति दीजिए इतनी कृपा कीजिए। तब इनके वचन सुनि के श्री ठाकुरजी अत्यंत प्रसन्न भए और कह्यो जो हमारे भक्त को प्रागट्य होयगो याते तुम कह्यो सो तुम्हारे सब ही मनोरथ सबहू पूर्ण होंगे और तुम्हारे वंश में प्रगट होऊंगो। ऐसे श्री ठाकुरजी के वचन सुनि के नारायण भट्ट घने प्रसन्न भए सो नारायण भट्ट सोमयागी तिनके पुत्र लक्ष्मण भट्ट सोमयागी, ताके पुत्र तीन, एक तो रामकृष्ण भट्ट एक श्री वल्लभाचार्यजी और तीसरे पुत्र केसोपुरीजी, सो केसोभट्टजी ने केतेक दिन पाछे सन्यास ग्रहण कियो सो केसोपुरी इनते सब कोहु कहते सो केसोपुरी सन्यास ग्रहण करिके पृथ्वी परिक्रमा फिरते। और रामकृष्ण भट्ट को तो आगे वंस नाही। सो श्री लक्ष्मण भट्टजी की स्त्री इलमागारुजी। सो इलमागारुजी के गर्भ में श्री वल्लभाचार्यजो अग्निताप-भावात्मक स्वरूप प्रगट भए सो श्री ठाकुरजी श्री स्वामिनीजी ने ताप भावात्मक स्वरूप सों कह्यो जो तुम भूतल पे पधारो और दैवी जीवन को उद्धार करिके वेगि ही हमको मिलो सो उपाय कीजिए सो श्री महाप्रभुजी श्री वल्लभाचार्यजी ने विचारचो जो इन जीवन को बोध करनो और ज्ञान उत्पन्न होय सो तो सेवक को काम है। काहे ते श्री आचार्यजी महाप्रभु आपने श्री मुख सो बोध करे और अपनी बड़ाई करे सो स्फूर्त होय नाहीं, सों ऐसो विचार के मोको आज्ञा दी, जो तुम भूतल में प्रगट होऊ ऐसे दामोदरदास ने श्री गुसांईजी सों कही।

कृपासिधु श्री लक्ष्मणनंद।
भक्तन हित प्रगटे हैं भुव पर कृष्ण वदन बृंद वनचंद ॥१॥
तबही वेणुद्वार गोपिनकों सींचत रसमय परमानन्द।
अबही इलंमाकूख उदय व्है दैवी जन वचनामृत आनन्द ॥२॥
साकार युगल रास रसिकनी अंबुज में वेणुमकरंद।
दे चरनोदक शरन लिये जे त्रिविध ताप टारे दुःखद्वंद ॥३॥
तुम हो परम उदार महाप्रभु गावत नेति नेति श्रुति छंद।
तव गुनगनित शेष नहि पावत क्यों बरणे वल्लभ मतिमंद ॥४॥

टिप्पणी—श्रीद्वादश निकुञ्ज की भावना से इस प्रसंग से आगे श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के चम्पारण्य में प्रगट होने की वार्ता है जो अन्यत्र सामान्यतया प्राप्त होती है। अतः यहां पर आवश्यकतानुसार इतना ही प्रसंग दिया है।

दशदिगंत विजयी
गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

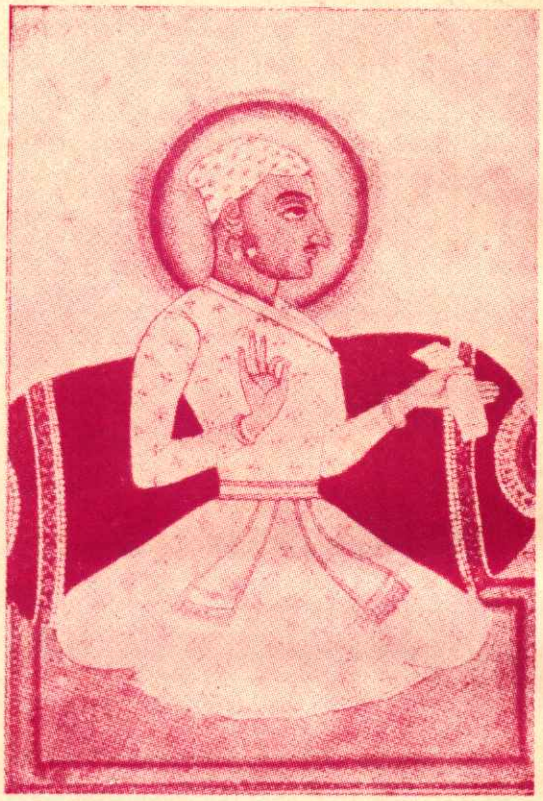

प्राकट्य-दिवस—वि.सं. १७२४ भाद्र शुक्ल एकादशी (दान एकादशी)
नित्य लीला-प्रवेश—विक्रम सम्वत् १८२०

दश दिगंत विजयी

गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

जन्म एवं वंश परिचयः –

अखण्ड भूमण्डलाचार्य चक्रचूड़ामणि शुद्धाद्वैत अखण्ड ब्रह्मवाद के संस्थापक अनन्त श्रीविभूषित श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के पवित्र वंश में गो० श्री पुरुषोतमजी महाराज का प्राकट्य वि० संवत् १७२४ के भाद्रपद शुक्ला एकादशी अर्थात् दान एकादशी के शुभ दिवस श्रीमद्गोकुल में हुआ था। आप श्री का वंश परिचय इस प्रकार हैः—

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के द्वितीय पुत्र श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभु चरण जिनके तृतीय पुत्ररत्न श्री बालकृष्णजी महाराज, जिनके चतुर्थ सुपुत्र श्रीपीताम्बरजी, जिनके प्रथम पुत्र श्रीश्यामलालजी तिनके प्रथम पुत्र श्रीव्रजपालजी एवं द्वितीय पुत्र श्रीव्रजरायजी महाराज। श्रीपीताम्बरजी के द्वितीय सुपुत्र श्रीयदुपतिजी, तिनके सुपुत्र श्री पीताम्बरजी, जिनके सुपुत्र श्री पुरुषोत्तमजी महाराज हैं।

आप श्री के पितृचरण गो० श्री पीताम्बरजी महाराज तथा आपके ब्रह्मसम्बन्ध करानेवाले गुरु श्री बालकृष्णजी के द्वितीय सुपुत्र श्री व्रजनाथजी महाराज के सुपुत्र श्री कृष्णचन्द्रजी महाराज थे। श्री व्रजराजजी महाराज आपके पितृव्य ने सूरत में श्रीबालकृष्णजी प्रभु का मंदिर बनवाया था जिनकी कृपा से श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज को श्री बालकृष्णलाल की सेवा प्राप्त हुई थी।

विद्याभ्यास और ग्रन्थ प्रणयन––

श्रीमत्पुरुषोत्तमजी महाराज के अगाध पांडित्य के सम्बन्ध में निम्न लिखित आख्यायिका सम्प्रदाय में प्रचलित है।

गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ७ वर्ष के बालक थे उस समय अप्पय्य दीक्षित जो माने हुए मायावादी बिद्वान थे सूरत में आए और उन्होंने शुद्धाद्वैत मतानुयायी वैष्णवों को शैवमत का उपदेश करना प्रारम्भ किया और साथ ही यह भी कहा कि शुद्धादैत अनुयायी आचार्यों को चाहिए कि वे मुझ से शास्त्रार्थ करें। महाराज श्री बालक थे, आपके मातृचरण ने कह दिया कि तीन दिन के पश्चात् मेरे लालजी (श्री पुरुषोत्तमजी) शास्त्रार्थ करेंगे। तदनुसार अपने बालक को शास्त्रार्थ के लिए सज्ज होने की आज्ञा दी। मातृचरण की आज्ञा पाकर श्री पुरुषोत्तमजी ने तहखाने में–एकान्त में श्री बालकृष्णजी के समीप तीन दिन तक श्री सर्वोत्तम स्तोत्र का अखण्ड जप किया। (कोई कहता है कि त्रिविधनामावली का जप किया।) तीसरे दिन श्री बालकृष्णजी और श्री महाप्रभुजी ने स्वयं प्रकट होकर विद्यादान दिया। इससे ज्ञात होता है कि श्री पुरुषोत्तमजी को अगाध पाण्डित्य श्री बालकृष्णजी और श्रीमदाचार्यजी की कृपा से ही प्राप्त हुआ है। आपने उपनिषदों के भाष्य, व्यास सूत्रों के यावत्प्राप्य भाष्य एवं पूर्वमीमांसा का भली प्रकार अध्ययन किया है।

श्री पुरुषोत्तमजी महाराज पर दो गोस्वामियों का उपकार हुआ है, एक श्री व्रजराजजी और

दूसरे श्रीकृष्णचन्द्रजी । श्रीव्रजराजजी की कृपा से आपको श्री बालकृष्णजी का स्वरूप प्राप्त हुआ था । और श्रीकृष्णचन्द्रजी से आपको स्व सम्प्रदाय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ था ।

श्री पुरुषोत्तमजी ने नवलक्ष श्लोक का साहित्य सम्प्रदाय में लिखा है । आपके ग्रंथ इस समय जो उपलब्ध होते हैं उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

भाष्यप्रकाश
सुवर्णसूत्र
आवरण भंग
सुबोधिनी प्रकाश
प्रस्थान रत्नाकर
षोडश ग्रंथों की टीकाएं
प्रहस्तवाद
पण्डितकरभिन्दिपालवाद
सृष्टि भेदवाद
आविर्भाव तिरोभाव वाद
ख्यातिवाद
प्रतिबिम्बवाद
अन्धकारवाद
ब्राह्मणत्वादि देवतावाद
जीवन व्यापकत्व खण्डनवाद
जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवाद
ऊर्ध्वपुण्ड्र निर्णयवाद
तुलसीमालाधारणवाद
शंखचक्रधारणवाद
मूर्तिपूजनवाद
भागवतशंका निरासवाद
उपदेश शंका निरासवाद
भक्त्युत्कर्षवाद
वस्त्रसेवावाद
भेदाभेदवाद
अभाववाद
स्ववृत्तिवाद
जयश्रीकृष्णोच्चारणवाद
उत्स्वप्रतान
द्रव्य शुद्धि
भक्तिहंस विवृति
भक्ति हेतुनिर्णय विवृति
पूर्वमीमांसा भाष्य विवरण
न्यासादेश विवृति
गायत्रीकारिका विवृति
वल्लभाष्टक विवरण
कैवल्योपनिषद्दीपिका
ब्रह्मोपनिषद्दीपिका
नृसिंहतापिन्युपनिषद्दीपिका
छान्दोग्यदीपिका
श्वेतश्वतारदीपिका
उपनिषदर्थसंग्रह
द्वात्रिंशदपराधक्षमापन टीका
अधिकरण माला
भावप्रकाशिकावृति

इन ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक वाद ग्रंथ तथा उपनिषदों के भाष्य सुने जाते हैं, पर वे अद्यावधि प्राप्त नहीं हुए हैं । संशोधन करने पर प्राप्त हों ।

पूर्वमीमांसा द्वितीयाध्याय के प्रथम भावार्थपाद भाष्य का विवरण अपने पितामह श्री यदुनाथ जी के नाम से निर्माण किया है । पुष्टि प्रवाह-मर्यादाभेद की टीका और निबन्धशास्त्रार्थ प्रकरण का आवरण भंग पितृचरण श्री पीताम्बरजी के नाम से प्रसिद्ध किया है और भाव प्रकाशिका वृति निज गुरु श्रीकृष्णचन्द्रजी के नाम से प्रसिद्ध की गई है ।

साम्प्रदायिक साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि श्री गुसांईजी का कृष्णदास अधिकारी से झगड़ा हो जाने के पश्चात् श्री गोपीनाथजी के बहुजी अपने बालक श्री पुरुषोत्तमजी को साथ लेकर साम्प्रदायिक ग्रंथों के साथ दक्षिण की ओर चली गईं और तब से श्री गुसांईजी व उनके वंशज गादी के उत्तराधिकारी बनाए गए, अर्थात् पुष्टि मार्ग में श्री गोपीनाथजी नाम शेष है, उनका सम्प्रदाय में कोई विशेष स्थान नहीं है । किसी भी ग्रन्थकार ने श्री महाप्रभुजी और श्री गुसाईंजी के साथ श्री गोपीनाथजी को प्रणाम नहीं किया है । परन्तु श्री पुरुषोत्तमजी ने श्री गोपीनाथजी को प्रणाम किया है । किं बहुना मंगलाचरण में "तेजोराशि" और "दयार्णव" विशेषणों का प्रयोग करके श्री गोपीनाथजी का विरुद्ध धर्माश्रयत्व भी दर्शाया है । श्री गोपीनाथजी श्री गुसांईजी के ज्येष्ठ बन्धु हैं इसलिए श्री गुसांईजी से पूर्व श्री गोपीनाथजी को नमस्कार किया गया है ।

लेखन शैली—

जिस शैली से श्री पुरुषोत्तमजी लिखते हैं वह शैली अत्यन्त प्रमाणिक है। तुलनात्मक लेखन पद्धति जो आज हम पाश्चात्य विद्वानों में देखते हैं वैसी ही–किं बहुना–उससे भी अति सूक्ष्म तुलना श्री पुरुषोत्तमजी ने ईसा की सत्रहवीं शताब्दि में ही स्वीकार की थी। संस्कृत साहित्य में इस ढंग से लिखा हुआ एक भी ग्रन्थ दृष्टिपथ नहीं हुआ है। विराम चिन्हों के लिए कहा जाता है कि अंग्रेजी का प्रचार होने से पूर्व भारतवर्ष के लेखकों को विराम चिन्हों का परिचय नहीं था। परन्तु श्री पुरुषोत्तमजी विरामचिन्हों का यथेष्ट उपयोग करते हैं। जहां अल्प विराम की आवश्यकता होती थी वहाँ आप एक बिंदु (.) से चिन्ह करते हैं। जहां पूर्ण विराम की जरूरत पड़ती है, वहां एक खड़ी रेखा (।) का चिन्ह करते हैं। और जहां पेरेग्राफ छोड़ना हो वहां दो खड़ी रेखा (॥) करके एक इञ्च स्थान छोड़ देते हैं। जहां कोई अक्षर केपिटल करना हो वहां उस अक्षर पर गेरू लगाते हैं। यदि कोई अक्षर काटना हां तो उस पर हरताल पोत देते हैं अथवा उस भाग पर पट्टी लगाते है। यदि कुछ संस्कृत में या टिप्पणी लिखनी हो तो जिस पंक्ति पर टिप्पणी लिखी गई हो, उस शब्द के ऊपर दो आडी रेखाएं (=) करते हैं और मार्जिन में टिप्पणी लिखकर उस पंक्ति की संख्या उसके साथ लिखते हैं, अर्थात् यदि ऊपर की तरफ कोई टिप्पणी लिखी गई हो तो ऊपर से गिनने पर जिसके ऊपर टिप्पणी लिखी गई है, वह शब्द जिस पंक्ति में होगा उसका अंक लिखा जाएगा। और नीचे की मार्जिन में लिखा गया होगा तो नीचे से पंक्तियें गिनी जाएगी। आप भाषा शास्त्र के भी विशेषज्ञ थे। विशेष कर श्री महाप्रभुजी, श्री गुसांई जी, श्री गोकुलनाथजी, श्री हरिरायजी आदि की भाषा तुरन्त पहिचान लेते हैं।

श्रीमदाचार्य चरण के प्रत्येक ग्रन्थ पर श्री पुरुषोत्तमजी महाराज की टीकाएं विद्यमान हैं। साम्प्रदायिक विद्वानों का यह दृढ मन्तव्य है कि जो ग्रन्थ श्रीमदाचार्य चरणों के नाम से प्रसिद्ध हैं उस पर श्री पुरुषोत्तमजी की टीका होनी आवश्यक है। जिस ग्रन्थ पर श्री पुरुषोत्तमजी की टीका नहीं है उस ग्रन्थ को आचार्यचरण प्रणीत है ऐसा कहने में बहुत से पंडित हिचकिचाते हैं। और यही कारण है कि "भगवत्पीठिका" नामक ग्रन्थ के प्रणीता आचार्य चरण हैं ऐसा मानने वाले पण्डितों की संख्या अधिक नहीं है। 'भगवत्पीठिका' पर श्री पुरुषोतमजी महाराज की टीका उपलब्ध नहीं है और न कहीं श्री पुरुषोत्तमजी महाराज अपने ग्रन्थ में उसको उद्धृत ही करते हैं। इसी कारण से उसके प्रणीता आचार्यचरणों के अतिरिक्त अन्य कोई होने चाहिए। सम्भव है कि किसीने वह ग्रंथ आचार्यचरणों के नाम से प्रसिद्ध किया हो। आपका लेखन व्यवसाय अधिक होने के कारण सम्प्रदाय में आप 'लेख वाले पुरुषोत्तमजी, के नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्री पुरुषोत्तमजी सेवा में और भावना में अन्य गोस्वामी बालकों की अपेक्षा कुछ न्यून समय व्यतीत करते थे और सब गोस्वामियों में आप विशेष प्रतिभा सम्पन्न एवं विद्वान होने के कारण आपका सम्मान सम्प्रदाय में तथा सम्प्रदायेतर विद्वानों में विशेष रूप से होने के कारण आपके बन्धु वर्ग में आपके प्रति द्वेष भाव फैल जाने से आपको कुछ अल्पज्ञ एवं असहिष्णु लोग 'वेद पशु' भी कहा करते थे पर आप इन बातों पर कभी ध्यान ही नहीं देते थे। श्री पुरुषोतमजी का नाम इतिहास में सुवर्णाक्षरों से अंकित है पर उनको वेद पशु कहने वालों को संसार में अपने स्मृतिपटल से साफ कर दिया है।

दिग्विजय——

आपके साथ प्रत्येक सम्प्रदाय के तथा शास्त्र के विशेषज्ञ पण्डित सदा रहा करते थे। आप भारतवर्ष में सब स्थानों में स्वयं पधारकर तत्तत्प्रान्तों के तत्कालीन पंडितों को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करते थे। आप जब यात्रार्थ पधारते थे तब आपके साथ कई गाड़ियां पुस्तकों की रहा करती थी। हम पहले ही कह आए हैं कि आप भावना और वार्ता आदि में अपना समय अधिक नहीं लगाते थे और यही कारण है कि आपके अनुयायी शिष्यों में विशेष रूप से भावुकता व्यक्त नहीं होती थी, अतएव श्री गोकुलनाथजी व श्रीहरिरायजी आदि गोस्वामियों की बैठकें अनेक स्थानों में सुरक्षित है उसी तरह आपकी कोई बैठक सुरक्षित नहीं है। और यही कारण है कि भावना के पण्डितों की दृष्टि में श्री गोकुलनाथजी और श्रीहरिरायजी का स्थान श्री पुरुषोत्तमजी से ऊंचा है।

श्री पुरुषोत्तमजी महाराज एवं तत्कालीन विद्वत्समाज——

भारत के मुख्य पण्डितों में श्री पुरुषोत्तमजी का स्थान बहुत ऊंचा है। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दि के भारतवर्ष के अद्वितीय पण्डित भारत मारतण्ड पं० गट्टूलालाजी आप की तुलना हेमचन्द्र द्रौण सायण माधव के साथ करते थे। उस समय देश में अनेक उच्चकोटि के पंडित विद्वान विद्यमान थे, तथापि श्री पुरुषोत्तमजी महाराज के किसी भी ग्रन्थ का खण्डन नहीं कर सके। आपके ग्रन्थ इतने प्रमाणिक हैं कि उनका खण्डन अब और भविष्य में भी नहीं हो सकेगा। श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने आधुनिक, प्रचलित मतों की समीक्षा की है, जो उन ग्रन्थों के पढ़ने वाले जानते हैं। गदाधर भट्ट् जैसे प्रसिद्ध नैयायिक और खंडदेव जैसे मीमांसक तथा अपने आपको पंडितनाथ जगन्नाथ कहने वाले भी उस समय विद्यमान थे, और उनके बाद भी बहुत से पंडित हुए। उनके समय में उत्तमोत्तम ग्रन्थों के लेखक भी थे, परन्तु तुलनात्मक समीक्षा पद्धति यदि किसी ने ग्रहण की है तो वे एक मात्र पुरुषोत्तमजी महाराज ही थे। जो एक ही ग्रन्थ से वेदान्त दर्शन के समस्त व्याख्याताओं के मत जानना हो तो उसका एक मात्र साधन अणु भाष्य का प्रकाश ही है। इस कथन में किंचित् मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है।

आपके समकालीन सुशिक्षित पंड़ित एक सौ से ऊपर थे जिससे विदित होता है, कि यवनराज्य के यौवन काल में भी भारतवर्ष में विद्या का कितना प्रचार था। ऐसे विद्वत्समाज में रहकर मायावाद का खण्डन करनेवाले पं० विद्वत् केसरी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज का पांड़ित्य कितना अगाध था इसका तो विचार शील विद्वान आपके रचित ग्रन्थों से जैसे भाष्य प्रकाश, प्रस्थान रत्नाकर, अवतारवाद वली, इत्यादि ग्रन्थों से आप श्री के पांडित्य का अनुमान लगा सकते हैं। उसी समय में श्रीमद्वल्लभ वंशज, गोस्वामी आचार्य लगभग एक सौ पचहतर विराजमान थे। जिनमें बहुतसे श्रेष्ठ विद्वान भी थे।

जिस प्रकार श्री पुरुषोत्तमजी महाराज प्रतिभा सम्पन्न दिद्वद्रत्न थे, वैसे ही उनके प्रतिपक्षी भी विद्यमान थे, उनमें से भास्करराय, और अप्पय्य दीक्षित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से भास्करराय तो पराजित होकर चला गया, और अप्पय्य दीक्षित के साथ विवाद ने स्थिर साहित्य का रूप धारण किया, यह साहित्य विद्वद् भोग्य है, क्योंकि अप्पय्य दीक्षित भी अपने समय में एक माना हुआ विद्वान था।

शिवतत्वविवेक और प्रहस्तवादः--

जैसा कि पहले बताया गया है कि श्री पुरुषोतमजी महाराज ने अप्पय्य दीक्षित को प्रहस्त अर्पण किया यह प्रहस्त देने का कारण 'शिवतत्व विवेक' है। प्रहस्तवाद में श्री पुरुषोत्तमजी ने 'शिवतत्व विवेक' में उठाये हुए, आरोपों का जवाब दिया है। आजकल के शैव और शांकर मतवेत्ता चाहे जैसा आक्षेप करते हैं परन्तु जो शिवतत्व पढ़कर प्रहस्त पढ़े तो उनको ज्ञात हो जाएगा कि वास्तविक सिद्धान्त क्या है, और विद्वानों ने इस विषय का स्पष्टीकरण किस प्रकार किया है। 'शिवतत्व विवेक' लिखने में लेखक ने बहुत विवेक शून्यता बरती है अत: पुरुषोत्तमजी महाराज ने प्रहस्तवाद लिखकर उसका उचित उत्तर दिया। यद्यपि उस ग्रन्थ को लिखने का प्रयोजन, अप्पय्य दीक्षित का, अपने मामा ताताचार्य के प्रति द्वेष था, तथापि वह ग्रन्थ वैष्णवों के विरुद्ध होने से उस समय उसका विद्वानों द्वारा उत्तर दिया जाना आवश्यक था।

रामानुज सम्प्रदाय के विद्वानों ने 'दुरहचपेटिका' मध्व सम्प्रदाय ने 'शैव विध्वन्स' और वल्लभ सम्प्रदाय की तरफ से विद्वद्वर जयगोपाल भट्ट मठपती ने 'दुर्मुख ध्वंस' नामक ग्रन्थ के द्वारा उत्तर दिया था। तथापि पुरुषोत्तमजी महाराज ने प्रहस्तवाद लिखने की आवश्यकता यों समझी इसके दो कारण थे। एक तो यह कि उपरोक्त ग्रन्थों में 'शिवतत्व विवेक' का आशय पूर्व पक्ष के रूप में ग्रहण करके इनका उत्तर दिया परन्तु 'शिवतत्व विवेक' का अक्षरशः खंडन नहीं हुआ था दूसरा कारण यह था कि अप्पय्य दीक्षित ने सात-आठ वर्ष के बालक के साथ शास्त्रार्थ करने की अभिलाषा प्रगट की और श्री पुरुषोत्तमजी से वाद किया। श्री महाप्रभुजी के प्रताप बल के सामने उसकी क्या शक्ति थी कि वह विजय प्राप्त करता, आठ वर्ष की अवस्था के बालक श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने उसे पराजित किया और उसके उपलक्ष में उसके ग्रन्थ का खण्डन, ग्रन्थ रूप में किया, प्रहस्तवाद में 'शिवतत्व विवेक' के प्रत्येक प्रकरण श्लोक तथा टीका में आये हुए प्रमाणों की समीक्षा शास्त्रीय पद्धति के अनुसार की गई है। जहां पर अप्पय्य ने वेदान्त दर्शन के अधिकरण प्रमाण रूप में दिये है यहां इसका विचार वेदान्त की ही युक्तियों और प्रमाणों द्वारा तथा पूर्व मीमांसा के अधिकरणों का विचार, पूर्व मीमांसा से उसी प्रकार पुराणों के वाक्यों का समन्वय पुराणों से ही करने में आया है। आपश्री ने प्रहस्तवाद को तीन विभागों में विभक्त किया है, सर्व प्रथम 'वेदांत तात्पर्य' निरूपण है, दूसरे प्रकरण में "भ्रान्त शैव निराकरण" और तीसरे प्रकरण में मूल स्वरूप निर्धार है। वेदान्त तात्पर्य निरूपण में शांकरमत में ब्रह्म को निर्गुण कह करके और पीछे उपाधि लगा दी है, इस उपाधि का खंडन आता है। शांकर मत वालों की उपाधि के विषय में जितनी युक्तियें है उन सबका यहां खंडन किया है और विरुद्ध धर्माधार भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ही परब्रह्म हैं इस तरह श्रुति एवं सूत्रों से सिद्ध किया है।

भारतीय दर्शन शास्त्रों का इतिहास (हिन्दु तत्व ज्ञान नो इतिहास) नामक गुर्जर भाषा के ग्रन्थ में श्रीयुत नर्मदाशंकर देवशंकर महेता आपके चित्र पर से आपकी बुद्धिमता का अनुमान इस प्रकार करते हैं:--

"श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के सप्तम आचार्य श्री पुरुषोत्तमजी महाराज के ग्रन्थों के देखने से मुझे ज्ञात होता है कि ई० स० १६८८ में इस महा पुरुष ने तत्व दर्शन में बहुत सूक्ष्म विचार किया है। उनकी आकृति का चित्र 'प्रस्थान रत्नाकर' के मुख पृष्ठ पर दिया गया है। उसके प्रति दृष्टिपात करने से ही ज्ञान होता है कि उनका भव्य ललाट सूक्ष्म विचारों की छाया से युक्त है, उनके विशाल

नेत्र प्रतिवादी के आक्षेपों को दृढ मन से स्वीकार करते हैं, उनकी तीक्ष्ण अग्रयुक्त नासिका आक्षेपों को सूक्ष्म रीति से उड़ा देने की शक्ति दर्साती है, उनकी सुन्दर चिबुक उनकी अपूर्व दृढता और निश्चय बल को बताती है, और उनकी हाथ की ज्ञान मुद्रा व्याख्यान कौशल स्पष्ट दर्शाती है।

सरल जीवनः—

श्री पुरुषोत्तमजी महाराज के जीवन में अत्यन्त सरलता थी। यद्यपि आपको आधुनिक सजातियों एवं अन्यान्य धर्माचार्यों की तरह सुख के सब साधन सुलभ थे। आपका प्रभाव राजा महाराजाओं पर भी पर्याप्त था तथापि आप एक क्षण भी विलासता में नहीं बिताते थे। यावन वेश भाषादि पुरुषोत्तमजी को असह्य लगता था। आप निबन्ध के आवरण भंग में लिखते हैं कि 'एतेन मूर्खा अनापद्यति म्लेच्छादि वेशभाषादिकं रोचयन्ते स्वीकुर्वन्ति च तेऽपि तथेति बोधितम्"।

परिवार और गोलोक प्रवेशः—

श्री पुरुषोत्तमजी का विवाह कहां और कब हुआ सो ज्ञात नहीं है। परन्तु इनके यहां दो पुत्रों का जन्म हुआ था। वे इनकी अवस्था में अथवा इनके अनन्तर शीघ्र ही गोलोक प्रविष्ट हुए। तब आपकी गादी पर द्वितीय पीठ के वंशज गोस्वामी आए थे। इन्हीं के वंशज इस समय सूरत की गद्दी पर विराजमान विद्वद्रत्न गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज हैं। आप ही इस समय पूर्वोक्त श्री बालकृष्णजी की सेवा करते हैं।

दिग्विजय के अनन्तर श्री पुरुषोत्तमजी ने अपना नित्य निवास सूरत में किया। सूरत में ही विराजमान होकर श्री बालकृष्ण प्रभु की स्वरूप सेवा और नाम सेवा की।

स्वरूप सेवा करके प्रभु के विप्रयोग रस का अनुभव किया। और नित्य संयोग रस का अनुभव करने के लिए विक्रम संवत् १८२० के अनन्तर अपनी जन्म भूमि गोकुल में ही नित्यलीला प्रवेश किया।

अनुग्रह मासिक पत्र वर्ष २३, अंक ६-१० से साभार प्राप्त।
(लेखक—गो० वा० हरिशंकरजी ओंकारजी शास्त्री, मीमांसक, वेदान्त विशारद, बुरहानपुर)

रास पंचाध्यायी पर कुछ विचार

परब्रह्म परम तत्व श्रीकृष्ण आत्माराम का अध्यात्म स्वरूप

आत्माराम का अध्यात्म स्वरूप जिन्होंने गोपियों के साथ रमण किया है। प्रभु आत्माराम हैं अपनी आत्मा ही में रमण करते हैं स्कन्ध १० अ० ३२ श्लो० २० 'नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून' की सुबोधिनीजी में आज्ञा करते हैं।

सुबोधिनीजी—

श्री शुकदेवजी प्रभृति की आत्मा में भगवान् रमण करते हैं, इसलिए भगवान् को आत्माराम कहा है। भगवान् में आत्मा व शरीर भिन्न नहीं है इसलिए मैं रमण करता हूं इस प्रकार का भेद नहीं है, अतः शुकदेवजी आदि मुनियों ने भिन्न पदार्थ की व्यावृत्ति-निषेध के लिए आत्माराम भगवान् को कहा है, अतः भगवान् में आत्माराम पक्ष नहीं है कारण कि "अहं राम एव न त्वात्मराम" भगवान् कहते हैं कि गोपियों ! मैं तो राम ही हुँ "रमते रामः" सर्वत्र ही रमण करता हूं, राम सर्वत्र ही रमण करता है आत्माराम नहीं है, आत्माराम अपनी ही आत्मा में रमण करने वाला होता है अन्यत्र रमण करने वाला नहीं होता है। इसलिए आत्म शब्द को "अन्य व्यावर्त्तकत्व" होने के कारण भगवान् में आत्मारामत्व नहीं है "आत्मैव इदं सर्वम्" 'स सर्वं भवति' इन श्रुतियों से भगवान् सर्व रूप है, इसलिए आत्मा से व्यतिरिक्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं अतः आत्मा में ही रमण करते हैं, अन्यत्र रमण नहीं करते हैं। भगवान् में आत्मारामत्व नहीं है इस बात को श्री सुबोधिनीजी में कहते हैं, मेरी आत्मा से व्यतिरिक्त (भिन्न) कोई भी पदार्थ नहीं है। इसलिए व्यावृत्ति नहीं है। जीवों को आत्म अनात्म विवेक होता है मेरे लिए देह आदि और विषय आत्मारूप ही हैं।

भगवान् परमतत्व पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण द्विभुजा मुरली वादनाधारी गोलोक निवासी हैं, और गोपियां उनकी आत्मा हैं। गोपियों को भी भगवान् ने दिव्य शरीर, इन्द्रियां, अन्तःकरण, प्राण सब दिव्य करके गोपियों के साथ रमण किया।

महारास में पांच प्रकार से आपको रमण है अर्थात् (१) आलिंगन (२) कर स्पर्श (३) सप्रेम निरीक्षण (४) बिलास (५) तथा स्मित (हंसना) के साथ रमण किया। रास पंचाध्यायी अ० ५ श्लो० १७

"एवं परिष्वङ्ग कराभिमर्श स्निग्धेक्षणोद्दाम विलास हासैः"

और पांच प्रकार का रूप है, इसलिए पांच अध्याय हैं, श्री ठाकुरजी का पंचात्मक स्वरूप है, सो नीचे लिखते हैं।

(१)	अध्याय	आत्मा से लीला	
(२)	,,	मन से लीला	लीलाओं का अनुकरण गोपियों ने किया दामोदर आदि लीलायें।
(३)	,,	वाणी से लीला	गोपिका गीत
(४)	,,	प्राण और इन्द्रियां	अन्तर्धान के बाद प्रभु प्राप्ति समय अ० ४ श्लो० ३– तं विलोक्या गतं प्रैष्ठं प्रीत्युत्फुल दृशोऽवला: । उत्तस्थुर्यु ग पत्सर्वास्तन्व: प्राण मिवागतम् ॥
(५)	,,	कायिक लीला	महारास में, अर्थात् नृत्य समय में।

(१) आत्मा की लीली—

आत्माराम होने से–श्री स्वामिनीजी आपकी आत्मा हैं, स्वामिनी आधीन लीला है, श्रुति प्रमाण "राधाकृष्णात्मकं नित्यं" यह लीला स्वाधीन लीला है अर्थात् भक्त भगवत् स्वरूप के भोक्ता हैं। क्योंकि प्रभु रसानान (स्त्री भाव) हैं, जैसा कि गोपियों ने रास पंचाध्या० अ० १ श्लो० ४० में कहा है।

का रत्र्यङ्ग ते कल्पदामृत वेणु गीत
सम्मोहिताऽऽर्यं चरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्
त्रैलोक्य सौभग मिदञ्च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विज द्रुम मृगा: पुलकान्य विभ्रन्।।

और भगवान् रसवान (पुंभाव) हैं राप पंचाध्यायी अ० १ श्लो० ३५

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृत पूरकेण
हासावलोक कल गीत जहृच्छयाग्निम्।
नो चेद्वयं विरह जागन्युप युक्त देहा
ध्यानेन याम पदयो: पदवीं सखे ते ॥३५॥

यही 'रसो वै स:' का अर्थ है, प्रभु स्वामिनी भाव प्राप्त हैं क्योंकि यह लीला स्वामिनी आधीन लीला है। पुष्टि मार्ग का यही तत्व है। भगवत् निबन्ध में पुष्टि का लक्षण लिखा है।

"कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टि रुच्यते"

मर्यादा भक्त कृष्ण के आधीन हैं और पुष्टि भक्तों के अधीन प्रभु हैं। प्रभु भक्तों को स्वतंत्र करा के अपने स्वरूपानन्द का भोग कराते हैं, यही प्रभु की महान् अनुग्रह ही पुष्टि मार्ग है।

गोपियों ने रास पंचाध्यायी अ० १ श्लो० ३८, ३९ में दास्य भाव को प्राप्त किया है, "तन्न प्रसीद ब्रजनार्दन" "वीक्ष्यालकावृत मुखं" हम प्रभु के स्वरूप निरीक्षण से दास्य भाव को प्राप्त

हुई हैं, क्योंकि स्वरूपानन्द में स्वाधीन भक्ति है, वैसा ही दास्य भाव आप (प्रभु) प्रदान करें, अर्थात् सर्वात्मभाव से हम (गोपियां) आपकी शरणागति में आई हैं, आप भी हमें सर्वात्म भाव से स्वीकार करें। गीता वाक्य अ० ४ श्लो० ११ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'

४६ श्लो० की क्रीड़ा से गोपियों को मद हुआ "बाहु प्रसार परिरम्भ करालकोरु" तब प्रभु अन्तर्धान हो गए, अन्तर्धान हुए पीछे प्रकट होकर अपने स्वरूप की स्मृति (बोध) कराई। रास पं० अ० ४ श्लोक १०,१३,१४

वैसे तो प्रभु अच्युत हैं 'अखण्ड आनन्द रस' हैं स्वरूपानन्द में कमी कभी नहीं होती है "अमन्द परमानन्द" किन्तु इस समय प्रभु में सुन्दरता का **विशेष भाव** प्रगट हुआ अर्थात् गोपियों को पूर्णानन्द का दान दिया।

विशेष भाव ("स्त्री भावो गूढ")

शंका– अच्युत "अमन्द परमानन्द" भगवान् अन्तर्धान होने के बाद विशेष सुन्दरता से क्यों प्रगट हुए।

समाधान–जैसे लौकिक में सुन्दर स्त्री जब अपने कामुक के पास जाती है तब वह विशेष सुन्दर भाव को धारण करती है। (वस्त्राभूषण श्रृंगार आदि) उसी प्रकार जब भगवान् अपने स्वरूपानन्द का दान भक्तों को अनुभव कराते हैं, तब भगवान् भी स्त्री भावापन्न भाव से युक्त भक्तों के सामने प्रकट होते हैं। यही स्वरूप वेणुनाद में पूरित करिके वेणुनाद किया। इसी स्वरूप को वेणुनाद द्वारा हृदय में दर्शन करिके व्रजसुन्दरियों को आसक्ति हुई। और यही स्वरूप अन्तर्धान होने के बाद साक्षात् मन्मथ के मन्मथ रूप से प्रकट हुए, यह प्रभु का असाधारण स्वरूप है, रासलीला इसी स्वरूप से की है, भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही स्त्री भाव को प्राप्त हुए।

और श्लोक १२–वेणुगीत में यही स्वरूप धारण किया, देवियां अप्सरायें काम के वशीभूत होने से विवेक हीन हो गईं, चोटी से गिरे हैं पुष्प और खुली है नीवी ग्रंथी जिनकी। यह विशेष भाव ही स्त्री भावापन्न कहा जाता है। इसको श्री महाप्रभुजी ने "स्त्रीभावो गूढः" इन शब्दों से समझाया है।

"स्त्री भावो गूढः"

'बर्हापीडं' इस श्लोक की व्याख्या के अन्त में एक फक्किका श्री वल्लभाचार्यजी ने लिखी है। "स्त्री भावो गूढः पुष्टि मार्गे तत्व मिति कृष्ण पदार्थः क्वचिद्विवृतः"

इस श्लोक 'बर्हापीडं' में सर्वभोग्य सुधा पूरित वेणुरव के स्वरूप का निरूपण है, सो वाक्यार्थ है, सो इस श्लोक की समाप्ति में बोध कराया है, कि 'स्त्री भावो गूढ़' व्रज स्त्रियों के हृदय में वेणुनाद के द्वारा पूरित किया। जो सर्वभोग्य सुधा रूप गूढ़ भाव सो पुष्टि मार्ग-अनुग्रह मार्ग में तत्व है। अनारोपित–स्वाभाविक मुख्य फल रूप है, यही कृष्ण पद का अर्थ है। यद्यपि कृष्ण स्वरूप सर्वत्र सबके हृदय में है, किन्तु बहुत कहने में क्या है, सबके हृदय में रमण करते समय में भी ढके ही रहते हैं, किन्तु इस वेणुनाद के श्रवण करने से श्रोत्र द्वारा "क्वचित्" व्रज स्त्रियों के हृदय स्थान में प्रकट होता है। सो इस श्लोक में निरूपण किया है।

अथवा "स्त्री भावो गूढः" भगवान् को स्त्री भाव लक्ष्मी समान भाव से होना इच्छित है। रस के उद्रेक में गोपिन के भोग्य होनों इच्छित है। ऐसो स्त्री भाव पुष्टि मार्ग में तत्व है। भगवान् स्त्रीन के भोग्य होवे ते भक्तन के आधीन होय है, भक्त भगवत् स्वरूप के भोक्ता होवे ते स्वाधीन होय हैं। या समय प्रभु की यह इच्छा है, यही पुष्टि मार्ग में तत्व है। पंचम स्कन्ध निबंध में पुष्टि को यह लक्षण है कि "कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टि रुच्यते"

शंका—ऋषिरूपा पुरुष भाव ते स्त्री भाव की क्यों इच्छा की।

समाधान—भगवत् कृत भोग के अनन्तर रस की अधिकता में प्रभु स्वामिनी भाव को प्राप्त होय हैं, और श्री गोपीजन भक्त पुरुष भाव को प्राप्त होय हैं, याते स्त्री भावापन्न रसात्मक प्रभु को गोपीजन भोगे हैं। या माहात्म्य को जान के ही अग्निकुमारिकान के हृदय में स्त्रीभाव उदय भयो। कारण कि रसात्मक प्रभु स्त्री पुरुष उभय भावात्मक हैं, याते पुरुष देह ते व स्त्री देह ते कोई प्रकार ते भोगवे योग्य नहीं है। कारण कि पुरुष में तो ऐसो रस नहीं है कि जा रस भोगते रस की अधिकता में पुरुष स्त्री भाव को प्राप्त है जाय, और स्त्री पुरुष को प्राप्त है जाय। ऐसो भगवान् के समान रस भोग करनों पुरुष में सम्भव नहीं है, और पुरुषोत्तम प्रभु पुरुष हैं याते पुरुष देह से तो पुरुषोत्तम प्रभु की अधर सुधा को अन्य पुरुष नहीं भोग सके है। यदि पुरुष देह ते ही पुरुषोत्तम प्रभु की अधर सुधा को भोग है जातो, तब तो अपनी अधर सुधा को पुरुषोत्तम प्रभु आप ही भोग लेते। याते अपने पुरुष देह ते तो पुरुषोत्तम प्रभु कोई प्रकार ते भोग्य नहीं है सके हैं। और पुरुषोत्तम पुरुष है याते स्त्रीन के भोक्ता हैं, स्त्रीन के भोग्य नहीं हैं। पुरुष की स्त्री भोग्या है, याते रसात्मक प्रभु कों स्त्री भी नहीं भोग सके है। याते रसात्मक प्रभु अपने कोई प्रकार ते भोगवे के योग्य नहीं है। किन्तु भगवान् के भोग करते समय रस की अधिकता में प्रभु जब स्त्री भाव कों प्राप्त होय हैं, और स्वरूप सौन्दर्याधर सुधा रस के भोग ते गोपिन को जब पुरुषोत्तमावेश ते पुरुषोत्तम भाव प्रकट होय है, तब स्त्री भावापन्न रसात्मक प्रभु को गोपी भोगे हैं। या माहात्म्य को जान करिके ही अग्निकुमारन के हृदय में स्त्री भाव प्रकट भयो। महा कूर्मपुराण में यह भी वाक्य हैं—

"अग्नि पुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्व मापिरे"
"भर्तार च जगद्योनिं वासुदेव मजं विभुः"

"भगवान् ने रमण नहीं किया गोपियों से रमण कराया"

रास पंचाध्यायी अ० १ श्लोक ४२—

"इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपी रात्मा रामोऽप्यरीरमत्॥

इस श्लोक में "अरी रमत्" शब्द आया है।

टिप्पणीजी—दूसरों (भक्तों) से रमण कराया, स्वयं रमण नहीं करते हैं। गोपिन को ही रमण कराया स्वयं तो आत्माराम है। आत्माराम—जो आत्मा के स्वरूपानन्द में निरन्तर रमण करते हैं। भगवान् के संग गोपिन को रमण है, गोपी भगवान् को भोग करती हैं।

भगवान् भी रमण करते हैं।

गोपियों में स्वामिनी भाव स्थापित किया तब गोपियां रमण के योग्य हुईं। रास पंचाध्यायी अ० ५ श्लोक १७ 'रेमे रमेशो ब्रज सुन्दरीभिर्यथार्भकः स्व प्रतिबिम्ब विभ्रमः ।।१७।।

"रेमे" अर्थात् रमण किया। कर स्पर्श आदि क्रियाओं द्वारा गोपियों के मन में परम माधुर्य के रस का संचार करते हुए स्वयं रमण प्रारम्भ करते हैं।

"मुख्य रसं तत्पोषकं चाविर्भावयित्वा रेमे इत्यर्थो भवति" "इति सुबोधिनीजी" यह रमण रस शास्त्रोक्त रीति से है। कारिका रास पंचाध्यायी

'क्रिया सर्वापि तैवात्र परं कामो न विद्यते'

यह काम लौकिक नहीं अलौकिक है "अत एवोक्त श्रीमदाचार्यैः पंचमाध्याये' "रसात्मकस्तु यः काम" इत्यादि

यह प्रभु की अनुग्रह है, ब्रज गोपियों से रमण कराया, अनुग्रह करिके स्त्री भाव को प्राप्त हुए। तब गोपियों को मद हुआ, रासपंचाध्यायी अ० १ श्लो० ४२-४८, पुनः अ० ५ श्लोक० १७ में रस का संचार करिके अनुग्रह (कृपा) करिके उन्हें (गोपियों को) पूर्ण किया, अर्थात् उभय समान बनाया।

देखिए—श्री सुबोधिनी टिप्पणी, प्रकाश

"नन्वेवं सर्व भावेन रमणे रसोद्गम उभयोस्तुल्यताया मेव भवति"

आसक्ति व वासना से रमण नहीं किया केवल रस का संचार किया। अर्थात् बिना आदान प्रदान के रस की पूर्ति नहीं होती।

कारिका—अ० १ श्लो० १७

'ननु प्राकृतीभिः कथं रेमे, तत्राह रमेश इति। रमाया ईशः। सर्वत्र तासु रमापि भगवदाज्ञया निविष्टा। ता अपि आधिष्ठान योग्या इत्याह ब्रज सुन्दरीभिः रिति ॥

कारिकार्थ—निश्चय करिकें प्रकृति (गोपियां) के साथ कैसे रमण हो सकता है, इसी कारण 'रमेश' शब्द मूल में प्रयोग किया गया है। रमा+ईष अर्थात् लक्ष्मी के ईश, अर्थात् मुख्य लक्ष्मी (वृषभान नन्दनी श्री राधाजी) भगवत् आज्ञा से सब गोपियों में स्थित हुईं। मूर्ति रूप से स्थित नहीं हुई, किन्तु अपनी सामर्थ्य आत्मा व रूपात्मा से स्थित हुईं। "मूर्त रूपेण न स्थापनम्, किन्त्व मूर्तस्व सामर्थ्यात्मना रूपात्मनावां, इति सुबोधिनीजी" तब सब ब्रज सुन्दरी स्वामिनी तुल्य योग्यता को प्राप्त भईं। अर्थात् **अधिष्ठान योग्या**" देखिए सुबोधिनी, टिप्पणी, प्रकाश,

इस श्लोक में (श्लो० १७ अ० ५) **"रेमे रमेशो"** में **समुदाय रमण** है, अर्थात् ताण्डव नृत्य, यह पुष्टि मार्ग ताण्डव शंकरजी के ताण्डव नृत्य से विलक्षण है, यहां नियम रहित नृत्य को नाम

ताण्डव है, काऊ को रमावे हैं, वाई छोडि दूसरी को आलिंगन करे हैं, कोई को चुम्बन करे हैं, काऊ पास में ठाड़ी भई को पकडि लेइ हैं, आप रस शास्त्र के पंडित जैसे उत्तरोत्तर रस बढे तैसेइ आप करे हैं। और सुबोधिनी श्लो० २३–जिस प्रकार हाथी जल की मर्यादा को तोड़ देता है वैसे भगवान् ने देश और काल की मर्यादा तोड़ दी है। देश का अर्थ गोपियों के अवयव, और काल से जो काल रति के लिए लिखे हैं उनको तोड़ दिया, अर्थात् ताण्डव नृत्य किया, जैसा कि श्री स्वामिनीजी ने कृष्णप्रेमामृत में कहा है 'कालिन्दी पुलिनानन्दी क्रीड़ा ताण्डव पंडितः'।

श्लो० २० में "कृत्वा तावन्तमात्मानं" इस श्लोक में **प्रत्येक गोपी** के साथ रमण है। सुबोधिनीजी—

सोलह हजार अग्निकुमारिकान के साथ रमण हुआ है। स्त्री के पद्मनी आदि करिके १६ भेद हैं इस तरह से १६ यूथ हैं और हर यूथ में १००० गोपियां हैं, एक यूथ के साथ भगवान् ने १००० प्रकार से रमण किया है, इसलिए १६००० संख्या सब यूथ की हैं।

श्लोक २५ तक अलौकिक रास है, २६ श्लोक में **लौकिक आधिदैविक रास** (रमण) है, गोपियों की काम इच्छा के अनुसार। यहां लौकिक चन्द्रमा में रास हुआ है। इसी २६ श्लोक में "आत्मन्य वरुद्ध सौरतः" इस प्रकार भगवान् ने रात्रियों का सेवन किया इसके अनन्तर भगवान् ने अपने में ही सौरत-वीर्य रति स्थापन किया, किन्तु गोपियों में वीर्य स्थापन नहीं किया, रमण करने में सहस्राव हुआ तो भी भगवान् ने चन्द्र किरणों को अपने में ही स्थापन किया है, गोपियों में स्थापन नहीं किया।

जिस प्रकार पात्र (बर्तन) में रखा घृत पतला हो जाय तो भी पात्र ही में रहता है, उसी प्रकार रति (वीर्य) अपने में ही स्थित रखा अर्थात् चन्द्र किरणों का स्राव हुआ तो भी चन्द्रकिरण भगवान् में ही रही।

यदि भगवान् गोपियों में रति (वीर्य) स्थापन करते तो गोपियों में भगवान् से पुत्र उत्पन्न होते। यदि गोपियों के पुत्र उत्पादन भी भगवान् से ही हैं किसी प्रकार से भी उत्पन्न हुए हैं, तथापि इस समय भगवान् रति स्थापन अपने से ही करते हैं—प्रकट स्वरूप से ही इसलिए रति स्थापन नहीं किया।

रति (वीर्य) द्रवीभूत होने पर भी भगवान् ही में स्थित रहने से क्षीण नहीं होता, यह भाव है।

और भी कहते हैं कि गोपियों में लौकिक काम होने पर भी कोई क्षति नहीं है गोपियां सर्वथा भगवत् परायण हैं इसलिए उनका काम (वीर्य) दग्ध हो गया। इसी अभिप्राय से श्लोक में "अनुरता-बलागणः" विशेषण दिया है।

तामस फल प्रकरण में काम लीला है, यह काम लौकिक नहीं अलौकिक है।

(१) श्लोक ४–अ० १ "निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं ॥

सुबोधिनीजी–"अनङ्गवर्धनं" काम बढाने वाला। भगवान् ने जो गान किया है वो प्राकृत अंग रहित स्वरूपात्मक काम का वर्धन किया है, और अंग प्राकृत विभाद्यङ्ग युक्त काम को नाश करता है, इस वाक्य से भगवदीय अनंग जहां पर है वहां पर गीत काम का वर्धन करता है। भगवदीय

अनंग ब्रज की स्त्रियों में स्थित है। इसलिए अनंग बढाया है, इसीसे कुमारिकान के अतिरिक्त अन्य भी आई हैं इसलिए मूल में वर्धकत्व कहा है, जनकत्व नहीं कहा है। अलौकिक देह आदि प्रपंच सम्पादन करना वेणुनाद का कार्य है, इसलिए नूतन काम उत्पादन करके ब्रजस्त्रियों को भगवान् के समीप में लाया। इसी विषय पर देखो **टिप्पणी** वेणुगीत श्लोक ६ —

श्री विठ्ठलेश प्रभु **टिप्पणीजी** में आज्ञा करते हैं कि जो काम रस सहज (स्वभाविक) है अर्थात् लौकिक है उसकी यह वेणुनाद अधरसुधा के साथ अन्तः करण में प्रविष्ठ होकर आधिदैविक भगवदीय (भगवत्सम्वंधी अलौकिक आधिदैविक रसमयी) बनाता है।

(२) अ० १ श्लोक ३५—"सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृत पूरकेण"

इस श्लोक में भगवान् के हास्य पूर्ण निरीक्षण तथा मधुरगीत से उत्पन्न होनेवाली हमारी कामाग्नि को अपने अधारामृत से सींचो। इस कामाग्नि को अधरामृत से सींचने की प्रार्थना है न कि भस्म कर देने की, अर्थात् प्राकृत अंग रहित स्वरूपात्मक काम की आवश्यकता है।

सुबोधिनीजी—कामरूपी अग्नि आप के द्वारा उत्पन्न हुई (हास्य युक्त अवलोकन और कलगीत के द्वारा) हास्य काम जनक है और अवलोकन धौकनी है (प्रदीप्त है) गीत वायु का काम कर रही है, कलगीत का यह अभिप्राय है कि चारों तरफ से वायु चल रही है, यह अग्नि हृदयगामी है और इसका अधरामृत भी हृदयगामी है। इसलिए अधरामृत की प्रवाह से सिंचन कीजिए, यह अलौकिक अग्नि है, इसलिए अलौकिक अधरामृत से शान्त होगी। कन्दर्प विरहाग्नि से जल रहा है, मृत्यु प्राप्त करिके जल रहा है, अधरामृत से वह जीवित हो जायगा। तामें अधरामृत भी देव भोग्य करके यह जीता तो देवताओं के द्वारा ही जी जाता, इसलिए इसके द्वारा जीवित नहीं हो सकता। सर्वाभोग्य के द्वारा जीवित हो सकता है, क्योंकि देवभोग्य हमारे हृदयगामी नहीं है, इसलिए सर्वाभोग्य के द्वारा ही जीवित हो सकेगा।

यदि आप कहें कि काम को मोक्ष देनी हैं

इसलिए उसे (कामदेव) जीवित नहीं करते हैं। उसके उत्तर में गोपियां कहती हैं कि यह कामदेव सृष्टि का कारण है इसलिए इसकी मोक्ष नहीं है, यदि इसकी मोक्ष हो जाय तो सृष्टि और प्रकार की हो जायगी। इस आशय से गोपियां कहती हैं कि काम जीवित हो जायगा तो हम भी जीवित हो जायंगी। उसलिए श्लोक में सिंचन की प्रार्थना करी, नहीं तो बध करने की प्रार्थना करतीं।

(३) अ० १ श्लोक ३८—"पुरुष भूषण"

सुबोधिनीजी—"पुरुष भूषण" भूषण जैसे कण्ठ से लगाकर सब अंगो में धारण करते हैं उसी प्रकार आप भी वैसे होकर हास्य दो, जैसे यहां पुरुष भूषण धारण करने के लिए लाख धारण करते हैं वैसे ही हम कण्ठादिकन में भगवद् धारण के लिए काम को धारण कर रही हैं। काम लाख रूपी है. अर्थात् दोनों वस्तु धारण कर रही हैं, भूषण रूप भगवान्, अपना अन्तःकरण का काम, वह लाख रूप है।

(४) भगवान् के वचन हैं कि चीर हरण लीला पढकें, और रास पंचाध्यायी में श्री शुकदेवजी के वचन हैं, कि इन लीलाओं के पढ़ने से लौकिक काम शान्त होकर अलौकिक भाव जागृत होते हैं।

श्रीमद्भागवत स्कंध १०–अ० २२ श्लोक २६– "न मय्यावेशितधियां कामः" अ० ३३ श्लोक ४०–"हृद्रोगमाश्वपहिनोत्य चिरेण धीरः"

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी - पुष्प - वाटिका में से चुनी हुई कुछ सौरभपूर्ण कलियां

सा (अविद्या) भगवच्छक्तिः भगवत्संगतं न व्यामोहयति ॥१०–२६–११	ये (अविद्या) भगवान् की शक्ति, भगवान् के साथ संबन्ध वाले को मोह नहीं करती।
मूढा अपि वैष्णवा एवहि विष्णुर्गतिं जानन्ति, न त्वत्यन्तम् निपुणा अप्यवैष्णवाः ॥१०–२७–४	मूढ होते हुए भी वैष्णव ही विष्णु की गति को जानते हैं, परन्तु अत्यन्त निपुण होते हुए भी अवैष्णव नहीं जानते।
सर्वोपमर्दी भगवत्संबंधी रसः ॥१०–२७–१३	भगवान् संबंधी रस सब रसों को दबा देने वाला है।
भगवदावेशे हि सर्वज्ञता भवति ॥१०–२७–२४	भगवान् का आवेश होने से सर्वज्ञता होती है।
ध्वजस्य स्थापनं भक्तानां निर्भयवासार्थम्। अंभोजस्थापनं सुख सेव्यत्वाय। चक्रस्थापनं रक्षायै। मनोनिग्रहार्थमंकुश स्थापनम्। कीर्तिसिद्ध्यर्थंयवः। वज्रादयोऽप्या-दिशब्देनोच्यन्ते पाप पर्वतादिनिराकरणार्थाः ॥१०–२७–२५	भक्तों के निर्भयवास के लिए (भगवान् ने अपने चरणों में) ध्वजा स्थापी है, सुख से सेवा हो सके उसके लिए कमल रखा है, रक्षा के लिए चक्र रखा है, मनका निग्रह करने के लिए अंकुश रखा है, कीर्ति सिद्ध करने के लिए यव रखा है, पाप रूपी पर्वतों को तोड़ने के लिए वज्र और इसी प्रकार अन्य भी कहे हैं।
स्वदोषपरिज्ञानं च भगवत्कृपयैव भवति न स्वतः ॥ १०–२७–४१	अपने दोष का ज्ञान भगवान् की कृपा से होता है अपने आप मालूम नहीं होता।
न हि भगवदीया अन्धकारं प्रविशन्ति ॥ १०-२७-४२	भगवदीय अन्धकार (अज्ञान) में प्रवेश नहीं करते।
दोषनिवारणे हरिगुणगान मेव साधनाम् १०-२७-४४	दोष दूर करने में हरि के गुण गान ही साधन हैं।
यथाविधिर्विवाहे तथैव शरणागत-पालनेऽपि। विवाहापेक्षया शरणागतरक्षा महती। स साधारणधर्मः, अयमीश्वर धर्म इति ॥ १०–२८–५	जैसे विवाह के लिए विधि है वैसे ही शरण आए हुए का पालन भी विधि है। विवाह से शरण आए हुए की रक्षा बड़ी (वस्तु) है, कारण कि (विवाह) साधारण धर्म है और ये (शरण आए हुए की रक्षा) ईश्वर का धर्म है।
भगवदपेक्षयापि चरण महान् आपदि ध्यानमात्रेणैवापदं दूरी करोति ॥१०–२८–१३	आपत्ति में केवल ध्यान से ही (भगवान् के चरण) आपत्ति दूर करते हैं जिससे भगवान् की अपेक्षा उनके चरण बड़े हैं।
न हि साधन सम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्। भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम्। संतुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः ॥ १०–२९ कारिका २–३	साधन की संपत्ति से हरि किसी पर प्रसन्न नहीं होते। भक्तों के लिए दीनता ही भगवान् को प्रसन्न करने का एक मात्र साधन है। प्रसन्न हुए भगवान् सब दुःखों को सर्वथानाश करते हैं।

साधनैर्निवर्तितोऽपि दोषा न सम्यक् निवर्तंते, यावद्भगवान्न निवर्तयति ॥ १०-२६-१५	जब तक भगवान् दोष को दूर नहीं करें तब तक दोष साधनों से, अच्छी तरह से दूर नहीं होते ।
साधवो हि महत्कर्म कृत्वा स्वयमेव तुष्यन्ति, न तु प्रत्युपकारमपेक्षन्ते ॥ १०-२६-२२	साधु लोग बड़ा कर्म करके अपने आप ही पसन्न होते हैं, परन्तु पीछे उपकार की अपेक्षा नहीं रखते ।
निन्दितं कर्मापि कालकूटवन्नाशकम् । तदीश्वरस्यैव शोभाकम्, येन नील कण्ठो भवति । तथैव गोपीजनवल्लभ इति ॥ १०-३०-३१	निन्दित कर्म भी कालकूट की तरह नाश करनेवाला वह ईश्वर को ही शोभा देने वाला है जिससे नीलकंठ हुए हैं। इसी प्रकार भगवान् गोपीजनवल्लभ हुए हैं ।
एवमुद्धृत भक्तास्तु यद्यन्यं समुपासते । दुःखभाजो भवन्त्येव मुच्यन्ते हरिणैव तु ।। १०-३१-का॰ २	इस प्रकार उद्धार किए हुए भक्त भी जो दूसरे की उपासना करे तो दुःखी होते हैं, फिर भी हरि ही उन्हें (दुःख से) मुक्त करते हैं ।
सर्वापकृष्टा सर्पयोनिः । सर्वोत्तमा भगवदीया । एवं चरण प्रभावः । तस्य सर्वाधमस्य सर्वोत्तमत्व प्रापणे प्रमेयबलमेव हेतुः । चरणरज एव सामग्री संपादकम् ॥१०-३१-६	सबसे नीची सर्प योनी है । सबसे उत्तम भगवदीय हैं। ऐसा (भगवान् के) चरण का प्रभाव है । सबसे अधम उसको (सुदर्शन विद्याधर को) सबसे उत्तम भी कराने में प्रमेय बल ही कारण है । (भगवान् के) चरण की रज ही सामग्री प्राप्त कराने वाली है ।
पादस्पर्शः सुतरां दुर्लभः । तत्रायि चरण कर्तृकः । यतश्चरणे तादृशो रेणुः गंगादितीर्थानि, अमृतरसः भक्ताः इति सर्वं सान्निध्याद् युक्तमेव सर्वदोष निवर्तकत्वम् । १०-३१-१७	(भगवान् के) पाद का स्पर्श बहुत ही दुर्लभ है, उसमें भगवान् का किया हुआ । उसमें भी भगवान् के चरण में किए का कारण कि चरण में उनकी रेणु, गंगा आदि तीर्थों, अमृत रस भक्त (रहते हैं) जिससे सबके सानिध्य के लिए (चरण स्पर्श से) सब दोष दूर होवे वह योग्य ही है ।
अवश्यं प्रमाणबले मार्गे दैत्योपद्रवो भवति ॥ (आभास) १०-३१-२५	प्रमाण के बल वाले मार्ग में दैत्यों का उपद्रव अवश्य होता है ।
न हि भगवदाज्ञा केनाप्युल्लंघ्या भवति । १०-३२-७	भगवान् की आज्ञा किसी से भी उल्लंघन हो सके वैसी नहीं ।
भगवदिया एव भगवत्संबंधं प्राप्नुवन्ति । १०-३२-७	भगवदियों को ही भगवान् का सम्बन्ध होता है ।
स्त्रियः पुरुषाश्च भगवदीयाः भगवति भगवदीयेषु च समागतेषु आनन्द युक्ता भवन्ति, भोगार्थं स्वकीयं च प्रयच्छन्ति ।। १०-३२-६	भगवदीय स्त्रीएं और पुरुष भगवान् अथवा भगवदीय के पधारने पर आनन्द पाते हैं और अपने आप को भोग के लिए अर्पित करते हैं ।
चित्तनैयत्येन भगवद्भजनं मुख्यम्, न तु विक्षिप्तचित्ततया ॥ १०-३२-११	चित्त को नियम में रख कर भगवान् का भजन (करना) मुख्य है परन्तु विक्षप्त चित्त से (भगवद् भजन मुख्य) नहीं ।

॥ श्री हरीः ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित

तत्त्वार्थ-दीप निबंध-भागवतार्थ प्रकरण

दशम स्कन्ध-तामस-फल उप-प्रकरण

२६ से ३२ अध्याय

सन्दर्भ—चतुर्थ पुष्प के पृष्ठ 'श' से आगे

साधन उपप्रकरण में कहे हुए पांच साधन करने से भगवान् श्रीकृष्ण में आसक्ति अधिक बढती है जिससे फल रूप छ गुणवाले पूर्ण भगवान् की प्राप्ति होती है, इससे यह फल अवान्तर प्रकरण कहलाता है ।

अतः परं सप्तभिर्वै फलं कृष्णो निरूप्यते ।
षड्गुणैः सहितः पूर्वमैश्वर्यं त्रिविधं मतम् ॥६५॥

यहां से अब सात अध्यायों में छ गुणों के साथ फल रूप श्रीकृष्ण का निरूपण है । आरम्भ में अर्थात् पहले अध्याय में उनके ऐश्वर्य गुण का वर्णन है जो तीन प्रकार का माना गया है ॥६५॥

ध्वनिनाऽऽहूय वाक्येन प्रेषयत्येव निश्चितम् ।
फले वाक्यं न कर्तव्यं दोषश्चेद्वारयिष्यति ॥६६॥
इति तासामगमनं गर्वेऽन्तर्भाव ईर्यते ।

भगवान् ध्वनि अर्थात् वेणुनाद के द्वारा (व्रज भक्तों को बन में) बुलाकर, कथन से वापिस लौट जाने को कहते हैं (परन्तु) यह निश्चित है (कि) फल प्राप्ति में आज्ञा मानने की (आवश्यकता) नहीं है । (क्योंकि आज्ञा उल्लंघन से यदि) दोष होगा तो भगवान् उसे दूर कर देंगे । इस विचार से वे नहीं गई बाद में भगवान् के प्रति उनके आन्तरिक भाव होने से उनको गर्व (सौभाग्य मद) का होना कहा गया है ॥६६॥

अयमेव हरेर्मार्गः सर्वोत्कृष्टो हि बुध्यताम् ॥६७॥
सम्बन्ध मात्रे सञ्जाते बहिर्वान्तरथापिवा ॥
कायेन मनसा वापि वचसा वापि सर्वथा ॥६८॥
रमयत्येव हि निजान् सर्वथा नैव मुञ्चति ॥

हरि का सबसे उत्तम मार्ग यही समझो कि उनसे आन्तरिक (हृदय से) अथवा बाह्य (बाहिर से) सम्बन्ध होते मात्र में ही वे (भगवान्) शरीर, मन अथवा वाणी से अपने भक्तों को पूर्णतया रमण कराते हैं और (उन भक्तों का) कभी भी त्याग नहीं करते हैं ॥६८॥

अन्तर्धान कथा प्रोक्ता वक्यं चापि निरूपितम् ॥९९॥
अध्याय द्वितयेनैव सकृद्भोगं निवारयन् ॥
आविर्भावं करोत्येष तथा वाक्यानि तुष्टये ॥१००॥

इस प्रकार २७ वें तथा २८ वें (इन) दो अध्यायों में भगवान् अंतरधान हुए उसकी कथा कही हुई है और फिर गोपियों के वाक्य (वार्तालाप) भी बताए गए हैं। एक वार भोग (रमण) करके फिर (उसमें प्रतिबन्ध डालकर) प्रकट होते हैं, और गोपियों को संतोष देने के लिए (२९ वें अध्याय में) वाक्य कहते हैं अर्थात् वचन द्वारा समझाते हैं ॥१००॥

रमते च रमातोऽपि विशेषेण रतिप्रदः ।
परोक्षोऽपि रतिं चक्रे तेन वीर्य मुदीरितम् ॥१०१॥

और गोपियों को लक्ष्मी से भी अधिक रति देनेवाले भगवान् उनके साथ रमण करते हैं, भगवान् ने अदृश्य रहते हुए गोपिओं में रति करके विप्रयोग रस का दान दिया जिससे वह "वीर्य" (गुण) कहा गया है।

यशस्तु वचनैः स्पष्टं श्रीश्चाविर्भावतः स्फुटा ।
चतुष्टयं निरुप्याग्रे धर्मी कृष्णो निरूपितः ॥१०२॥

यश' तो गोपीगीत के वचनों से (२८ वें अध्याय में) है ही और भगवान् प्रकट हुए जिससे "श्री" गुण (२९ वें अध्याय में) स्पष्ट मालूम होता है। चार गुण (ऐश्वर्य, वीर्य, यश और श्री) पहले दिखाकर पीछे 'धर्मी' श्रीकृष्ण का वर्णन (३० वें अध्याय में) किया गया है ॥१०२॥

भोगे मध्ये महत्सौख्यं तस्मादेवं निरूपितम् ॥
स्वरूपेण रतिः प्रोक्ता न धर्मै रस रूपतः ॥१०३॥

बीच में रमण करने से बहुत सुख होता है, जिससे इस प्रकार वर्णन किया गया है। भगवान् स्वयं के रस रूप होने से स्वरूप से उनको आनन्द प्राप्त कराने का कहा गया है, गुणों से प्राप्त कराना नहीं कहा गया है ॥१०३॥

ततो वैराग्य भावेन फलदाता निरूप्यते ॥
कौतुकेनापि पूर्वेषां करणं न सुखाय हि ॥१०४॥

पीछे "वैराग्य" गुण से फल देनेवाले भगवान् का निरूपण (दैवगति आदि) किया हुआ है, कारण कि धर्म बुद्धि से किए हुए इन्द्रयाग आदि पहले के अवैष्णव कर्मों से सुख नहीं हुआ था।१०४।

अतः कौतुकरीत्याऽपि गताः सर्वे हरान्तिके ॥
कालेनाऽऽग्रस्त मूर्धानः कृष्णेनैव विमोचिताः ॥१०५॥

जिससे फिर धर्म बुद्धि (दैवगति आदि) के प्रकार से सब महादेव के पास गए। उनमें से काल ग्रस्त मुख्यों को श्रीकृष्ण ने ही छुड़ाए ॥१०५॥

अतस्तत्कर्म हरिसात्कृत्वा व्रजमुपाययुः ॥
तमसि त्रितयं प्रोक्तं हरिस्तत्राधिदैविकः ॥१०६॥
स तु तूष्णीं भवत्यत्र कालस्त्वाध्यात्मिको मतः ॥
हर भृत्यास्तु भूतानि स्त्रीणां हर्ता ततो निशि ॥१०७॥
शङ्खचूड इति प्रोक्तस्तं च हत्वा विमोचिताः ॥

जिससे वे उस कर्म को हरि के अर्पण करके पीछे व्रज में आए। अज्ञान रूपी अंधकार में तीन (रातें) कही हुई हैं वे इस प्रकार हैं (१) हरि आधिदैविक हैं, वे तो शांत रहने वाले हैं, (२) काल तो आध्यात्मिक माना गया है। (३) शंकर के सेवक तो आधिभौतिक हैं, जिससे शंखचूड नाम का शंकर का सेवक मध्य रात में स्त्रिओं को हरनेवाला कहा गया है, और उसको मारकर भगवान् ने स्त्रिओं को छुड़ाई ॥१०७॥

सुदर्शनो यथा जीवस्तथा सत्त्ववरो मणिः ॥१०८॥
कर्म स्वस्मिन्प्रतिष्ठाप्य रामे रत्नं न्यरूपयत् ॥
एवं कालादिसम्बन्धात्तामसान् स्वान्न्यवारयत् ॥१०९॥

जैसे सुदर्शन जीव था, (चरण से स्पर्श कर उसका उद्धार किया) वैसे मणि सत्त्व वृत्तिवालों में उत्तम थी, जिससे भगवान् ने कर्म अपने में रखकर रत्न बलभद्र (प्रमाण के अधिष्ठाता) को दिया। इस प्रमाण से अपने तामस सेवकों को काल आदि सम्बन्ध से दूर रखे ॥१०९॥

पूर्वसिद्धपरित्यागो वैराग्यं कालदोषतः ॥
ज्ञानं तु गुणगानं हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम् ॥११०॥
प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठम्

काल के दोष (पशुपति के पूजन आदि) से पहले जो प्राप्त हुवा हुआ हो उसका त्याग करे वह वैराग्य (है) ज्ञान तो भगवान् के गुणों का गान है। भगवान् अदृश्य होवे तब वह होता है। भगवान् प्रत्यक्ष हो तब भजन (सेवा) श्रेष्ठ है ॥११०॥

एवं चेद्रोधनं स्थिरम् ॥
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ॥१११॥
ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत्परिवर्तते ॥

जो इस प्रमाण से निरोध स्थिर हुवा हो, तो पुरुषों में तथा स्त्रिओं में ज्ञान और भक्ति रात में तथा दिन में सदा चक्र की तरह, फिर फिर कर आते हैं अर्थात् स्त्रियों को दिन में ज्ञान और रात्रि में भक्ति तथा पुरुषों में दिन में भक्ति और रात्रि में ज्ञान होता है ॥१११॥

॥ श्री हरिः ॥

भूमिका

तामस फल प्रकरण

अध्याय २६ से ३२

श्री मद्भागवत को वेद व्यासजी ने वेदरूप कल्प-वृक्ष का जो फल कहा है, उसका आशय है, कि यह भागवत भगवद्रूप है, जगत् में ज्ञानी अथवा भक्त जिस आनन्दमय फल की प्राप्ति की इच्छा करते हैं वह आनन्दमय फल, श्रीमद्भागवत में ही छिपा हुआ है, उस श्रीमद्भागवत के श्रवण तथा सेवन एवं पठन से उस फल की वैसे ही प्राप्ति होती है जैसे प्राकट्य के समय भगवान् श्रीकृष्ण से होती थी।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रकरण विभाग के अनुसार, प्रथम प्रकरण जन्म प्रकरण ४ अध्यायों का है। दूसरा तामस प्रकरण २८ अध्यायों का है; जिसमें ४ अवान्तर प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल प्रकरण हैं, जिनमें से जन्म, प्रमाण, प्रमेय और साधन प्रकरणों की सूक्ष्म भूमिका उन उन प्रकरणों में दी हुई है, अब यहां फल प्रकरण की भूमिका संक्षेप में दी जाती है —

श्रुतियों को तथा ऋषियों को दिए हुए वरदान को पूर्ण करने के लिए एवं भूमि, माता तथा अन्य भक्तों के दुःखों को मिटाने के लिए ब्रह्मा शङ्करादि देवों की प्रार्थना को फलीभूत करने के लिए आप (श्रीकृष्ण) व्रज में विविध लीला करणार्थ दो स्वरूपों से (एक केवल रस स्वरूप धर्म स्वरूप से एवं दूसरा धर्म विशिष्ट धर्मी स्वरूप से) प्रकट हुए हैं, मथुरा में प्रकट स्वरूप तथा गोकुल में माया सहित (वासुदेव व्यूह में स्थित होकर) गुप्त रूप से प्रकट स्वरूप, दोनों मूल रूप एक ही हैं, उनमें किसी प्रकार भेद नहीं है, केवल लीला करने के लिए एक स्थान पर शुद्ध, केवल रस स्वरूप से और दूसरे स्थान पर व्यूह विशिष्ठ चतुर्भुज स्वरूप से, प्रकट रीति से प्रकटे हुए हैं।

सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा भगवान् ने प्रकट होकर, क्रमशः अपनी लीलाएं प्रारम्भ की। भगवान् ने प्रथम वह कार्य प्रारम्भ किया, जिसके लिए, आपका मुख्य प्राकट्य था, अनन्तर अन्य लीलाएं की हैं, आपके प्राकट्य का मूल कारण श्रुतियों को एवं ऋषियों को दिए हुए वरदानों की पूर्ति करना था और नन्द यशोदाजी को वात्सल्य रस पान कराना था, अतः आपने प्रथम उन भक्तों को रसपान के योग्य बनाने के लिए उसी प्रकार की लीलाओं का करना प्रारम्भ किया।

प्रथम प्रमाण द्वारा भक्तों की आधिभौतिक अविद्या नाश करने के लिए अविद्या रूप पूतना को मारा और अपने माहात्म्य को प्रकट करने के लिए तथा लोभ मोह आदि दोषों को मिटाने के लिए शकट भञ्जन आदि लीलाएं की हैं जिससे व्रजवासियों की आधिभौतिक अविद्या मिटी और व्रजवासियों का भगवान् में स्नेहात्मक निरोध सिद्ध हुआ।

प्रमाण के पश्चात् द्वितीय अवान्तर प्रमेय प्रकरण में, की हुई स्वरूप सौन्दर्य, कालीयदमन, प्रलम्ब वध आदि लीलाओं द्वारा भगवान् ने प्रमेय बल से व्रजवासियों का आसक्ति रूप मध्यम निरोध सिद्ध किया है।

इसी प्रकार तृतीय अवान्तर साधन प्रकरण में की हुई लीलाओं से उनके किए हुए कुमारिका व्रत आदि कार्यों को सफल बनाकर ब्रह्मानन्द प्राप्ति कराके उनको भजनानन्द के योग्य बनाया अतः इन लीलाओं तथा साधनों से एवं प्रभु कृपा से व्रजवासियों का व्यसन+पर्यन्त निरोध सिद्ध हुआ।

इस साधन प्रकरण के पश्चात् फल प्रकरण है जिसमें व्रज भक्तों के अधिकारानुसार, भगवान् ने फल दान किया है—वह फलदान, भगवान् ने रूप और नाम द्वारा, दो प्रकार से किया है, रूप द्वारा पांच प्रकार से किया है जिसका वर्णन पांच अध्यायों में है और नाम द्वारा, दो प्रकार से किया है, जिसका वर्णन दो अध्याओं में इसलिए हुआ है, कि नाम (शब्द) प्रवृत्ति तथा निवृत्ति भेद से दो प्रकार का है।

इस फल प्रकरण की लीला का वर्णन भी उस प्रकार ७ अध्यायों में हुआ है जैसे पूर्वोक्त तीन प्रकरणों में हुआ है, कारण कि पुष्टि (प्रेम) मार्ग में क्रम नहीं रह सकता है, अतः यहां मध्य में ही भोग द्वारा सुख विशेष के दान की लीला हुई है।

भगवान् ने पांच अध्यायों में पांच[1] रूपों से लीला कर अपना रसात्मक स्वरूप गोपीजनों में स्थापित किया, इस प्रकार गोपीजन फलात्मक रस स्वरूप अपने में प्रतिष्ठित होने से, उद्धवजी को कहती हैं कि "ऊधो तुम भये भोरे, पाती ले के आए दोरे, योग कहां राखे यहां तो रोम रोम श्याम है"।

गोकुल में प्रभु जिस स्वरूप से प्रकटे हैं वह स्वरूप निःसाधन फलात्मा है, जैसे कहा गया है कि—'निःसाधन फलात्मायं प्रादुर्भूतोऽस्ति गोकुले। अतः निःसाधन फलात्मा होने के कारण, अपने भक्तों को प्रथम सर्वात्म भाव का दान स्वयं करते हैं, तदनन्तर उनको अपने रस रूप का दान करने के लिए स्वयं ही इच्छा प्रकट करते हैं तथा प्रयत्न कर, रमण का उपाय भी सिद्ध कर देते हैं।

इस प्रकार की कृपा से, जीव का अन्तःकरण जब तक भगवान् में निरहङ्कार हो दीन भाव से शरणापन्न रहता है, तब तक वह भक्त भगवान् से रमण का आनन्द प्राप्त करता रहता है, ज्योंही अहङ्कार हुआ दैन्य गया और शरण भावना लुप्त हुई, त्योंही वह रमण का आनन्द गुमा देता है।

गोपीजनों को भी भगवान् ने अपने अनुग्रह से, सर्व प्रकार उस रमण आनन्द के योग्य बनाकर आनन्द का दान किया, किन्तु उस रमणानन्द से, गोपीजनों को यह अभिमान हुआ कि

+ आचार्य श्री आज्ञा करते हैं, कि 'यदास्यात् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' जब जीव का कृष्ण में व्यसन हो जाता है तब वह कृष्ण के सिवाय अन्य पदार्थ भूल जाता है अतः कृतार्थ होता है।

[1] —आत्मा, मन, इन्द्रियां, प्राण और शरीर इन पांचो को रूप माना गया है।

हमारे समान कोई भाग्यशाली नहीं है । कारण कि, जो भगवान् ब्रह्मादि देवों के वश में नहीं, वह हमारे वश में हैं । इस प्रकार अहङ्कार उत्पन्न होते ही, अहङ्कार के अरि मुरारि, वहां ही अगोचर हो गए । आपके अदृश्य होते ही, गोपियां बे भान हो गईं और प्रभु को वन वन में ढूंढने लगी, लता पता आदि से प्रभु का पता पूछने लगीं, कहीं से भी परमात्मा की सुध न मिली, अन्त में, जिस गोपी को भगवान् लेगए थे, उसको भी विरहावस्था में व्याकुल देख कर वे समझ गईं कि यह सब, गर्व करने का फल है, यों भान होने पर भी हरि के गुण गाती हुई प्रार्थना करने लगी, किन्तु तब भी देखा, तो भगवान् प्रकट नहीं हुए अतः विशेष विरह असह्य होने से, उच्च स्वर से रुदन करती हुई विलाप करने लगीं, इस प्रकार रोदन और विलाप से अन्तः स्थित अहङ्कार नष्ट हुआ और उनमें पूर्ण दीनता[1] उदय हुई, तब दीन दयालु उन पर प्रसन्न होकर प्रकट हो गए, जिससे विरह आदि नष्ट हो गई, फिर पूर्ण रमण का लाभ प्राप्त करने लगीं ।

यह रमण वह है, जिसके लिए श्रुति कहती है, कि 'सोश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चिता' इस प्रकार के अलौकिक रमण को 'रास' कहते हैं, कारण कि यह रमण 'रसो वैसः' जो भगवान् हैं उस भगवद्रूप से होता है, जिसमें सब कुछ रसमय है, अतः (रास) शब्द का अर्थ है रस समूहो 'रासः' जिस लीला में सर्व प्रकार से विशुद्ध रस, आनन्द ही आनन्द की प्रतिक्षण अभिवृद्धि ही होती रहे, वह 'रास' है । रसात्मा भगवान् के साथ श्रुति रूपा गोपियों तथा ऋषिरूपा गोपियों का अलौकिक शरीरों से जो रमण हुआ, उसको 'रास' कहते हैं, यह 'रास' मोक्ष के गणित आनन्द से विशेष अगणित आनन्द देने के कारण महा फल है, अतः श्री शुकदेवजी इसके श्रवण का फल कहते हुए आज्ञा करते हैं, कि इसके श्रवण से काम रूप रोग का नाश होता है, जिससे सुज्ञ सज्जन समझ सकते हैं, कि जिसके श्रवण से काम रोग का नाश होता है वह स्वयं 'कामलीला कैसे होगी ? अर्थात् रास को काम लीला समझना भागवत से अनभिज्ञता है ।

रासलीला को शास्त्र तथा ज्ञानी भक्त परमोत्तम फल कहते हैं, पाठकगण उसको निम्न दिए हुए वाद से पूर्ण रीति से समझ जाएंगे कि वह 'कामलीला' नहीं है प्रत्युत 'कामनाशक लीला' है—तथा अक्षुण्ण आनन्द देने से सर्वोत्तम महाफल रूप हे ।

१—इस लीला के करने वाले पात्र निष्काम एवं अलौकिक हैं, भगवान् के लिए तो शास्त्र तथा जनता मानती है कि वह अकाम है, तथा श्रुतियां एवं ऋषि भी निष्काम होने से केवल प्रभु रस के पिपासु हैं, वे श्रुति रूप एवं ऋषि रूप गोपियां कहती हैं कि हे प्रभो ! हम सर्व विषयों का त्याग कर निष्काम होने से ही योगी तथा ज्ञानी जनों को दुर्लभ, आपके चरणारविन्द को पा सकी हैं । उसका त्याग हम किसी प्रकार भी नहीं कर सकती हैं, पति पुत्र आदि दुःख दाता हैं उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार की गोपियां विषयी थीं, यों समझना केवल भ्रम है ।

२—गोपीजन ने अपने पूर्व, (श्रुति स्वरूप) जन्म में तपस्या कर भगवान् से यह वर प्राप्त किया था कि जिस आपके अगम्य स्वरूप का नेति नेति से वर्णन कर हम अन्त में यहां पहुँची, कि आप केवल 'रस' रूप 'आनन्द' रूप हैं अतः हे प्रभो ! उस रस तथा आनन्द का अनुभव आपकी कृपा

---

[1] भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषण साधनम्, सन्तुष्टः सर्व दुःखानि नाशयत्येव सर्वतः ।

विना प्राप्त नहीं हो सकता है इसलिए ऐसी कृपा करो, जिससे हम आपके रस रूप का आनन्द प्राप्त कर उसे अपने अन्तः करण में स्थापित कर सकें। श्रुतियों की इस प्रार्थना को स्वीकार कर, उनको वरदान दिया कि, सारस्वत कल्प में आप व्रज में गोपी रूप से अवतीर्ण होंगी और मैं कृष्ण स्वरूप से प्रकट होऊंगा तब आपका यह मनोरथ पूर्ण होगा।

इसी प्रकार, तपस्या से शुद्धान्तःकरण वाले ऋषियों ने श्री रामचन्द्रजी के रस स्वरूप का सौन्दर्य देख उस रस की प्राप्ति के लिए, श्री रामचन्द्रजी को प्रार्थना की थी उस प्रार्थना को अङ्गीकार कर ऋषियों को वरदान दिया, कि अब मेरा यह मर्यादा अवतार है जब मैं रस स्वरूप से, श्रीकृष्ण स्वरूप प्रकट होऊंगा तब आपका मनोरथ पूर्ण होगा। इस प्रकार के वरों के अनुसार ही भगवान् को व्रज में उस रस स्वरूप से प्रकट होना पड़ा था. और उस रस स्वंरूप से ही रस प्रकट करने की शास्त्रोक्त रीति से सर्व अलौकिक सामग्री प्रकट कर 'रस रूप महाफल' का दान गोपीजनों को दिया है, अतः इस लीला में काम गन्ध मात्र भी नहीं है।

३—रास लीला को काम लीला समझने का भ्रम उन मनुष्यों को उत्पन्न हुआ है जिनको 'काम' और 'रस' स्वरूप के भेद का ज्ञान नहीं है, आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि—

'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते
'तासां कामस्य सम्पूर्त्तिर्निष्कामेनेति आस्तथा

इस रमण लीला में वे सर्व क्रियाएं है जो रस शास्त्र में रस को प्रकट करने के लिए नृत्य बन्ध आदि की जाती हैं, किन्तु उन क्रियाओं के होते हुए भी इसमें काम (लौकिक-व्यभिचार) नहीं है, यदि वह होता तो संसार (पुत्र आदि) उत्पन्न होता वह नहीं हुआ है अतः गोपीजनों के काम[1] (विशुद्ध रस स्वरूप के रस पान करने की इच्छा) की पूर्त्ति अकामात्मा प्रभु ने अपने स्वरूपात्मक रस दान देकर की है।

'काम' उस इच्छा को कहते हैं, जिससे लौकिक विषय भोग की लालसा मन में उत्पन्न होती है, विषय भोग करने से वह इच्छा पूर्ण हो जाती है, न केवल इतना ही, किन्तु विषय भोग से मनुष्य ऊब भी जाता है कारण कि, विषयानन्द क्षणिक सुखदायी है और अन्त में उससे दुःख की प्राप्ति होती है, तथा इस भोग से जीव जन्म मृत्यु के चक्कर में फंसा ही रहता है, किन्तु 'रस' काम से सर्वथा विपरीत है। एक तो उससे संसार उत्पन्न नहीं होता है, दूसरा वह आनन्द अक्षय है और क्षण क्षण में नवीन होने से ऊबजाने की घटना कभी नहीं घटती है प्रत्युत प्रतिक्षण उसके पान करने की उत्सुकता वढती ही रहती है, कारण कि, उस अनन्त अगाध रस का भण्डार जो श्रीकृष्ण है, जिसके रस भोग (प्राप्त) करने की इच्छा (कामना) ही श्रुति रूपा एवं ऋषिरूपा गोपियों का 'काम' है अतः उसको लौकिक 'काम' विषयभोग समझना भ्रम मात्र है।

---

[1] —किसी भक्त कवि ने कहा है कि 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यागमन प्रथं' गोपियों का 'प्रेम' ही लोक में 'काम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

४—उपरोक्त गोपियां निष्काम थी अतः वे किसी भी लौकिक पुरुष से प्रेम करना नहीं चाहती थी, किन्तु अकाम निरीह प्रेम रूप हरि से प्रेम कर उस प्रेम के रस का पान करना चाहती थी, वह सच्चा पुरुष रूप भगवान् श्रीकृष्ण ही है, वैसा उनको पूर्ण ज्ञान था, अतः उन्होंने श्रीकृष्ण को कहा है कि 'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' आप यशोदाजी के लौकिकवत् केवल पुत्र नहीं हो किन्तु समस्त देहधारियों के अन्तःकरण के दृष्टा हो । इस प्रकार उन गोपियों ने श्रीकृष्ण को रस रूप परब्रह्म परमात्मा समझकर उनसे प्रेम किया था, वैसी विशुद्ध प्रेमी भक्तों को ही अपने प्रेम रस स्वरूप का पात्र समझ अपना प्रेम रस स्वरूप उनमें लीला द्वारा स्थापित किया जिससे वे रस सागर में मग्न हो कृतार्थ हो गई । उपरोक्त गोपियों के अतिरिक्त जो गोप स्त्रियां जिनका भगवान् में वह विशुद्ध भाव नहीं था, किन्तु उपपति (जार) भाव था, वे उस रस की अधिकारिणी नहीं थीं, किन्तु लौकिक से विरक्त भगवान् में रत थीं, जिससे पति आदिकों के रोकने पर उनको भगवान् का जो विरह हुआ, उस विरहाग्नि से उनके शेष पाप कर्म भस्म हो गए और भगवान् के स्वरूप के आश्लेष के आनन्द से पुण्य फल भोग लेने से, उनकी गुणमय देह भस्म हो गई, जिससे उनको अधिकारानुसार भगवत्सायुज्य रूप मुक्ति मिली, भजनानन्द का अनन्त आनन्द नहीं मिला । इससे भी यह सिद्ध होता है कि, 'रासलीला' कामलीला नहीं है बल्कि मोक्ष से भी उत्तम अनन्त आनन्दमय फल है, जिसकी इच्छा योगी, ज्ञानी आदि भी करते हैं ।

५—रासलीला का स्वरूप समझाते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि 'रासो नाम रसेन पूर्णः पदार्थोऽन्य सम्बन्ध रहितः'—अन्य (लौकिक वैदिक) पदार्थ (फल) का सम्बन्ध जिसमें नहीं हो वैसे रस से पूर्ण पदार्थ (फल) को 'रास' कहा जाता है, उसको विशेष स्पष्ट समझाते हुए आज्ञा करते हैं कि 'प्रिया बहु स्त्री कर्तृ को नृत्य विशेषो भवति' बहुत प्रिया (स्त्री) एं जिसमें नृत्य करती हैं उसको 'रास' कहते हैं, वह नृत्य क्रीड़ा रूप रास, रात्रि में जब चन्द्रमा पूर्ण उदय होकर रहता है तब होता है, जिसका भावार्थ है, कि उस समय जैसे लौकिक वैदिक समस्त कार्य त्याग किए जाते हैं वैसे भक्त जब अपने सर्व कर्म त्याग भगवदर्थ ही व्यसन वाले बन जाते हैं तब वैसे व्यसनी भक्तों को अपने स्वरूप का रस दान करते हैं । गोपियां वैसी सर्व कर्मादि का त्याग वाली व्यसनारूढ निरुद्ध दशा वाली भक्त थीं अतः उनको भगवान् ने अपने रस स्वरूप का पान कराया था, इस लीला में इससे भी विशेष रहस्य तो यह है कि भगवान् ने अपने रस पात्र गोपियों में अपना रस स्थापन कर, स्वयं भी उस रस का पान किया है वैसी अनुपम अलौकिक विशुद्ध रसमय लीला को काम समझने वाले वे ही हो सकते हैं जो बुद्धि शत्रु और भ्रमित हैं ।

६—इस रासलीला के पात्र गोपियां कामविष्ट तो नहीं थी किन्तु भगवद्रसाविष्ट भक्त शिरोभूषण थी अतः उद्धवजी जैसे परमज्ञानी ने उनके चरण रज की सदैव प्राप्ति के लिए व्रज में लता गुल्म होने की इच्छा प्रकट की है और यदि यह काम लीला होती तो परम वैरागी लौकिक स्त्री पुरुष भेद शून्य, ज्ञानी श्रेष्ठ शुकदेवजी, संसार त्यागी मोक्षेच्छु परीक्षित को कभी भी यह लीला नहीं सुनाते तथा उसके सुनने का फल काम नाश होकर मोक्ष तथा भगवदानन्द प्राप्ति कभी नहीं कहते, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस लीला सुनने से परीक्षित मुक्त हुए हैं तथा जिन्होंने भी श्रवण किया है वे भी मुक्त हो गए हैं ।

७—उपनिषद् आदि शास्त्रों का सिद्धान्त है कि यह भगवदंश जीव चिद्रूप है । अविद्या द्वारा

देहादि अध्यास तथा स्वरूप विस्मृति के कारण, आनन्द से रहित हो गया है। वह आनन्द, जीव को तब प्राप्त होता है, जब आनन्द स्वरूप रसात्मा भगवान् से सम्बन्ध प्राप्त करता है। वह भगवत्कृपा से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं, वे जब कृपा करते हैं तब जीव कृतार्थ होता है इसलिए कहा है कि 'य मेवैष वृणुते तेन लभ्यः' यह परमात्मा जिस जीव को अपनाता है, वह जीव ही भगवान् को पा सकता है। 'एष ह्येवानन्दयति' यह परमात्मा ही जीव को आनन्दी बनाता है, 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह जीव रस स्वरूप को प्राप्त कर ही आनन्दवाला होता है इत्यादि वेद वचनों से सिद्ध है, कि रसात्मा परमात्मा की प्राप्ति से ही जीव चिद्रूप से चिदानन्द बनता है। इस लीला को सूक्ष्म दृष्टि से देखने से यही फल निकलता है, कि भगवान् ने कृपा कर व्रजभक्तों का वरण किया है, जिससे उनकी सर्व प्रकार की अविद्या को अपने प्रमाण प्रमेय आदि बल से नष्ट कर उनका अपने में पूर्ण निरोध सिद्ध कर उनको योग पात्र बना के अन्त में अपने रस स्वरूप का दान उनको किया है, यही 'रासलीला' का तात्पर्य व भाव है।

इस संक्षिप्त भूमिका से इस लीला का विवेचन यहां किया गया है विशेष रूप में तो सुबोधिनीजी को पढकर रस पान कर सकते हैं।

राग टोडी

रसिक सिर मोर टेरि लगावत गावत राधा राधा नाम।
कुञ्ज भवन बैठे मन मोहन अलि गोहन सोहन
बोलत मुख तेरोई गुन गान॥
श्रवन सुनत प्यारी पुलकित भई प्रफुलति तनु मनु
रोम रोम सुरव रासी बाम।
सूरदास प्रभु गिरवरधर को चली मिलन गजराज गामिनी
झनक रुनक वन धाम।

*

राग विलावल

जो सुख श्याम प्रिया संग किन्हो। सो जुवतिन अपनो कर लीन्हो॥
दुबिधा हृदय कछु नहीं राख्यो। अति आनन्द वचन मुख भाख्यो॥
यहै कहती तब की अब नीके। सकुचि हंसी नागरि शंग पी के॥
नयन कोर पिय हृदय निहारयो। उनि पहले पीतांबर धारयो॥
सूरदास यह लीला गावैं। हरि पद शरन अछै फल पावैं॥

◆

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २९ वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार २६ वां अध्याय

तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

'प्रथम अध्याय'

रास लीला का आरम्भ

कारिका—**ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने ।**
लीला या युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—ब्रह्मानन्द के सुखानुभव में से निकालकर, भजनानन्द के आनन्द में नियुक्त करने के लिए सम्यक् प्रकार से जो लीला की है उस (लीला) का इस चतुर्थ तामस फल प्रकरण में वर्णन किया जाता है ॥१॥

कारिका—**लौकिकस्त्रीषु संसिद्धस्तद्द्वारा पुरुषे भवेत् ।**
स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिता ॥२॥

कारिकार्थ—यह भजनानन्द रूप फल लौकिक (अन्यविवाहित एवं अविवाहित)

स्त्रियों में पूर्णतया सिद्ध होने पर उनके द्वारा ही पुरुष (गोपों) में सिद्ध हो सकता है। अतः स्वामिनीभावगम्य भजनानन्द की योग्यता भी इन्हीं लौकिक स्त्रियों में है यह सूचित हुआ ॥२॥

कारिका—**ततो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यते ।
तद्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथा ॥३॥**

कारिकार्थ—इससे यह बताया कि भजनानन्द स्त्रियों में ही भलीभांति स्थापित किया जा सकता है और उनके द्वारा (अर्थात् भगवत्प्रसादरूपा शक्ति के प्रवेश अथवा ऐसे प्रवेश वाली गोपिकाओं की कृपा द्वारा) ही यह भजनानन्दानुभव व पुरुषों को हो सकता है अन्यथा नहीं ॥३॥

कारिका—**स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान् ।
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम् ॥४॥**

कारिकार्थ—(जहां ऐसा प्रवेश अथवा प्रसाद हो तो भी स्त्रित्व के बिना इस रस का पान असंभव है अतः) स्त्रियां ही इसे–पुरुषरूप भगवद्रसको–पीने में समर्थ हैं और उसके बाद ही उनमें स्वयं अपने इस भजनानन्द के रस का पान भगवान् भी कर सकते हैं अतः भगवान् कृष्ण ने अहर्निश स्त्रियों के मध्य में ही रमण किया ॥४॥

कारिका—**बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु परं फलम् ।
ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते ॥५॥**

कारिकार्थ—उपरोक्त श्रीकृष्ण की लीला (स्त्रियों में ही रमण) दो प्रकार से होती है। १–बाह्य प्रकार से, २–आभ्यन्तर प्रकार से। इनमें आभ्यन्तर लीला परम फल रूप है। अनन्तर शब्दात्मिका * जो विशिष्ठ निर्दोष लीला है, उसका निरूपण किया जाता है ॥५॥

---

* नाम लीला जिसमें भगवान् के गुण गान किये जाते हैं।

कारिका—ततो रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रमणं मतम् ।
आत्मना प्रथमा लीला मनसा तु ततः परा ॥६॥

वाक्प्राणैस्तु तृतीया स्यादिन्द्रियैस्तु ततः परा ।
शारीरी पञ्चमी वाच्या ततो रूपं प्रतिष्ठितम् ॥७॥

कारिकार्थ—उसके पश्चात् भगवान् के पांच प्रकार के रूपों से पाँच तरह रमण हुआ है । १–आत्मा से, २–मन से, ३–वाणी तथा प्राण से, ४–इन्द्रियों से और ५–शरीर से, इन ५ प्रकारों से रूप की प्रतिष्ठा हुई है ॥६-७॥

कारिका—षड्विंशे तु हरिः पूर्वं जीवानानन्दयत्स्वयम् ।
ते चेत् समर्पितात्मानस्तत्रोपायश्च रूप्यते ॥८॥
आत्मा यावत् प्रपन्नोऽभूत्तावद्वै रमते हरिः ।
सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च सः ॥९॥

कारिकार्थ—२६ वें अध्याय में भगवान् ने स्वयं प्रथम जीवों को आनन्दित किया, जिससे भगवान् ने जीवों को आनन्द प्राप्ति के उपाय भी बतादिए हैं कि यदि जीव सर्वात्मभाव वाले हैं तो हरि उनके साथ रमण करते हैं अन्यथा नहीं । भगवान् वैसे भक्त से रमण करते हुए उसके अन्तःकरण के सम्बन्धी हो जाते हैं तब बाहर से छिप जाते हैं ॥८-९॥

व्याख्या—प्रमाण प्रमेय और साधन प्रकरणों में की हुई लीलाओं से निरुद्ध व्रज भक्तों को पुष्टि-मार्गीय भजनानन्द रूप उत्तम फल दान देने की भगवान् की इच्छा हुई, तदर्थ साधन प्रकरण के अन्त में भगवान् के व्रजभक्तों को उस फल की उत्तमता का ज्ञान कराने के लिए एवं उसके योग्य देहादि का निर्माण कराने के लिए 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति के अनुसार प्रथम उनको [व्रज भक्तों को] ब्रह्म रूप बना के ब्रह्मानन्द में मग्न कर देहादि का भान भुला दिया जिससे उनकी दशा पानी में डूबे हुए मनुष्य जैसी हो गई । जैसे पानी में डूबा हुआ जल के रस पान करने में असमर्थ होता है वैसे ही वे भी भगवद् रस पान करने में अशक्त हो गए किन्तु भगवान् को तो, उनको स्वरसात्मक स्वरूप का अनन्त रस पान कराके पुष्ट कराना था, अतः जब उस परिमित आनन्द में डूबे हुए व्रजभक्तों को वहाँ से निकाला, तब उनकी देहादि सर्व इन्द्रियाँ ब्रह्मरूप दिव्य अलौकिक हो गई थीं । जिससे भगवान् ने उनको ब्रह्म का लोक दिखाया, अर्थात् अपना दिव्य धाम, जिसमें आप पुष्टि

पुरुषोत्तम स्वरूप से सदा विराजते हैं जिसका दर्शन अक्रूरजी ने किया था, उस स्वरूप का दर्शन कर नन्दादिक सर्व व्रजवासी अति विस्मित हुए।

अब इस फल प्रकरण का विवरण करते हुए दोनों प्रकरणों की साधन और फल भाव रूपा सङ्गति बताते हुए कहते हैं कि साधन प्रकरण के अन्त में जो ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कही, वह पुष्टि-मार्गीय फल का साधन है, उसका फल यह भजनानन्द पुष्टि-मार्गीय फल है। इस प्रकार दोनों प्रकरणों की परस्पर साधन और फल भाव रूपा सङ्गति है।

सर्व समर्थ सर्वत्र विराजमान् गोपों को ब्रह्मानन्द में मग्न करना और अपना धाम दिखाना आदि जो लीला की है वह यहां गोकुल में ही की है, अपने अचिन्त्यैश्वर्य से, उनकी दृष्टि में, गोकुलादि सर्व तिरोहित कर दिया और उनमें (व्रज भक्तों) में जो प्रथम केवल सत् चित् अंश था, उसमें आनन्दांश को प्रकट कर उन्हें ब्रह्म रूप बनाके ब्रह्मानन्द में मग्न किया, अनन्तर ब्रह्मानन्द से निकाल कर, अपने दिव्य धाम और उसमें अपने स्वरूप का दर्शन कराके दिव्य आनन्द का दान भी यहाँ ही दिया है। नन्दादि गोप ब्रह्म रूप हो, व्यापि वैकुंठ धाम में नहीं गए थे।

इस लीला के अनन्तर फल प्रकरण की लीला प्रारम्भ की है जिससे पहली कारिका में कहा है कि ब्रह्मानन्द से निकालकर भजनानन्द में सम्यक् प्रकार से नियुक्त करने की लीला का वर्णन इस फल, (चौथे) उपप्रकरण में किया जाता है ॥१॥

दूसरी कारिका में यह दिखाया है, कि इस पुष्टि-मार्गीय 'भजनानन्द' रूप फल का स्वाद लेने के योग्य गोपीजन हैं कारण कि, वे लौकिक स्त्रियाँ हैं, अर्थात् जिन्होंने भगवान् से अन्य, लौकिक पुरुषों से विवाह किया है, उनमें ही रस शास्त्र के नियमानुसार भजनानन्द सिद्ध होता है।

भगवान् ने गोपियों में अपने (भगवान् के) अनुभव की योग्यता भी बताई है, कारण कि उनमें (गोपियों में) ब्रह्मानन्द रूपी लक्ष्मी की स्थापना की है तथा इस प्रकार अन्य गोपियाँ जो कुमारिकाएं हैं, जिन्होंने कात्यायनी अर्चन कर भगवान् की प्रसाद (अनुग्रह) रूप शक्ति को अपने में स्थापित किया है, जिससे, वे भी रस पान करने के योग्य हुई हैं। गोपों में इस प्रकार की शक्ति का अभाव है, अर्थात् उनमें न लक्ष्म्यंश है और न प्रसाद रूप शक्ति है अतः वे गोप भगवान् के साथ रमण के अधिकारी नहीं हैं ॥२॥

उपरोक्त कारणों से भजनानन्द स्त्रियों में ही सम्यक् प्रकार से स्थापित किया जाता है, उनके द्वारा अथवा उनकी कृपा से अथवा भगवान् की प्रसाद रूपा शक्ति के प्रवेश से तथा भगवान् के अनुग्रह से पुरुष भी भजनानन्द रस का पान कर सकते हैं, अन्य किसी प्रकार से वे नहीं कर सकते हैं ॥३॥

भजनानन्द रस का पान केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हैं, पुरुष में कृपा शक्ति का प्रवेश हो तथा गोपीजनों का अनुग्रह हो तो भी जब तक उसमें स्त्री भाव का उदय नहीं हुआ है, तब तक वह पुरुष भजनानन्द के रस का पान करने के योग्य नहीं है, तात्पर्य यह है कि रस रूप भगवान् का रस स्त्री भाव वाले जीवों में ही ठहर सकता है वे ही जीव रस के पात्र हैं, स्त्री जीव वाले, जब रसात्मा

पुरुष रूप भगवान् का रस पान कर अपने में स्थित कर लेते हैं, तदनन्तर पुरुष रूप भगवान् उन जीवों (स्त्री भाव वाले जीवों) में अर्थात् (स्त्रियों में) स्थापित हुए अपने ही रस का आप, उनमें से ग्रहण[1] करते हैं। अतः कहते हैं, कि भगवान् कृष्ण, दिन-रात स्त्रियों में रमण करते हैं ॥४॥

गोपीजनों की भक्ति तो पुरुषोत्तम के भजनानन्द रस के पानार्थ ही थी, तो उनको ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कैसे हुई ? और जहां २५ वें अध्याय में (साधन उपप्रकरण में) ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का वर्णन है वहाँ भी केवल नन्दादि गोपों को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कही है, तो उनको (गोपियों को) ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हुई तदनन्तर भजनानन्द मिला, यह कहना असङ्गत सा दिखाई देता है ?

इस शङ्का का समाधान इस प्रकार समझना चाहिए कि, भले गोपीजनों को ब्रह्मानन्द की आकांक्षा नहीं थी, तो भी, (भक्ति) का स्वभाव ही ऐसा है, कि जो भक्ति को अपनाता है, अर्थात् भक्ति करता है, उसको भक्ति ब्रह्मानन्द का दान स्वयं कर देती है, जैसा कि कहा है कि 'भक्तिर-निच्छतो मे गति मण्वीं प्रयुंक्ते' (भाग० तृतीय स्कन्ध अध्याय २५ श्लोक ३६) अतः भक्ति होने के कारण गोपीजनों में ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मी का प्रवेश हुआ है, यदि गोपीजनों में ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्म्यंश न होता तो भगवान् उनसे रमण नहीं करते। किञ्च भगवान् एक ही लीला कार्य से अनेक कार्य सिद्ध करते हैं। इस न्यायानुसार भगवान् ने गोपों को जब ब्रह्मानन्द का अनुभव कराया तब गोपियों को भी अनुभव कराया समझना चाहिए, भक्त को तनुजा वित्तजा भक्ति (सेवा) से स्वतः प्रथम ब्रह्मानन्द की प्राप्ति तथा संसार के दुःख से निवृत्ति हो जाती है, अतः गोपीजनों से भक्ति ने अण्वीगति ब्रह्मानन्दात्मक लक्ष्मी का प्रवेश कर दिया एवं भक्तों पर भगवान् का अनुग्रह होता ही है इत्यादि कारणों से गोपीजन भजनानन्द की सर्वथा अधिकारिणी थीं इसलिए भगवान् ने उनसे रमण कर उनको भजनानन्द का दान दिया है ॥४॥

फल उप-प्रकरण में भगवान् ने व्रजभक्तों से दो प्रकार की लीला की है, जैसे भगवान् ने 'नाम रूपे व्याकर वाणि' इस श्रुत्यनुसार जगत् में नाम और रूप को प्रकट कर, दो प्रकार की लीला की है, अतः आचार्य श्री ने निबन्ध में भी आज्ञा की है, कि 'रूप नाम विभेदेंन जगत् क्रीड़ति यो यतः' अर्थ—भगवान् रूप और नाम के विभेद से जगत् रूप हो कर क्रीड़ा करते हैं वैसे ही लीला प्रपंच में भी, पुष्टि पुरुषोत्तम नाम से तथा रूप से लीला करते हैं। १—नाम लीला (गुणलीला) और २—रूप लीला है, इनमें रूपलीला बाह्य लीला है और नाम लीला अन्तर लीला है। अन्तर लीला परम फल रूप है। प्रथम रूप लीला (बाह्य लीला) का वर्णन है अनन्तर शब्दात्मिका (नाम-गुण रूप) लीला का निरूपण किया गया है ॥५॥

रसात्मक भगवान् के पाँच रस रूप ये आधिदैविक हैं, उनके द्वारा पांच प्रकार से गोपीजनों के साथ रमण किया है। १—आत्मा, २—मन, ३—वाक्-प्राण, ४—इन्द्रियां, ५—शरीर ये पांच रूप हैं।

---

[1] पान

पहली लीला आत्मा से, दूसरी मन से, तीसरी वाणी तथा प्राणों से, चौथी इन्द्रियों से और पाँचवीं शरीर से की है। इस प्रकार पांचों रूपों से लीला कर आपने इस रस स्वरूप की गोपीजनों में प्रतिष्ठा की है ॥६-७॥

भगवान् के ये पांच रूप आत्म रूप ही हैं जीवके समान पृथक् नहीं है क्योंकि भगवान् को श्रुति ने 'स यथा सैन्धवघन' कहा है अर्थात् सैन्धवघन जैसे एक रस है वैसे ही भगवान् भी एक रस रूप होने से सर्व रूपों में एक ही रस रूप आप ही हैं। अतः श्रुति ने कहा है कि 'पश्यन् चक्षुः' 'वदन् वाक्', देखते हैं तब आप चक्षु रूप हैं, बोलते हैं तब आप वाक् रूप हैं अर्थात् आपके सर्व इन्द्रियादि रूप आत्म रूप, रस रूप ही है अतः आपके पांच रूप आत्म रूप होने से आपसे पृथक् नहीं है जिससे आप में द्वैतायत्ति नहीं है।

इस २६ वें अध्याय में भगवान् ने साधन बल के सिवाय स्वयं व्रजभक्तों को आनन्द दिया है। भगवान् ने नाद द्वारा उनको बुलाकर फिर उनको जाने को कहा यह तो योग्य नहीं था? इस शङ्का के मिटाने के लिए आचार्य श्री कारिका में कहते हैं कि लीला करते हुए भगवान् शास्त्र की मर्यादा का भी पालन करते हैं, अतः कहा है कि 'ते चेत् सर्मपितात्मानः..............................निरोधते हरिश्च सः' ॥८, ९॥

यदि भक्त सर्वात्मभाव वाले हैं तो यह रस प्राप्त कर सकते हैं यदि सर्वात्म भाव वाले नहीं हैं तो नहीं पा सकते हैं अर्थात् भक्त के अन्तः करण में शरण भावना और सर्वात्मभाव है, तो भगवान् वैसे शरण भावना युक्त सर्वात्मभाव वाले भक्त से रमण कर उसको रसदान करते हैं कारण कि भगवान् भक्त के अन्तःकरण को जानते हैं यदि अन्तःकरण में ये भाव नहीं हैं तो भगवान् उससे छिप जाते हैं उसको रसदानादि कुछ नहीं देते हैं अथवा यदि भक्त के अन्तःकरण में सर्वात्मभाव व शरणभावना देखते हैं तो उसको अन्तःकरण में दर्शन देकर रसपान कराते हैं और हरि होने से उनके दुःख दूर कर देते हैं फिर बाहर आप दर्शन नहीं देते हैं ॥९॥

आभास—प्रथम भजनानन्दं निरूपयितुं स्त्रीषु स्वानन्दः स्थापनीय इति तासु रत्यर्थमिच्छां कृतवानित्याह भगवानपीति।

आभासार्थ—प्रथम भजनानन्द का निरूपण करने के लिए स्त्रियों में अपना आनन्द [रस] स्वरूप स्थापन करना चाहिए इसके लिए भगवान् ने उनसे रति करने की इच्छा की, जिसका वर्णन 'भगवानपि' इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।**
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि—शरद ऋतु के कारण, जिनमें मालती

के पुष्प खिल रहे हैं उन रात्रियों को अच्छी प्रकार देख, योगमाया को साथ में लेकर भगवान् ने भी रमण के लिए मन किया ॥१॥

सुबोधिनी—'मयेमा रंस्यथ क्षपा' इति या रात्रयो वरत्वेन दत्ताः, स्त्रीणां रमणार्थाः, ता रात्रीर्भगमान् परिगृह्य, सर्वास्वेव रात्रिषु ता आधिदैविकीरारोप्य, पूर्णत्वात्तासां पूर्णिमारूपाः कृत्वा, ऋतुमपि शरदमेव कृत्वा, तस्यापि कार्यं पुष्पाण्येव कृत्वा, रसोद्दीपकत्वेन सर्वां सामग्रीं विधाय, पश्चाद्रमणार्थं स्वानन्दप्रकाशकं कामपितामहं मन उत्पादितवान् । तत्र सर्वासु संकल्पः स्वस्मिन्नपि बोधनीयः । तत्र वेणुरपि सहायतां प्राप्स्यति । ततः कामवर्णनम् । अतः प्रथमं तादृशं मनः कृतवान् यद्यपि उतत्प्रणालिकाव्यतिरेकेणापि स्वानन्दं तत्र स्थापयितुं शक्तः, तथापि मर्यादा तिष्ठत्विती भगवानपि मनश्चक्रे । नन्वेवं सति स्वानन्दः स्थानत्यागात् अन्यथा भवेत्, ततः स्परूपादपि प्रच्युतः स्यादित्याशंक्याह **योगमायामुपाश्रित** इति । योगमाया हि यथास्थितमेवान्यत्र स्थापयति, यथा सङ्कर्षणम् । लीलार्थं सापि पूर्वं परिगृहीतेति नापूर्वं किञ्चत् । यथा प्रमाणे रक्षायां च बलभद्रोपयोगः, एवं कार्ये योगमायाः । तत्राप्यान्तरङ्गा योगमाया, अन्यत्र स्थितं प्रमाणमन्यत्रापि योजयति, अन्यत्र स्थितं चानन्दमन्यत्र । अतः प्रमाणातिरिक्तमार्गो भक्तिमार्गश्चाग्रे विततौ भविष्यतः । याश्च रात्रयो रमणार्थमेव निर्मिताः, ता एव परिगृहीता अन्यथा साधारणीपरिग्रहे सर्वत्रैवानन्दः स्यात् । शरदि ऋतावुन्फुल्ला मल्लिका यासु । ता दृष्ट्वारमणार्थं मनः कृतवान् । योगमायां च समीप एवाश्रित्य स्थितः ॥१॥

भगवान् श्रीकृष्ण अलौकिक आधिदैविक रस रूप हैं उनकी लीलाएँ भी आधिदैविक हैं तथा लीला की सर्व सामग्री भी अलौकिक आधिदैविक होनी चाहिए अतः भगवान् ने इस फलरूप भजनानन्द लीला करने के लिए सर्व सामग्री आधिदैविक प्रकट की है। उसका वर्णन इस श्लोक में श्री शुकदेवजी ने किया है जिसका स्पष्टीकरण आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में किया है।—'टिप्पणी'

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'ता रात्रीः' कहा है 'वे रात्रियां' वे कौनसी रात्रियां हैं ? 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' में जो कुमारिकाओं के व्रत से प्रसन्न हो कर उनको जो रात्रियां रमण के लिए वरदान में दी गई थी उन आधिदैविक रात्रियों को प्रकट कर, इन रात्रियों में स्थापित किया जिससे उन पूर्ण आधिदैविक रात्रियों के मिलने से, रात्रियां भी पूर्ण होने से पूर्णिमा बन गई। इसी प्रकार ऋतु को भी शरद् बनादी। केवल शरद् नहीं बनाई, किन्तु उसका कार्य, मालती के पुष्प खिला दिए, इसी भांति रस को जागृत करने वाली सर्व सामग्री तैयार कर, अनन्तर रमण करने के लिए अपने आनन्द के प्रकाशक, काम के पितामह* (मन) को उत्पन्न किया। भगवान् ने मन के उत्पन्न से, जो रमण करने का सङ्कल्प अपने में उद्भूत (पैदा) हुआ देखा वह सङ्कल्प गान द्वारा सर्व व्रजाङ्गनाओं को सूचित करना चाहिए (सुनाना चाहिए), उस गान करने में बंशी भी सहायता देगी। उस गान

---

*मन काम का पितामह (दादा) है। क्योंकि काम को पैदा करने वाला सङ्कल्प है, और सङ्कल्प को पैदा करने वाला मन है, अतः मन काम का पितामह है।

द्वारा मेरा सङ्कल्प उनके पास पहुँचेगा तो उनके मन में भी सङ्कल्प का उद्भव होगा। उससे (गान से] काम का वर्णन हो जाएगा। इस कारण से, प्रथम वैसा मन किया, अर्थात् रमण करने वाला मन बनाया। जो कि इस प्रकार के सिवाय दूसरी तरह भी भगवान् गोपियों में अपना रस स्थापन करने में समर्थ थे तो भी रसशास्त्र की मर्यादा का भङ्ग न हो इसलिए रसशास्त्र की पद्धति के अनुसार रसदान करने के लिए भगवान् ने मन किया।

रसशास्त्र की पद्धति से करने पर अपना आनन्द (भगवान् का आनन्द रूप) स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर जाएगा तो उसमें विकार होगा और स्वरूप से भी च्युत होगा[1] अर्थात् जीव के समान हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि यदि भगवान् अपना रस स्वरूप गोपियों में स्थापित करें तो वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से विकृत हो जाएगा और भगवान् की रसात्मकता न रहेगी। इस प्रकार विकारादि न हो तदर्थ भगवान् ने प्रथम ही योगमाया को अपने पास रक्खा है। क्योंकि योगमाया में वैसी शक्ति है कि किसी भी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाय तो किसी प्रकार का विकार उसमें नहीं होता है जैसे 'सङ्कर्षण' को पधरा के गई तो उसमें किसी प्रकार की विकृति नहीं हुई। भगवान् ने इसको (योगमाया को) लीला के लिए पहले भी अपने पास रक्खा था। जैसे प्रमाण और रक्षा में बलभद्र का उपयोग[2] है, वैसे कार्य के लिए योगमाया की आवश्यकता है। इसमें भी योगमाया तो अन्तरंगा है, अन्यत्र स्थित प्रमाण एवं आनन्द को बिना विकृत किए अन्यत्र स्थापित कर सकती है। अतः प्रमाण से अतिरिक्त मार्ग और भक्ति मार्ग का आगे विस्तार होगा।

जिन रात्रियों को रमण के लिए भगवान् ने निर्माण किया था, वे ही रात्रियां ली गई हैं यदि साधारण* रात्रियाँ ली जाती तो सर्वत्र‡ ही आनन्द प्रकटित हो जाता ॥१॥

आभास—नूतने तस्मिन् मनसि देवता नास्तीति, अनधिष्ठितं च कार्यं न साधयिष्यतीति तदधिष्ठातृदेवं चन्द्रं च ससृज इत्याह तदोडुराज इति।

आभासार्थ--भगवान् ने रमण करने के लिए नवीन मन उत्पन्न किया, उसके साथ उसके अधिष्ठाता देव चन्द्रमा को भी उत्पन्न किया, कारण कि अधिष्ठाता देव के बिना मन कुछ कार्य न कर सकेगा इसलिए चन्द्र भी उसी समय प्रकट हुआ जिसका वर्णन निम्न श्लोक में शुकदेवजी करते हैं।

---

* जिन रात्रियों में रमणलीला से अन्य लीलाएँ हुई हैं वे रात्रियाँ साधारण रात्रियाँ हैं।

‡ गो और गोपादिकों में भी

---

[1] —गिर जाएगा, [2] —आवश्यकता

श्लोक—तदोडुराजः कुकुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो हरन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥२॥

श्लोकार्थ—चिरकाल से मिला हुआ पति जैसे अपनी प्यारी का दुःख दूर करता है वैसे ही उस समय शीतलता देने वाली अपनी लाल किरणों से पूर्व दिशा के मुख का लेपन करते हुए और लोकों के दुःखों को मिटाते हुए चन्द्रमा उदय हुआ ॥२॥

सुबोधिनी - यदैव मनः कृतवान्, तदैव तस्याधिदैवतमुडुराज **उदगात्**, उदितो जातः। यद्यप्येकदा रात्रयो दृष्टाः, तथापि क्रमेणैव तासां स्थितिः। भगवन्मनश्चन्द्रस्याधिदैविकत्वात् पूर्ण एव सः, निष्कलङ्कश्च। मनस्येवाविर्भूते तस्याविर्भावः, क्रीडायामुपरतायामुपरतिः, मध्याकाशपर्यन्तमेव गमनम्, नास्तमयः कदाचिदपि। सोऽपि चन्द्रः, स्त्रीणां मनांसि उडुस्थानानीति तेषामपि रक्षकः। इदं प्रथमतया जात इति पूर्वस्यामेव दिशि तस्योदय उच्यते। 'सा दिग्देवाना' मिति। तस्या दिश इन्द्रो देवता अधिपतिश्च। इदानीं भगवानेवेन्द्र इति तस्य रेतोरूपः तस्यामुद्गतः। अतः प्राच्याः ककुभः मुखं मध्यभागं स्वकरैः स्वकिरणैः विलिम्पन् उदगात्। तस्या मुखे न रागः स्थितः, प्रतिस्पर्धिन्यां सूर्यसम्बन्धेन रागसंभवात्, अतः अस्या अपि मुखं कुङ्कुमसदृशैः करैरारक्तं क्रियते। यदि चन्द्रः स्वदिशो मुखं न रञ्जयेत्, तदा भगवन्मनोऽपि स्त्रीणां हृदयं न रञ्जयेत्। कराः शन्तमाः, शीतलत्वात् तापहारकाः। किञ्च अरुणेन गुणेन कृत्वा अत्यन्तं कल्याणरूपाः। अरुणो हि रागप्रधानः। पुरुषोऽपि यद्यनुरागेण स्पृशति, तदा शुखं भवति। ननु अस्य चन्द्रस्य यदि अधिष्ठातृत्वमात्रम्, तदा मनस्येव उदयो भवेत्, यद्यन्धकारनिवृत्तिः प्रयोजनम्, तदा भगवतैव अन्धकारो निवर्तेत, यदि वा उद्दीपकत्वम्, तदापि भगवतैव तत्संभवः, अतोऽस्यासाधारणं कार्यं वक्तव्यमिति चेत्, अत आह **स चर्षणीनां शुचो हरन्निति**। चर्षण्यः सर्वत्र परिभ्रमणशक्तयः। ताः सर्वत्र परिभ्रान्ता अपि न क्वापि परमानन्दसम्बन्धिन्यो जाताः। यदि वा कश्चिन् मुच्येत, तथापि ता न प्रवेशं लभन्ते। ततः पूर्वमेव ता निवृत्ता भवन्ति। अतस्तासां शोकस्तिष्ठत्येव। चर्षणीसहितानां जीवानां वा। तासां शोकः इदानीमेव निवृत्तः। शक्तिसहितानामेव। परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वात्। प्रायेण तदानीन्तना जीवाः तादृशशक्तियुक्ताः। तस्मिन्नुदिते परमानन्दानुभवोऽवश्यंभावीति। तथा सति प्रयोजनत्रयम्, दिग्देवताया मुखसम्मार्जनं, चर्षणीनां शोकदूरीकरणं, अन्धकारनिवृत्त्यादिश्च। कण्ठोक्तं द्वयमपि तदेकसाध्यमिति वक्तुं दृष्टान्तमाह **प्रियः प्रियाया** इति। दीर्घकाले दर्शनं यस्य। महता कालेन गतो भर्ता प्रियः प्रियायाः पतिव्रतायाः शोकं दूरीकृत्य मुखसम्मार्जनं च करोति। न चैतत्कार्यमन्यथा सिध्यति ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने जिस समय रमणार्थ मन का प्रादुर्भाव किया उसी समय उसका अधिष्ठाता देव नक्षत्रों का राजा चन्द्र उदित हुआ। यद्यपि सर्व रात्रियों को एक साथ एक ही समय देखा, तो भी वे रात्रियाँ रमणार्थ क्रम से ही आई। भगवान् के मन का चन्द्रमा आधिदैविक है अतः पूर्ण तथा कलङ्क रहित है। मन के आविर्भूत होने पर चन्द्रमा का आविर्भाव हुआ है, क्रीड़ा के बन्द होने पर चन्द्रमा भी कार्य बन्द कर आकाश के मध्य में, स्थिर हो जाता है, कभी भी अस्त नहीं होता है। यहां मूल में शुकदेवजी ने चन्द्रमा को 'उडुराज' कहा है जिसका भावार्थ यह है, कि चन्द्रमा

जैसे नक्षत्रों का राजा होने से उनका रक्षक है वैसे ही यह आधिदैविक चन्द्रमा भी गोपियों के मन रूप नक्षत्रों का राजा होने से उनका रक्षक है। भगवान् का मन पहले उत्पन्न हुआ उसके साथ उसके अधिष्ठाता चन्द्रमा का भी लीलार्थ पहले ही आविर्भाव हुआ इससे पूर्व दिशा में ही उसका उदय कहा जाता है (हुआ है)। वह (पूर्व) दिशा देवों की है यों श्रुति कहती है 'सा दिक् देवानां'। उस दिशा का देव और अधिपति इन्द्र है, किन्तु अब भगवान् ही इन्द्र है अतः उन (भगवान् का) रेतो रूप[1] चन्द्र पूर्व दिशा में प्रकट हुआ है अतः वह चन्द्रमा पूर्व दिशा के मध्य भाग को अपनी किरणों से रञ्जित करता हुआ उदय हुआ। चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अपनी किरणों से लाल इसलिए बनाया, कि एक तो उसी ससय (रात्रि के समय) पूर्व दिशा लाल नहीं थी, पश्चिम में लालास थी जिससे पूर्व दिशा को रीस थी कि मैं वैसी क्यों न हुई ? इस रीस को मिटाने के लिए उसको (पूर्व दिशा को) लाल बताया, लाल रंग अनुराग का चिन्ह है, दूसरा कि यदि मैं पूर्व दिशा को लाल अनुराग युक्त न बनाऊंगा तो भगवान् का मन भी स्त्रियों (गोपियों) के मन को रञ्जित न करेगा। चन्द्रमा की किरणें शीतल होने से, ताप को मिटाने वाली हैं। और अरुण[2] (अनुराग रूप) होने से आनन्द रूप भी है। अतः पुरुष जब अनुराग से (प्रिया का) स्पर्श करता है तब उसको आनन्द आता है। यदि चन्द्रमा मन का अधिष्ठाता है इसलिए उदय हुआ है, तो वह मन में ही उदय होना चाहिए, जो कहो, कि अन्धकार को मिटाने के लिए उदय हुआ है तो, वह (अन्धकार) भगवान् से मिट जाता, यदि कहो कि, गोपियों में उद्दीपन करने के लिए, तो वह भगवान् द्वारा हो सकता था अतः चन्द्रमा के उदय होने का असाधारण कारण क्या है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए शुकदेवजी ने कहा, कि चर्षणी शक्तियों के शोक को मिटाने के लिए विशेष चन्द्रमा का उदय हुआ है। सर्वत्र परिभ्रमण की हुई शक्तियों का नाम चर्षणी है। वे सभी जगह—इन अधिकारी भक्तों से अतिरिक्त भक्तों में भी—परिभ्रमण कर चुकी है परन्तु कहीं उनका परमानन्द से संबन्ध नहीं हुआ। यदि कोई मुक्त भी हुआ तो इन्होंने ऐसे जीवों में प्रवेश ही नहीं किया। वहां—मुक्ति पाने वाले जीवों में—से तो ये पहले ही निवृत्त (दूर) हो जाती हैं (क्योंकि मुक्ति में इनका अभिलषित परमानन्द नहीं मिलता है) अतः—भगवद् भोग योग्य स्वामिनियों के फल में विलंब और इस कारण होती हुई आर्ति को देखकर समवेदनावश—इनका शोक यों ही स्थिर (कायम) रहा। चर्षणी (सर्वात्मभाववाली लीला के अधिकारी जीवों का अन्य भावों से रक्षण करने वाली शक्ति) के सहित जो जीव थे उनका भी शोक यूं ही स्थिर (कायम) था। वह शोक अब—रसोद्दीपक चन्द्रोदय होने से—ही चर्षणियों का दूर हुआ (क्योंकि यह चन्द्रमा प्रियतम के वियोग का दुःख न केवल स्वामिनियों में से किन्तु चर्षणी शक्ति सहित स्वामिनियों में से दूर करता है) शक्ति के सहित ही परमानन्द का अनुभव होता है यों कहना चाहिए और बहुत करके उस समय के (भजनानन्द दान की लीला के समय के) जीव परिभ्रमण शक्ति वाले हैं अतः चन्द्रमा के उदय होने पर परमानन्द की प्राप्ति अवश्य होगी ऐसा उनको निश्चय हुआ जिससे उनका शोक निवृत होगया।

सारांश यह है कि चन्द्रमा ने उदय होकर तीन कार्य किए—१-दिशाके देवता के मुख (मध्य) को रञ्जित (अनुरागयुक्त लाल) किया। (२) भ्रमण शक्तियों का, एवं भ्रमण शक्ति युक्त जीवों का

१—वीर्य शक्ति रूप, २—लाल

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

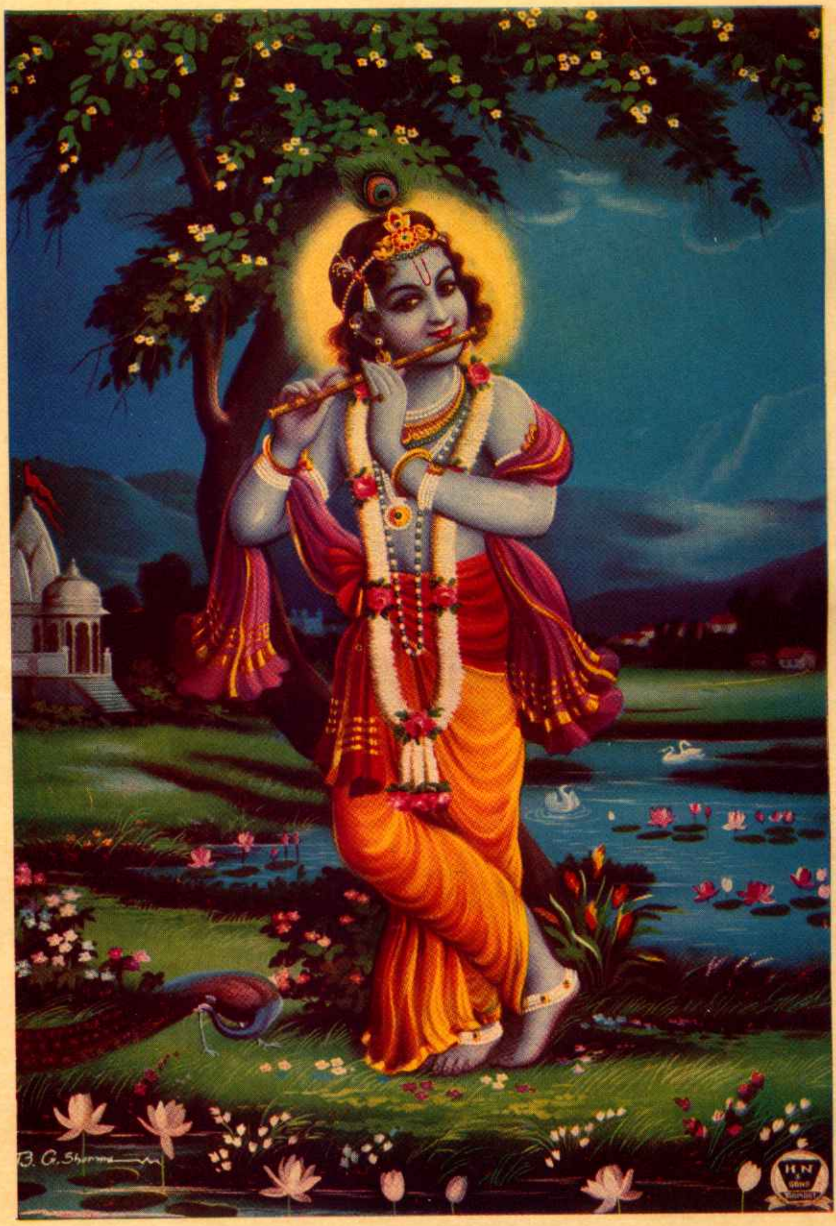

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री **मद्वल्लभाचार्य**

प्रकाशक—श्री **सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर ।**

शोक दूर किया। (३) अन्धकार निवृत्ति आदि की।

मूल में भ्रमण शक्तियो का शोक दूर करना और दिशा के मुख रञ्जित करना ये दो प्रयोजन एक ही चन्द्रमा के उदय होने के कहे हैं इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं—कि जैसे बहुत समय से आया हुआ पति अपनी पतिव्रता प्रिया के मुख को रंजित कर उसका शोक दूर करता है वैसे एक ही चन्द्र दिशा का मुख रञ्जित कर उसका शोक मिटाता है और चर्षणी (भ्रमण करने वाली) शक्तियों का भी दुःख दूर करता है। जैसे पतिव्रता के मुख का रंजन और उसके शोक को मिटाने का कार्य केवल पति ही कर सकता है वैसे ही एक ही चन्द्र ने ये दोनों कार्य किए हैं अर्थात् वह एक ही कर सकता है दूसरा नहीं ॥२॥

आभास—एवं मनस उत्पत्तिमुक्त्वा तद्देवतायाश्च ततः सङ्कल्पोत्पत्त्यर्थं तच्छब्दयोनित्वं निरूपयन् तद्दर्शनेन वेणुनाद उत्पन्न इत्याह दृष्ट्वेति।

आभासर्थ—श्रीशुकदेवजी ने उपरोक्त श्लोकों में मन और उसके अधिष्ठाता देव चन्द्रमा की उत्पत्ति का वर्णन किया। शब्द के उत्पत्ति का कारण मन और उसका अधिष्ठाता चन्द्र है, उस चन्द्र के दर्शन से, वेणुनाद उत्पन्न हुआ है जिसका वर्णन अब इस निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।**
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥३॥

श्लोकार्थ—अखण्ड मण्डल वाले, लक्ष्मी के मुख के सदृश शोभा वाले, नवीन केसर के समान अरुण, पृथ्वी को मोद[1] देने वाले चन्द्रमा को तथा उसकी कोमल किरणों से रंजित वन को देखकर, भगवान् ने वाम (सुन्दर) दृष्टिवाली स्त्रियों के मन को हरण करनेवाला कल गान (अस्फुट तथा मधुर गान) किया ॥३॥

सुबोधिनी—कुमुद्वांश्चन्द्रः, पृथिव्यां सर्वत्रैव मुदं कृतवानिति। तथाकरणे सामर्थ्यं **अखण्डमण्डल**मिति। न खण्डं मण्डलं यस्य। एतस्य रसोत्पादने विभावत्वमप्यस्तीति ज्ञापयितुं **रमाननाभ**मित्युक्तम्। लक्ष्म्या अयं भ्राता भवतीति, रमाया आननवत् आभा यस्य, तथोक्तः। किञ्च, नवकुङ्कुमवदरुणवर्णमपि। तेन विवाहसमये यथा लक्ष्मीमुखम्, तथायं वर्तते। अतो नूतनकामजनकः। किञ्च, वनमपि रसपोषकम्। तस्य **कोमलगोभि**रल्पकिरणैः अभितो **रञ्जित**मारक्तयुक्तम् (किरणानां रसदोग्धृत्वम्। वन एव पाल्यमानत्वं च ज्ञापयितुं गोपदम्। रमाननाभत्वेन पूर्व

---

[1] १—आनन्द

निरूपणाद्यथा तन्नूतनकटाक्षा भावोदयहेतवः, तथैतेऽपीति ज्ञापनाय च । गोपदमिन्द्रियस्यापि वाचकमिति तथा । अधुना भावोत्पत्तिरेव । तत्पोषस्तु स्वामिन्यागमनादिनाग्रे भावीति ज्ञापयितुं कोमलपदम् । यत्र तेन वनमपि रज्यते, तत्र यदर्थमागतः तद्रागं कथं न कुर्यात् ।) ततः सङ्कल्प द्वारा कामजनने सर्वं कार्यं भविष्यतीति कलं यथा भवति तथा **जगौ,** गानं कृतवान् । तच्च गानं **वामदृशां सुन्दर**दृष्टीनां स्त्रीणां मनोहरमिति । 'तस्माद्गायन्तं स्त्रिय कामयन्त' इति श्रुतेः । अर्थाद्गीतेन सर्वाः समाहूता इति । यदि व्यक्त-मधुरं गीतं कुर्यात्, तदा गीतमेव शृण्वन्त्यः तत्रैव स्थिता भवेयुः । यासां पुनर्दृष्टिर्नोत्तमा, तास्तु नाकारिता एव ।।३।।

व्याख्यार्थ—शुकदेवजी कहते हैं कि चन्द्रमा का नाम 'कुमुद्वान्'‡ है अतः यह पृथ्वी पर सर्व स्थानों में आनन्द उत्पन्न करता है, पृथ्वी का कोई भाग आनन्द रहित नहीं रहता है कारण कि इस चन्द्र का मण्डल अखण्ड (पूर्ण) है कहीं भी इसमें खण्ड नहीं हुआ है इसीलिए समस्त विश्व में मोद उत्पन्न करने में समर्थ है ।

चन्द्रमा का विशेषण 'रमाननाभं' देकर शुकदेवजी ने यह भाव बताया है, कि रस के आविर्भावार्थ आलम्बन विभाव की आवश्यकता होती है । यह चन्द्रमा लक्ष्मीजी के मुख के समान आभा वाला होने से आलम्बन विभाव रूप भी है जिसके देखने से रस उद्दीप्त होता है, चन्द्रमा लक्ष्मी का भ्राता है इसलिए मुख की कान्ति समान है और चन्द्रमा नवीन केसर के समान अरुण रंगवाला भी है, जिससे यह भाव बताया है कि जैसे लक्ष्मीजी विवाह के समय लाल मुखवाली होकर नवीन काम को उत्पन्न करती थी, वैसे ही यह भी, नूतन काम को प्रकट करने वाला है और वन भी रस पोषक है, क्योंकि चन्द्र ने अपनी कोमल किरणों से उसको रंजित (लाल बना) कर रस का पोषण करने वाला बना दिया है ।* (चन्द्र की किरणें रस का दोहन करती है । उस रस की पालना वन में होती है । इसलिए मूल श्लोक में किरणों के लिए 'गो' शब्द दिया है, चन्द्रमा की किरणों को लक्ष्मी के मुख जैसी लाल आभा वाला कहा है इससे जैसे लक्ष्मीजीके नूतन कटाक्ष भाव के उदय होने में कारण हैं वैसे ही ये (किरणें) भी भाव बढाने में कारण हैं । 'गो' अर्थ इन्द्रियें भी होता है, जिसका यह भाव है कि अब तो केवल इन्द्रियों में पद का भाव उत्पन्न हुआ है उसका पोषण और वृद्धि तो स्वामिनियों के आने के अनन्तर होगी । यों बताने के लिए 'गो' का विशेषण 'कोमल' दिया है । जब यह चन्द्र समस्त वन को रंजित करता है तो जिनके लिए उदय हुआ है उनको कैसे रंजित न करे ।) इससे संकल्प द्वारा काम के जगने से सर्व कार्यं सिद्ध होंगे इसलिए भगवान् कल[1] गान गाने लगे (करने लगे) । उस गान ने वाम[2] दृष्टि वाली स्त्रियों के मन को हरण कर लिया क्योंकि श्रुति कहती हैं कि 'तस्मात् गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' कि

---

‡ 'कु' पृथ्वी 'मुद' आनन्द 'वान्' वाला, चंद्र अर्थात् पृथ्वी पर आनन्द को देनेवाला इसलिए चन्द्रमा का नाम 'कुमुद्वान्' पड़ा है ।

* यह लेख श्री गुसांईजी का है ।

१—मधुर, २—सुन्दर

गान करने वाले पुरुष को स्त्रियाँ चाहती हैं, कारण कि गायक गान से उनका मन हर लेता हैं अर्थात् भगवान् ने कल गान से, (वेणुनाद से) सबको बुला लिया। यदि भगवान् अव्यक्त मधुर गान न कर व्यक्त स्पष्ट गान करते तो गीत सुनती हुई वहां ही स्थित हो जाती (यहां न आती)। जिनकी दृष्टि उत्तम न थी उनको भगवान् ने बुलाया ही नहीं ॥३॥

आभास—ततः सर्वाः स्त्रियः समागता इत्याह निशम्येति।

आभासार्थ—वेणुनाद होने के अनन्तर, सर्व (कुमारिकाएँ तथा विवाहित) गोपीजन आई, उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—**निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।**
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥४॥

श्लोकार्थ—कामवर्द्धक उस गीत को सुन कर श्रीकृष्ण में जिनका मन लग गया है ऐसी व्रज की स्त्रियां परस्पर जाने की सूचना न देते हुए वहां आई जहां उनके कान्त भगवान् बिराजते थे, शीघ्रता से आने **के** कारण उनके कानों के कुण्डल चञ्चल हो रहे थे ॥४॥

सुबोधिनी—यद्यपि भगवता कुमारिका एवाहूताः, तथापि आह्वानं सदृशमिति, निरोधोऽपि कर्तव्य इति सर्वा एव समागताः। किञ्च, यद्भगवता गीतं तदनङ्गमेव वर्धयति, अङ्गं तु नाशयत्येव। अतो नूतन उत्पन्नः कामः ता आनीतवान्। किञ्च, व्रजस्य स्त्रियः पूर्वमपि भगवदीयाः, कृष्णेनैव गृहीतं मनो यासाम् अतः शीघ्रमेव यत्र कान्तस्तत्रागताः। अनेन आकारिता एव प्रथममागता इत्युक्तम्। तासां मुख्यः कान्त इति। अत एवान्योन्यमलक्षित उद्यमो यासाम्। ता हि प्रत्येकमेव भगवन्तं पतित्वेन स्वीकृतवत्यः। स पूर्वमुपात्तो यः कान्तः। तासां शरीरविचारेऽपि दृष्टिर्न जातेति वक्तुं जवेन लोले कुण्डले यासामिति कर्णपीडाननुसन्धानं प्रदर्शितम्। ताः स्त्रियो गौडदेशस्थाः। तत एव कुमारिकाः समागता इति। पूर्वं मथुरादेशस्थितानामपि अनागरीणां कुण्डले एव। ताटङ्कयोरेव वा कुण्डलत्वम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि भगवान् ने कुमारिकाओं को ही बुलाया था, कारण कि उनको ही इन रात्रियों में रमण करने का वरदान दिया था, तो भी बुलावा तो सब को समान था और निरोध तो सबका करना था। इसलिए नाद श्रवण करते ही, सब आ गई और भगवान् ने जो गान किया था वह काम को बढ़ाने वाला तथा लौकिक देह को नाश करने वाला था, अतः अलौकिक देह में अलौकिक दिव्य काम उत्पन्न हुआ वह (काम) इनको यहां लाया। वे व्रजाङ्गनाएं तो प्रथम ही भगवदीय थीं, इस कारण से कृष्ण ने जिनका मन आकर्षित कर लिया है, वैसी वे शीघ्र ही जहाँ उनके वे कान्त थे वहाँ आईं। जिससे यह बता दिया कि जिनको बुलाया वे ही पहले आ गईं।

क्योंकि उन (कुमारिकाओं) के मुख्य कान्त ये ही थे। अतः इसी प्रकार आने लगी कि जिससे उद्यम का एक दूसरे को पता न लगे। प्रत्येक कुमारिका कृष्ण को अपना २ कान्त समझ कर शीघ्रता से शीघ्र २ आई।

मूल में (स) पद देने का तात्पर्य यह है कि जिनको पहले अपना पति किया था, वे जहाँ थे, वहां ऐसी शीघ्रता से आई, जैसे शरीर को दुःख का भी ज्ञान न रहा, जैसे कि शीघ्रता से चलने से कानों के कुण्डल, जो हिलते थे, जिससे कानों में पीड़ा होती थी किन्तु उसका भान भी उनको न रहा।

वे स्त्रियां गौड देश की थी, वहाँ (गौड देश) से ही जो आई थीं वे कुमारिकाएँ थीं। मथुरा देश के गाँवों में रहने वाली स्त्रियां भी पहले कुण्डल पहनती थी अथवा कुण्डल से कान का भूषण 'बाला' आदि समझना चाहिए ॥४॥

आभास—प्रसङ्गादन्यासामप्यागमनमाह दुहन्त्य इति।

आभासार्थ—प्रसङ्ग से, कुमारिकाओं के अतिरिक्त जिनको आह्वान नहीं किया गया था वे भी आईं उनका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥५॥

श्लोकार्थ—भगवान् के किए हुए नाद के सुनने से, जिनके अन्तःकरण में भगवान् से मिलने की विशेष उत्कंठा जगी थी उनमें से, कितनीक दुहती हुई आधे में ही दुहना छोड़कर, कितनीक चूल्हे पर चढे हुए दूध को नीचे उतारे बिना, कितनीक दूध में पकी हुई गेहूँ की खीर चूल्हे पर धरी हुई छोड़कर, इसी प्रकार सब अपने कार्य की परवाह न कर भगवान् के पास शीघ्र पहुँच गईं ॥५॥

सुबोधिनी—तासां वा क्रियापराणाम्। तत्र काश्चन षोडशसहस्रव्यतिरिक्ताः नवविधाः समागताः, दशविधा वा। गुणानां त्रैविध्यान्नवविधत्वम्। निर्गुणाश्चैकविधाः। जातिकुललोकधर्मपराः तिस्रस्तिस्र उदीरिताः। तत्र गोपाजातीयाः दुग्धपराः। तत्र दुग्धस्योत्पत्तिस्थितिप्रलयान् कुर्वन्ति तास्तिस्रः प्रथममुदीरिताः। एवंविधा अपि गणश इति वक्तुं सर्वत्र वहुवचनम्। काश्चिद्दुहन्त्य एव दोहं दोहनलक्षणं कर्म मध्ये त्यक्त्वा भगवदाभिमुख्येन ययुः। गौर्वत्सश्च बद्धौ, दोहनपात्रं च अर्धदुग्धम्, यः समयः सर्वथा त्यक्तुमशक्यः, तस्मिन् समये समागताः। तथा समागमने हेतुः समुत्सुका इति। सम्यगुत्सुकाः, को वेद क्षणान्तरे भगवान् क्व गमिष्यतीति। अन्याः पुनः पयः अधिश्रित्य तथैव ययुः। भोजनार्थं पयसि पच्यमानाः गोधूमकणाः संयावशब्देनोच्यन्ते। तेषां दाहे सर्वनाश इति। पक्वदशैव संयावशब्देनोच्यते। अतस्तदप्यनुद्वास्य काश्चन अभिययुः। **अपरा** इति सर्वत्र गुणैर्भिन्नस्वभावत्वम्। एवं तिस्रो राजस्य ॥५॥

व्याख्यार्थ—सोलह हजार कुमारिकाएँ थीं उनके सिवाय अन्य गोपियां गुणों के मिश्रण से नव प्रकार की थीं और एक प्रकार निर्गुणों का था यों मिलकर दश प्रकार की थीं। वे घर के काम में लगी हुई थीं। किन्तु नाद श्रवण से भगवान् से मिलने के लिए विह्वल हो गई जो काम के बिगड़ जाने का भी ध्यान न कर शीघ्रता से भगवान् के पास आ गई।

वे (आई हुई) गोपियाँ जाति धर्म, कुल धर्म और लोक धर्म में परायण तीन-तीन भाव वाली थीं। उनमें जाति धर्म वाली, गोप की स्त्रियां थीं, जिनका (धंधा) दूध का है, वे प्रथम गौ आदि का दोहन कर दूध पैदा करती हैं, अनन्तर उसकी सावधानी से 'रक्षा'[1] करती है पश्चात् दूध का प्रलय[2] करती हैं; वे प्रथम तीन प्रकार की # कही है उनके भी यूथ हैं इसलिए मूल श्लोक में बहुवचन कहा है।*

कितनीक नाद श्रवण के समय दूध का दोहन करती थीं उसको बीच में ही छोड़ गौ और बछड़े बंधे पड़े रहे दूध का पात्र आधा ही भरा पड़ा था ऐसी अवस्था में उनको वैसी दशा में छोड़ना कठिन था, तो भी, छोड़कर भगवान् के पास आई कारण कि उनको यह विचार हुआ कि न जाने दूसरे क्षण में भगवान् कहीं चले जाएँगे इसलिए शीघ्र चलें।

दूसरी ऐसी थीं, जिन्होंने गरम करने के लिए दूध को चूल्हे पर धरा था उसको चूल्हे पर ही छोड़ कर भगवान् के पास आगई।

तीसरी वे थीं, जिन्होंने भोजन के लिए गेहूँ को दूध में पकाया था वह तय्यार भी होगया था तो भी उसको चूल्हे से नीचे उतारे बिना भगवान् के पास पहुँच गई, यह विचार नहीं किया, कि इसके जल जाने से सर्वनाश होगा अर्थात् दूध गेहूं और शक्कर सर्व व्यर्थ होंगे। श्लोक में दिए 'अपरा' शब्द का भाव यह है कि प्रत्येक का गुणों से (सात्विक, राजस और तामस गुणों से) स्वभाव भिन्न है। इसी भांति इस श्लोक में जाति धर्मवाली तीन (सात्विक-राजस, राजस-राजस और तामस-राजस) राजस थीं ॥५॥

आभास—सात्विकीराह परिवेषयन्त्य इति।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में सात्विकाओं का वर्णन करते हैं।

सात्विक, राजस एवं तामस

* उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय के नियामक गुण तीन हैं राजस सात्विक एवं तामस

---

[1] सम्भाल, [2] खोवा

श्लोक—**परिवेषयन्त्स्तद्धित्वा पापयन्त्यः शिशून्च ।**
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ।।६।।

श्लोकार्थ—कितनीक परोसना छोड़, कितनीक बच्चों को दूध पिलाती थीं, उसको आधे में छोड़, कितनीक पतियों की सेवा को आधे में छोड़, और भोजन करना भी आधे में त्याग कर, अपने कान्त कमल नयन भगवान् के पास पहुंची ।।६।।

सुबोधिनी—भर्तुरपत्यस्यापि सेवा स्त्रीधर्मः । तत्र भर्तुर्भोजने शयने च सेवा स्वधर्मः । अतिबालकानां पुत्राणां स्तनदानं च । परिवेषणं च सृष्टिरिव, रेतस उत्पादकत्वात् । स्तनदानं पालनम् । शिष्टमन्यत् । सर्वत्र तत्तद्धित्वेति ज्ञेयम् । अन्या इत्यपि । तामसीराह **अश्नन्त्योऽपास्य** भोजनमित्यादि ।।६।।

व्याख्यार्थ--पति तथा पुत्रों की सेवा करना भी स्त्रियों का धर्म है, किन्तु पति की भोजन तथा शयन समय सर्व प्रकार से परिचर्या करना स्त्री का विशेष स्वधर्म है। और इसी प्रकार छोटे बच्चों को स्तनदान करना[1] भी स्त्रियों का विशेष स्वधर्म है।

पति को परोसना, यह सेवा तो स्त्रियों के लिए 'सृष्टि' धर्म है। परिवेषण[2] यह सृष्टि धर्म इसलिए है, कि भोजन से (वीर्य) 'उत्पन्न' होता है, वीर्य द्वारा 'सन्तति' होती है। स्तनदान से बालकों का पालन होता है शेष कार्य प्रलय धर्म है। इसी प्रकार इन तीन कार्यों से इस श्लोक में तीन तरह की सात्त्विक गोपियों का वर्णन किया है। जैसा कि परोसने वाली राजस सात्त्विकी हैं, स्तन पान से रक्षा करने वाली सात्त्विक सात्त्विकी हैं और केवल पति सेवा करने वाली तामस सात्त्विकी हैं, कारण कि, इस सेवा में भोग की अभिलाषा होने से तामसत्व है। ये तीनों प्रकार की गोपियाँ अपने-अपने पृथक् पृथक् कार्यों को त्याग कर भगवान् के वहाँ पहुँची।

उपरोक्त प्रकार से जाति तथा कुल धर्म वाली तीन २ प्रकार की गोपियाँ का वर्णन कर अब चतुर्थ पाद 'अश्नन्त्योऽपास्यभोजनम्' से लोक धर्म वाली तामस गोपीजन का वर्णन करते हैं, नाद श्रवण समय, जो गोपियाँ भोजन कर रही थीं, भोजन को आधे में ही त्याग कर भगवान् के पास गईं वे लोक धर्म वाली तामसी गोपियाँ थीं ।। ।।

१—अपना दूध देना, २—परोसना,

श्लोक—लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥७॥

श्लोकार्थ—कितनी एक लीपती थीं, कितनी एक उबटन कर रही थीं, कोई आँखों में अञ्जन[1] आँज रही थीं, कितनी एक ने तो शीघ्रता के कारण वस्त्र और आभूषण उलट पुलट पहन लिए और उतावली से श्रीकृष्ण के पास आ पहुँची ॥७॥

सुबोधिनी—**लिम्पन्त्यः**शरीरानुलेपनं कुर्वन्त्यः **प्रमृजन्त्य** उद्वर्तनादिकं कुर्वन्त्यः, गृहं वा लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यः आभरणानि, भाण्डानि वा प्रमृजन्त्यः । अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः । शरीरसेवातः गोसेवा मुख्या, ततः पतिसेवेति । 'अञ्जन्त्यः काश्च लोचन' इति गुणातीताः । अतः 'काश्च लोचने' इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । ज्ञानमार्गशोधिका इति निर्गुणत्वम् । तासामागमने दैहिकविचारोऽपि न जातः, किम्पुनस्तद्धर्माणामिति वक्तुं वस्त्राभरणयोर्व्यत्यासमाह **व्यत्यस्तेति** । व्यत्यस्तानि विपरीतानि वस्त्राण्याभरणानि च यासाम् । एवमुद्यमः सर्वासामेव साधारणो निरूपितः । 'व्यासो मार्गगता' विति केचित् । तन्मध्येऽपि काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः, काश्चिन्न । याः पुनः शब्दपरा जाताः, ता उद्युक्ता अपि नागताः, याः पुनः शब्दापेक्षां त्यक्तवत्यः, ताः सर्वतो निरपेक्षाः विपरीतावश्यकदेहधर्माः भगवदन्तिकमागताः ॥७॥

व्याख्यार्थ—कितनीक गोपियाँ शरीर पर अरगजा आदि से लेप + करती थी, कितनीक तेल फुलेल से उबटन ||| कर रही थीं, यहाँ भी क्रम के अनुसार, (राजस, सात्विक और तामस) क्रम लेना । शरीर सेवा से गौ की सेवा मुख्य है उससे पति की सेवा विशेष समझनी चाहिए । इनमें जो कितनीक अञ्जन आँज रही थीं वे निर्गुण थीं । कितनीक कहने से यह बताया है, कि वैसा अधिकार होना दुर्लभ है, आँखों में अँजन डालने वाली गोपियाँ ज्ञान मार्ग का शोधन करने से निर्गुणा हैं अतः वैसा अधिकार पाना दुर्लभ है । इस प्रकार की गोपियों को भगवान् के पास आने में देह का भी अनुसन्धान जब न रहा तब देह के धर्मों का विचार कैसे रहेगा ? इसी कारण से, आभूषण एक स्थान के दूसरे स्थान पर धारण कर लिए एवं वस्त्र भी नीचे के ऊपर और ऊपर के नीचे पहन लिए । इस प्रकार सबका साधारण उद्यम बताया । (कोई कहते हैं कि, वस्त्र उलट पुलट मार्ग में हुए हैं) वैसी गोपियाँ भी कोई कृष्ण के पास पहुँच गई कितनीक नहीं पहुँची ।

जो गोपियाँ जाने के लिए उद्यम शील भी हुई किन्तु पति आदि के शब्द के परायण हुई अर्थात्

+ ||| अथवा वे गोपियाँ घर को लीप रही थीं तथा आभूषण तथा बर्तनों को साफ कर रही थीं ।

---

[1] १—सुरमा,

उन शब्दों से रुक गई वे, भगवान् के पास (भजनानन्द पाने के लिए) न आ सकी और जिन्होंने उनके (पति आदि के) शब्दों की परवाह नहीं की और किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं की तथा आवश्यक देह धर्म भी जिनके विपरीत हो गए थे उस पर भी ध्यान नहीं दिया, वे ही कृष्ण के पास पहुँच गईं समय पर भजनानन्द का आनन्द भी उन्होंने ही पाया ॥७॥

आभास—सर्वासामनागमने हेतुमाह ता वार्यमाणा इति ।

आभासार्थ—भगवान् के पास भजनानन्द रस पाने के लिए, जो न पहुँच सकीं उनके न आने का कारण इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिः पुत्रबन्धुभिः ।**
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥८॥

श्लोकार्थ—वेणुनाद श्रवण कर, जब गोपियाँ भगवान् के पास आने लगीं, तब उनको पति, पिता, पुत्र और बन्धुओं ने जाने से रोका तो भी जिनका हृदय हरि ने हरण कर लिया है वे रुकी नहीं, क्योंकि भगवान् ने उनको मोह लिया था, (शेष रुक गई) ॥८॥

सुबोधिनी—'रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रस्तु वार्धके । अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रिया' इति चत्वारो रक्षकाः । अतो यथायथं पतिभिर्वार्यमाणा जाताः, काश्चन पितृभिः, तथैव पुत्रैर्बन्धुभिश्च । ते हि निरुद्धा अपि फलरसानभिज्ञाः, साधनप्रवणाः । स्वद्वारैव स्त्रीणां भजनं भजनं मन्यन्ते, न तु स्वातन्त्र्येण । तथापि गोविन्देनापहृतः आत्मा अन्तःकरणं यासाम् । निवारणं हि श्रौतम् । प्रवर्तकश्च भगवान् । अन्तःकरणारूढाश्च पुरुषाः । न हि नौका प्रवाहवेगाद्गच्छन्ती तिष्ठ तिष्ठेत्युक्ता तिष्ठति । भयं स्वधर्मों वा तासां नास्तीत्याह **मोहिता इति** । यदि ताः कृष्णान्तिकं न गच्छेयुः, तदा मूर्च्छिता इव प्राणाँस्त्यजेयुः । (सर्वात्मभावज्ञापनायैवाधुना व्रजस्थानामेतदागमनज्ञानं कारितवानिति ज्ञेयम् । अन्यथाग्रे 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्था'निति वाक्याद्यथा वनस्थित्यज्ञानं सम्पादितवान्, एवं पूर्वमेवागमनाज्ञानमेव कथं न सम्पादयेत् । 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये'ति न्यायेन तज्ज्ञानं सम्पाद्य तत्सम्भावितदोषाभावसम्पादनात्तदसम्पादनस्यैव वरीयस्त्वादिति)॥८॥

व्याख्यार्थ—स्त्री जाति की रक्षा का (पालन-पोषण का) भार, स्त्री पर नहीं है, उसकी बचपन में पिता को रक्षा करनी चाहिए, युवावस्था में पति उनकी रक्षा करें, वृद्धावस्था में पुत्र उनकी रक्षा करें, इस प्रकार स्त्री की रक्षा का भार स्त्री पर नहीं है, अतः पिता, पति और पुत्र न

हो तो जाति वाले सगे सम्बन्धी भी उनकी रक्षा करें, इसी कारण से, स्त्री को उनकी आज्ञानुसार चलने की मर्यादा है। गोपियाँ जब घर से निकल कर जाने लगीं तब इस मर्यादानुसार पति पितादि बान्धवों ने उनको जाने से रोका। यद्यपि उन पति आदिकों का भी भगवान् ने निरोध किया था, अर्थात् वे निरुद्ध थे, किन्तु अब तक भगवान् के भजनानन्द रूप फल में कैसा अनन्त अद्भुत रस है उससे वे अनभिज्ञ[1] थे इसीलिए साधन में लगे हुए थे। जिससे वे समझते थे कि स्त्रियों को भगवान् का भजन स्वतंत्र सीधा नहीं करना चाहिए पति द्वारा ही करना चाहिए। इसी प्रकार से (पति द्वारा) भजन ही स्त्रियों के लिए भगवान् का सच्चा भजन है। इसी भांति पति आदि का कहा हुआ रोकने वाला शब्द केवल कान तक पहुँचने वाला है, किन्तु अन्तः करण पर उसका प्रभाव नहीं, कारण कि जीव अन्तः करण के वश है और अन्तः करण के प्रवर्तक भगवान् हैं, अतः जिनका अन्तःकरण भगवान् में लग गया था, उन पर पति आदि के शब्द का प्रभाव वैसे न पड़ा जैसे प्रवाह में जाती हुई नौका पर केवल 'ठहर ठहर' शब्द का प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः भगवान् में आसक्त आत्मा वाली गोपियाँ रुकी नहीं, भगवान् के पास चली गईं।

इस प्रकार कहने का आशय यह है, कि जिनका अन्तःकरण भगवान् में आसक्त नहीं था वे रुक गईं। भगवान् में आसक्त चित्त वाली गोपियों को किसी प्रकार का भय नहीं था, तथा उनको स्वधर्म (देह धर्म-मर्यादा धर्म) की भी परवाह न थीं क्योंकि उन गोपियों का भगवान् में मोह था अतः यदि भगवान् के पास न जाती तो मूर्छित हो के भूमि पर गिर पड़तीं, मोहितों को किसी प्रकार का भय और स्वधर्म का भान नहीं होता है।

+ (इस प्रकार गोपियाँ पति आदि के वचनों की परवाह न कर भगवान् के पास पहुँची जिनको व्रजवासियों ने प्रत्यक्ष देखा था तो भी उन्होंने रात्रि में अपनी स्त्रियों को अपने पास ही सोई हुई पाई, अर्थात्, उस समय हमारी स्त्रियाँ तो हमारे वचनों की परवाह न कर भगवान् के पास गईं हैं इसको भूल गए) भगवान् ने प्रथम तो उनको (व्रजवासियों को) स्त्रियाँ भगवान् के पास गईं इसका ज्ञान कराया, पुनः अज्ञान कराया, यह तो कीचड़ में पैर डाल कर फिर धोने के समान ही हुआ जिससे अच्छा तो यह होता, कि उनको प्रथम ज्ञान ही न कराते, इस शङ्का का समाधान करते हुए प्रभुचरण आज्ञा करते हैं, कि भगवान् के पास गोपियाँ के जाने का व्रजवासियों को प्रथम ज्ञान कराने का तात्पर्य यह है कि उनको (व्रजवासियों को) यह दिखाना था कि गोपियों का भगवान् में सर्वात्मभाव् सिद्ध है) ॥८॥

आभास—एवं दशविधानां भगवत्समीपगतिमुक्त्वा, यासां कालः प्रतिबन्धकः। पूर्वमेव भक्तियुक्ताः, ता भजनानन्दमननुभूयेव, प्रतिबद्धा एव, भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्याह अन्तर्गृहगता इति त्रिभिः।

आभासार्थ—इस प्रकार दश प्रकार की गोपिकाएँ (३—रजोगुणी, ३—सतोगुणी, ३—तमोगुणी

+ यह लेख श्री गुसांईजी का है।

[1] —अनजान,

और १–निर्गुणी) भगवान् के पास प्राप्त हुई, इनके सिवाय जो प्रथम भक्त थीं, किन्तु भजनानन्द के सुख का अनुभव नहीं लिया था, उनके जाने में काल ने रुकावट डाली, जिससे वे भजनानन्द रस पानार्थ भगवान् के पास न पहुँचकर सीधी भगवत्सायुज्य को प्राप्त हुई, इसका वर्णन निम्न ९ वें श्लोक में कहते हैं—मुक्ति, कर्म क्षय से होता है, कर्म क्षय, ज्ञान से, शास्त्रीय मर्यादा विहित भक्ति से, वा भगवत्सान्निध्य दर्शन से होता है ये तीनों यहाँ नहीं थे तो इनकी मुक्ति कैसे हुई? इस शङ्का के निवारणार्थ कर्मक्षय का प्रकार शुकदेवजी निम्न १० वें श्लोक में कहते हैं। इस प्रकार पाप पुण्य कर्मों के क्षय होने से मुक्त होगई उसका वर्णन निम्न ११ वें श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।**
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥९॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥१०॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥११॥

श्लोकार्थ—कितनीक गोपियाँ घर के भीतर ही पति आदि के रोकने से रुक गईं जब नकलने का मार्ग उनको न मिला, तब उन्होंने आँखें बन्द कर, मन में श्रीकृष्ण का ध्यान किया ॥९॥

प्यारे श्रीकृष्ण के दुःसह[1] विरह के तीव्र[2] ताप होने से उनके पाप कर्म धुल गए और ध्यान से प्राप्त, श्रीकृष्ण के आलिङ्गन से, प्राप्त सुख के भोग से उनके पुण्य कर्म क्षीण हो गए ॥१०॥

अन्तर्गृहगता[3] गोपियों ने पाप फल भोग के अनन्तर जब परमात्मा का हृदय से दर्शन किया, तब भगवान् का जार बुद्धि से आलिङ्गन[4] कर इस प्रकार पाप पुण्य फल भोगने से कर्मक्षय होगया, जिससे सब बन्धन टूट गए और गुणमय देह छूट गई ॥११॥

---

[1]—जो मुश्किल से सहा जाय, [2]—तेज,

[3]—जो पति आदि के रोकने से घर में रह गई थीं, [4]—मिलाप,

सुबोधिनी—दैवगत्या काश्चिद्गृहमध्ये स्थिता:, गोपभार्या: चातुर्यानभिज्ञा:, अप्रौढा: पतिसहिता:, पतिभिरेव संरक्षिता:, अलब्धविनिर्गमा जाता: । तत: प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं कृष्णमेव ध्यातवत्य: परं तद्भावनायुक्ता:, भगवान् जार: स्वयमभिसारिका इति । अन्यथा प्रतिवन्धो न स्यात् । तादृश्योऽपि मीलितलोचना: सत्यो भगवन्तं दध्यु: ध्यातवत्य:, ततो मुक्ता जाता: ननु तत्र ज्ञानाभावात् विहितभक्त्यभावात् भगवतोऽपि सान्निध्याभावात् कथं मुक्ता इत्याशंक्य, कर्मक्षयात् मुक्ता इति वक्तुं कर्मक्षयप्रकारमाह **दु:सहेति** । दु:सहो य: प्रेष्ठविरह: स एव महानग्नि:, तस्य यस्तीव्रस्ताप:, तेन धुतानि निर्धूतानि ज्वालितानि भस्मसात्कृतानि अशुभानि यासाम् । फलभोगे कर्म क्षीयत इत्यविवादम् । कोटिब्रह्मकल्पेषु कुम्भीपाकादिनरकेषु यावत् दु:खं भवेत्, तावत् दु:खं भगवद्विरहे क्षणमात्रेण जातम् । तत: सर्वपापफलभोग: समाप्त: । पुण्यक्षयप्रकारमाह **ध्यानप्राप्तेति** सर्वपापक्षये भगवान् ध्याने प्राप्त: । अच्युत: परमात्मा । न तु समागतोऽपि जारत्वेन, अन्यथा ततोऽपि कर्मशेष: स्यात् । तस्य योऽयमाश्लेष:, तेन या निर्वृति:, तया क्षीणं मङ्गलं पुण्यं यासाम् । कोटिब्रह्मकल्पेषु स्वर्गादिलोकेषु यावत्सुखमनुभूयते, तावत् भगवदाश्लेषे क्षणमात्रेणैवानुभूतम् । अत: पुण्यक्षयोऽपि जात: । ततो मुक्ता जाता इत्याह **तमेव परमात्मानमिति** । सुखभोगार्थमेव भगवान् पूर्वमाश्लिष्ट: भोगे जातेऽपि वियोजकपापाभावात् न वियुक्ता:, अत: संगता एव स्थिता: । शरीरं तु प्रारब्धकर्मनिर्वाणमपतत् । यद्याश्लिष्टो भगवान् न भवेत्, तदा तत्र प्रविष्टा: तद्गतं धर्माधर्मफलं बुभुजु:, भगवति प्रविष्टत्वात् मुक्ता एव, जाता: । तदाह **तमेव परमात्मान**मिति । पूर्वं सम्बन्धसमये यद्यपि जारबुद्ध्यापि संगता एव, तत: कर्मबन्धस्य प्रक्षीणत्वात् गुणमयं देहं जहु: । तदा अज्ञानमन्यथा ज्ञानं वा त्रिक्षणवस्थायीति न तयो: प्रतिबन्धकत्वम्, वियोजकाभावात् शरीरान्तरोत्पादकाभावाच्च । अविद्या परं तिष्ठति, सा भगवच्छक्ति:, भगवत्संगतं न व्यामोहयतीति सापि निवृत्ता । तत: मुक्ता जाता इत्यर्थ: ।।११।।

व्याख्यार्थ—दैवगति[1] से कितनी ही घर के भीतर रह गईं, क्योंकि गोप की स्त्रियाँ होने से उनमें चातुर्य[2] न था, बड़ी भी नहीं थीं जिससे वे पतियों से रक्षित होने से उनके साथ थीं, जिससे बाहर न निकल सकी, इस प्रतिबन्ध को मिटाने के लिए कृष्ण का ध्यान करने लगीं, किन्तु कृष्ण हमारा नायक[3] है और हम उनकी नायिकाएँ है इस भावना से ध्यान करती थीं जिससे प्रतिबन्ध मिटा नहीं यदि ऐसा भाव नहीं होता, तो प्रतिबन्ध ही नहीं होता । जार बुद्धि से भी आँखें बन्द कर, भगवान् (कृष्ण) के ध्यान में मग्न हुईं जिससे मुक्त हो गईं ।।६।।

यह बिना विवाद के मानी हुई बात है कि कर्मों के फल भोगने से कर्मों का नाश हो जाता है इस सिद्धान्तानुसार गोपियों ने पाप कर्मों को अपने परम प्रिय के दु:सह विरह से उत्पन्न तीव्र अग्नि में जला दिए क्योंकि करोड़ों ब्रह्मा के कल्पों में कुम्भीपाकादि नरकों में जितना दु:ख होता है, उतना दु:ख भगवान् के क्षण मात्र विरह में हुआ, जिससे सर्व पापों के फल का भोग समाप्त हो गया । श्लोक के उत्तरार्ध में पुण्यों के फल भोग का प्रकार कहते हैं—जब पाप क्षय हो गए, तब ध्यान करते

---

[1]—प्रारब्ध वा भगवदिच्छा, [2]—चालाकी, [3]—जार

हुए भगवान् के दर्शन हुए। वे परमात्मा अच्युत थे। ध्यान समय, गोपीजनों को जार भाव से भगवान् का दर्शन नहीं हुआ था (यदि जार भाव से होता, तो कर्म शेष रह जाते) जिससे भगवान् से उस समय हुए आलिङ्गन से, सर्व पुण्य फल भोग हो गया। करोड़ों ब्रह्मा के कल्पों में जो स्वर्गादि लोकों में पुण्य फल के सुख भोगे जाते हैं, उतने सुखों का भगवदालिङ्गन से क्षण मात्र से, अनुभव हो गया अतः पुण्य कर्म भी क्षय हो गए ॥१०॥

गोपियों को ध्यान में भगवान् के जब दर्शन हुए तब सुख भोगने के लिए उन्होंने भगवान् का आलिङ्गन किया था। पुण्यों के फल रूप सुख का उपभोग हो गया तो भी, उनको भगवान् से पृथक् करने वाला कोई पाप कर्म नहीं रहा था, जो उनको भगवान् से अलग कर सके, इसलिए वे (जीव) भगवान् से ही मिले रहे, शेष कर्मों से बने हुए उनके गुणमय देह नष्ट हो गए। जो जीव भगवान् से मिले हुए नहीं होते तो, अन्य किसी देह में जीव का प्रवेश होता तो उस देह से सम्बन्धी धर्म तथा अधर्म के फल उनको भोगने पड़ते, किन्तु भगवान् से आश्लिष्ट[1] होने से, अन्य देह की प्राप्ति न हुई, किन्तु मुक्ति हो गई। इसलिए श्लोक में 'तं एवं परमात्मानं' कहा है उस ही (जिसको ध्यान में देखा अथवा जिसमें जार बुद्धि थी) परमात्मा से मिल कर मुक्त हुए। यद्यपि पहले जार बुद्धि से ही मिले थे किन्तु कर्म बन्धन के क्षीण होने से गुणमय देह को छोड़ दिया। तब जो अज्ञान अथवा अन्यथा ज्ञान रहता है, वह तो तीन क्षण ही रहता है अतः वे प्रतिबन्धक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे न भगवान् से पृथक् कर सकते हैं और न दूसरी देह बना सकते हैं, शेष अविद्या रहती है, किन्तु वह भगवान् की शक्ति है जिससे जो भगवान् से मिले हुए हैं उनको मोह में नहीं डाल सकती है, अतः वह भी निवृत्त हो गई जिससे वे मुक्त हो गए अर्थात् उन्होंने सायुज्य मुक्ति प्राप्त करली ॥११॥

आभास—अत्र राजा श्रुतिविरोधमाशङ्कते कृष्णमिति।

आभासार्थ- अब राजा इस विषय में श्रुति का विरोध दिखा कर शङ्का करता है।

राजोवाच—

श्लोक—कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—राजा कहने लगे, कि हे मुने! ये गोपियाँ कृष्ण को अपना जार मानती थीं, कृष्ण ब्रह्म है, इस प्रकार का ज्ञान उनको नहीं था, तो ऐसी दशा में, गुण बुद्धि वाले उनके गुण प्रवाह का उपराम[2] कैसे हुआ ॥१२॥

---

[1]—मिले, [2]—शान्ति निवृति,

सुबोधिनी— 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'ति श्रुतौ ज्ञानमेव साधनत्वेनोक्तम् । तत्रैव पुनः 'भक्त्यैव विष्णुर्नान्येन केनचित् । स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्' । उभयोश्च निर्णयः, 'ज्ञानेयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः । द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षण' इति । भक्त्या मामभिजानाती' त्यपि भगवतोक्तम् । ततो मर्यादाया ज्ञानेनैव मुक्तिः' पुष्टौ भक्त्या ज्ञानेन वा । एतासां तु न द्वयम् । भक्तिरपि सगुणा, ज्ञानमपि सगुणम् । उभयं च तामसम् । अतः कथं मुक्तिरिति । तदाह ताः **कृष्णं कान्तं परं विदुः ।** कान्तः पतिर्जारो वा, न तु ब्रह्मतया विदुः । **मुन** इति सम्बोधनमत्र निर्णयपरिज्ञानार्थम् । विरोधस्तु स्पष्टः । तासां भगवति स्वस्मिश्च गुणबुद्धिरेव । गुणबुद्धिश्च गुणप्रवाहस्य मूलम्, अन्यथा गुणबुद्धिनिवारकाणि सर्वाण्येव शास्त्राणि व्यर्थानि भवेयुः । वैदिकदक्षस्त्वसंभावित एव । अतो गुणधियां गुणबुद्धियुक्तानां गुणप्रवाहोपरमः कथम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—"उस (ब्रह्म) को जानकर ही, जीव मृत्यु को पार कर जाता है" इस श्रुति के अनुसार मृत्यु से पार जाने का अर्थात् मोक्ष होने का साधन ज्ञान ही है, किन्तु जब मुक्ति किन साधनों से मिल सकती है वैसा विचार किया जाता है, तब यह समझ में आता है, कि मुक्ति भक्ति से भी मिलती है, जैसे कहा है, कि विष्णु भगवान्, भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं अन्य किसी साधन से प्रसन्न नहीं होते हैं; वह (प्रसन्न हुआ भगवान्) ही मोक्ष देता है । मुक्ति मिलने में, भक्ति ही कारण है । इस प्रकार ज्ञान तथा भक्ति दोनों मुक्ति के साधन हैं और इन दोनों की एक निष्ठता भी बताई है जैसे कहा है कि-ज्ञान योग और निर्गुण भक्ति मार्ग दोनों मुझ में स्थित हैं, अतः उनमें कोई दोष नहीं है, ज्ञान तथा भक्ति मार्ग का फल एक भगवान् ही है, अर्थात् भगवत्प्राप्ति (मुक्ति) ही है । गीताजी में भी भगवान् ने कहा है कि मनुष्य मुझे भक्ति से ही पूर्ण रीति से जान सकता है । इस प्रकार की शङ्का राजा ने जो की है उसके प्रमाण बताकर अब उनका स्पष्टीकरण करते हैं, मर्यादा मार्ग में तो, ज्ञान से ही 'मुक्ति' होती है और पुष्टि मार्ग में ज्ञान तथा भक्ति दोनों से मुक्ति मिलती है । किन्तु उन गोपियों में तो न ज्ञान है और न भक्ति ही है । जार भाव से जो भक्ति है, वह सगुण भक्ति है, और जो ज्ञान है, वह भी मोह युक्त होने से सगुण है, ये सगुण ज्ञान तथा भक्ति तामस हैं, तामस होने से मुक्ति कैसे हुई ? यह प्रश्न श्लोक में इस प्रकार किया है, कि गोपियों ने कृष्ण को पति वा जार माना था न कि उनको ब्रह्म समझ कर, उनसे प्रेम किया था, श्लोक में हे मुने ! शुकदेवजी को इसलिए कहा है, कि आपको इसके निर्णय करने का पूर्ण ज्ञान है, विरोध तो साफ है, क्योंकि उनकी भगवान् में तथा अपने में गुण बुद्धि थी । गुण बुद्धि, जन्म मरण अथवा संसार की जड़ है, यदि कहो कि, गुण बुद्धि आवागमन की जड़ नहीं है, तो जो शास्त्र गुण बुद्धि के मिटाने की शिक्षा देते हैं और उसके (मिटाने के) लिए उपाय बताते हैं वे सर्व शास्त्र व्यर्थ[1] हो जाएँगे, और वैदिक पक्ष+ तो

+ वेद में जो कहा कि 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म होता है, यह वेद में कहा हुआ पक्ष तो गोपियों में सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वे उपनिषद् ज्ञान से अनजान हैं ।

१—निकम्मे,

उन्होंमें (गोपियों में) बनता नहीं, कारण कि उन्होंने उपनिषद् आदि शास्त्रों द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, ऐसी दशा में गुण बुद्धि वालों के गुणों का प्रवाह कैसे नष्ट हुआ ? (वह समझा कर मुझे कहो) ॥१२॥

आभास—तत्रोत्तरमाह उक्तमिति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस शङ्का का उत्तर शुकदेवजी निम्न श्लोकों से देते हैं।

श्री शुक उवाच—

श्लोक—**उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।**
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियः ॥१३॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१४॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१५॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी कहने लगे, कि–यह मैं पहले ही आपको शिशुपाल के प्रसङ्ग में कह चुका हूँ कि शिशुपाल जो भगवान् का शत्रु था, वह भी सिद्धि को (भगवत्सायुज्य मुक्ति को) प्राप्त हुआ, तो ये जो भगवान् से प्रेम करने वाले गोपीजन हैं उनको भगवत्सायुज्य (मुक्ति) हो तो उसमें क्या आश्चर्य है ? ॥१३॥ हे नृप ! अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणों के नियन्ता भगवान् का प्राकट्य मनुष्यों के कल्याण के लिए ही है ॥१४॥ काम, क्रोध, भय, स्नेह, भक्ति, ऐक्य तथा सौहृद आदि में से किसी प्रकार भी भगवान् में नित्य संबन्ध करने से (भक्तिमान् होने से) तन्मयता[1] होती है ॥१५॥

सुबोधिनी—एतत्सप्तमस्कन्ध एवोक्तं शिशुपालमुक्तौ । यथा शास्त्रद्वयं भक्तिज्ञानप्रतिपादकं साधनम्, तथा भगवत्स्वरूपमपि । भगवान् हि मुक्तिदानार्थमेवावतीर्णः । सच्चिदानन्दरूपेण प्रकटः । अतो यः कश्चन येनकेनाप्युपायेन भगवति सम्बन्धं प्राप्नोति, स एव मुच्यते । ज्ञानभक्त्योस्तु

---

[1] —भगवान् से मिल जाना–वा भगवद्रूपता,

आविर्भावार्थमुपयोगः । आविर्भावश्चेदन्यथा सिद्धः, तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोगः । अत्र तु भगवान् स्वत एवाविर्भूतः मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन, ईश्वरेच्छाया अनिवर्म्यत्वात् । अत आविर्भावः स्वेच्छया, भक्त्या ज्ञानेन वा । भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः । अवतारदशायां तु न तयोः प्रयोजकत्वम् । वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनामनुपयोगः शङ्कनीयः । तदाह **पुरस्तात्** सप्तमस्कन्धे यथा **चैद्यः** शिशुपालः **सिद्धिं** भगवत्सायुज्यं गतः । **द्विषन्नपि** द्वेषं कुर्वन्नपि । यद्यपि द्वेषकृतो दोषः प्रतिबन्धको भवति, तथापि स्मरणेन तदघं हृत्वा तत्र सायुज्यं प्राप्तः किञ्च, नापि तस्य दोषोऽस्ति कश्चन । द्वेषादयोऽपि भगवतैवोत्पादिताः । तदाह **हृषी**केशमिति । इन्द्रियप्रेरकोऽयं यथासुखं भावानुत्पादयति । यत्र द्वेषस्यापि मोक्षसाधकत्वम्, तत्र अधोक्षजप्रियाः किमु वक्तव्या मुक्तिं गच्छन्तीति ॥१३॥

अत्र मुख्यामुपपत्तिमाह **नृणां निःश्रेयसार्था**येति । प्राणिमात्रस्य मोक्षदानार्थमेव भगवान् अभिव्यक्तः, अतः इयमभिव्यक्तिः निःश्रेयसार्थैव । अन्यथा न भवेत् । असाधारणप्रयोजनाभावात् । भूभारहरणादिकं च अन्यथापि भवति । अतो निःश्रेयसार्थमेव भगवतोऽ**भिव्य**क्तिः प्राकट्यम् । **नृ**पेति सम्बोधनं कदाचिद्राजा कथञ्चिद्गच्छति तद्वदिति ज्ञापयितुम् । प्रकारान्तरेण तादृशस्य नाभिव्यक्तिः सम्भवेतीति वक्तुं भगवन्तं विशिनष्टि । आदौ भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्नः अपराधीनः कालकर्मस्वभावानां नियामकः सर्वनिरपेक्षः किमर्थमागच्छेत् । किञ्च, स्वार्थं गमनाभावेऽपि परार्थं वा स्यात्, तदपि नास्तीत्याह **अव्यय**स्येत्यादिचतुर्भिः पदैः । अन्येषां कृतिसाध्यं ज्ञानसाध्यं वा यद्भवति तदुपयुज्यते । भगवाँस्तु अव्ययत्वात् अविकृतत्वात् न कृतिसाध्यः । अप्रमेयत्वात् ज्ञानसाध्योऽपि न । देहादिभजनद्वारा भजनीयो भविष्यतीत्यपि न, यतो निर्गुणः, निर्गता गुणा यस्मात् । गुणेषु विद्यमानेष्वेवान्यस्य प्रतिपत्तिस्तत्र भवति, यथा क्षुधि सत्यामन्नदानम्, कामे सति स्त्र्युपयोगः, इन्द्रियेषु सत्सु तद्विषयाणाम् । अतो भगवतः सेवकपूरणीयांशः कोऽपि नास्तीति भजनीयोऽपि न भवति । किञ्च, लीलार्थं यद्यपेक्षेतापि, तथापि सर्वं तस्यैव यतः सर्वगुणानां स एवात्मा । अतः साधनप्रकारेण नान्यस्याप्युपयोगः । अतः स्वपरप्रयोजनाभावात् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रतच्छेत्, तदा व्यक्तिः प्रयोजनरहितैव स्यात् ॥१४॥

एवं सति येन केनाप्युपायेन य एव सम्बध्यते, तस्यैवमुक्तिर्भवतीत्याह **काममिति** । कामादयः षट् साधनानि भगवत्सम्बन्धे । तत्र कामः स्त्रीणामेव, क्रोधः शत्रूणामेव, भयं वध्यानामेव, स्नेहः सम्बन्धिनामेव, एक्यं ज्ञानिनामेव, सौहृदं भक्तानामेव । सख्यं तेष्वेव सिध्यतीति । पूर्वसिद्धज्ञानभक्त्योः नात्रोपयोगः । तेषां मर्यादया स्वतन्त्राविर्भावस्य नियत्वात् । एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वन्यायेन निर्णयः । वेत्यनादरे । अन्यो वा कश्चनोपायो भवेत्, परं सर्वदा कर्तव्यः अन्यथा 'अन्ते या मतिः सा गति'रिति अन्यशेषतामापद्येत । कर्मवशाच्च नान्ते भगवतः स्मरणम्, अन्यस्येव, प्रपञ्चविरोधित्वाद्भगवतः । अतो नित्यं ये विदधते, ते तन्मयतामेव प्राप्नुवन्ति । ननु कामादिषु क्रियमाणेषु दुःखान्तराभिभवे कथं नित्यं करणं सम्भवति, तत्राह **हरा**विति । स हि सर्वदुःखहर्ता, नित्यं तद्भावनायां जगदेव तदात्मकं स्फुरति । दृष्टिः कामेनानुरक्तेति किम्पुनः स्वात्मा । अतस्तदात्मका एव भवन्ति । सर्वत्र भगवदावेशात् ॥१५॥

व्याख्यार्थ—शिशुपाल के मुक्ति प्रसङ्ग में आपको यह पहले ही कह चुका हूँ । जैसे मुक्ति के लिए शास्त्र में ज्ञान तथा भक्ति दो साधन कहे हैं, अर्थात् उपासना काण्ड में भक्ति का प्रतिपादन है और ज्ञान काण्ड में ज्ञान का प्रतिपादन है इन दो साधनों के अतिरिक्त भगवत्स्वरूप भी निःसाधन दीनात्मा जीवों के लिए साधन कहा है ।

कारण कि, भगवान् मुक्ति दान देने के लिए ही सच्चिदानन्द रूप से प्रकट हुए है, अतः जो कोई भी जिस किसी भी (काम, क्रोध आदि) उपाय से, भगवान् से सम्बन्ध जोड़ता है उसकी मुक्ति होती ही है।

ज्ञान और भक्ति का उपयोग, भगवान् को प्रकट करने के लिए किया जाता है, यदि भगवान् दूसरे प्रकार से (अपनी इच्छा से) प्रकट हुए हों तो पश्चात् ज्ञान भक्ति का कोई उपयोग नहीं रहता है। यहाँ तो भगवान् अपने आप ही अपनी इच्छा से सर्व साधारण निःसाधन दीन जनो को मुक्ति दान करने के लिए प्रकट हुए हैं। ईश्वर की इच्छा का कोई नियामक नहीं है, इसलिए भगवान् का प्राकट्य भक्ति से हो, वा ज्ञान से हो अथवा भगवान् अपनी इच्छा से प्रकट हो जावे। जब भगवान् सच्चिदानन्द रूप से प्रकट नहीं है तब उनका आविर्भाव ज्ञान अथवा भक्ति रूप साधन द्वारा कराया जा सकता हैं। प्राकट्य की दशा में अर्थात् जब वे स्वयं प्रकट विराजमान हैं तब उनको कोई प्रयोजन नहीं है, इस कहने का तात्पर्य यह नहीं समझना कि ज्ञान और भक्ति का कोई उपयोग नहीं है, जैसे वर्षाकाल में सर्वत्र जल सरलता से मिलता रहता है तो भी कूप और तालाव का भी उपयोग होता है इसी भाँति पुष्टि प्रभु के प्राकट्य समय में प्रभु की प्राप्ति, ज्ञान भक्ति के सिवाय तथा प्रभु प्राप्ति में प्रतिबन्धक कामादि से भी सरल रीति से प्राणि-मात्र की हो सकती है। यह बात पहले सप्तम स्कन्ध में बतादी है कि शिशुपाल ने भगवान् से द्वेष करते हुए भी सायुज्य मुक्ति प्राप्त की थी। भगवद्द्वेष रूप पाप मुक्ति में प्रतिबन्धक है, किन्तु वह पाप, द्वेष से भी किए भगवत्स्मरण से नष्ट हो गया। शिशुपाल ने भगवान् से द्वेष किया, जिसमें उसका (शिशुपाल का) दोष नहीं, क्योंकि भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं अतः द्वेषादि कराने वाले भी भगवान् हैं। भगवान् लीला में, जैसे भाव से जिस प्रकार सुख लेने की इच्छा करते हैं, वैसा ही भाव (द्वेष काम आदि) जीव के अन्तःकरण में उत्पन्न करते है, जहाँ द्वेष भी मोक्ष को सिद्ध करने वाला बन जाता है वहाँ अधोक्षज (भगवान्) के प्यारे मुक्त होते हैं इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी नहीं ॥१३॥

भगवान् ज्ञान भक्ति साधनों के बिना स्वरूप से ही मुक्ति दान देते हैं इसके लिए मुख्य उपपत्ति बताते हैं—

भगवान् का प्राकट्य प्राणि-मात्र को मोक्ष दान देने के लिए ही हुआ है यदि यह कार्य (प्राणि-मात्र को मोक्ष देने का कार्य) नहीं होता तो भगवान् स्वयं सच्चिदानन्द रूप से प्रकट न होते, इसके सिवाय कोई अन्य असाधारण प्रयोजन नहीं था। भूभार हरण आदि कार्य तो साधारण कार्य है वे तो अंश रूप से भी हो सकते हैं। अतः भगवान् विशेष मोक्ष देने के लिए ही सच्चिदानन्द रूप से प्रकट हुए हैं।

हे नृप ! यहाँ परीक्षित को (नृप) संबोधन देकर यह बताया है कि आप पालक राजा हो इसलिए आपको विदित ही है, कि (कोई भी कार्य करने को) सदैव राजा नहीं जाता है साधारण कार्य अपने मन्त्री आदि से कराता है, जब कोई असाधारण कार्य होता है, तब कभी स्वयं जाता है। इसी प्रकार अब इस असाधारण कार्य के लिए आप पूर्ण पुष्टि स्वरूप से प्रकट हुए हैं।

वैसे आपका दूसरे प्रकार से प्राकट्य नहीं हो सकता है, इसको समझाने के लिए भगवान् के

विशेषण[1] दिखाकर सिद्ध करते हैं, कि मोक्ष देने के लिए स्व इच्छा से ही आप प्रकट हो सकते हैं अन्यथा नहीं, जैसे कि आप (भगवान्) जब सर्व प्रकार के ऐश्वर्य वाले हैं, स्वतन्त्र हैं, काल कर्म स्वभाव आदि के नियामक हैं किसी प्रकार की आपको (भगवान् को) अपेक्षा नहीं है, तब किस लिए भूमि पर आवें[2] और यदि कहो कि, अपने स्वार्थ के लिए नहीं आवें, किन्तु दूसरों के लिए साधन सिद्धि कराने के वास्ते आवें, यों भी नहीं बन सकता है, जिसको, चार विशेषण (१–अव्यय, २–अप्रमेय, ३–निर्गुण, ४–गुणात्मा) देकर सिद्ध करते हैं।

अन्यों के लिए जो उपयोगी हो सके ऐसी वस्तु या तो ज्ञान अथवा क्रिया का विषय होती है। किन्तु भगवान् अव्यय[3] होने से क्रिया के विषय नहीं बन सकते हैं और अप्रमेय होने से ज्ञान का भी विषय नहीं हो सकते हैं, इसी प्रकार निर्गुण होने से देह आदि से सेवा का विषय भी नहीं बन सकते हैं, जिसमें गुण स्थित हों उसमें अन्य गुण उपयोगी हो सकते हैं जैसे भूख एक गुण हो तो उसमें भोजन (अन्नदान) समा सकता है, काम हो तो स्त्री का उपयोग बन सकता है, इन्द्रियाँ हों तो उनके विषयों का उपयोग हो सकता है। अतः भगवान् में इसी प्रकार का कोई अंश नहीं है जिसकी पूर्ति सेवा द्वारा सेवक कर सके। इसलिए वह भजनीय भी नहीं हो सकते हैं, और विशेष में यदि कहो कि लीला के लिए अपेक्षा होती है, तो भी जिस वस्तु की जो कुछ अपेक्षा मानी जाए वह भी आपकी ही है, जिससे भगवान् ही सर्व गुणों की आत्मा है, अर्थात् सर्व गुण आप से ही व्याप्त हैं; अतः साधन प्रकार से भी, दूसरों का कोई उपयोग नहीं है इसलिए यदि भगवान् अपने अथवा अन्य के प्रयोजन के अभाव से, साधन की अपेक्षा के बिना मुक्ति दान नहीं करे तो भगवान् का प्राकट्य निरर्थक[4] हो जाए ॥१४॥

उपरौक्त १४ वें श्लोक में शुकदेवजी ने यह कहा है, कि भगवान् का प्राकट्य प्राणी-मात्र (साधन रहित जीवों) का उद्धार करने के लिए हुआ है, अतः किसी भी प्राणी का कैसे भी भगवान् से सम्बन्ध हो जाए तो उसकी ही स्वरूप द्वारा मुक्ति हो जाती है, जिसका वर्णन इस १५ वें श्लोक में शुकदेवजी करते हैं।

भगवान् के साथ सम्बन्ध करने के छः साधन हैं, १–काम, २–क्रोध, ३–भय, ४–स्नेह, ५–ऐक्य, ६–सौहृद। इन छः साधनों को कौन २ काम में लाते हैं, वह दिखाते हैं कि, १—'काम' स्त्रियों में होता है) स्त्रियाँ भगवान् से काम भाव से सम्बन्ध करती हैं), २–'क्रोध' शत्रुओं मैं होता है (शत्रु भगवान् से द्वेष भाव सम्बन्ध जोड़ते हैं), ३–'भय' वध्यों को होता है (जिसको वध किया जाता है उसमें भय होता है अर्थात् वध्य[5] भगवान् के साथ भय से सम्बन्ध करते हैं), ४–'स्नेह' सम्बन्धियों में होता है, (ज्ञानी भगवान् को अपनी आत्मा समझ उनमें ऐक्य भाव से सम्बन्ध जोड़ते हैं), ६–'मित्रता' भक्तों में होती है (भक्त ही भगवान् को अपना सुहृद[6] समझ उनसे मित्र सम्बन्ध जोड़ते हैं)। सच्चिदानन्द स्वरूप से प्रकट पुष्टि पुरुषोत्तम स्वरूप से इस प्रकार सम्बन्ध मात्र होने से ही,

---

१—गुण, २—प्रकट होवे, ३—अविकारी,
४—व्यर्थ, ५—मारने के लायक, ६—सखा,

निःसाधन भक्तों को भगवत्प्राप्ति आदि आनन्द मिल जाता है। अतः यहाँ पूर्व सिद्ध किए हुए ज्ञान तथा भक्ति का कोई उपयोग नहीं है। उनका तो मर्यादा के अनुसार स्वतन्त्र पृथक् आविर्भाव में उपयोग होता है। अर्थात् यदि कोई भगवान् को प्रकट कराना चाहे तो, ज्ञान व भक्ति द्वारा करा सकता है। अब तो भगवान् पुष्टि स्वरूप से स्वयं अपने निःसाधन भक्तों को आनन्द देने के लिए स्वेच्छा से प्रकट हुए हैं। अतः ज्ञान वा भक्ति की अब कोई आवश्यकता नहीं है।

शङ्का—भगवान् इस (पुष्टि) अवतार में ही मर्यादा भक्तों को ज्ञान भक्ति साधनों का फल देते हैं या उनके लिए पृथक् अन्य अवतार लेते हैं? इस शङ्का का समाधान पूर्व मीमांसा में कहे हुए न्याय के अनुसार यह है—कि जैसे एक वस्तु को दो पृथक्-पृथक् पदार्थ से सम्बन्ध हो तो, वह एक ही वस्तु दोनों का कार्य सिद्ध कर देती है, वैसे ही भगवान् दोनों से सम्बन्ध वाले होने से, मर्यादा मार्गीय को ज्ञान तथा भक्ति साधनों के अनुसार फल देते हैं उनके (मर्यादा मार्गीयों के) लिए पृथक् प्राकट्य की आवश्कता नहीं है। अर्थात् एक ही अवतार में दोनों फल दे सकते हैं और दिए भी हैं, तथा नहीं भी दिए हैं क्योंकि आप स्वतन्त्र हैं। श्लोक में, शुकदेवजी ने (वा) शब्द दिया है, उसका आशय यह है, कि शुकदेवजी का केवल इन छः उपायों में आदर नहीं है, किन्तु अन्य[1] कोई भी उपाय हो और वह भी भगवान् से नित्य सम्बन्ध कराता होवे तो, उससे भी सिद्धि हो सकती है यदि काम क्रोधादि से सर्वदा[2] सम्बन्ध न हो तो मुक्ति न होकर 'अन्ते या मतिः सा गतिः' इस न्याय अनुसार अन्त में जैसी मति[3] वैसी गति होगी अर्थात् उसको भगवान् के सिवाय दूसरा ही फल मिलेगा। भगवान् प्रपंच के विरोधी हैं और जो प्रपंच में आसक्त है उसको कर्मों के कारण अन्त में भगवान् का स्मरण होगा ही नहीं, जिससे उसकी मुक्ति भी नहीं होगी। अतः जो भगवान् से किसी भी उपाय द्वारा नित्य सम्बन्ध जोड़ते हैं वे तन्मयता को प्राप्त होते हैं अर्थात् भगवन्मय हो जाते हैं।

शङ्का—जो कामादि भावना से सम्बन्ध करते हैं, उनको अन्य प्रकार के दुःख सताते हैं जिससे वे नित्य सम्बन्ध कैसे कर सकेंगे? अर्थात् दुःखों के बोझ से दब जाने से, नित्य स्मरण वा सम्बन्ध न हो सकेगा, इस संशय को मिटाने के लिए शुकदेवजी ने मूल श्लोक में भगवान् का नाम 'हरि' दिया है, जिसका आशय है, कि वे (भगवान्) दुःख हर्ता हैं अतः सम्बन्ध जोड़ने वाले के सर्व दुःखों का हरण कर लेते है, जिससे उसका जब भगवान् से नित्य सम्बन्ध बन जाता है, तब उसको सर्व पदार्थ मात्र भगवद्रूप स्फुरित होते हैं, गोपीजनों का काम भावना से, भगवान् से जब सम्बन्ध हुआ, तब उनको जगत् भी भगवन्मय देखने में आया तो अपनी आत्मा भगवन्मय देखने में आवे, इसमें किसी प्रकार आश्चर्य नहीं करना चाहिए और न इसमें शङ्काशील होना चाहिए। कारण कि, सर्वत्र भगवान् के आवेश होने से, सर्व जगत् जैसे भगवन्मय हो जाता है वैसेही आप भगवन्मय हो जाते हैं ॥१५॥

कारिका—जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः ।
विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ॥१॥

१—दूसरा, २—नित्य, ३—बुद्धि,

तादृशीं भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा ।
पूर्वप्रपञ्चविलयो यथा ज्ञाने तथा यतः ॥२॥

कारिकार्थ—मनुष्य भगवान् की भावना करता हैं और वह भावना जब बढ़कर चर्म सीमा को पहुंचती है तब उसके (भावना वाले के) अपने जीव, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह, विषय, गृह, अर्थ तथा पुत्रादि में भगवान् का आवेश होता है, अतः काम कोधादि से भी वैसी तीव्र भावना करनी चाहिए जैसे ज्ञानी का ज्ञान से प्रपञ्च लय हो जाता है वैसे ही भक्त का प्रपञ्च भी नष्ट हो जाए ॥१–२॥

आभास—किञ्च, आदावेव गोप्यो मुक्ताः किमाश्चर्यम्, बहव एवाग्रे मुक्ता भविष्यन्तीति ।

आभासार्थ—गोपियाँ मुक्त हुई हैं, इसमें कौन सा आश्चर्य है आगे बहुत ही इस प्रकार मुक्त होंगे—इसका वर्णन १६ वें श्लोक में करते हैं—

श्लोक—न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥१६॥

श्लोकार्थ—अजन्मा योगेश्वरो के ईश्वर, ऐश्वर्य आदि छ भगवाले भगवान् श्रीकृष्ण में आप किसी प्रकार का आश्चर्य मत करो क्योंकि इससे जगत् का (स्थावर-जंगम सब का) मोक्ष होता है ॥१६॥

सुबोधिनी—तदाह **न चैवमिति** । एवं असंभावनारूपो विस्मयो न कार्यः । असंभावितबुद्धीनां अन्यथा स्फुरणनियमात् । यतो भगवान् । यत्किञ्चिन्मोक्षे ज्ञानादिकमुपयुज्यते, एतत्सर्वं भगवत्येवास्ति । यदि ज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षो न भवेदिति ज्ञास्यति, तदा सिद्धत्वात् ज्ञानस्य, तदपि दास्यति । किञ्च, अन्यः सन्देहं कुर्यादपि, भगवतो माहात्म्यं न दृष्टमिति, भवता तु न कार्यः, गर्भ एव माहात्म्यदर्शनात् । किञ्च, निर्दुष्टे सर्वं संभवति । तत्र दोषाणां मूलं जन्म, तदभावे दोषाभाव इति । तेन अजत्वात् निर्दुष्टः । अन्ये सर्वे हि जायन्ते, न तैस्तेषां मुक्तिः सम्भवति । तुल्यत्वात् । किञ्च, यो हि साधनपरः, स मुच्यते । तत्र साधनं मनः सर्वतो निवृत्तम्, तथा योगेन भवति, तस्य योगस्य च नियामको भगवानेव । यद्यन्यस्यापि मोक्षो भवेत्, भगवदिच्छयैव भवेत् । योगादिसाधनानां तन्नियम्यत्वात् । किञ्च, सदानन्दो भगवान् फलात्मा । यः कश्चिन्मुच्यते, स एतमेव प्राप्स्यति । अतः साधनैरप्ययमेव प्राप्यः । सोऽत्र स्वयमेव सम्बध्यत इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । किञ्च, एतत्परिदृश्यमानं सर्वमेव जगत् यतो विमुक्तिं यास्यति । भावनया गोकुले स्थित आह, ज्ञानदृष्ट्या वा । साक्षात्परम्परया वा सर्वानेव मोचयिष्यतीति । तदग्रे वक्ष्यति 'स्वमूर्त्ये' ति

श्लोकद्वयेन ।

(यद्वा, अत्र राजानुपपत्तिं शङ्कते **कृष्णमिति** । एताः कृष्णं कान्तं परं विदुः, न तु ब्रह्मतया, अतो गुणप्रवाहोपरमः कथं संगच्छत इति । अत्रायं भावः । ब्रह्मत्वेन विज्ञानं हि शास्त्रीयम्, तच्च सात्विकं भवितुमर्हति । 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान' मिति वाक्यात् । एतास्तु गुणातीतस्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादेः प्रकटस्यानन्तगुणपूर्णस्य सौन्दर्यादिगुणेषु परिनिष्ठितधियः । अतो निर्गुणत्वाद्गुणप्रवाहोपरमः कथं संगच्छते । उपरमस्याभावरूपत्वेन प्रतियोगिसापेक्षत्वादत्र च प्रतियोगिन एवाभावादिति । **मुन** इति सम्बोधनं शुद्धसत्त्वाविर्भावे ज्ञानोदयस्यानुभवसिद्धत्वेन सम्वादार्थम् । अत्रोत्तरमाह उक्तमिति । पुरस्तात्सप्तमस्कन्धे 'गोप्यः कामा' दित्यादिना । अत्रायमर्थः : यथा भगवति गुणातीत एव परिनिष्ठितबुद्धित्वेऽपि द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् चैद्यादीनां तामसत्वम्, तथैतासामपि निर्गुण एव परिनिष्ठितबुद्धित्वेपि जारत्वबुद्धेस्तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते । अयं च रसः सर्वभावप्रपत्त्येकलभ्यः । न हि जारत्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः । कामपूरकत्वेनैव तत्संभवनियमात् । अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकत्वाद्यथा चैद्यादीनाँ स्वाधिकारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधिकारानुसारेण तथात्वे सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव ततो निजपतिभजनमिति सर्वमवदातम् । अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति मर्यादा भज्येत । एतदेव मनसि कृत्वाह **उक्तं पुरस्तादेतत्त** इति । ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात्कथं सर्वभावप्रपत्तिसाध्यं फलं भविष्यतीत्यत आह **द्विषन्नपीति** । अयमर्थः । मोक्षसुखानभीप्सुस्तद्विरुद्धद्वेषकर्त्ता च चैद्यः । तस्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां मुक्तिं दत्तवान्, एवं तादृक्प्रपत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं फलं दत्तवानिति । एतेन यथा द्वेषमुक्त्योस्तारतम्यम्, तथान्यशेषभजनैतद्रसयोरपीति सूचितम् । ननु गोकुलस्य भगवत्क्रीडोपयोगित्वेन सर्वथाङ्गीकृतस्य सर्वस्यैव निर्गुणत्वे कथमेतासां सगुणत्वमुच्यते । किञ्च, अग्रेऽपि यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव फलं दित्सितं भगवतः, तदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चेत् । अत्र वदामः । यासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्डनानां शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भगवानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा, पूर्वोक्तानां भावोऽपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणं भावमुत्पाद्य, एतन्निवर्तकोऽपि स्वयमेव, नान्य इत्यपि ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधाय, अग्रे भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गमजसुखयोः कर्माजन्यत्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय, मत्स्वाम्येव सर्वमिदं कृतवानिति निगर्वः । अत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकारान्मर्यादामार्गीयानुपपत्तयोऽनवसरपराहता इति सर्वमनवद्यम् । अत एव श्रीशुकोऽपि 'जहुर्गुणमयंदेह'मितिसगुणदेहत्यागमेवोक्तवान्, अग्रे गुणातीततत्प्राप्त्यभिप्रायेण, गोप्यत्वात्स्पष्टं नोक्तवान् । अन्यथा गुणमयपदवैयर्थ्यं स्यात् । ननु पूर्वोक्तज्ञापनायैवेदं कृतवानिति कथं ज्ञेयम्, उपपत्त्यभावादित्याशंक्योपपत्तिमाह **नृणामिति** । अयमाशयः । लीलायां तत्स्थितभक्तेषु च सुतरां रासस्थासु, या साधारणत्वबुद्धिः, सा सदोषत्वारोपापरपर्याया । तासामगुणत्वात्तस्य दोषरूपत्वाद्भगवत्स्वरूपे लीलायां च सगुणत्वप्रसञ्जकत्वाच्च । एवं सत्येतल्लीलाया मुक्तिप्रतिबन्धकत्वमेव स्यात्, न तु तद्धेतुत्वम् । तथा सत्यवतारप्रयोजनं विरुध्येतेत्यन्यथानुपपत्त्यैव तथोच्यत इति । ज्ञापनप्रयोजनमपीदमेवेति ज्ञेयम् । व्याख्यानं पूर्ववत् । नन्वियदवधि सगुणास्वेतासु कृताया लीलायाः पूर्वोक्तदोषप्रसञ्जकत्वं दुर्वारमित्याशंक्य पूर्वलीलाकृतितात्पर्यमाह **काममिति** । इदं हि साधारण्येनोच्यते । य एवं नित्यं विदधते, ते तन्मयतां यान्तीति, नत्वेतद्गोपभार्याविषयकमेव । अत एव क्रोधाद्युक्तिरपि । अन्यथाऽप्रस्तावेनात्र तन्निरूपणमयुक्तं स्यात् । तथा च सगुणेनापि भावेन भजते भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति ज्ञापनाय पूर्वलीलेत्यर्थः । अन्यथा

मुख्याधिकारिणामेव भगवत्प्राप्तिरिति ज्ञानेऽन्येषामप्रवृत्त्या मुक्त्युच्छेदः स्यात् । एवं शास्त्रमप्रयोजनकं च स्यात् । मुख्याधिकारिणां स्वत एव प्रवृत्तेः । स्वरूपलीलयोस्तु न कदाचित्सगुणत्वम्, लीलाविषयाणां सगुणानामपि निर्गुणत्वापादकत्वात् । न हि दोषनिवर्तकमौषधं रोगिसम्बद्धं सत् तद्वद्भवति । तथा सति तदनिवर्तकत्वापत्तेः लीलाया विषयसाजात्यनियमे सगुणनिर्गुणभक्तयोरेकया वेणुवादनादिलीलया निरोधो नोपपद्येत । क्रोधादिवत्कामोपाधिकभावस्यापि जघन्यत्वज्ञापनायापि क्रोधादिनिरूपणं ज्ञेयम् । **तन्मयतां** निर्गुणतामित्यर्थः । ननु साक्षादङ्गसङ्गित्वेपि सगुणत्वस्थितिं वस्तुशक्तिः कथं सहते । वह्निसम्बन्ध इव तूलस्थितिमित्येको विस्मयः । लौकिकरीत्या कामभाववतीष्वलौकिकस्य रमणं द्वितीयः । क्रोधादिभाववतां तत्फलमननुभूयैव भगवत्प्राप्तिश्चापरः । स्नेहवत् समानफलत्वं च । यशोदानन्दने हि ता भाववत्यः तस्य च वनस्थितस्यैतद्ध्यानप्राप्तिश्चान्यः । एतासां तदैव निर्गुणदेहप्राप्तिर्विनैव तत्साधनमिति चेतरः । सर्वात्मभाववत्स्वेव करिष्यमाणलीलाया अनुभवः । अन्यस्यास्तु तद्रहितानामपीत्यनेक विस्मयाविष्टं राजानं ज्ञात्वा तन्निवारकं क्रमेण वदन् पूर्वश्लोकोक्तभाववतां भगवत्प्राप्तौ हेतूनप्याह **न चैव**मिति। आद्यविस्मयाभावार्थमाह **भवते**ति। अत्रायं भावः। पूर्वमनिवर्त्यब्रह्मास्त्रतोऽपि गर्भेऽपि रक्षितवान् भवन्तम्, प्रयोजनमस्तीति । अधुना तु तदभावाद्बालवाक्यादपि न रक्षतीति भवतैवानुभूयते । न हि एतावता वस्तुशक्तौ काचिन्न्यूनता । इच्छाशक्त्यधीनत्वात्सर्वासां शक्तीनाम् । तस्याः सर्वतोऽधिकत्वात्। न हि मन्त्रप्रतिबन्धदशायामग्नेरदाहकत्वमिति तच्छक्त्यपगम एवेति वक्तुं युक्तम् । प्रकृतेऽपि यासां साक्षादित्यादिनोक्तप्रयोजनार्थं भगवता तथा कृतमिति ज्ञात्वा भवता तु विस्मयो न कार्यः । अनुभावाननुभवेनान्यः कुर्यादपीति । द्वितीयतृतीयादिकं परीहरति **भगवती**ति । तत्रेश्वरो हि सर्वरसभोक्ता भवति । 'सर्वरस'इति श्रुतेः । कामरसो हि तादृशभाववतीषु विशिष्टोऽनुभूतो भवति । कामशास्त्रे तथैव निरूपणात् । तथा चैश्वर्यवत्ययं विस्मयो न कार्यः। तथा भगवद्वीर्यस्येतरसाधनासाध्यसाधकत्वेनात्युग्रत्वात् क्रोधादिदोषमन्यानिवर्त्यमपि स्ववीर्येण हरिर्निवारयितुं समर्थ इति तादृशे स विस्मयो न कार्यः । यशो ह्यसाधारणम्, असाधारणे कर्मणि सति भवति । यदि स्नेहवत्स्वेव मुक्तिं दद्यात्, न द्विट्सु, तदान्यसाधारण्येनासाधारणं यशो न स्यात् । भयद्वेषादिमत्स्वपि स्नेहादिमत्समानफलदाने ह्यसाधारणत्वेनासाधारणं यशः स्यात् । तथा च तादृशयशसः सहजत्वेन तज्ज्ञापकधर्मा अपि हरौ सहजा एवेति नायं विस्मयः कार्यः । श्रीर्लक्ष्मीः । सा चैतादृशस्नेहवती यद्वक्षसि स्थितिं प्राप्यापि चरणरजः कामयते, प्रत्यवतारं चावतरति । सदा तद्वत्त्वेन हरिः स्नेहरसाभिज्ञ इति तद्वत्सु स्वरूपदानं युक्तम् । ऐक्यं हि ज्ञानमार्गे । हरेश्च ज्ञानवत्त्वेन तेषु तथा युक्तम् । सौहार्दं हि सख्ये सति भवति । तच्च समानशीलव्यसनेष्वेव । 'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा । साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि' इत्यादिवाक्यैर्यथा भगवतो भक्तातिरिक्ते रागाभावो, भक्तेष्वेव च राग इति वैराग्यवत्वम् तथा भक्तानामपि भगवतीति सौहार्दयोग्येषु सौहार्दं ददातीति पूर्वोक्तवैराग्यवत्त्वात् तेषु तथा करणं युक्तमिति यशोदानन्दन इत्यादिनोक्तविस्मयाभावार्थमाह **अज** इति । यदि भगवतो जीववत् कुत्रापि जन्म स्यात्, तदान्यत्र बहिःस्थितोऽत्रान्तर्हृदि कथमागतः, तत्र सन्नेवेति शङ्का स्यात् । तदभावात् । स्वेच्छया यथा मायाजवनिकां दूरीकृत्य यशोदागृहे प्रकटः, तथा वने, तथैवान्तर्हृद्यपीत्यजे नायं विस्मयः कार्यः । अग्रिमोक्ततदभावार्थमाह **योगेश्वरे**ति । योगिनो हि योगबलेन भोगार्थमनेकानि शरीराणि युगपत्क्षणमात्रेण सृजन्ति । तेषां च योग आगन्तुको धर्मः । भगवांश्च तादृग्धर्मसम्पा-

दकः फलदाता चेति तेषामपीश्वर इति सहजानन्तशक्तिमानिति तास्वलौकिकदेहसम्पादनमात्रं न विस्मयहेतुर्भवितुमर्हति । अग्रिमतदभावायाह **कृष्ण** इति । 'कृषिर्भू वाचक'इति वाक्यात् सदानन्दस्वरूपो भगवान्, निर्दोषपूर्णगुण इति यावत् । तेन कृष्णातिरिक्तस्य वस्तुमात्रस्यैव सदोषत्वात्तत्रापि स्वास्थ्यहेतुत्वं जानतः सदोषत्वमेवेति निश्चयः । इयं च लीला स्वरूपानन्दरूपा तादृश्येवेति सर्वात्मभावरहितेष्वेतदनुभवायोग्यत्वान्नायं विस्मयः कार्य इत्यर्थः । किञ्च, एतासा तु स्नेहः पूर्वोक्तः साधनत्वेनासीत्, 'गोकुलं त्वह्न्यापृतं निशि शयान'मिति वाक्यात् सर्वसाधनविमुखं सदपि प्रतिक्षणं स्वरूपे लीयते, अग्रिमाग्रिमलीलारसानुभवार्थम्, भगवान् परं पुनः पुनः पृथक्कृत्य तामनुभावयतीत्यचिन्त्यानन्तशक्तिमति न किञ्चिदाश्चर्यमित्याशयेनाह **यत एतदिति** । शुकस्त्वधुना लीलेतराननुसंधानाद्भावनया तत्रैव स्थित इत्येतदित्युक्तवान्, वर्तमानप्रयोगं च कृतवान्, तामेव लीलामनुभवतीति सर्वमनवद्यम् । नन्वेतद्वै परीत्यमपि सुवचम् । तथाहि । एता अपि पूर्वोक्तमध्यपातिन्य एव ! अत एव पूर्वश्लोके तासामनिवृत्तिमुक्त्वा तादृशी सा लोकेऽत्यसम्भावितेति सा कथमुपपद्यत इत्याङ्कानिरासायाह **अन्तर्गृहे**त्यादि । अत्रायं भावः । पूर्वं हि वचनेन निवर्तनम् । तथा सति निवृत्तिर्हि विपरीतस्वक्रियया भवति । सा चातिदूरे, यतस्तत्सजातीयाः काश्चिद्भर्त्रादिकृते क्रियया प्रतिबन्धे तत्प्रतिबध्यं देहमपि त्यक्त्वा भगवत्सङ्गता जाताः । तथा चैतादृश्यः पूर्वोक्ताः सर्वा इति युक्तैवानिवृत्तिः । किञ्च, तद्भावनायुक्ता इति पदे तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वेन पूर्वं च पूर्वोक्तानामेव भावस्योक्तत्वादेतद्भावसजातीयभाववत्त्वं पूर्वोक्तानामपीति गम्यते । तेनैतन्निष्ठाशेषधर्मवत्त्वं तत्रापि सिध्यति एतासां मुक्तिर्दत्तेति तन्निवृत्तिं विना न सेति तथोक्तम् । तांसां न तयेति न तथोक्तमिति चेत् । अहो शङ्काढ्यमानिनो मोढ्यदाढ्यं तव । यस्मादालोचनलोचन राहित्येन बाहिर्मांख्यासत्सङ्गाख्यगिरिगर्तापातपातविवशाशयः परोक्तमपि नानुसंधत्से । तथा हि । यच्छङ्कानिरासायैतत्कथावतारिता, तद्भावश्च त्वया वर्णितः, तत्र त्वां पृच्छामः, तदर्थमियं कथा कल्पिता, उत सिद्धैवानूदिता । अन्त्य एव संमतश्चेत्, तत्रापि त्वां पृच्छामः, एतासां प्रतिबन्धे को हेतुरिति । स्वप्रियास्वपि सगुणत्वं ख्यापयितुमेतासां प्रतिबन्धो हरिणैव कृत इति चेद्ब्रवीषि, हन्त एवं विचारकस्य तव शतधा हृदयं नास्फुटत् कुतस्तन्न जानीमः । यतो मर्यादाभक्तिमार्गीयसेवाविषयकश्रद्धाया अपि निर्गुणत्वम्, तत्र साक्षादङ्गसङ्गिनीषु सगुणत्वं ब्रवीषि । किञ्च, 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका' इत्यादिना प्रभुणैव, 'एताः परं तनुभृत'इत्यादिनोद्धवेन, 'नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून' इत्यादिना भगवता स्तुतेनापि चरणरेणुप्रार्थनापूर्वकं स्तुता इति क्व तद्गन्धशङ्कापि । ननु कामोपाधिस्नेहवत्त्वेन तथोच्यत इति चेत् । न । तथा स्नेहे भगवतोऽपि विषयान्तरतुल्यत्वेन 'संत्यज्य सर्वविषया'निति कथनानुपपत्तेः । विषयार्थमेवागमनात् । न च भगवतो विषयत्वेऽपि तदतिरिक्तविषयाणां त्यागोऽनूद्यत इति वाच्यम् । 'तव पादमूलं प्राप्ता'इत्युक्तिविरोधात् । न हि कामिन्य एवं वदन्ति, किन्तु भक्ता एव । किञ्च, अतितोके पूतनासुपयःपानानन्तरं रक्षाकरणे श्रीशुकेन हेतुरुक्त 'इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभि'रिति । न हि तादृशे कामोपाधिकः स संभवति । न वा तादृशीनामञ्जनादित्यागः संभवति, प्रत्युत तदादिसर्वं प्रसाध्यागमनम्, कुब्जावत् । तदनन्तरं यद्रमणम्, तत्तु 'रसो वै स'इति श्रुतेः स्वरूपस्य रसात्मकत्वाद्रसरीत्या स्वरूपानन्ददानमेव । 'सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसं । तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रय'मिति भगवद्वाक्यात् भगवत्सम्बन्धिसुखस्यापि गुणातीतत्वमेव) ॥१६॥

व्याख्यार्थ – हे नृप ! आपको भगवान् में असंभावना बुद्धि रखकर ऐसा विस्मय नहीं करना चाहिए कि कामादि से भगवान् ने गोपियों को मुक्ति वा रसदान कैसे दिया होगा ? क्योंकि असम्भावना बुद्धि से सत्य की स्फूर्ति न होकर असत्य विचार (भाव) उत्पन्न होते हैं। आपको यह विचारना चाहिए कि यह भगवान् हैं अर्थात् षड्गुणों से युक्त होने से, कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं।

मोक्ष प्राप्ति के लिए जिस ज्ञानादि की आवश्यकता होती है, वे सब भगवान् के पास हैं ही, यदि आप समझते हो, कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होगी तो ज्ञान तो भगवान् के पास सिद्ध ही है वह भी दे देगें और विशेष यह है कि आपके सिवाय कोई दूसरा जिसने भगवान् का माहात्म्य न देखा हो वह तो विस्मय कर सकता है आपको तो विस्मय करना ही नहीं चाहिए कारण कि आपने तो गर्भ में ही भगवान् का माहात्म्य देखा है।

जो निर्दोष हैं, अर्थात् जिसमें कुछ भी दोष मात्र नहीं है वह सब कुछ कर सकता है, दोषों की जड़ 'जन्म' है, जिसमें वह नहीं है तो उसमें दोष भी नहीं है, इसलिए भगवान् अजन्मा होने से निर्दोष है. भगवान् के सिवाय दूसरे सब जन्म लेते हैं, वे (जन्म लेने वाले) उनकी (गोपियों की वा जन्म लेने वालों की) मुक्ति नहीं कर सकते हैं, कारण कि दोनों जन्म लेने से दोषी हैं अतः दोनों समान हैं।

और विशेष यह है कि जो साधन करता है वह मुक्त होता है, मन सर्व पदार्थों में से आसक्ति को छोड़ निवृत्त हो जाय तब वह 'साधन' बनता है वैसा मन तो योग से बन सकता है उस योग का नियामक भी भगवान् ही है। किसी दूसरे का भी किसी भी साधन से मोक्ष होता है तो वह भी भगवान् की इच्छा से ही होता है कारण कि उनको भी नियम में चलाने वाले भगवान् ही हैं, किञ्च[1] फलरूप तो सदानन्द भगवान् ही है। जो कोई प्रपञ्च से मुक्त होगा वह भगवान् को ही प्राप्त करेगा। अतः साधनों से भी ये (भगवान्) ही प्राप्त किए जाते हैं। वह भगवान् आप स्वयं ही यहां सम्बन्ध वाले (गोपियों के साथ सम्बन्ध वाले) हुए हैं इसलिए यहाँ कुछ भी अयोग्य नहीं हुआ है। जिस (कृष्ण) से यह सारा प्रपञ्च मुक्ति पाएगा तो उसमें असम्भावना कैसी ?

श्री शुकदेवजी, इस प्रकार भगवान् के माहात्म्य की भावना तीव्र होने से अपने को व्रज में स्थित समझकर कहने लगे, अथवा ज्ञान दृष्टि से कहने लगे, कि भगवान् कृष्ण साक्षात् स्वयं वा परम्परा से सबका मोक्ष करेंगे यह कथा आगे 'स्वमूर्त्या' इन दो श्लोकों से ११वें स्कन्ध अध्याय १ में शुकदेवजी कहेंगे अथवा 'कृष्णं कान्तं परं विदुः' इस श्लोक में राजा ने यह पूछा है कि गोपियों ने भगवान् कृष्ण को अपना श्रेष्ठ पति समझा था कि ब्रह्म, तब उनका संसार कैसे नाश हुआ ? जिसका भाव यह है कि गोपियाँ सगुण[2] नहीं हैं, क्योंकि सगुण वे होते हैं जिनको शास्त्र पढ़ने से अन्तःकरण में सत्वगुण उत्पन्न होकर, ज्ञान पैदा हुवा हो, किन्तु गोपियाँ तो आनन्द स्वरूप, अनन्त गुण प्रकट पुरुषोत्तम के सौन्दर्यादि गुणों में आसक्त होने से निर्गुण हैं। जब वे निर्गुण हैं, तो उनके गुणनिधि प्रवाह (संसार) का नाश हुआ यह कहना असंगत है, क्योंकि नाश उसका होता है, जिस वस्तु का अस्तित्व है। जो वस्तु है ही नहीं, उसका नाश कैसे होगा ? गोपियाँ निर्गुण हैं, अतः उनमें सत्वादि-

---

१—कुछ और, २—गुणवाली

गुण हैं ही नहीं, अतः उनका (उनके गुणों का) नाश भी नहीं हुआ है तो श्लोक में इस प्रकार क्यों कहा गया है ? राजा ने शुकदेवजी को 'मुने !' यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि स्वयं शुकदेवजी को यह अनुभव है, कि जब अन्तःकरण में सत्वगुण प्रकट होता है तब वह ज्ञान को उत्पन्न करता है सत्वगुण के अभाव में ज्ञान नहीं, जिसका आशय यह है, कि गोपियों में सत्वगुण नहीं था, अतः उनमें यह भी ज्ञान न जगा, कि कृष्ण ब्रह्म है इससे भी सिद्ध है, कि वे सगुण नहीं थी किन्तु निर्गुण थीं।

परीक्षित के इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर १३ वें श्लोक 'उक्तं' में शुकदेवजी देते हैं, कि, आपको सातवें स्कन्ध में इसका उत्तर दे चुका हूं, कि शिशुपाल द्वेष से, गोपियाँ काम से भगवान् को प्राप्त हुईं।

इस प्रकार कहने का भावार्थ यह है जैसे शिशुपाल की बुद्धि तो गुणातीत भगवान् में निष्ठ थी, किन्तु भगवान् से द्वेष करने के कारण, वह तामस (तमोगुण) वाला था, तो भी अपने अधिकार के अनुसार द्वेष करने वाले शरीर के पतन[1] होते ही अपने अधिकार के अनुसार भगवान् के चरणों में प्राप्त हुआ, वैसे (ही) अन्तर्गृह गत गोपीजन भी भगवान् में आसक्त चित्त होने से निर्गुण होते हुए भी जार बुद्धि के कारण, सगुण मानी जाती हैं, यह सगुणत्व सर्वात्म भाव होने में रुकावट डालता है, जिससे रस प्राप्ति में विलम्ब होता है, किन्तु शिशुपाल की भाँति, अपने अधिकारानुसार सगुणत्व के नाश हो जाने से, सर्वात्म भाव प्रकट हुआ, जिससे वे अपने पति (भगवान्) का भजन करने लगीं, इसलिए इसमें किसी प्रकार की शङ्का करना व्यर्थ है, क्योंकि, इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। यदि इसको निर्दोष नहीं माना जाएगा, तो भगवान् के 'ये यथा माँ प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इन वचनों की मर्यादा टूट जाएगी। शुकदेवजी ने इन सब विषयों को ध्यान में रखकर कहा है, नृप ! 'उक्तं पुरस्तात्' मैंने आपको यह प्रथम ही कह दिया है।

जब यह फल सर्वात्म भाव से शरण जाने पर मिलता है, तो इनको सर्वात्म भाव बिना यह फल क्यों मिला ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, कि शिशुपाल भगवान् से मोक्ष फल नहीं चाहता था, किन्तु उनसे द्वेष ही करता था, जो द्वेष, मुक्ति का वैरी है, तो भी ज्ञानियों को भी कष्ट से मिलने वाली मुक्ति भगवान् ने शिशुपाल को जैसे दी, वैसे (ही) जार बुद्धि से भी अपने शरण आई हुई गोपियों को सर्वात्म भाव वाला फल दिया। जिससे यह समझाया है, कि जैसे मुक्ति तथा द्वेष में विषमता है वैसे (ही) जार बुद्धि से किए हुए भजन और भगवान् के रस में भी विषमता है, तो भी भगवान् ने अपनी इच्छा से शिशुपाल को मुक्ति गोपियों को अपने रस का दान दिया है।

भगवान् ने अपनी क्रीड़ा के उपयोग में आने वाले गोकुल को अङ्गीकार किया है, जिससे गोकुल के सर्व, निर्गुण हैं तब इनको सगुण कैसे कहा जाता है ? और जब भगवान् आगे चल कर सर्वात्म भाव से शरणागत को मिलने वाला फल इनको देना ही चाहते थे, तब प्रथम ही उनमें (गोपियों में) वैसा ही भाव क्यों नहीं पैदा किया ?

इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि, जिन (गोपियों) का भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध था, उन

---

[1] —नाश

समस्त गोपीजनों के शरीर भी निर्गुण थे, यह जताने के लिए ही स्वयं भगवान् ने कितनीक गोपियों की देहों को सगुण बनाया। पहली (साक्षात् सम्बन्ध वाली) गोपियों का भाव भी निर्गुण था अतः भगवान् ने इनमें (देह से सगुण गोपियों में) भाव भी सगुण स्थापित किए, और फिर उन सगुण देह तथा भावों का नाश करने वाले भी आप ही हैं, कोई दूसरा नहीं, यह बताने के लिए ही भगवान् ने सगुण भाव का नाश किया।

गोपियाँ को भगवान् के विरह से प्राप्त दुःख, तथा संयोग से मिला हुआ सुख कर्मों से नहीं हुआ है इसको समझाने के लिए कर्मक्षय की भांति अपनी प्राप्ति स्वयं कराई। (प्रभुचरण स्पष्ट कहते हैं कि) यह सब मेरे स्वामी ने ही किया है। यह लीला का विषय पुष्टि मार्गीय है। इसमें शङ्काओं का परिहार[1] भी पुष्टि मार्गीय रीति से किया गया है अतः मर्यादा मार्ग के अनुसार जो दोष देखने में आवे उनको यहाँ स्थान नहीं है। इसलिए श्री शुकदेवजी ने भी गोपियों के सगुण देह का त्याग ही कहा है। आगे गोपियों को गुणातीत देह प्राप्त हुई यह योग्य होने से, स्पष्ट नहीं कहा यदि निर्गुण देह की प्राप्ति गोपियाँ को आगे होने वाली न होती, तो श्री शुकदेवजी कहते, कि उनके देह नष्ट हो गए यों न कहकर गुणमय बिशेषण देने का यही रहस्य है, कि गोपियों की सगुणता नाश कर उनमें निर्गुणता भगवान् ने स्थापित की अन्यथा 'गुणमय' पद जो शुकदेवजी ने दिया है वह निरर्थक हो जाता ॥१३॥

भगवान् ने यह समस्त लीला ऊपर कहे हुए कारणों के लिए ही की है, यह आपका कहना हम कैसे माने जबकि उसमें किसी प्रकार उपपत्ति नहीं दी गई है?

इस प्रकार की शङ्का निवारण करने के लिये'नृणां निःश्रेय सार्थाय' श्लोक कहा है।

जो भक्त भगवान् के साथ लीला में स्थित हैं, और विशेषतया रास क्रीड़ा करने वाले जो भक्त हैं, उनको तथा भगवान् एवं भगवान् की लीला को, सगुण समझना एक प्रकार से उन पर दोष मढने के समान है। क्योंकि वे भक्त, भगवत् स्वरूप तथा लीला सब निर्गुण हैं, यदि वे सगुण होते तो मुक्ति में प्रतिबन्धक[2] हो जाते जिससे वे (स्वरूप तथा लीला) मुक्तिदायी नहीं हो सकते, यदि उन्होंने मुक्ति नहीं दी, सगुण होकर मुक्तिदान में असमर्थ हो गए तो, भगवान् के प्राकट्य का कोई प्रयोजन नहीं हुआ और भगवान् की ये लीलाएँ भी निरर्थक[3] हुई। भगवान् के प्रकट होने की इसके (स्वरूपबल से मुक्ति तथा रसदान करने के) सिवाय अन्य कोई उपपत्ति नहीं है, इस श्लोक का भावार्थ पहले के समान ही है ॥१४॥

अब तक भगवान् ने सगुण गोपियाँ से जो लीलाएँ की हैं वे लीलाएँ तो मुक्ति में प्रतिबन्धक हैं ही क्योंकि गोपियों को जार भाव था, इस प्रकार की शङ्का का उत्तर 'कामंक्रोधं' इस १५ वें श्लोक से देते हैं—

शुकदेवजी राजा को कहते हैं, कि यह तो साधारण सिद्धांत है कि जो कोई भगवान् में किसी भी प्रकार सम्बन्ध जोड़ता है और वह सम्बन्ध नित्य हो, तो सम्बन्ध जोड़ने वाला भगवन्मय हो जाता

---

[1] समाधान, [2] रुकावट करने वाले, [3] बिना मतलब वाली, बेकार

है। केवल गोपियों की भांति काम से नहीं किन्तु क्रोध, भय और द्वेष अथवा स्नेह और ऐक्य से भी सम्बन्ध करे तो वह निर्गुण बनकर भगवान् को पा लेता है। यदि केवल काम से भगवान् की प्राप्ति होती है यह तात्पर्य होता, तो शुकदेवजी का क्रोध भय और द्वेष आदि का इस प्रसंग में कहना अयोग्य हो जाता। इसीलिए भगवान् को जो सगुण भाव से भजता है, भगवान् उसको अपने योग्य ही फल देते हैं यह जताने के लिए ही आपने यह लीला की है। यदि भगवान् इस प्रकार सगुण भाव से भजने वालों का संसार नष्ट कर, उनको अधिकारानुसार मुक्ति वा अपना रस दान नहीं करते, तो साधारण जनों को यह निश्चय हो जाता, कि मुक्ति आदि तो मुख्य उत्तमों को ही भगवान् देते हैं! तो हम प्रयत्न क्यों करें? जिससे साधारणों की भजन में प्रवृत्ति न होने से, मुक्ति मार्ग ही लुप्त सा हो जाता, तो शास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि उत्तमों की तो अपने आप उसमें प्रवृत्ति हो जाती है।

भगवान् का स्वरूप और लीलाएँ कभी भी सगुण नहीं होती हैं अपितु[1] सगुण भक्त भी जब लीलाओं से सम्बन्ध करते हैं तो वे भी निर्गुण हो जाते हैं कारण कि स्वरूप तथा लीलाएँ उनको निर्गुण बना देती हैं, जैसे रोग को मिटा देने वाली दवा रोगी से मिलाप करने से कभी भी रोगवाली व रोगरूप नहीं बन जाती है प्रत्युत उस रोगी के रोग को मिटाकर उसको निरोग बना देती हैं वैसे (ही) स्वरूप तथा लीलाएँ भी सगुण को निर्गुण बना देती हैं। भगवान् की लीलाएँ भक्तों के भावों के अनुसार उन जैसी न बनकर अपने समान उनको बना देती हैं अतः एक ही वेणुनाद लीला से, सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार के भक्तों का निरोध होगया है। अन्यथा, यदि लीला सगुण के संग से सगुण हो जाती, तो सगुण भक्तों का निरोध सिद्ध न होता, जैसे क्रोध आदि से किया हुआ स्मृति, भजन साधारण कोटि है, वैसे (ही) काम से किया हुआ भजन भी निम्नकोटि वाला[2] है। इसको जताने के लिए श्लोक में क्रोध आदि का निरूपण किया है। मूल श्लोक १५ वें में जो 'तन्मयता' शब्द है, उसका भावार्थ है 'निर्गुणता' अर्थात् सगुण गोपियाँ भी, निर्गुण बन गईं एवं क्रोध आदि भाव वाले भी निर्गुण हो गए ॥१५॥

श्री शुकदेवजी जान गए कि राजा का अन्तःकरण विस्मय तथा सन्देहों से भर गया है, अतः उनको मिटाना आवश्यक है। उनको मिटाने के लिए १६ वें श्लोक में 'न चैवं विस्मयः कार्यो' कहकर उनके विस्मय तथा शङ्काओं को, हेतु देकर मिटाया है।

(१) राजा को प्रथम यह अचम्भा हुआ, कि जब गोपियों का निर्गुण भगवान् के साथ अङ्ग सङ्ग हुआ तो उस काल में वे सगुण कैसे रह सकीं। लोक में देखा जाता है, कि कपास का जिस वक्त अग्नि से संसर्ग होता है, उस समय उस (कपास) का वह स्वरूप नष्ट हो जाता है।

(२) गोपीजन लौकिक रीति से काम भाव वाली थीं तो उन (लौकिक भाववालियों) से अलौकिक प्रभु ने रमण कैसे किया?

(३) क्रोध आदि भाव वालों ने उनका फल भोगा ही नहीं और उनको भगवत्प्राप्ति होगई?

(४) और वह भी स्नेह वालों के समान फल?

१—बल्कि, २—नीचे दर्जे का,

(५) गोपियों का स्नेह यशोदानन्दन में था, वह तो बन में थे और गोपियाँ घर में थीं घ में बैठी हुई गोपियाँ उनका ध्यान कर उनको कैसे प्राप्त कर सकीं ?

(६) उनको उस समय ही बिना साधनों के निर्गुण देह की प्राप्ति होगई, यह भी आश्चर्य जैसी बात है।

(७) जो लीला आगे की जाने वाली है उसका केवल सर्वात्मभाववालिओं को ही अनुभव है जबकि अन्य लीलाओं का अनुभव बिना सर्वात्मभाव के भी।

इत्यादि अनेक विस्मयों से युक्त राजा को देखकर श्री शुकदेवजी उनके विस्मय वा संदेहों को इस १६ वें श्लोक से मिटाते हैं।

प्रथम विस्मय, भगवान् से अङ्गसङ्ग होते हुए भी सगुण देह कैसे रही ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि तुम्हारे सिवाय अन्य कोई वैसा सशय वा विस्मय करे, तो कर सकता है, तुम कैसे करते हो, जबकि तुमको इस विषय का अनुभव है, कि जो कुछ हो रहा है, वह भगवान् की इच्छा शक्ति से हो रहा है। भगवान् में सब प्रकार की शक्ति है, करने की न करने की, कराने की न कराने की, किन्तु कौनसी शक्ति से कब काम लेते हैं वह आपकी इच्छा शक्ति के आधीन है। जैसे कि भगवान् ने आपको गर्भ में ब्रह्मास्त्र से बचाया, क्योंकि उस समय तुमको बचाकर कार्य कराना था, किन्तु अब ऋषि बालक के शाप से तुम्हारी रक्षा नहीं करते हैं कारण, कि तुम से अब कार्य कराना नहीं है। जिसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए, कि भगवान् में वह शक्ति नहीं है, शक्ति तो है, किन्तु आपकी (भगवान् की) तुमको बचाने की इच्छा नहीं है, जैसे अग्नि मन्त्रादि से प्रतिबन्ध होने से जलाती नहीं है इससे अग्नि में जलाने की शक्ति नहीं है क्या ? है, किन्तु मन्त्र से प्रतिबन्ध होने के कारण जलती नहीं है वैसे (ही) भगवान् में बचाने की वही शक्ति सदैव है, अब इस शक्ति से काम लेने की भगवान् की इच्छा नहीं है, तुमको भगवान् का इस प्रकार का अनुभव है अतः तुम्हें तो इस विषय में विस्मय नहीं करना चाहिए और समझना चाहिए कि जैसे मेरे साथ इच्छानुकूल कार्य किया है, वैसे (ही) अब भी इस विषय में भगवान् ने ऊपर कहे हुए प्रयोजनों के कारण साक्षात् अङ्ग सङ्ग के समय उन (गोपियों) की वह सगुण देह नाश नहीं की है।

द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ विस्मय—लौकिक काम वालियों के साथ अलौकिक भगवान् ने रमण कैसे किया ? क्रोधादि भाव वालों ने उनका फल भोगा ही नहीं और उनको भगवत्प्राप्ति हो गई ! और वह भी स्नेह वालों के समान फल !

श्री शुकदेवजी—इस विस्मय और क्रोध आदि करने वालों का भी उद्धार करते हैं, उनमें भी, जो विस्मय राजा को हुआ उन सब विस्मयों का निवारण एक ही 'भगवति' (भगवान् में) शब्द से करते हैं—कृष्ण को भगवान् कहकर यह बताया है, कि श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य छ गुण हैं, इन छ गुणों का प्रभाव प्रकट दिखाने के लिए इस प्रकार की कृष्ण ने लीलाएँ की हैं—जैसे कि आप (भगवान्) ऐश्वर्य युक्त होने के कारण सर्व रस भोक्ता हैं इसलिए श्रुति ने कृष्ण को 'सर्वरस' कहा है, काम शास्त्र में सिद्ध किया गया है कि काम रस का अनुभव उनमें से किया जा सकता है, जो इस (काम) भाव वाली हैं, अतः सर्व रस रूप षड् ऐश्वर्य वाले भगवान् में इस प्रकार का विस्मय नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रीकृष्ण नें यह लीला (अङ्ग सङ्ग लीला) कर अपने 'ऐश्वर्य' धर्म का प्रभाव प्रकट कर दिखाया है।

क्रोध दोष, जिसको कोई भी नाश नहीं कर सकता है उसको भगवान् का सबसे उग्रवीर्य ही नाश करने में समर्थ है, अतः जिन्होंने भगवान् में क्रोध भाव से सम्बन्ध जोड़ा है उनके क्रोध को अपने वीर्य धर्म से नष्ट कर संबंध होने के कारण मुक्ति देकर अपने 'वीर्य' धर्म का प्रभाव प्रकट किया है। अतः इस विषय का भी भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिए।

'यश' सामान्य धर्म नहीं है, अतः वह तभी मिलता है जब कोई महान् कर्म किया जाए। साधारण कर्म करने से यश नहीं बढता है अतः यदि भगवान् से जो स्नेह करे उनको ही केवल मुक्ति देवें और द्वेष करें उनको मुक्ति नहीं दें, तो भगवान् का यह कर्म साधारण होने से आपका यश न बढ़े अतः भगवान् मैं जैसा फल स्नेह वालों को दिया है वैसा ही भय द्वेष आदि करने वालों को भी दिया है। इस प्रकार असाधारण कर्म करने से भगवान् ने 'यश' धर्म को प्रकट किया है। भगवान् का यह यश सहज ही है और यश को बताने वाले धर्म भी भगवान् में सहज ही हैं अतः विस्मय नहीं करना चाहिये।

स्नेह में क्या रस है इसको भगवान् जानते हैं, क्योंकि श्री (लक्ष्मी) को भगवान् ने अपने हृदय में विराजमान किया तो भी, लक्ष्मी स्नेह के कारण वक्षस्थल को न चाहती हुई, चरणों के रज की कामना करती हुई प्रत्येक अवतार में, अवतार लेकर चरणों की सेवा करती है, अतः भगवान् स्नेही भक्तों को स्वरूपदान देते हैं यह योग्य ही है। वैसा कर 'श्री धर्म' दिखाया है।

ज्ञान मार्ग पर चलने वाले 'ऐक्य' चाहते हैं भगवान् उनको वैसा ही ऐक्य देते हैं, जिससे अपना 'ज्ञान' धर्म प्रकट किया है।

सखा भाव में सौहार्द होता है, वह सखा भाव उनमें होता है, जिनका स्वभाव, व्यसन आदि समान होवे, भगवान् ने कहा है कि मेरे भक्त (साधुओं) के सिवाय मैं अपनी तथा लक्ष्मी की भी इच्छा नहीं करता हूं उनकी परा भक्ति आत्यत्तिक श्री मैं हूं, भक्तों का हृदय मुझ में है और मेरा हृदय भक्तों में है अथवा साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओं का हृदय हूं वे मेरे सिवाय किसी को नहीं जानते हैं और मैं उनके सिवाय स्वल्प भी कुछ नहीं जानता हूँ। एसे अनेक वाक्यों से समझा जाता है, कि भगवान् का भक्तों में राग[1] है और भक्तों के सिवाय अन्यों में राग नहीं है, जिससे भगवान् ने अपना 'वैराग्य' धर्म प्रकट किया है और भक्तों ने भी इसी प्रकार वैराग्य दिखलाया है। भगवान् में राग अन्यों में वैराग्य, अतः भगवान् सौहार्द[2] करने योग्य भक्तों को मित्रता का दान देते हैं, भक्तों में जैसे वेराग्य धर्म है वैसे (ही) भगवान् भी उनसे वैराग्य युक्त मित्रता करते हैं, वैसा करना योग्य ही है। पञ्चम विस्मय—गृह में स्थित गोपियाँ वन में स्थित कृष्ण को कैसे ध्यान में प्राप्त कर सकीं? जिससे वे मुक्त हुई, उनका प्रेम तो यशोदानन्दन में था।

इसका उत्तर श्री शुकदेवजी श्री कृष्ण को अज[3] कहकर देते हैं, अर्थात् भगवान् जीव के समान, जन्म नहीं लेते हैं वे तो सर्वत्र सदैव विद्यमान हैः अतः वन में स्थित होते हुए भी गोपियों के ध्यान करते (ही) उनके हृदय में प्रकट हो गए, भगवान् का प्राकट्य केवल इतना ही है, कि जिस

१—प्रेम — २—मित्रता— ३—जिसका जन्म नहीं है,

माया के पर्दे के कारण हम आपका दर्शन नहीं कर सकते हैं उस माया के पर्दे को हटाना है। यशोदा के गृह में भी अपनी इच्छा से माया के आवरण[1] को दूर कर प्रकट हुए हैं, उसी प्रकार वन में और गोपियों के अन्तःकरण में भी प्रकट होगए हैं, अतः इसमें विस्मय नहीं करना चाहिए 'क्योंकि वह सर्वव्यापी तथा अजन्मा है। उनको उसी समय बिना साधनों के निर्गुण देहकी प्राप्ति हो गई !

इस शङ्का का उत्तर श्री शुकदेवजी 'योगेश्वरेश्वरे' कहकर देते हैं, अर्थात् भगवान् योगी नहीं है किन्तु योग के जो ईश्वर हैं, उनके भी ईश्वर हैं अतः उसमें विस्मय नहीं करना चाहिए क्योंकि योगी भी योगबल से भोग के लिए क्षण मात्र में एक साथ ही अनेक शरीर धारण कर सकते हैं जबकि उनका यह योग धर्म आगन्तुक[2] है, भगवान् तो इन धर्मों की (योगों की) रचना करने वाले हैं और फलदाता हैं, जिससे वे योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, इसलिए आप स्वाभाविक अनन्त शक्तिमान् हैं जिससे उन (व्रजभक्तों) की देह को अलौकिक बना देना भगवान् के लिए कोई बड़ी बात नहीं है अतः इसमें विस्मित होने का कोई कारण नहीं है।

जो लीला आगे की जाने वाली है उसका अनुभव केवल सर्वात्म भाव वालियों को ही है जबकि अन्य लीला बिना सर्वात्म भाव के भी अनुभूत होती है !

इसका समाधान योगेश्वरों के ईश्वर होने के साथ आप 'कृष्ण' भी हैं, अर्थात् सदा आनन्द रूप होने से, दोष रहित और गुणों से पूर्ण हैं जिसका भावार्थ है, कि कृष्ण के सिवाय अन्य वस्तु मात्र दोषवाली है, उन दोषवाली वस्तुओं से स्वास्थ्य[3] मिलेगा यों लोग समझते हैं वे भी दोषवाले ही हैं यह निश्चय से समझना चाहिए ।

सर्वात्म भाव रहित गोपियाँ इस स्वरूप से आनन्द देने वाली लीला की अधिकारिणी न होने से, अनुभव नहीं कर सकती हैं तब भगवान् का उनसे रमण करना विस्मय कारक है, वैसा विस्मय तुमको नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन (गोपियों) को तो पहले कहा हुआ स्नेह रूप साधन था ही,जो कि गोकुल के वासी दिन को काम में लगे रहते थे और रात्रि को सो जाते थे किसी प्रकार का साधन नहीं करते थे, तो भी हर एक क्षण में भगवान् के स्वरूप में ही लीन रहते थे (मुक्त होते थे) उनकी वैसी दशा भगवान् ने आगे की लीला रस का अनुभव कराने के लिए आप बार बार उनको पृथक (अलग) कर (मुक्ति से निकाल कर) उस लीला का अनुभव कराते थे, भगवान् अचिन्त्य और अनन्त शक्तिमान् हैं अतः वे कुछ भी करें तो उसमें आश्चर्य नहीं है, इस आशय से शुकदेवजी कहते हैं, कि 'यत् एतद् विमुच्यते' जिससे यह गोकुल मुक्त होता है, श्री शुकदेवजी ने ये शब्द जो वर्तमान प्रयोग में किए हैं जिसका कारण यह है, कि इस समय अन्य लीला का अनुसन्धान[4] न होने से अपने को गोकुल वन में स्थित समझ कर ही कहे हैं और उस ही लीला का अनुभव कर रहे हैं, इससे यह वर्णन सर्व दोष रहित है।

१—पर्दा, २—नया आया हुआ,
३—सुख, शान्ति, ४—विचार

यहां शंका हो सकती है, कि जैसा कहा जा रहा है उससे विपरीत भी हो सकता है। अर्थात् —ये अन्तर्गृहगता गोपियाँ भी उन गोपियाँ जैसी ही हैं, जो रास में पहुंच सकीं। अतएव ८ वें श्लोक में कहा गया कि "वे लौटी नहीं", परन्तु ऐसा कैसे हो सकता था इसके समाधान के लिए ९, १०, ११ आदि श्लोक हैं। यहां आशय यह है, कि पहले तो केवल वचनों से ही रोका गया और इस तरह लोटना या नहीं लोटना यह स्वयं अपने पर निर्भर था। वह तो दूर रहा, क्योंकि, उनके जैसे ही (इन) गोपियों को तो पतियों ने जबरदस्ती से रोका और तब, जैसा कि, वे केवल देह को ही रोक सकते थे सो उस देह को त्याग कर वे भगवान् से जा मिली। इस तरह पहले कही गई सभी गोपियाँ इनके जैसी ही हैं, अतः उनका न लौटना ठीक था।

एक और बात यह है कि "तद्भावना युक्ता" इस पद में (तत्) पद से पहले कहे गए भाव को लेने पर पहले वाली गोपियों का भाव ही लिया जाएगा और तब इस तरह जो इनका भाव है वही पहले वाली गोपियों का भी भाव है यह मालूम होता है, और इस तरह जो भी गुण-धर्म यहां इनमें हैं वे वहां उनमें भी सिद्ध होंगे ही। इन अन्तर्गृहगताओं को मुक्ति दी गई तो वह गुणमय देह की निवृत्ति के बिना हो ही नहीं सकती, अतः वर्णन भी वैसा ही किया गया कि इनको पतियों ने रोक लिया फलतः देह त्याग कर ही भगवान् से मिल पाई। उन्हें तब मुक्ति नहीं दी अतः न तो रुकावट हुई और न देह त्याग की ही अपेक्षा हुई (अर्थात् इतना ही अन्तर है और इसके अतिरिक्त और कोई सगुण-निर्गुण का अन्तर नहीं है)।

परन्तु ऐसी शंका दुराग्रह एवं मूढ़ता मूलक है, क्योंकि यह विचार रहित बहिर्मुखता एवं असत्संग से बोझिल मन (जो परोक्ति का अनुसंधान नहीं कर सकता) में ही उठ सकती है। बात यह हैं कि जिस शंका को दूर करने के लिए यह कथा कही गई और जो उसका आशय शंका ने दिखलाया, वहां यह प्रश्न होता है, कि क्या उक्त भाव को समझाने के लिए यह कथा यों ही घड़ली गई हैं या वस्तुतः ऐतिहासिक घटना का वर्णन है ? और वहां भी यह प्रश्न है कि इन अन्तर्गृहगताओं को आखिर रोका क्यों गया ? ऐतिहासिक मानकर यह कहा जाए कि वे भगवान् की प्रिया होते हुए भी सगुण थीं और यही जताने के लिए हरि ने उनके आगमन में रुकावट उत्पन्न की तो वैसा विचार करते हुए तुम्हारा हृदय शतधा टूक-टूक क्यों नहीं होता ! जब मर्यादा भक्ति सम्बन्धी भजन भी निर्गुण है, तो जिन गोपियों का भगवान् के साथ अंगसंग हुआ है, वे सगुण कैसे होंगी और तुम उनको सगुण बताने की चेष्टा करते हो।

और विशेष में प्रभु ने कहा कि ये गोपियां सदैव मुझ में मन से आसक्त हैं, प्राण भी उनके मुझमें हैं, मेरे लिए इन्होंने देहधर्म छोड़ दिए हैं। उद्धव भी 'एताः परं तनुभृत' इस श्लोक में गोपीकाओं की प्रशंसा करते हैं, जिस उद्धव के लिए भगवान् ने कहा कि "उद्धव अणुमात्र भी मुझसे कम नहीं" वह उद्धव जिनके चरणरज की अभिलाषा करता हो,ऐसी गोपियों में कामोपाधि समझना और उनको सगुण कहना अनुचित है। गोपियों में काम तो क्या काम के गन्ध की शंका भी अयोग्य है।

मेरे कहने का यह भाव नहीं कि वे कामवाली थी किन्तु उनका भगवान् में का स्नेह कामो-

पाधिवाला था, यदि तुम यों कहते हो, तो यह भी तुम्हारा कहना गोपियों के कहे हुए वाक्यों से असिद्ध होता है, कारण कि गोपियों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हम आपसे कामपूर्ति के लिए नहीं आई हैं, क्योंकि, हम तो सर्व विषयों को छोड़कर आपके चरणों के मूल में आई हैं अर्थात् आपके चरणों का आश्रय लिया है, काम की अभिलाषा वाली स्त्रियां कभी भी इस प्रकार नहीं कह सकती हैं यों कहना तो भक्त ही जानते हैं।

और विशेष इसका भी तुमको विचार करना चाहिए कि श्रीकृष्ण ने बाल्यकाल में जब पूतना के प्राण रूप पय का पान किया था उस समय गोपियों ने जो भगवान् की गो पुच्छ आदि से रक्षा की थी, उसका वर्णन करते हुए श्री शुकदेवजी ने गोपियों को 'प्रणय बद्धभिः' विशेषण देकर सिद्ध किया है, कि वे भगवान् में भक्ति से उत्पन्न स्नेह वाली थीं इसके सिवाय जो कामवाली होती हैं वे जार वा पति के पास शृंगार से अपने को सजाकर जाती हैं जैसे कुब्जा पूर्ण शृंगार कर भगवान् के पास आई थी, किन्तु गोपियाँ तो इससे विपरीत उलट पुलट कपड़े आदि में आई थीं।

वहाँ गोपियों के आने के अनन्तर जो रमण हुआ है, वह भी 'रसो वै सः' इस श्रुति में, कहे हुए ब्रह्म के रस स्वरूप से भगवान् ने रसात्मक होने से रस रीति से रमण कर स्वरूपानन्द का ही दान किया है। जैसे कि कहा है कि—'आत्मा से जो सुख मिलता है वह सात्विक है, विषय भोग से जो सुख प्राप्त होता है वह राजस है, मोह और दैन्य से जो सुख मिलता है वह तामस है और मुझ से (रस रूप कृष्ण से) जो सुख मिलता है वह निर्गुण है। (११ स्कन्ध) ॥१६॥

श्री प्रभुचरणों ने १२ से १६ श्लोकों में जो राजा परीक्षित ने शङ्काएं की हैं उनके स्वतन्त्र लेखों में विशेष स्पष्टीकरण कर उत्तर दिए हैं जिनके पूर्ण रीति से मनन करने से, ये शङ्काएं जिसके भी हृदय में होगी उसके हृदय से मिट जाएगी।

इन स्वतन्त्र लेखों का अनुवाद यहां वैसे सरल स्पष्ट प्रकार से दिया गया है जैसे पाठकों को उनका भाव शीघ्र समझ में आ सके।

आभास—एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह ताहृष्ट्वेति

आभासार्थ—इस प्रकार परीक्षित ने जो इस प्रसङ्ग के विषय में शङ्का की थी उसको मिटाकर अब निम्न श्लोक से श्री शुकदेवजी फिर विषय का निरूपण करते हैं।

श्लोक—**ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।**
अवदद्वदतां श्रेष्टो वाचःपेशैर्विमोहन् ॥१७॥

श्लोकार्थ—बोलने वालों में श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण उन गोपियों को निकट आई

हुई देखकर वाणी के विलासों से उनको मोहित करते हुए बोले ॥१७॥

सुबोधिनी—यास्तु समाहूताः समागताः, ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगुणाः समागताः अन्यसम्बन्धिन्यः, ता शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः । अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति । करिष्यमाणलीला तु सार्वभावप्रपत्तिसाध्या, अतो निवारणार्थं यत्नमाह । **ता** 'दुहन्त्य' इत्याद्याः अन्तिकमायाता दृष्ट्वा, स्वार्थमेवागता इति निश्चित्य, भगवान् सर्वज्ञः सर्वसमर्थोपि, ता अपि व्रजयोषितः अपावृताः स्वकीयाश्च । अतः सर्वानुपपत्तिरहिता अपि दृष्ट्वा अवदत् । धर्मप्रबोधनार्थं वक्ष्यमाणमुक्तवान् । ननु ताः पूर्वं निवार्यमाणाः समागताः, कथमेतद्वाक्येन निवृत्ता भविष्यन्ति, अतो व्यर्थो वाक्प्रयास इति चेत्, तत्राह **वदतां श्रेष्ठ** इति । ये केचिद्वदन्ति, तेषां मध्ये श्रेष्ठः । अतो हृदयगाम्यस्य वचनं भवति । अतो यावद्वचनेन निवृत्ता भवन्ति, तावन्न कृतौ योजनीयाः । किञ्च अलौकिकमप्यस्य निवर्तने सामर्थ्यमस्ति, तदाह **वाचःपेशैर्विमोहयन्**निति । वाचःपेशाः वाक्सौन्दर्ययुक्ताः शब्दाः, तैर्विशेषेण मोहयन् । अथवा । ता दृढीकर्तुमेव सम्यक् मोहनार्थं निषेधवाक्यान्युक्तवान्, अन्यथा गच्छेयुरेव । अतः अर्थतो निवारयन् अपि पर्यवसानतो न निवारयति॥१७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के बुलाने से जो गोपियां आई थी, भगवान् उनको घर लौट जाने के लिए नहीं कहते हैं, किन्तु जो विवाहित सगुण थी और केवल नाद श्रवण से आई थी उनको शब्द से ही लौट जाने के लिए कहने लगे, कारण कि भक्ति मार्ग में उपाधि * सहित भजन करना योग्य नहीं है । भगवान् को जो लीला करनी है उसका अधिकारी वह है जिसमें सर्वात्म भाव है कारण कि वह लीला सर्वात्म भाव से ही सिद्ध होती है । अतः जो गोपियां शब्द श्रवण मात्र कर दोहन आदि सर्व कार्य त्याग कर अपने लिए ही आई थी ऐसा निश्चय करके सर्वज्ञ सर्व समर्थ भगवान् ने भी उनको लौटाने का निश्चय किया, वे व्रजाङ्गनाएँ भी इधर उधर बाहर फिरने वाली एवं निष्कपट थीं और अपनी थीं, अतः उनमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं थी फिर भी उनको मर्यादानुसार पातिव्रत्य धर्म का ज्ञान कराने के लिए उपदेश भी देना चाहिए था सो इनको देखकर भगवान् बोलने लगे । जो गोपियाँ अपने पति आदि के कहने को न मानकर यहां चली आई हैं वे इस कहने से कैसे लौट जाएगी ? इस शङ्का का निवारण करने के लिए शुकदेवजी कहते हैं, कि भगवान् उनके पतियों जैसे बोलनेवाले नहीं है किन्तु जो भी बोलने वाले हैं, उनमें श्रेष्ठ हैं अतः भगवान् के वचन हृदय में जच जाएँगे, अतः जहाँ तक वचन से लौट जाने की हों तो कृति में नहीं लगाना चाहिए । भगवान् में उनको लौटाने के लिए अलौकिक सामर्थ्य भी है, यह बताने के लिए श्री शुकदेवजी ने कहा है, कि वाणी की सुन्दरता वाले शब्दों से अर्थात् शब्द सौन्दर्य से, विशेष प्रकार से, गोपियों को मोहित करते हुए लौटने के लिए कहने लगे, अथवा भगवान् ऐसी सुन्दर वाणी बोले, जिससे वे जावे नहीं किन्तु यहां दृढ होकर डटी रहें, यदि भगवान् की वाणी का वैसा भाव न होता तो वे लौट जाती । भगवान् के शब्दों का अर्थ ऊपर से तो जाने का समझ में आता था किन्तु उनका भीतरी भाव नहीं लौट जावें वैसा था ॥१७॥

---

* किसी प्रकार की भी लौकिक वा अलौकिक (मोक्ष) की कामना उपाधि है ।

आभास—भगवद्वाक्यान्याह स्वागतमित्यादिदशभिः दशविधानां निवारकाणि ।

आभासार्थ—अब शुकदेवजी वे वचन दश श्लोकों में कहते हैं, जो भगवान् ने दश प्रकार की गोपियों को निवारण[1] के लिए कहे हैं ।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक—**स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः ।**
व्रजस्यानामयं कच्चित् ब्रूतागमनकारणम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—भगवान् कहने लगे कि हे बढ़भागिनियों, आप भले आईं, मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूं ? व्रज में कुशल तो है ? आने का कारण तो कहो ? ॥१८॥

कारिका—**तमोरजःसत्त्वभेदाः स्वान्तपर्यवसानतः ।**
निरूप्यन्ते स्त्रियस्तासु वाक्यान्यपि यथायथम् ॥१॥

कारिकार्थ—तम रज और सत्व गुण के मिले हुए; जितने प्रकार होते हैं, उतनी (ही) ये स्त्रियां (गोपियां) हैं उनका वर्णन किया जाता है। गुणों के फल का अवसान भी बताया जाता है, जैसे कि तम का फल लय, रज का फल विशेष भाव का उत्पादन और सत्त्व का फल उस भाव का पालन, करना है—

तम—प्रभु से मिलाप कराने में जो पदार्थ विलम्ब करावे उसका लय[2] कर देता है।

रज—प्रभु के मिलन में जो विलम्ब हो उसको (विलम्ब को) जिस भाव से सहन न किया जा सके वैसे विशेष भाव को उत्पन्न कर देता है ।

सत्त्व—रज द्वारा उत्पन्न किए हुए भाव की रक्षा करता है ।

उन (सगुण–निर्गुण भेद से दश विध) स्त्रियाँ जैसे ही भगवान् के दश वाक्य यथोचित हैं ।

सुबोधिनी—प्रथमतस्तामससात्त्विक्यो निवार्यन्ते, ततस्तामसराजस्यः, ततस्तामसतामस्यः, एवमग्रेऽपि विभाज्याः । प्रथमं समागतानां लौकिकन्यायेनाह **स्वागत**मिति। कुशलप्रश्नोऽयम् । वो युष्माकमागमनं स्वागत किमिति । स्तुतिमाह **महाभागा** इति । भवतीनां महद्भाग्यम्, अतः स्वागमनमेव, तथापि पृच्छयत इति लोकोक्तिः । वस्तुतस्तु निष्प्रत्यूहं भगवत्सामीप्यमागता इति । समागतानामुपचारमाह **प्रियं किं करवाणि** व इति। किञ्चित्प्रार्थयितूमागता इति लक्ष्यन्ते, तथा

---

[1]—लौटजाने, [2]—नाश,

सति तद्वक्तव्यम् । अर्थात् एतासां नाहं स्वभावतः प्रियः, किन्तु कामतः प्रिय इति ज्ञापितम् । तत् प्रयोजनं त्रिविधं भवति । इष्टरूपमनिष्टनिवृत्तिरूपं देशकालव्यवहितं कामितं च । तत्रापि त्रैविध्यमस्तीति वाक्यत्रयं वा । यद्द्रवत्यो धावन्त्यः समागताः, तत्र किं व्रजे कश्चन उपद्रवो जातः, यद्ज्ञापयितुं तेषां समागमनम्, पूर्वपूर्वानङ्गीकारे उत्तरोत्तर वाक्यम् । यदि प्रियमपि न किञ्चित्कर्तव्यम्, व्रजे च न काप्यनुपपत्तिः, तदा आगमनकारणं ब्रूत ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् क्रमशः गोपियों को लौटाने के लिए कहते हैं, जैसे कि प्रथम तामस सात्त्विकीओं को, पश्चात् तामस राजसियों को, अनन्तर तामस तामसियों को, इस प्रकार आगे भी गोपियों के विभाग करने चाहिए।

जो गोपियाँ भगवान् के पास आई हैं भगवान् प्रथम उनका स्वागत करते हुए उनको कहते हैं, कि 'भले पधारो' इस प्रकार कहने से समझना चाहिए कि भगवान् ने उनसे कुशल प्रश्न किए हैं। आप सबों का आना बहुत ही अच्छा है आप 'भले पधारे' यों कहकर स्तुति पूर्वक कहते हैं, कि आप का यहां आना बताता है कि आप 'बड़भागिनी' हो अतः आपका पधारना भाग्य का चिन्ह है। ऐसा होते हुए भी उनसे पूछते हैं कि क्यों आई? यह लोक की नीति है। वास्तविक आपका भगवान् के समीप आना प्रतिबन्ध रहित हुआ है। आई हुई गोपियों का सत्कार करने के लिए भगवान् कहते हैं, कि जो आपको प्रिय लगे वैसा कौनसा कार्य मैं करूं? आपके आने से जाना जाता है, कि आप कुछ माँगने के लिए आई हो, यदि वैसा हो (माँगने के लिए आई हो) तो वह माँगलो। भगवान् ने इस प्रकार के वचनों से यह बता दिया कि (आपको) मैं स्वभाव से सहज प्रिय नहीं हूँ किन्तु काम के कारण प्रिय हूँ। वह तीन तरह का हो सकता है १–इष्ट प्राप्ति[1], २–अनिष्ट की निवृत्ति[2], ३–देश तथा काल से दूर वैसे वस्तु की कामना। उन में भी तीन प्रकार हैं, इसलिए तीन वाक्य कहे हैं—आप दौड़ती हुई आई हो तो क्या व्रज में कोई उपद्रव हुआ है? जिसको बताने के लिए आना हुआ है? यदि पहली कही हुई बातों को स्वीकार नहीं करो, तो आने का कारण बताओ। प्रथम मैंने कहा कि आप पधारी हो आपका क्या प्रिय करूं, यदि प्रिय नहीं चाहती हो, अर्थात् उसके लिए नहीं आई हो तो, दूसरी बात स्वीकार करो, क्या व्रजमें कोई उपद्रव हुआ है, जिसको मिटाने के लिए दौड़ती (हुई) आई हो, यदि यों भी नहीं है तो तीसरा मेरा प्रश्न है कि आने का कारण बताओ॥१८॥

आभास—तत्राप्यनुत्तरे स्वयमेव पक्षान्तरं कल्पयति। यथा भवन्तः समागताः, तथा वयमपीत्याशङ्क्याह रजनीति।

आभासार्थ—भगवान् के इस प्रकार किए हुए प्रश्नों का जब गोपियाँ उत्तर न देकर मौन धारण कर रही, तब भगवान् को स्वयं यह विचार हुआ कि गोपियाँ कदाचित् यों कहदें कि जैसे आप आए हो वैसे (ही) हम भी आगई हैं अतः भगवान् अन्य ढंग से (लौट जाने के लिए) कहते हैं—

---

[1] इच्छित प्रिय वस्तु की प्राप्ति, [2] कुछ उपद्रव आदि हो वह नष्ट हो जावे,

श्लोक—रजन्येषा घोररूपा गोरसत्त्वनिषेविता ।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१९॥

श्लोकार्थ—यह घोर रात्रि है और इसमें डरानेवाले भयंकर जन्तु रहते हैं अतः हे युवतियों ! व्रज को लोट जाओ । स्त्रियों को यहाँ ठहरना नहीं चाहिए ॥१९॥

सुबोधिनी—एषा रजनी, न तु दिनम् । दिवस एव ह्यरण्ये कार्यार्थं गम्यते, अयं तु चन्द्रः, न तु सूर्य इति भावः । नन्वस्तु रजनी, तथापि प्रकाशस्य विद्यमानत्वात् आगन्तव्यमेवेति चेत्, तत्राह **घोररूपेति** । प्रकाशयुक्ताप्येषा वस्तुतो घोररूपा भयजनिका । प्रकाशयुक्तायामपि रात्रौ गच्छन् पुरुषो बिभेतीति । किञ्च, घोरसत्त्वनिषेविता । घोराण्येव सत्त्वानि रात्रि निषेवन्ते, नत्वघोराणि अतो रात्रौ अघोरो निर्गतो घोरैरुपहन्यते । अतः स्वभावधर्मसंसर्गिणां स्वरूपं ज्ञात्वा व्रजं प्रतियात । नन्वेवं सति तवैव स्थाने स्थास्यामः परिचितो भवानिति चेत्, तत्राह **नेह स्थेयं स्त्रीभिरिति** । वयं हि पुरुषाः, रात्रिश्चेयम् । अतोऽत्र स्त्रीभिर्न स्थातव्यम् । तथा सत्युभयोरपि विक्रिया स्यात् । किञ्च, भवत्यो यदि वृद्धा बाला वा भवेयुः तदा स्थीयेतापि । भवत्यस्तु सुमध्यमाः रसात्मिकाः । अतो देहाध्यासे विद्यमाने सर्वथैव गन्तव्यम् । स्थितिपक्षे नञ्प्रश्लेषो घोरपदयोर्ज्ञेयः, न प्रतियातेति च ॥१९॥

व्याख्यार्थ—यह रात्रि है, दिन नहीं है, यदि वन में काम हो तो भी लोक वहां दिन को जाते हैं. इस समय आपके शरीर में ताप है इललिए आपने समझा है कि आकाश में सूर्य हैं किन्तु यह सूर्य नहीं (यह) चन्द्रमा है ।

यदि गोपियां कहदें कि भले रात्रि है किन्तु उजाला तो है इसलिए हमको आना ही चाहिए, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भले उजाला है किन्तु यह रात्रि होने से घोर रूप अर्थात् डराने वाली है पुरुष भी रात्रि के समय उजाला हो तो भी जाते हुए डरते हैं क्योंकि रात्रि के समय बन में घोर[1] पशु घूमते रहते हैं अतः यदि कोई साधारण प्राणी आजाता है तो उसको घोर प्राणी मारते हैं, इसलिए आप तीन बातों का विचार कर व्रज (में) चली जाओ । एक तो यह रात्रि है, दूसरा इसका स्वभाव ही घोर है, तीसरा इसमें घोर पशु फिरते हैं, इन तीनों का विचार करोगी तो आप ही समझ जाओगी कि हमको व्रज में लौट जाना चाहिए ।

ये तीन बातें हैं, तो भी हम व्रज को क्यों लौटें ? यहां ही आपके पास रह जाएँगी क्योंकि आप, हमारे परिचित ही हैं । इस प्रकार यदि गोपीजन कहदें तो भगवान् उसका भी उत्तर दे देते हैं कि—यहां स्त्रियों को नहीं रहना चाहिए, पुरुष हो, तो वे रह सकते हैं कारण कि हम पुरुष हैं और यह रात्रि का समय है इसलिए स्त्रियों को पुरुष के पास नहीं रहना चाहिर । यदि रात्रि के समय पुरुष के पास रहें तो दोनों में अवश्य विकार[2] उत्पन्न होवे । किञ्च यदि आप वृद्ध होती वा बालिका

---

[1] —हिंसा करने वाले शेर आदि, [2] —विषय भावना

होती तो भी रहने में कोई अड़चन नहीं किन्तु आप तो सुमध्यमा[1] हो । अतः देहाध्यास होने पर सर्वथा जाना ही उचित है ।

शुकदेवजी ने भगवान् को बोलने वालों में श्रेष्ठ कहा है, वह चातुर्य भगवान् ने इस श्लोक से प्रकट किया है—एषा रजनी अघोर रूपा—यह रात्रि डरावनी नहीं है एषा रजनी अघोर सत्त्व निषेविता—इस रात्रि में सात्त्विक प्राणी रहते हैं ।

व्रजं न प्रतियात—आप व्रज को लौटकर मत जाओ ।

स्त्रीभिः इह स्थेयं—आपको यहां रहना चाहिए ।

सुमध्यमाः—क्योंकि आप रसात्मिका हैं । ॥ १६ ॥

आभास—अथ वयमभिसारिका एव त्वामुद्दिश्य समागताः, किमिति प्रेष्यन्त इत्याशङ्क्याह मातर इति ।

आभासार्थ—भगवान् के मन में यह आया, कि यदि ये कहदे कि हम अभिसारिकाएँ होकर आपके पास आई हैं आप हमको लौट जाने के लिए कैसे कहते हो तो उसके उत्तर में निम्न श्लोक से दूसरी युक्ति देते हैं ।

श्लोक—मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, भाई और पति तुम्हें न देखकर ढूंड रहे हैं, इन सम्बन्धियों को कष्ट मत दो ॥२०॥

सुबोधिनी—भवतीनां मातरो नियामिकाः, तास्तु नागताः, अतो भवतीनामन्वेषणमपि करिष्यन्ति । अतस्तासां साध्वसं भयं मा कृढ्वम्, मा कुरुत । न च वक्तव्यं ता अपि तथा स्त्रीत्वाद्वा नागमिष्यन्तीति, तत्राह **पितर** इति । तेषां कुले कलङ्कशङ्कया ते समागमिष्यन्त्येव । तर्हि तै सह गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह **विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्त** इति । गोकुलान्निर्गतानां कृष्णस्थानागमने मध्ये बहवो मार्गाः स्फुटिताः सन्ति, तत्र भगवन्माया तिष्ठति, यथा न कोऽपि भगवत्समीपं गच्छति, अतो मार्गान्तरेणैव गताः अपश्यन्तः सन्तः विचिन्वन्त्येव । अनेन स्थितौ शङ्काभावोप्युक्तः । बन्धुभ्यः साध्वसमिति च । तस्मात् सर्वा नागता इति नागन्तव्यम् । कुले च कलङ्को भविष्यतीति च । न च तेऽपि स्त्रीस्वभावं जानन्तीति नागमिष्यन्तीति चेत्, भगवदर्थं वा समागता इति, तत्राह **पुत्रा** इति ।

१—युवती रसात्मिका,

पुत्राणां सर्वथा रक्षकत्वं महती लज्जेति तेषु दयया भयाभावार्थं गन्तव्यम् । ननु ते बालका इति चेत्, तत्राह **भ्रातर** इति । ते हि समर्था अन्वेषणे लज्जावन्तश्च, अतो लज्जया अदृष्ट्वा कदाचित् शरीरमपि त्यजेयुः । अतो भ्रातृस्नेहाद्गन्तव्यम् । ननु ते अपकीर्तिभयादन्वेषणे न गमिष्यन्ति, तरुणास्ते, तरुण्यो वयमिति चेत्, तत्राह **वः पतय** इति । तेषां भोगापेक्षाप्यस्ति, तेषामेव चायं रसः, अतः परस्वं नान्यस्मै देयम् । भोगस्य ततोऽपि सिद्धिः । सर्व एवापश्यन्तः गृहे अदृष्ट्वा अवश्यं विचिन्वन्ति । ततो बहुकालमदृष्ट्वा नाशशङ्कया अपहारशङ्कया च भयं प्राप्स्यन्ति न च वक्तव्यं किमस्माकं तैः, तत्राह **बन्धुसाध्वसमिति** । ते हि बान्धवाः, तैः सहैव स्थातव्यम् । अतो बलवद्बाधकस्य विद्यमानत्वात् व्याकुल्य गन्तव्यमिति ।।२०।।

व्याख्यार्थ—तुम्हारी माताएँ तुम्हारी निगरानी करती हैं, वे तो तुम्हारे साथ नहीं आई हैं। तुम अकेली चली आई हों इसलिए वे तुमको ढूंढती होंगी, न मिलोगी तो उनको भय[1] होगा ? अतः आप जाओ उनको भयभीत मत करो ।

यों भी आप मत समझो कि वे भी स्त्रियाँ हैं यहाँ तक न आवेंगी, यदि वे नहीं तो आपके पिता तो पुरुष हैं. वे रात्रि की परवाह न कर आजाएँगे क्योंकि उनको यह विचार होगा, कि हमारे कुल को कलङ्क न लग जाए, यदि कहो कि वे आजाएँगे तो उनके साथ हम चली जाएँगी, तो उसका उत्तर देदेते है, कि गोकुल से निकले हुओं को कृष्ण स्थान में आने के लिए बीच में अनेक मार्ग आते हैं वहां भगवान् की माया इसलिए खड़ी है कि जिससे कोई भी भगवान् के समीप न पहुँच सके, अतः माया उनको दूसरे रास्ते भेज देती है जिससे वे यहां पहुँच नहीं सकते हैं। इसी प्रकार आपके पिता भी यहां न पहुँच कर ढूंढते ही रहेंगे और वहां न देखकर भय युक्त होंगे । यों कह कर भगवान् ने गोपियों को बता दिया कि यहां रहने में इस प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए कि पिता आवेंगे ।

माता पिता आदि की चिन्ता का विचार कर जैसे अन्य गोपियाँ यहां नहीं आई वैसे नहीं आना चाहिए था । इस प्रकार रात्रि में अकेली चल निकलने से कुल को कलंक लगेगा अतः नहीं आना चाहिए था ।

भगवान् ने सोचा कि हमारे पिता स्त्री स्वभाव को जानते हैं कि हम भगवान् के वास्ते आई हैं इसलिए वे नहीं आएँगे ऐसा उत्तर ये देदेवें तो आप कहते हैं, कि यदि पिता नहीं आएँगे तो 'पुत्र' तो आएँगे क्योंकि पुत्र को सर्व प्रकार से माता का रक्षण करना है, यदि माताएँ कहीं चली जाए तो उनको अत्यन्त लज्जा आती है, पुत्रों में माता के लिए प्रेम होने से, वे दया से माताओं के भय को सहन नहीं कर सकते, अतः आपके भय मिटाने के लिए पुत्र तो आएँगे, इतना कहने के अनन्तर भगवान् ने सोचा कि वे (पुत्र) बालक हैं अतः वे नहीं आएँगे यों गोपियाँ कह दें, तो आप कहते हैं, कि भ्राता आएँगे । वे तो बालक नहीं हैं किन्तु समर्थ हैं वे आएँगे, भ्राताओं को ढूंढने में लज्जा आती है, यदि आपको उन्होंने न देखा तो कदाचित् लज्जा के कारण शरीरों का भी त्याग करदें, अतः भ्राताओं के स्नेह के कारण आपको लौट जाना चाहिए । फिर भगवान् को विचार आया कि यदि गोपियाँ

---

[1] —चिन्ता,

कहदें कि वे तरुण[1] हैं हम भी तरुणियां हैं अतः वे अपकीर्ति[2] के भय से ढूंढने के लिए बाहर न निकलेंगे इस उत्तर का विचार कर भगवान् ने कह दिया कि यदि वे न आएँगे तो पति तो आएँगे कारण, कि उनको भोग के लिए तुम्हारी आवश्यकता है आपके संभोग से जो रस उत्पन्न होगा वह रस उन (पतियों) का ही है अतः पराया धन अन्य को नहीं देना चाहिए तात्पर्य यह है, कि अपना रस अपने पतियों को ही दो, आपको यदि भोग की इच्छा है तो वह उनसे भी सिद्ध[3] होगा । आप इस विषय को निश्चय समझलो कि आपको घर में न देखकर सर्व आपको ढूंढेंगे, ढूंढते हुए बहुत समय बीत जाएगा और आप उनको देखने में न आएँगी तो वे समझेंगे, कि इनका नाश[4] हो गया है वा इनको कोई चुराके लेगया है । आप यों भी मत कहना, कि हम उनका त्याग कर आई हैं उनसे हमारा क्या सम्बन्ध है, चाहे कुछ भी समझें । यों समझना और कहना ठीक नहीं है कारण, कि वे सगे सम्बन्धी हैं, उनके साथ ही रहना है । आपके यहां ठहरने में बलवान् बाधाएँ[5] हैं अतः कैसे भी कर आपको जाना चाहिए और उनका भय तथा चिन्ता का निवारण करना चाहिए ॥२०॥

आभास—एवमुक्ते परितो विलोकयन्तीराह दृष्टं वनमिति ।

आभासार्थ—भगवान् के इस प्रकार कहने पर वे गोपियाँ वन को चारों तरफ से देखने लगी, इस प्रकार भगवान् निम्न श्लोक कहने लगे ।

श्लोक—**दृष्टं वनं कुसुमित राकेशकररञ्जितम् ।**
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवमण्डितम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—चन्द्रमा की किरणों से सुन्दर, कुसुमों वाले, और यमुनाजी के पवन की मन्द गति से कम्पित वृक्षों के पत्रों से शोभायमान वन को आपने देख लिया ॥२१॥

सुबोधिनी—एषा हि राजसराजसी, अग्रिमा राजसतामसी । यदि वनदर्शनार्थमागतम्, तदा दृष्टमेव वनम्, अतः प्रतियातेति । अर्थात् सर्वदा दृष्टमेवैतद्वनम्, नात्र भयमिति ज्ञापितम् । गृहे च न गन्तव्यमिति । यदि गृहगमनापेक्षा, तदैव गन्तव्यमिति वचनात् । तच्च वनं कुसुमितमिति वर्णयति, यथा तासामन्यासक्तिर्भवति । इदानीं पुष्पाण्येव जातानि, न फलानीति वा । कुसुमिते वने रतिः कर्तव्येति भावः । सर्वत्र मोहः प्रेषणं चानुस्यूतम् । किञ्च, राकेशस्य चन्द्रमस- करैः रञ्जितम् । उद्दीपका एते । वनं तामसम्, पुष्पाणि राजसानि, चन्द्रकिरणाः सात्त्विका इति । अयं राकेश इति पूर्णचन्द्रः । अतः पूर्णत्वे स्थातव्यम् । पर्वादिबुद्धौ तु गन्तव्यमिति । वायुमपि तत्रत्यं वर्णयति **यमुने**ति । यमुनासम्बन्धिनानिलेन लीलया ये एजन्तः कम्पमानास्तरुपल्लवास्तैर्मण्डितमिति । जलसम्बन्धात् लीलया चलनात् तरूणां सुगन्धानां सम्बन्धात् त्रिगुणो वायुरुक्तः । वर्णनायां रसोद्बोधके चोपयुज्यते ॥ २१ ॥

१--जवान, २—निन्दा, ३—प्राप्त, ४—मृत्यु, ५—अडचनें

व्याख्यार्थ—(अब) राजस–राजसी इससे आगे राजस-तामसी व्रज भक्तों को कहते हैं कि यदि तुम वन देखने के लिए आई हो तो वह देख लिया, अब घर लौट जाओ। इस प्रकार कहने का भीतरी भाव यह है कि देखने से आपको मालूम हो गया होगा कि यह वन वैसा (ऐसा) है जिसमें किसी प्रकार के भय की संभावना भी नहीं है, अतः घर को नहीं जाना चाहिए। अथवा यदि घर की अपेक्षा हो तो जाओ नहीं हो तो मत जाओ। जो वन अब तुमने देखा वह तो इस समय केवल पुष्पों वाला है, भगवान् इस प्रकार वन की शोभा का वर्णन रस बढ़ाने के लिए करते हैं जिससे उनकी (गोपियों की) आसक्ति अन्य में होने लगे। केवल पुष्पों वाला है इस कहने का तात्पर्य यह है, कि फल तो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं अतः जब तक फल प्राप्ति हो तब तक कुसुमों वाले वन में ही रति करनी चाहिए। इस कहने का भाव यह है, कि अब तो कुसुमादि उत्पन्न होने से रस के उद्दीपन में सहायता हो गई है, अतः उस उद्दीपन भाव की (में) स्थिति करने से रमण रूप फल की प्राप्ति होगी इसलिए आपको यहां ही रहना चाहिए फल प्राप्ति बिना लौट कर नहीं जाना चाहिए।

भगवान् के अक्षरों में सर्वत्र दो बात मिली हुई दीखती है एक तरफ वन की शोभा कहकर गोपियों की स्थिति वन में करानी और दूसरी तरफ बाहर से यों देखने में आता है कि गोपियों को घर लौट जाने को कह रहे हैं। और विशेष, यह वन चन्द्रमा के किरणों से भी सुशोभित है, यह सर्व सामग्री उद्दीपक[1] है।

वन तामस है, पुष्प राजस है और चन्द्र किरण सात्त्विक है यहां जो चन्द्रमा है वह षोडश कलाओं से पूर्ण है अतः तुमको भी पूर्ण भाव युक्त हो यहां ही ठहरना चाहिए। यदि तुम्हारी बुद्धि मर्यादावाली हो जिससे मन में यह भावना हो कि आज पूर्णमासी पर्व दिन है उस दिन रमण का निषेध है तो भले तुम घर लौट जाओ।

वन के वायु का भी वर्णन करते हैं, कि यमुना के जलयुक्त वायु द्वारा धीरे धीरे कम्पित वृक्षों के पत्तों से भी सुशोभित यह वन है, इस प्रकार कहकर वायु (को) तीन गुणों वाली सिद्ध किया हे, जैसा कि १–जल से मिलने से ठण्डी, २–मन्द मन्द चलना और ३–वृक्षों की सुगन्ध वाली, वैसी तीन गुणों वाली वायु रस को जगाने में सहायता देती है।

इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है, कि तुम यहां रहोगी तो रस प्राप्त कर सकोगी। अन्यथा (जो जाओगी) तो रस से वञ्चित[2] रहोगी॥ २१॥

प्रभुचरण 'अपेक्षा' शब्द पर विशेष स्पष्टीकरण करते हुए आज्ञा करते हैं कि शास्त्रज्ञानुसार जो घर छोड़ वन को गया हो वह यदि घर की अपेक्षा से लौट कर घर जाना चाहे तो प्रायाश्चित करे अर्थात् प्रायश्चित करने के बिना वह घर नहीं जा सकता है, तात्पर्य यह है, कि भगवान् भी गोपियों को कहते हैं कि यदि आपको घर जाने की अपेक्षा है तो प्रथम प्रायश्चित करो पश्चात् जाओ।

१—रस बढाने वालो, २—रहित

आभास—एवं वनं वर्णयित्वा अन्यासक्तिमुत्पाद्य ततो गन्तव्यमित्याह तद्यातेति ।

आभासार्थ-इस प्रकार वन के वर्णन से, अन्य में आसक्ति बढाकर फिर इस निम्न श्लोक में कहते हैं, कि आपको जाना चाहिए,—वा मतं जाओ ।

श्लोक—**तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः ।**
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान्पाययत दुह्यत ॥२२॥

श्लोकार्थ—इसीलिए तुम जाओ देरी मत करो, हे सतिओं ! जाकर पतिओं की सेवा करो, बछड़े और बालक पुकार रहे हैं उनको दूध पिलाओ और गौओं का दोहन करो ॥ २२ ॥

सुबोधिनी—तत्तस्माद्वनं दृष्टमिति कार्यस्य सिद्धत्वाद्यात । एतादृशं वनमिति मा यातेत्यपि ध्वनिः । चिरं मा विलम्बो न कर्तव्यः, चिरं मा यातेति च । न हि कश्चिद्भगवन्तं विहाय गोष्ठं गच्छति । किञ्च, गोष्ठं यात । तत्र गवां शुश्रूषणमपि भवति । किञ्च, तत्र गतानां धर्मः सिध्यतीत्याह **शुश्रूषध्वमिति** । पतिसेवा स्त्रीणां धर्मः, तत्रापि भवत्यः सतीः सत्यः । पतिविशेषणं वा । पूर्वजन्मनि ताः पतिव्रताः स्त्रियः स्थिताः, पुरुषभावनया पुरुषा जाताः, भवन्तश्च पुरुषाः विपरीता जाता इति, अग्रेऽपि वैपरीत्यं भविष्यतीति विचार्य गन्तव्यमिति भावः । धर्मस्तत्र, रसस्त्वत्रैवेति । पतीनिति बहुवचनात् धर्माभावश्च । या भवतीनां मध्ये पतिव्रताः ता वा गच्छन्त्विति सर्वासामेवातथात्वे न गन्तव्यमेवेति । न हि पतिव्रताः समायान्ति, लौकिकधर्मपरायणाः । अतो भगवद्वाक्यं रसालत्वात् तदभावमेव सूचयति । किञ्च, वत्सास्तथैव बद्धाः, बालाश्च क्षुधिताः, ते क्रन्दन्ति । अतस्तेषां रोदननिवृत्त्यर्थं तान् पाययत स्तनम्, दुह्यत च गाः । परार्थं च भवतीनां जीवनम्, न स्वार्थम् । अतो दुःखितानां स्थाने सुखाकाङ्क्षिभिर्न गन्तव्यमिति ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—वन देख लिया कार्य की सिद्धि हो गई है अतः तुम जाओ, भगवान् के इन वचनों का यह भी आशय समझा जाता है कि तुमने वन देखलिया कि ऐसा सुन्दर है, इसलिए ऐसे सुन्दर वन को (छोड़) कर 'मा यात' मत जावो ।

'मा चिरं' जाने में देरी मत करो अथवा (चिरं मा यात) बहुत समय तक यहां ठहरो, जाओ नहीं, कारण कि कोई भी भगवान् को छोड़कर गोष्ठ (व्रज) में नहीं जाना चाहता है । भगवान् के कहने से यह भी बाहर से प्रकट होता है कि (गोष्ठं यात) व्रज में जाओ क्योंकि वहां गौओं की सेवा भी बनेगी, और विषेश यह है कि वहां जाओगी तो तुम्हारा पातिव्रत धर्म भी सिद्ध होगा, वहां जाकर पति सेवा करो, क्योंकि स्त्रियों का धर्म पति सेवा है, उसमें भी तुम पतिव्रताएं हो अथवा 'सतीः' (पतिव्रता) यह पतियों का भी विषेश मान लो, तो पूर्व जन्म में तुम्हारे पति पतिव्रता स्त्रियाँ थीं और तुम उनके 'पति' थीं अन्त समय में उनको पुरुष भाव का स्मरण हुआ, जिससे वे पुरुष रूप से जन्मे हैं तुम उनकी स्त्रियां हुई हो । अतः उनकी सेवा करो, और आगे भी इस प्रकार

विपरीतता होगी, इसलिए इस बात का विचार कर, पश्चात् व्रज में लौटकर जाना, बिना विचार किए मत जाना, यह सोच लेना कि वहां जाने में तो मर्यादा धर्म की प्राप्ति होगी और यहां रहने में रस की प्राप्ति होगी। श्लोक में 'पतीन्' बहुवचन कहा है जिससे वहां जाना अधर्म है क्योंकि 'पति' एक होता है बहुत पतिओं का होना धर्म से विरुद्ध है।

अथवा जो तुममें अपने (आप) को पतिव्रता समझें वे जावें, जो तुम सब वैसी पतिव्रता नहीं हो तो मत जाओ, भगवान् इसको स्पष्ट करते हैं कि जो लौकिक (मर्यादा) धर्म परायण पतिव्रताएं हैं वे तो यहां आवे ही नहीं तुम वैसी नहीं हो, तब तो आई हो, इस प्रकार भगवान् रस से भरे शब्दों से उनको व्रज में लौट जाने के निषेध की सूचना करते हैं।

और विषेश कहते हैं, कि बछड़े वैसे ही बन्धे हुए हैं एवं बालक भूखे हैं वे पुकार रहे है, अतः उनका रोदन मिटाने के लिए जाकर स्तन्य (दूध) पिलाओ और गौओं का दोहन करो जिससे वछड़े बन्धन से छूटकर माता का दूध चूँखें। तुम्हारा जीवन दूसरों के लिए है अपने लिए नहीं है अतः जिनको सुख की चाहना है उनको दुःखियों के स्थान में नहीं जाना चाहिए ॥ २२ ॥

आभास—एवमुक्ते याः स्निग्धदृष्टयो जाताः, ताः प्रत्याह अथवेति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के कहने से जिनके नेत्रों में प्रेम वृद्धि से आँसू आगए, जिससे उनकी दृष्टि स्निग्ध होगई है, निम्न श्लोक (२३ वां) उनके प्रति कहते हैं—

श्लोक—**अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।**
आगता ह्युपपन्नं तत् प्रीयन्ते मम जन्तवः ॥२३॥

श्लोकार्थ—अथवा विशेष स्नेह से आपका अन्तःकरण मेरे में आसक्त हो गया है, जिससे आप मेरे लिए यहां आई हो, तब तो योग्य ही है, क्योंकि प्राणीमात्र मुझसे प्रेम करते है ॥ २३ ॥

सुबोधिनी—मया वृथैवैते पक्षाः कल्पिताः, वस्तुतस्तु मां द्रष्टुमेवागताः। स्नेहात् सिद्धान्तोऽयं पूर्वपक्षार्थमनूद्यते। निरुक्तो भावो गुणात्मको दोषात्मको वा न फलं प्रयच्छति, लौकिको भवति, अतः अनूद्यते। मयि योऽयमभितः स्नेहः सर्वभावेन तेन कृत्वा यन्त्रितः आशयो यासाम्, तादृश्यश्च भवत्यः इहागताः, तदुपपन्नमेव। तर्हि को विलम्ब इति चेत्, तत्राह **प्रीयन्ते मम जन्तव** इति। मम सम्बन्धिनः सर्व एव जन्तवः स्वयमेव प्रीता भवन्ति। न तु मया किञ्चित्कर्तव्यम्। स्नेह एव मयि, न तु कृतिरिति। ततः साधारणमिममर्थं ज्ञात्वा प्रतियात। स्थितिपक्षे तु स्पष्ट एवार्थः। तद्यात मेति फलिष्यति। न हि स्नेहादागतः प्रेर्यमाणोऽपि गच्छति। यन्त्रितो वशीकृतः। अन्तःकरणे अन्याधीने जाते न किञ्चदविशिष्यते। निष्कपटा च प्रीतिः कर्तव्येत्युभयत्र भावः ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—मैंने इतने पूर्व पक्ष (शङ्काऐं) वृथा ही किए, आप तो मेरे दर्शन के लिए ही आई हैं तो यह सिद्धान्त क्योंकि स्नेह के कारण ही तो आगमन है (वन में भगवान् ने वेणुनाद किया अतः आई अर्थात् भगवान् के स्नेह के कारण आई हैं अन्यथा नहीं) किन्तु यहां उसके विषय में जो पूर्व पक्ष किया गया है वह केवल अनुवाद मात्र समझना चाहिए।

भगवान् में शुद्ध स्नेहात्मक भाव होना चाहिए यदि वह भाव गुणरूप अथवा दोष रूप उपाधि वाला है, तो वह भाव शुद्ध नहीं होने से फल नहीं देता है क्योंकि वह उपाधिवाला भाव लौकिक भाव हो जाता है। इसलिए उसका (लौकिक भाव का) अनुवाद किया गया है।

आपका मेरे में जो सर्वात्मभाव सहित स्नेह है जिससे आपका अन्तःकरण मेरी तरफ खिंच पाया है उस कारण से ही, आप यहाँ मेरे पास आई हो वह योग्य ही है। भगवान् के मन में विचार हुआ, कि मेरे इस कथन पर गोपियाँ कहेंगी जब आप यों समझते हो कि वास्तव में हम स्नेह के कारण आई हैं, तो फिर आप विलम्ब क्यो कर रहे हो ? इसका उत्तर देते हैं कि मैं कुछ नहीं करता हूं जो कुछ करते हैं वे मेरे सम्बन्धी प्यारे जीव स्वयं ही प्रेम करते हैं जिससे वे प्रसन्न होते हैं, क्योंकि मुझ में स्नेह ही है, क्रिया नहीं है, अर्थात् मैं स्नेहीओं से स्नेह ही करता हूं क्योंकि मुझ में स्नेह के सिवाय अन्य किसी प्रकार की क्रिया नहीं है। इससे इस साधारण तात्पर्य को समझ कर लौट जाओ। गोपियाँ यहां रहें यह अर्थ तो स्पष्ट ही हैं। आप नहीं जाओगी, तो २२ वें श्लोक में 'मा यात' यह कहना सार्थक हो जाएगा। और जो स्नेह से आया है उसको यदि लौट जाने के लिए कहा जाए तो भी वह लौटकर नहीं जाएगा, कारण कि स्नेह ने उसको वशीभूत कर लिया है, जब अन्तःकरण दूसरे के (प्रेमी-भगवान्) के आधीन हो जाता है, तब शेष कुछ नही रहता है। दोनों तरफ निष्कपट[1] प्रेम करना ही कर्त्तव्य[2] है ॥२३॥

लालूभट्टजी 'योजना' में कहते हैं कि—आप तो स्नेह के कारण मेरे दर्शन के लिए आई हो किन्तु आप कहती नहीं हो कि हम दर्शन के लिए आई हैं, कारण कि आप समझती हैं कि यदि हम यों कहेंगी तो फल की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि कहा है, कि 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' कहने से धर्म क्षीण हो जाता है वैसे (ही) पाप भी कहने से कम हो जाता है। इस भय से आप चुप हो। (अतः मैं ही आपके आने का वास्तविक कारण प्रकट कर देता हूं)

गौ० पुरुषोत्तमजी महाराज 'प्रकाश' में कहते हैं कि लौकिक तथा वैदिक छोड़कर स्नेह भाव से भावपूर्वक भगवान् के पास आने पर भी यदि उस भाव में यह भावना है, कि भगवान् हमारी कामनाएँ पूर्ण करेंगे, तो वह भाव गुण रूप उपाधिवाला होता है और यदि उस भाव में यह भावना है, कि यह हमारा जार है अतः हमारी काम पूर्ति करेंगे तो वह भाव दोष रूप उपाधिवाला हो जाता है, इस प्रकार उपाधिवाला होने ने वह भाव लौकिक हो जाता है जिससे फल प्राप्ति नहीं होती है।

१—बिना कपट के, २—करने योग्य

श्लोक—भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे कल्याणियों ! स्त्रियों का परम धर्म यही है, कि निष्कपट होकर पति की सेवा करना, तथा उनके बान्धवों की सेवा और बालकों को पालना धर्म है ॥२४॥

सुबोधिनी—एवं राजसीः निरूप्य सात्त्विकीर्निरूपयति । सत्त्वयुक्ताः निरूप्यन्ते । ततो रजोयुक्ताः । स्त्रीणां मुख्यो धर्मः भर्तृशुश्रूषणमित्याह **भर्तुरिति** । स्वभावतो जीवानां भगवानेव भर्ता, तत्रापि स्त्रीणां स्त्रीशरीरं प्राप्तानां व्यभिचाराभावाय भगवानेव सेव्यः । लौकिके तु परिग्रहात् भर्तृत्वेनाभिमतः सेव्यः । स एव परो धर्मः । तत्राप्यमायया । कापट्ये तु न सेवायां फलम् । अन्ये सर्वे धर्मा अवराः । **तद्बन्धूनां** श्वशुरादिनाम् । **कल्याण्य** इति सम्बोधनात् भवतीनां सर्वेऽपि सन्तीति ज्ञापितम् । प्रजानां च पुत्रादीनामनुपोषणं अन्नादिदानेन स्तनादिदानेन च । पित्रादिभिः पोष्यमाणानां स्वतोऽपि पोषणं वा ॥२४॥

व्याख्यार्थ--राजसी का निरूपण कर सात्विकी व्रज भक्तों का निरूपण करते हैं स्वभाव से भगवान् ही जीवों का पति है, उसमें भी जिन जीवों को स्त्री शरीर की प्राप्ति हुई है उनको तो भगवान् ही सेव्य है क्योंकि यदि वे भगवान् की सेवा नहीं करेंगे तो व्यभिचारी बनेंगे अतः वह दोष न लगे इसलिए उनको भगवान् की सेवा करनी योग्य हैं । लौकिक में तो लोकानुसार जिससे विवाह हुआ है, उसको पति मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए वह ही स्त्रियों का उत्तम धर्म है, वह सेवा भी कपट रहित करनी चाहिए, यदि कपट से की जाएगी तो उसका कोई फल नहीं होगा । दूसरे सर्व धर्म स्त्री के लिए नीची कक्षा के हैं । वे धर्म बताते हैं पति के सम्बन्धी श्वशुर आदि बान्धवों की सेवा । गोपियों को कल्याणी सम्बोधन (विशेषण) देकर यह बताया है, कि आपके तो पति के सम्बन्धी श्वशुर, जेठ, बालक आदि सब हैं अर्थात् आप भाग्यशाली हो, अतः आपको कल्याणी कहा गया है । प्रजा का पोषण जैसे पिता, पितृव्य[1] आदि करते हैं वैसे (ही) आप (माताओं) को भी अन्नपान देकर और दूध पिलाकर प्रजा तथा पुत्रादिकों का पालन करना चाहिए ॥२४॥

आभास—तथापि सः पति समीचीनो न भवतीति चेत्, तत्राह दुःशील इति ।

आभासार्थ—यदि पति योग्य न हो तो? उसका उत्तर इस (२५) वे श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्नहातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥२५॥

श्लोकार्थ—पति दुष्ट स्वभाव वाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी और निर्धन हो

---

[1] —काके, या चाचे (पिता का छोटा भाई)

तो भी, जिन स्त्रियों को इल लोक में कीर्ति और परलोक में सुख की इच्छा है, तो उनको इस प्रकार के पति का भी त्याग नहीं करना चाहिए केवल यदि पति पतित धर्म आदि के कारण जाति बहिष्कृत है, तो उस पति का त्याग करे ।।२५।।

सुबोधिनी—दुष्टं शीलं यस्य । द्यूतादिदुर्व्यसनवान् । दुर्भगो दरिद्रः । वृद्धः इन्द्रियविकलः । जडो मूर्खः । रोगी महारोगग्रस्तः । अधनो वा । अधनोऽपि भाग्यवाँश्चेत्, तदा संभावनया स्त्रीभिर्न त्यज्यते । एवं षड्दोषयुक्तोऽपि स्त्रीभिरनन्यगतिकाभिः पतिर्न हातव्यः । स्पष्टएव विरोधः । षड्गुणो भगवान्, षड्दोषः स इति। पातकी तु हातव्य एव। 'भजेदपतितं पति'मिति वाक्यात् । किञ्च, तत्रापि लोकेप्सुभिः। येषामिह लोके परलोके च कीर्त्याद्यपेक्षा, तैर्न हातव्य एव, अन्यथा अपकीर्तिभवेत् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—जुवा आदि व्यसन वाले, दरिद्र, वृद्ध (जिसकी इन्द्रियां अशक्त हैं), मूर्ख, रोगी (असाध्य रोग वाला), दीन (गरीब) पति में ये छः दोष हों तो भी उस पति का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्त्री का आधार पति ही है । स्त्रियाँ तो निर्धन पति को जब भाग्यवान् देखती हैं, तब इसी आशा से, कि धनी बन जाएगा इसका त्याग नहीं करती हैं ।

भगवान् ६ गुणो वाले हैं और पति छः दोषवाला है, यह स्पष्ट विरोध देखने में आता है। शास्त्र कहता है कि 'भजेदपतितंपतिम्' जो पति पतित नहीं है उस पति का त्याग न करे किन्तु उसकी सेवा करे वह कैसा भी हो और जिनको लोक और परलोक में कीर्ति आदि की अपेक्षा है वे तो पति का त्याग न करें । यदि त्याग करेगी तो अपकीर्त्ति[1] को पाएगी ।।२५।।

अपकीर्ति मरण से भी विशेष दुःखदाई है । 'अपकीर्ति मरणादतिरिच्यते'

आभास—ननु कामरसे निविष्टमनसा न धर्मो बाधकः परस्मिन्नेव रसोत्पत्तिरिति, तत्राह अस्वर्ग्यमिति ।

आभासार्थ—जो काम-रस लेना चाहती हैं उनके लिए धर्म बाधक नहीं है, क्योंकि पर पुरुष से ही रस की प्राप्ति होती है, इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।
जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः ।।२६।।

श्लोकार्थ—कुल की स्त्रियों के लिए जार पुरुष का संग स्वर्ग का नाश करनेवाला

---

[1] १—अपजस

यश को मिटाने वाला, तुच्छ, कष्ट देने वाला, भय देने वाला और सब प्रकार निन्दा कराने वाला है ॥२६॥

सुबोधिनी—हे कुलस्त्रियः, औपपत्यं जारसम्बन्धः तद्रसालमपि बहुदोषग्रस्तम् । तत्रत्यान् षड् दोषानाह । अस्वर्ग्यं परलोकनाशकम् । पूर्वं धर्मेण सिद्धोऽपि स्वर्गः तस्मिन् अपगच्छति । किञ्च, इह लोकेऽपि यशो दूरीकरोति । चकारात् नरकोऽपि । नापि तत्र रसभोगो महानित्याह **फल्ग्वति** । अल्पमेव तत्सुखं क्षणमात्रसाध्यम्, स्वरूपतो महदपि कालतः परिच्छिन्नमपि । **कृच्छ्रमिति** । कष्टसाध्यम्, नाल्पेन प्रयासेन सिध्यति । अतो बलवदनिष्टानुबन्धि । किञ्च, अनुभवकालेऽपि न रसमुत्पादयति । यतो भयजनकम् । शृङ्गारविरोधी भयानकरसः । अत एव व्यभिचारशब्दवाच्यः । मुख्यतया भयानकरसमुत्पादयेत् विशेषतः प्रथमतः । किञ्च, सर्वत्रैव जुगुप्सितम् । सर्वदेशेषु सर्वकालेषु तत्कृत्वा यदि सत्कर्मापि कुर्यात् ततोऽपि जुगुप्सितो भवेत् । धर्मबुद्धिस्तत्र विचिकित्सैव भवति । अतो बहुदोषग्रस्तत्वात् उत्तमाया नैतद्युक्तम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—हे कुल की स्त्रियाँ ! आपको समझना चाहिए कि यद्यपि जार से सम्बन्ध रसाल[1] है तो भी उसमें बहुत दोष[2] हैं, उनमें से छः दूषण बताते हैं—

१—परलोक का नाश करनेवाला है, यदि सत्कर्मों से स्वर्ग मिलने वाला हो तो भी इस दोष से स्वर्ग प्राप्ति रुक जाती है ।[3]

२—इस लोक में यश का नाश करता है ।

३—नरक की प्राप्ति कराने वाला है ।

३ - क्षण मात्र सुख देने वाला है—(यद्यपि पर पुरुष से भोग महान् रस देता है किन्तु वह भोग पूर्णतया नहीं हो सकता है क्योंकि समय की सीमा है इसलिए पूर्ण रस की प्राप्ति नहीं होती है)

५—कष्ट से मिलता है, अर्थात् स्वल्प[4] प्रयास करने से उसकी (जार से भोग करने की) प्राप्ति नहीं होती है और अन्त में उससे बहुत खराबियाँ उत्पन्न होती है ।

६—निन्दनीय, निन्दा कराने लायक है ।

इस प्रकार ६ दोष वाला तो है किन्तु साथ में अनुभव (भोग) के समय में भी रस उत्पन्न नहीं कर सकता है, क्योंकि उस समय दोनों के अन्तःकरण में भय बना रहता है, भयानक रस, शृंगार रस का विरोधी है अर्थात् जिस समय भय होता है उस समय आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है अतः इसको (जार से किए हुए भोग को) वास्तविक भयानक रस माना जाता है जिससे उसको 'व्यभिचार' कहा जाता है । यह जार भोग कर्म, प्रारम्भ से ही भय उत्पन्न करता है (जैसे कि दोनों नायक (पुरुष) और नायिका (स्त्री) के मन में यह भय रहता है कि कोई देख न ले, किसीको इस बात का पता न पड़ जाए, हमारी निन्दा न हो जाए आदि भय बना रहता है) जिससे भोग समय में भी डर के कारण स्वल्प काल लेने से, रस

१—रस देनेवाला, २—दूषण, ऐब ३—नहीं होती है, ४—थोड़े

की पूर्ण प्राप्ति नहीं होती है इत्यादि कारणों से यह रस आनन्द देने वाला शृंगार रस नहीं है, किन्तु वास्तविक भयदाई भयानक रस है और विशेष में यह जार कर्म सर्वत्र निन्दनीय है । कोई पुरुष श्रेष्ठ धर्म दानादि कर्म करने वाला है किन्तु यदि वह सर्वथा सदैव व्यभिचारी (जारकर्म करने वाला) है तो उसका यश न होकर निन्दा ही होती है ।

इस कर्म को धर्म कहना यथार्थ नहीं है । इस प्रकार विचार पूर्वक देखने से, यह सिद्ध होता है कि इस कर्म में बहुत दोष हैं अतः उत्तम कुल वाली स्त्रियों को यह व्यभिचार कर्म करना योग्य नहीं है ॥२६॥

आभास—एवं सगुणाः प्रबोध्य गुणातीताः प्रबोधयति श्रवणादिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपरोक्त श्लोक से सगुणों को उपदेश देकर भगवान् अब निर्गुणों को निम्न श्लोक से उपदेश देते हैं—

श्लोक—**श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।**
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

श्लोकार्थ—जैसा भाव मुझ में श्रवण दर्शन, ध्यान और कीर्तन से रहता है वैसा भाव पास रहने से नहीं होता है इस कारण से तुम घर लौट जाओ और वहाँ परोक्ष में भक्ति करना ॥२७॥

सुबोधिनी—ननु लौकिकदृष्टावेते दोषाः, न तु भक्तिमार्गे, परमार्थदृष्टौ वा, भवांस्तु पुरुषोत्तम इति चेत्, तत्राह **श्रवणा**दिति । न हि भक्तिमार्गे सम्बन्ध एव कर्तव्य इति शास्त्रमस्ति । भक्तिर्हि नवविधा श्रवणादिरूपा । प्रेमरूपा च । स्वतन्त्रपक्षे तु सुतरामेव नापेक्षा । स्नेहस्तु भगवद्विषयकः अलौकिकः । स एव सर्वाधिको भवति । लौकिकस्तु कामशेषतां प्राप्तः हीन एव भवति । तस्यालौकिकस्य कारणानि त्रीणि । श्रवणं दर्शनं ध्यानमिति । आदौ **श्रवणं,** भगवद्वाचकानां पदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यावधारणम् । तथा सति विषयो व्यावर्तितो भवति, अन्यथा अन्यत्रापि स्नेहः स्यात् । तदनु **दर्शनं,** तदर्थस्यानुभवः कृपया भगवत्साक्षात्कारो वा भगवत्कामार्थं नारदादेरिव । ततो **ध्यानं,** योगेन चिन्तनम् । एतैरेव मयि भावो भवति । स चोत्पन्नो भावः अनुकीर्तनात् स्थिरो भवति । यथायमुपायः शास्त्रीयः साधीयान्, न तथा निरन्तरसानिध्येन जातो लौकिकः । स हि कामशेष इत्यवोचाम । अतो गृहान् प्रतियात । अतः परमार्थविचारेऽपि न स्थातव्यमिति । तथेत्यत्र प्रकार एव निषिद्धः, न स्वरूपतो महत्त्वं निषिद्धम् । गृहस्थितानां च विहितं भवतीति गृहगमनमाज्ञापितम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—आपने जो दोष बताए हैं वे लौकिक दृष्टि में हैं किन्तु भक्ति मार्ग व परमार्थ की दृष्टि से देखा जाए तो ये दोष नहीं है क्योंकि आप तो 'पुरुषोत्तम' है, इस प्रकार गोपियाँ कहें तो

उसके उत्तर में कहते हैं कि—शास्त्र में यों नहीं कहा है, कि भक्ति मार्ग में सम्बन्ध ही करना चाहिए। भक्ति तो श्रवण आदि नव प्रकार (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म समर्पण) की है और दसवीं प्रेम रूपा है। स्वतन्त्र (प्रेम मार्ग के) पक्ष में तो सम्बन्ध की निपट[1] अपेक्षा नहीं है, भगवान् में जो स्नेह होता है वह तो अलौकिक है। वह अलौकिक ही सब से उत्तम है, लौकिक संबन्ध तो काम का अंग बनने से हीन ही है। उस अलौकिक के तीन कारण हैं,— १–श्रवण, २–दर्शन और ३–ध्यान।

१—श्रवण–जो पद अथवा वाक्य भगवान् का वर्णन करते हैं, उनकी (पद तथा वाक्यों की) शक्ति वा तात्पर्य भगवान् में ही है, ऐसी धारणा करने को श्रवण कहा जाता है जब इस प्रकार का श्रवण किया जाता है तब लौकिक पदार्थ तथा विषय निवृत्त हो जाते हैं भगवान् ही विषय आदि बन जाते हैं, यदि वैसा श्रवण नहीं हो, तो भगवान् के सिवाय अन्य लौकिक पदार्थों में भी स्नेह रहता है। अतः इस प्रकार श्रवण करना चाहिए।

२—दर्शन–जो श्रवण किया है उसके अर्थ[2] को अन्तःकरण में अनुभव करना दर्शन है अथवा जैसे भगवान् ने कृपा कर नारदजी को दर्शन देकर अपने में स्नेह कराया था, इसी प्रकार जिस कृपापात्र जीव को, भगवान् दर्शन कराके, अपने में स्नेह उत्पन्न कराते हैं वह साक्षात्कार दर्शन है।

३—ध्यान–योग की रीति से मन को स्थिर कर भगवान् के चिन्तन करने को ध्यान कहा जाता है।

इस प्रकार इन तीन श्रवण, दर्शन और ध्यान से ही मुझ में भाव[3] उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न हुआ भाव अनुकीर्तन[4] से दृढ होता है।

यह शास्त्र में कहा हुआ उपाय जैसा उत्तम है भगवान् के पास निरन्तर रहना वह उपाय वैसा श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि वह लौकिक स्नेह है और वह (लौकिक स्नेह) काम रूप बन जाता हैं अतः उसको श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है। यह हमने पहले कह दिया है। इस सिद्धान्त को, समझकर तुम घर लौट जाओ। अतः परमार्थ विचार करने पर भी यहां ठहरना नहीं चाहिए।

श्लोक में दिए हुए 'तथा' शब्द का इतना ही तात्पर्य है, कि लौकिक स्नेह नहीं करना चाहिए, स्नेह स्वरूप से महान् है, उसका निषेध नहीं किया है। घर में रहने वाले शास्त्रीय विहित भक्ति कर सकते हैं इसीलिए भगवान् ने गोपियों को घर जाने की आज्ञा दी है।

(घर जाने की आज्ञा देकर यह कहा, कि वहां विहित भक्ति (मर्यादा भक्ति) कर सकेंगी स्वतन्त्र (प्रेमलक्षणा) भक्ति तो वहाँ न हो सकेगी, अतः जिनको स्वतन्त्र भक्ति करनी है वे घर न जावें, इस गूढाभिसन्धि[5] को आचार्य श्री ने स्पष्ट कर दिया है) ॥२७॥

---

[1] बिलकुल, [2] तात्पर्य वा भाव, [3] रति, स्नेह, [4] बार बार करना, [5] गूढ आशय,

आभास—एवं तासां गृहगमने बोधिते तत्परित्यागानन्तरं पुनर्ग्रहणं वांताशनमिव मन्यमानाः, भगवद्वाक्यं चानुल्लंघ्यमिति विचार्य, अतिविरोधे उभयानुरोधिशरीरपरित्यागः कर्तव्य इति निश्चित्य, तत्रापि भगवत्सम्बन्धानन्दाभावादितिकर्तव्यतामूढा जाता इत्याह इति विप्रियमिति ।

आभासार्थ—भगवान् की इस प्रकार की आज्ञा सुनकर गोपियाँ कर्तव्य विमूढ हो गईं । हमको अब क्या करना चाहिए जिसको समझ न सकी । गोपियाँ विचार करने लगीं कि हम घर आदि छोड़ आई हैं, अब फिर घर जावें यह तो वमन[1] कर फिर खाने के समान है और यहाँ भगवान् की आज्ञा भी उल्लङ्घन कैसे की जाए, दोनों तरफ कठिनाई है, तो शरीर त्याग दें ? यह किया जाएगा तो भगवत्सम्बन्ध से प्राप्त आनन्द नहीं मिलेगा, इसी चिन्ता में मग्न हो गई ।

श्रीशुक उवाच

श्लोक—**इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।**
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि—गोपियाँ श्रीकृष्ण के वैसे विप्रिय[2] वचन सुन कर विषाद[3] को प्राप्त हुई, संकल्प[4] नष्ट हो जाने से अपार चिन्ता में पड़ गईं ॥ २८ ॥

सुबोधिनी—विगतं प्रियं यस्मादिति, उभयथापि प्रियाभावः । किं परीक्षार्थमाह, आहोस्विदभिप्रेत तएवायमर्थ इति । आ समन्तात् श्रुत्वा, वाक्यतात्पर्यं निर्धार्य, सत्यं गमनमेव वदतीति निश्चित्य, अनभिप्रेतत्वेऽपि तत्प्रसवहेतुमलभमानाः, गोप्यो नैपुण्यरहिताः, गोविन्दस्य स्वामिनः देवभाषितत्वेन अनृतशङ्कारहितमीश्वरवाक्याच्च निर्धाररहितमाकर्ण्य, विषण्णा जाताः, मनसि परमं विषादं प्राप्ताः । तत्र हेतुर्भग्नसङ्कल्पा इति । तदा परां चिन्ता प्रापुः । कथमस्मद्विचारितं भगवद्वाक्यं चैकमुखं भवतीति । सा चिन्ता त्रैलोक्यं व्याप्य चेदं जन्मजन्मान्तराणि च निर्द्धारमलभमाना दुरत्यया पर्यवसानरहिता जाता ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के शब्द और उसका अर्थ दोनों गोपियों को कड़े लगे, मन में विचार करने लगीं कि हमारी परीक्षा लेने के लिए वैसे शब्द कहे हैं वा आपकी हमको घर लौटाने की इच्छा है । भगवान् के शब्द पूर्ण रीति से सुनकर उस वाक्य के तात्पर्य का निर्णय कर कहने लगीं, कि भगवान् हमको सचमुच जाने को ही कहते हैं, भगवान के कहने का यह (हम घर लौट जावें) तात्पर्य न भी हो, किन्तु वैसे शब्द क्यों कहे उसका क्या कारण है जिसको गोपीजन समझ न सकी क्योंकि भोली

१—उलटी, २—कड़े, ३—खेद, ४—मन की कामना

हैं हमारे स्वामी गोविन्द की वाणी देव भाषा है अतः उसमें अनृत[1] कीं शङ्का भी नहीं की जा सकती है और ईश्वर वाक्य हैं इस पर निर्णय देना भी अयोग्य है, अतः गोपियाँ मन में अत्यन्त विषाद को प्राप्त हुई। विषाद का विशेष कारण यह था कि उनको (गोपियों को) अपने मन के सङ्कल्प नष्ट हो गए दीखने लगे। तब अत्यन्त चिन्ता को प्राप्त हुई।

गोपियां सोचने लगी कि भगवत् वाक्य सुनकर हम जो उनका तात्पर्य समझ रही हैं और भगवान् ने वे वाक्य किस आशय से कहे हैं यह भी समझ में आना कठिन है, अतः इसका निर्द्धारण[2] जन्मजन्मान्तर में भी मिलना दुर्लभ है जिससे उनकी चिन्ता इतनी बढ़ गई जिसका अन्त ही नहीं है ॥ २८ ॥

आभास—ततः चिन्तया यज्जातं तदाह कृत्वेति।

आभासार्थ—गोपियों की चिन्ता से जो दशा हुई उसका वर्णन निम्न श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—**कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्-**
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ—शोक के निःश्वास से जिनके बिम्ब फल जैसे अधर सूख रहे हैं वैसे मुखों को नीचे कर चरणों के अंगूठों से पृथ्वी को लिखती हुई काजलयुक्त अश्रुपात से स्तनों के केसर को धोती हुई दुःखी गोपियाँ मौनकर खड़ी रही ॥ २९ ॥

सुबोधिनी—चिन्तया प्रथमं मूर्छिता जाताः। ततः मुखान्यव अवाङ्मुखानि कृत्वा, कमपि स्वमुखं न प्रदर्शयिष्याम इति अवाङ्मुखानि कृतवत्यः। अवगताः शुचः याभिस्ताः, शोकसम्बन्धिन्यो वा जाताः। शुचः श्वसनेन शोकसम्बन्धिना श्वासवायुना शुष्यन्ति बिम्बवदधराणि येषाम्। तादृशानि मुखानि कृत्वा, चरणेन च भुवं लिखन्त्यः, तथैवावस्था भवतीति। भूमिविवरमिव प्रार्थयन्त्यः, उपात्तमषिभिः अस्त्रैः कुचकुङ्कुमानि मृजन्त्यः, तूष्णीं तस्थुः। मुखस्य अवाक्त्वेन भक्तितिरोभावः। श्वसनेन प्राणपीडा, शोकेनान्तःकरणस्य, बिम्बाधरशोषेण कामरसस्य, पदा भूमिलेखनेन शरीरस्य, अस्त्रैरिन्द्रियाणाम्, कुङ्कुमाभावेन कान्तेः, दुःखभरेण आनन्दस्य, तूष्णी स्थित्या चैतन्यस्य तिरोभावो निरूपितः। केवलं स्थाणुवत् स्थिताः ॥ २९ ॥

---

[1]—झूठ, [2]—निर्णय

व्याख्यार्थ—पहले चिन्ता से मूर्छित हो गई, पश्चात् इसलिए मुख नीचे कर लिए कि किसीको भी अपना मुख दिखाने जैसी हम नहीं रही हैं। भगवान् के वचनों से जिन्होंने शोक प्राप्त किया है वैसी गोपियाँ शोकवाली होगई, उनके जो श्वास चलते थे वे (श्वास) शोक से मिले होने से ताप वाले थे जिनसे गोपियों के बिम्ब फल जैसे लाल स्निग्ध भी अधर सूख रहे थे और इससे वे (गोपियाँ) चरणों से पृथ्वी को लिख रही थीं, वैसी दशा में इस प्रकार की अवस्था हो जाती है। गोपियाँ इसी प्रकार पैरों से पृथ्वी को लिख रही थी मानो पृथ्वी को प्रार्थना करती हैं कि आप हमको रहने के लिए कोई विवर दो जिसमें हम छिप जाँए क्योंकि अब हम किसीको भी मुख दिखाने जैसी नहीं रही हैं।

काले अश्रु बिन्दुओं से स्तनों की केसर को धोती हुई चुपचाप खड़ी रहीं।

मुख नीचे करने से भक्ति का तिरोभाव हुआ, (दिखाया) ठंडी श्वास लेने से प्राणों की पीड़ा प्रदर्शित की, शोक से अन्तःकरण का दुःख दिखाया, बिम्ब समान लाल तथा स्निग्ध अधर शुष्क हो जाने से कामरस का अभाव दिखलाया, पादों से भूमि खनन करने से शरीर की पीड़ा बताई आँसु बहाने से इन्द्रियों का दर्द प्रकट किया, केसर धुप जाने से कान्ति का तिरोहित होना बताया, शोक से आनन्द का तिरोभाव बताया और मौन धारण करने से बता दिया कि हम में चैतन्य भी नहीं है। केवल स्थाणु के समान खड़ी रही हैं ॥२९॥

आभास—एवमपि स्थितौ तूष्णीं स्थितं भगवन्तमालक्ष्य किञ्चिद्विज्ञापयामासुरित्याह प्रेष्ठमिति।

आभासार्थ—गोपियाँ शोकाकुल हो नीचे मुख कर, मौन धारण कर शान्त रहीं, उनकी यह दशा देखकर भी जब भगवान् ने कुछ भी न कहा तब वे कुछ प्रार्थना करने लगीं जिसका वर्णन शुकदेवजी इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं**
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ—जिसके लिए सर्व कामनाओं का त्याग किया है वैसे अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को बिना प्रेम वालों के समान बोलते देख, रोने से फूली हुई आँखो को पोंछ कर, उनको गद् गद् वाणी से रोष के साथ कुछ प्रार्थना करने लगीं ॥३०॥

सुबोधिनी—भाषणं पूर्वोक्तमेव। अथव । तस्यामप्यवस्थायां किमिति रोदनं क्रियते, स्वस्था भवत, गृहे गच्छतेत्येव वदति, परं हसन्मुखः, तदा तासां हृदये वाक्यामृतानि प्रविष्टानि सजातीयानि वाक्यान्युत्पादितवन्ति, तदा भगवदुद्बोधिता एव ताः भगवद्वाक्यानि पूर्वपक्षयितुमारेभिर इत्याह **प्रेष्ठ**मिति। प्रेष्ठो भवत्येव। स्वसामग्र्या तथा सम्पादितत्वात्, परं वदत्यन्यथा, तथाप्यप्रियमिव प्रतिभाषमाणमिति नोक्तम्। न हि कदाचिदपि भगवानप्रियवद्भवति, किन्तु प्रियो भवति, इतरोऽपि भवति, सर्वभवनसामर्थ्यात्। इतरत्वे न प्रियत्वं बाध्यते। यथा जगज्जगदतिरिक्तरूपश्च तदाह **प्रियेतरमिव प्रतिभाषणमा**मिति। यः प्रियोंऽशः तं न तिरोधारयति। किन्तु वाक्यं न तेन रूपेण वदति, किन्तु रूपान्तरेण, तदा तेन सह वादः कर्तुं शक्य इति। न हि फलं क्वचित्साधनं भवति, मां वृणुतेति वा वदति, परं बलादपि प्रतिबन्धनिराकरणं कृत्वा स ग्राह्य एव। तदाह **कृष्णं** सदानन्दमिति। ननु कोऽयं निर्बन्धः, स एव काम्य इति, महांश्चेन्न मन्यते, तदा अल्पतरा अपि काम्या इति, तत्राह **तदर्थविनिर्वर्तितसर्वकामा** इति। तदर्थं भगवदर्थं विशेषेण निर्वर्तिताः सर्वे कामा याभिः। अयमेव काम्य इति निश्चित्य पूर्वमेव सर्वे कामास्त्यक्ताः। 'काममयश्चायं पुरुषः'। यदि त्यक्तोऽपि गृह्येत, तदा भगवदुक्तमेव गृहं कथं न गृह्येत। तस्मादयमेव कामः अवशिष्यते। स चेन्न भवेत, स्वरूपहानिरेवेति निश्चित्य, फले मानमकृत्वा दृढीभूय, रुदितोपहते नेत्रे विमृज्य, यथास्थानं सर्वं प्रापयित्वा, किञ्चित्संरम्भेण, वादार्थमुद्यमः संरम्भः। भगवान् हि वाक्येन निराकरोति, न तु स्वरूपतः। वाक्यं तु निराकार्यमिति तदर्थं संरम्भः। सर्वोऽप्यन्तं गत्वा परावर्तते, परं संरम्भेण गद्गदा गीर्यसाम्। वर्णानां न स्फुटनिर्गमनम्,ईश्वरवाक्यनिराकरणे यतो वाणी बिभेति। एतासां तु न भयम्। यतः अनुरक्ताः। रागो हि भयप्रतिपक्षः यत्र रागः स्वल्पोऽपि, न तत्र भयम्। अतः अब्रुवत उक्तवत्यः॥ ३०॥

व्याख्यार्थ--श्रीकृष्ण ने जो पहले शब्द कहे हैं वे ही शब्द इस दशा में भी कह रहे हैं कि 'तुम रुदन क्यों कर रही हो' ? स्वस्थ हो जाओ और घर जाओ, किन्तु कहते हुए हंस रहे हैं जिससे (हंसने से) वे वचन अमृत जैसे होकर (गोपियों के) हृदय में प्रविष्ट हुए, तब उन्होंने भी वैसे ही वाक्य कहने के लिए बनाए और भगवान् द्वारा उद्बोधित[1] उन्होंने (गोपियों ने) भगवान् के कहे हुए वाक्यों को पूर्वपक्ष बना दिया अर्थात् भगवान् के कहे हुए वे वाक्य सिद्धान्त रूप से नहीं हैं, क्योंकि 'प्रेष्ठ' हैं। प्रियतम हैं इसीलिए सर्व सामग्री (चन्द्र, मन, पुष्प, फल आदि) आपने ही नवीन उत्पन्न की है। यद्यपि अन्य प्रकार से[2] बोलते हैं किन्तु स्वयं अप्रिय नहीं है, भगवान् कभी भी अप्रिय तो नहीं हो सकते हैं प्रिय ही बने रहते हैं, साथ में इतर[3] भी हो जाते हैं कारण कि आप सर्व भवन सामर्थ्यवान् हैं। इतर[3] होते हैं तो भी उनके प्रियत्व में किसी प्रकार बाधा नहीं आती है। जैसे आप जगत् रूप (आधि-भौतिक-सत्‌रूप) हैं उस रूप से अन्य सच्चिदानन्द रूप भी उस समय ही हैं, जगद् रूप उस सच्चिदानन्द रूप में बाधक नहीं होते हैं। वैसे ही यहां इतर भी बाधक नहीं है, इसलिए शुकदेवजी ने कहा है कि 'प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं' भगवान् अपने प्रिय स्वरूप का तिरोधान नहीं करते हैं किन्तु जो कुछ कहते हैं जिससे समझ में आता जाता है कि ये शब्द उस प्रिय फलात्मक स्वरूप से न कहकर इतर स्वरूप से कह रहे हैं, अतः इस इतर[4] स्वरूप से तो वाद किया जा सकता है।

१--प्रेरणा की हुई, २—अप्रिय जैसे तरीके से, ३—अप्रिय, ४—दूसरे,

फल कभी साधन नहीं हो सकता है, 'मुझे वरो' वैसा भी वह (फल) नहीं कहते हैं, अतः हमको उस फल रूप की प्राप्ति में जो प्रतिबन्ध हैं उनका निराकरण[1] कर उसको प्राप्त ही करना है। यदि कहा जाए कि तुम इसको प्राप्त करने के लिए इतना आग्रह क्यों कर रही हो? इसके उत्तर में कहती हैं कि वह 'कृष्ण' सदा आनन्द स्वरूप है, आनन्द प्राप्ति के लिए तो आग्रह करना ही चाहिए। यदि कहो कि वे महान् हैं मानेंगे नहीं इसलिए किन्हीं छोटों की कामना करो, इसके उत्तर में कहती हैं कि छोटों की कामना करो, यह कहना अब निरर्थक[2] है कारण कि हमने छोटों की कामनाएँ जो सिद्ध थीं उन सब कामनाओं का त्याग कर एक कृष्ण की ही दृढ कामना की है 'सब जाय कृष्ण पाय' यह निश्चित मत बना लिया है कारण कि भगवती श्रुति 'काममयश्चायं पुरुषः' कृष्ण के लिए ही कहती हैं अतः हमने कृष्ण के पाने के लि जब सर्वस्व का त्याग किया है तो अब छोटों की कामना हम कैसे कर सकती हैं, यदि घर लौट जाना होता तो कृष्ण के कहने से घर चली जातीं। किन्तु हमने जो कृष्ण प्राप्ति का निश्चय किया है उससे अभी हटेंगी नहीं। हमारे अन्तःकरण में भगवत्सम्बन्धी काम के सिवाय कुछ कामना नहीं हैं, यदि भग्वद्विषयक काम सिद्ध न हुआ तो 'स्वरूप की ही हानि हुई, इस प्रकार निश्चय कर, फल प्राप्ति के लिए मान नहीं करना चाहिए। वैसा दृढ संकल्प कर रोने से अश्रुपूर्ण नेत्रों को पोंछ के, सब की पूर्ण व्यवस्था कर कुछ क्रोधपूर्वक वाद करने के लिए तैयार हुईं। गोपीजनों ने समझ लिया कि भगवान् जो कुछ कह रहे है वह स्वरूप से नहीं, किन्तु केवल वाणी से कहते है, अतः जो वाणी से कहा गया है उसका खण्डन करना ही चाहिए, जिसके लिए गोपीजन प्रयत्न करने लगे, बहुत कर के लोक में मनुष्य उपाय कर अन्त तक पहुँच लौट आते हैं, किन्तु ये क्रोध के आवेश से स्पष्ट न बोल सकीं अर्थात् गद्गद् वाणी होगई, क्रोध के सिवाय वाणी के अस्पष्ट होने का दूसरा कारण यह भी है कि वाणी को भगवान् के वचनों के निराकरण[3] करने में भय होता था किन्तु गोपीजनों को तो भय नहीं है क्योंकि इनका भगवान् में अनुराग[4] है, प्रेम भय का विघातक[5] है, जहां स्वल्प भी प्रेम है वहां भय नहीं होता है अतः अनुरक्त[6] गोपियाँ कहने लगीं ॥ ३० ॥

यहां तो एक ही स्वरूप देखने में आते हैं दूसरे स्वरूप से यों कहते हैं यह शुकदेवजी कैसे कहते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि कृष्ण ने पहले 'प्रियं किं करवाणिवः' आपका क्या प्रिय करूं? वैसा कहकर जो पुनः अप्रिय वाक्य कहे हैं वे प्रिय प्रेष्ठ स्वरूप के नहीं है अतः शुकदेवजी ने 'इतर' शब्द दिया है, प्रकाश का सार। (मर्यादा स्वरूप से)

कारिका—वाक्यानां बाधवाक्यानि तावन्ति प्रार्थनाधिका।
एकादशविधास्तेन तासां वाचो जयन्ति हि ॥ १ ॥

कारिकार्थ—भगवान् के गोपियों को दिए हुए उपदेश के वाक्य दश हैं उन दशों

१—नाश, २—बिना अर्थ वाला-फिजूल, ३—खण्डन, ४—प्रेम
५—नाश करने वाला, ६—प्रेमवाली

को बाध[1] करने वाले गोपियों के भी उतने (दश) ही हैं, एक प्रार्थना का विशेष है जिससे गोपियों के वाक्यों की जय[2] है ॥१॥

आभास—यद्भगवता प्रथममुक्तं 'स्वागतं वो महाभागा' इति, यद्यपि भगवता वयं स्तुताः, तथापि प्रेषणाभिप्रायेण, न तु स्वस्मिन्नागता इति। तथा सति नेयं स्तुतिः, किन्त्वतिक्रूरं वचनम्, अनिष्टपर्यवसानात्। नन्वशक्ये किं कर्तव्यम्, तत्राह मैवं विभो इति।

आभासार्थ—गोपियाँ कहने लगीं, कि जब हम आईं तब भगवान् ने हमारे आने का स्वागत करते हुए जो कहा कि 'स्वागतं वो महाभागाः' है बड़भागिनिओं! आप भले आईं। यह हमको घर लौट जाने के अभिप्राय से भगवान् ने कहा था न कि 'आप मेरे पास आई हैं' इस वास्ते कहा था।

ऐसा आशय प्रकट होने पर, समझा जा सकता है कि वह कहना हमारी स्तुती नहीं थी किन्तु हमारे लिए वे वचन अति क्रूर[3] थे क्योंकि उनका फल अनिष्ठ निकला है—यदि आप (कृष्ण) कह दो कि 'मैं क्या करूं' जो आप चाहती हैं वह अशक्य[4] है तो हम क्या करें?

यदि भगवान्! आप यों कहते हें तो हमारी प्रार्थना सुनो।

श्रीगोप्य ऊचुः—

श्लोक—**मैवं विभोर्हति भवान् गदितुं नृशंसं**
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥ ३१॥

श्लोकार्थ—हे विभु! आपको वैसे क्रूर वचन नहीं कहने चाहिए? हम सर्व प्रकार से सर्व विषयों को छोड़कर, आपके चरणमूल में आई हैं, हे दुराग्रही! आप हमको छोड़ो मत आपके पास प्राप्त हुई हमको वैसे भजो जैसे आदि पुरुष देव मुमुक्षुओं[5] को भजता है॥ ३१॥

सुबोधिनी—भवान् सर्वमेव कर्तुं समर्थः। समर्थश्चेदन्यथा वदेत्, नृशंसमेव भवति, दयायां विद्यमानायां न वदेदिति। यच्च भगवतोक्तं 'व्रजस्यानामय' मिति, तदस्माकं नोद्देश्यम्, यतः सर्वविषयानेव संत्यज्य तव पादमूलं प्राप्ताः। अनेन त्यक्तार्थपरिग्रहः अनुचितः। नापि जारत्वेन

---

[1] —खण्डन, [2] —जीत, [3] —दुःख देने वाले, [4] —होना कठिन, [5] —मोक्ष चाहने वालों,

समागतमिति निरूपितम्। एकादशेन्द्रियाणामपि विषयास्त्यक्ताः सवासनाः। तत्र विनिगमकं **तव पादमूलं प्राप्ता** इति। अन्यथा पादमूलप्राप्तिरेव न स्यात्। यदुक्तं 'ब्रूतागमनकारण' मिति, तत्राहुः **भजस्वे**ति। अन्यत् कर्तव्यमिति चेत्,तत्राहुः **हे दुरवग्रहे**ति। दुष्टोऽयमवग्रहः आग्रहः यद्भजनं न कर्तव्यम्, अन्यत्कर्तव्यमिति। यथा जीवानाम्। ते हि सर्वं कर्तुं वाञ्छन्ति, न भगवद्भजनम्। यथायमाग्रहो जीवानां दुष्टः, तथात्रापि भवितु–मर्हति। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति तु नास्ति। यदि तदभिप्रायेणैव तथा, तदा मा त्यजास्मान्। अस्माभिर्न त्यज्यत इति। एतच्च भजनं न विषयवत्, किन्तु प्रकारान्तरेणेति विशेषतो वक्तु-मशक्ताः दृष्टान्तेनाहुः **देवो यथेति**। देवो हि सर्वानेव भजते, अन्यथा शास्त्रं व्यर्थं स्यात्। तत्राप्यादिपुरुषो देवः। पूर्वकाण्डेऽपि भजनं सार्थकम्, सुतरां उत्तरकाण्डे। आदिपुरुषस्तु सेव्य एव भवति, देवश्च। न हि देवभजनं व्यभिचारजनकं भवति। पुरुषान्तरभजनेऽपि प्रथमभर्ता। विवाहितः अभजनीयो भवति। अनङ्गीकारस्तूचितः, नत्वभजनम्। एतेन स यथा स्वातिरिक्तभजनं न सहते, तन्निवृत्तिपूर्वकमेव स्वभजनं संपाद्य स्वयं भजते, तथा त्वयापि कार्यम्। अतस्तत्र प्रेषणं तवाप्यनुचितमिति ज्ञाप्यते। किञ्च, यथा मुमुक्षून् भजते भगवान्। आत्मीयत्वेन परिगृह्णाति, आत्मतया स्फुरति, स्वानन्दं तेभ्यः प्रयच्छति। 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः। 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही'ति न्यायेन भगवान् तदर्थमात्मानं प्रकटीकरोतीति मुमुक्षून् भजत इत्युक्तम्। अन्यथा मुमुक्षव एव भगवन्तं भजन्ते, न तु भगवान्, अतः फलद्वारा भजनम्। यथा तेषां पुनः पूर्वावस्थां न सम्पादयसि, सततं स्वस्मिन्नेव स्थापयसि, तथा अस्मदर्थमाविर्भूय स्वानन्देन वयं योजनीया इति एतत्कर्तव्यमित्यर्थः। (एतेन प्रार्थनया सकृदङ्गीकृत्य तुष्णींभावपक्षो निरस्तः। अग्रे गृहगमनाज्ञापनगृहस्थितिसम्पादजादिकं तु रसपोषायैव, न तु गृहार्थमिति ज्ञेयम्) ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ—आप सब कुछ करने में समर्थ[1] हैं, समर्थ होकर भी यदि कोई कहे कि हम क्या करें, यह कार्य करना (होना) कठिन है तो यह उसका कहना दया रहित[2] है, जिसमें दया विद्यमान होती है वह वैसे क्रूर वचन नहीं कह सकता है। और जो आपने पूछा कि व्रज में तो सर्व कुशल है न ? तो उससे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है क्योंकि हम सब विषयों (व्रज का सर्व प्रकार से सम्बन्ध) को त्याग कर आपके चरण मूल में प्राप्त हुई हैं, विषयों के त्याग के बिना आपके चरणों की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए जिसका त्याग किया उसका पुनः ग्रहण करना योग्य नहीं है, यों भी आप मत समझना कि हम आपके पास जार भाव से (अर्थात् काम विषय भोगने के लिए) आई हैं क्योंकि जो वासना सहित सर्व इन्द्रियों के विषयों को त्यागते हैं उनको कामभोग की इच्छा भी नहीं रहती है उसका प्रमाण यह है, कि हम आपके चरण में प्राप्त हुई हैं। आपने हमसे आने का कारण पूछा है ? इसका उत्तर यह है कि 'भजस्व' आप हमको भजो, यदि कहो कि भजन तो हम नहीं करेंगे दूसरा कोई कर्त्तव्य कहो तो वह किया जाए, इसके उत्तर में गोपियाँ आवेश में आकर कहती हैं कि ऐसा कहना 'दुष्ट आग्रह' है यह आपका आग्रह जीवों के समान है जीव अन्य सर्व कर्म करते हैं तब नहीं कहते हैं कि यह वा वह कार्य कठिन है किन्तु यदि भगवद्भजन के लिए कहा जाए तो शीघ्र कह देते हैं यह तो कठिन है हमसे कैसे होगा हम नहीं कर सकते हैं आदि, इसी प्रकार आप भी जीव की भांति अब दुराग्रही हुए हैं, आप अपने गीता वाक्य का अनुसरण तो यहां नहीं करते हो कि 'जो

१—शक्ति वाले, २—क्रूर,

जैसे मेरा भजन करता है मैं भी उसी प्रकार उसको भजता हूँ' क्या यह भूल गए हैं यदि नहीं भूले हैं तो जैसे हम भजती (त्याग नहीं करती) हैं वैसे आप भी हमको भजो और हमारा त्याग मत करो।

हम जो भजन चाहती हैं वह लौकिक काम विषय भोग के समान नहीं है किन्तु अन्य प्रकार का (अलौकिक की भांति) है। उसको विशेष समझाने में अपने को असक्त समझकर दृष्टान्त से समझाती हैं कि, जैसे देव सर्व को भजता है सर्व को फल देता है नहीं तो शास्त्र का कहना निरर्थक[1] है (हो जावे)। जब पूर्व काण्ड में (कर्म मार्ग में यज्ञ द्वारा) देव का भजन किया जाता है तब भी देव द्वारा फल प्राप्त होता है। वहां भी (कर्म मार्ग के पूज्य देवों में भी) आदि पुरुष विराजमान है, वह (आदि पुरुष ही) फल देता है। इसी प्रकार उत्तर काण्ड (ज्ञान-भक्ति प्रतिपादक काण्ड) में तो भगवान् स्वयं उनका उचित फल देते हैं. आदि पुरुष (भगवान्) तो सर्वथा सर्वदा सेव्य[2] है ही, क्योंकि वह देव भी है, देव के भजन को कोई भी (लोक वा शास्त्र) व्यभिचार (पर पुरुष वा पर स्त्री से विषय भोग)नहीं कहता है। यदि कोई स्त्री पर पुरुष से व्यभिचार करती है तो भी वह क्या विवाहित प्रथम पति से भोग नहीं करसकती है ? कर सकती है यद्यपि पति वैसी स्त्री का त्याग कर सकता है किन्तु पति से तो भोग कर सकती है, जिसका निषेध नहीं है, लोक में जैसे पति अपनी स्त्री का पर-पुरुष से सम्बन्ध सहन नहीं कर सकता है इसलिए उस सम्बन्ध को छुड़ाकर उससे रमण करता है वैसे ही आपको भी करना चाहिए वहाँ उनके पास (जो पर पुरुष है) भेजना योग्य नहीं है। सर्व जीवों का (हमारा भी) प्रथम सच्चा पति तो आप (भगवान्) ही हैं फिर आप देव भी हैं, भगवान् को 'देव' इसलिए कहा है कि वह सदैव क्रीड़ा ही करते हैं 'दिव' धातु का अर्थ रमण करना है जिससे 'देव' बना है अतः यथा योग्य अधिकारानुसार भगवान् सबसे रमण करते हैं। जिससे जीव का भगवान् के साथ रमण करना व्यभिचार नहीं है।

भगवान् ने कहा है कि 'प्रियं किं करवाणि वः' आपका प्रिय क्या करें ? इसलिए कहती हैं कि जैसे मुमुक्षुओं को आप अपनी आत्मा समझ उनको भजते हो जिससे वे भी आपको अपनी आत्मा समझते हैं, ऐसी अवस्था बनाके अपना आनन्द उनको देते हैं इसीलिए भगवति श्रुति भी कहती है कि 'एष ह्येवानन्दयाती' यह (परमात्मा) ही आनन्द देते हैं। 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं ही' इस ब्रह्मसूत्र में कहा है कि १—सुषुप्ति, २—मुक्ति इनमें से किसी अवस्था में पर भगवान् प्रकट होते हैं, अतः इस सूत्र के अनुसार सिद्ध है कि भगवान्मुमुक्षु जनों के लिए प्रकट होकर उनको भजते हैं[3] यदि वैसा न हो तो मानना पड़े कि मुमुक्षु भगवान् को भजते हैं। किन्तु भगवान् मुमुक्षुओं को नहीं भजते हैं। अतः भगवान् फलदान कर उनका भजन करते हैं जिससे उनकी (मुमुक्षुओं) की फिर प्रथम अवस्था नहीं करते हैं, और सदैव अपने में स्थापित करते हैं, उसी प्रकार हमारे लिए प्रकट होकर हमको भी अपने आनन्द से युक्त करो अर्थात् स्वरूपानन्द देकर हमारा भी भजन करो, यही हमारा प्रिय करो।

गोपियों ने प्रार्थना से यह कहा अतः एक वार अङ्गीकार कर फिर चुप रहकर अपरिचित जैसे शान्त हो जाओ यह भी योग्य नहीं है। आगे जो घर जाने की आज्ञा की है और गृहस्थिति वह वियोग में रहकर 'रस का पोषण करे' इसीलिए दी है ॥ ३१ ॥

---

[1]—व्यर्थ, [2]—भजन करने योग्य, [3]—आनन्द दान देते हैं।

श्लोक—**यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग**
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेसपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! धर्म को जानने वाले आपने जो कहा कि पति, सन्तान और सुहृदों[1] की सेवा करनी स्त्रियों का स्वधर्म है, यह आपके उपदेश के वचन आप ईश में ही चरितार्थ[2] हो, क्योंकि देहधारियों के आप ही प्रेष्ठ प्रिय बन्धु तथा आत्मा हैं ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी—यदपि भगवतोक्तं 'स्त्रीणां स्वधर्मपरित्यागोऽनुचित' इति, अतः 'एषा रजनी घोररूपा, नेह स्त्रीभिः स्थेय' मिति । तत्राप्याहुः यत्पत्यपत्येति । पतिरपत्यानि सुहृदश्च । एषामनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वया उक्तम् । बहिर्मुखा हि धर्मशास्त्रज्ञाः, शारीरमेव धर्मं स्वधर्ममाहुः । नत्वात्मधर्मं भगवद्धर्मं वा । यतस्ते अनात्मविदः । तथा धर्मविदैव त्वया, नत्वस्मान् विचार्य, आत्मानं वा, त्वयोक्तम् । तस्याप्यस्माभिर्विषयनिर्धारः क्रियते, न तु दूष्यते तदाहुः **अस्त्वेंवेमेत**दिति । स्त्रीभिः स्वधर्मः कर्तव्य इति यदुक्तम्, तदेवमेवास्तु । नहि पत्यादयः धर्मस्वरूपम्, नाप्याधारः, किन्तु निमितम् । स च धर्मः अनुष्ठीयमानः प्रमीयमाणश्च भवति । अनुष्ठीयमाने पुत्रादयो निमित्तम् । प्रमीयमाणे गुरुः । अतः सा अनुवृत्तिः प्रथमतो गुरावस्तु, अन्यथा स्वधर्मा ज्ञात एव न स्यात् । न च भगवद्वाक्यमनुवादकम् । पूर्वमस्माकं धर्मज्ञानाभावात् । अन्यथा तदेव क्रियेत । नापि सेवाव्यतिरेकेणायं धर्म, स्फुरति । अन्यथा वचनमात्रेणैव गत्तं स्यात् । अत उपदिष्टस्य सिद्धचर्थं सेवां कारय उपदेशस्य पदमाश्रयः कर्तैव भवति । अङ्गेति कोमलसम्बोधनात् नास्माभिः प्रतिकूलतया निरूप्यते । किञ्च, स्वधर्मा अनेकविधाः, स्वापेक्षयोत्कृष्टविषयाः, समानविषयाः, हीनविषयाश्च । तत्र पूर्वपूर्वधर्मप्राबल्यम् । यथा स्त्रीणां पतिपुत्रादीनां स्वसमानानां सेवा धर्मः । एवं स्वनियामकस्येश्वरस्यापि अनुवृत्तिर्मुख्यो धर्मः । अन्यथा तत्प्रेरणाभावे पतिसेवादौ न प्रवर्तेत । अतः प्रकृतेऽपि भवानीश्वरः अन्तर्यामी । तादृशोऽपि भूत्वा पतिपुत्राद्यर्थं न प्रवर्तयसे, किन्तु स्वसेवार्थमेव प्रेरयसि, अतो वाक्योक्तधर्म सिद्धचर्थमपि भवानादौ सेव्यः । किञ्च, धर्मो धर्मिमूलः, तदविरोधेन कर्तव्यः, फलार्थं च कर्तव्यः, अन्यथा चेत्, अनिष्टेऽपि पुरुषं प्रवर्तयन् अनाप्तः स्यात् । अत एव धर्मशास्त्रे प्रियत्वात् शरीरस्य तदनुरोध उक्तः । 'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय' इति न्यायाच्च । तत्कस्यचित् प्रियो देहः, कस्यचिदात्मा, कस्यचित् परमात्मा, कस्यचिन्निर्वाहकः भवाँस्तु सर्वरूपो भवति, यतः अत्यन्तं **प्रेष्ठः** परमप्रेमास्पदमानन्दः । बन्धुर्देहनिर्वाहकश्च । किञ्च, न केवलमस्माकम्, किन्तु तनुभृतां सर्बेषामेव देह धारिणाम् । ('भवाय नाशाये' त्यत्र त्वया दत्तमेव शरीरं त्वद्विचारितप्रयोजनार्थं जीवो

१—सम्बन्धियों, २—सफल

गृहीत्वा तिष्ठतीति निरूपितम्। अत: स देह: भगवदीय: भगवतैव स्थापित:, तस्मै निवेद्य, तदनुपयोगे जाते, पश्चादन्यस्मै देय:। चेतनो हि प्रेर्य:। अत: यावद्भगवदुपयोगं ज्ञास्यति, तावन्नान्यस्मै दास्यति, बोधितोऽपि।) यतस्तनुभृतां त्वमेव प्रेष्ठ:। प्रेष्ठाय च देयं प्रियं वस्तु। अत्रार्थे किलेति प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्। किञ्च, न केवलं देहदाता, किन्तु **बन्धुरपि**, येन प्रयत्नेन शरीरं विभर्ति स बन्धु:, **आत्मा** धारकश्च। अत: अन्तरङ्गबहिरङ्गन्यायेन नित्यानित्यन्यायेन वा भ(ग)वत्सेवैव मुख्या। यदा पुनस्त्वदनुपयोग:, तत्रापि चेत्तथा प्रेरणम्, तदान्यस्मै दास्यामो, नान्यथेति। धर्मिविचारो धर्मादप्यधिक:। एतञ्च त्वदवङ्गीकृतं सर्वमेव विरुद्धं भवतीति प्रार्थ्यते **अस्त्विति**। सर्वरूपत्वात् त्वमेव सेव्य इति वा। अन्यत्र एकदा सर्वसेवा प्राप्ता, अंशतो बाधिता स्यात्, विनिगमनाभावाञ्च। अनेन स धर्मोऽपि न भवति, य: कालादिना बाध्यते, अशक्यश्च भवति। न हि प्रमाणं विरुद्धं विधत्ते। अत: पत्यादिसेवाविधायकं च शास्त्रं त्वत्सेवामेव विधत्ते। अत: अनुवादपक्षे स्वतन्त्रविधानपक्षे वा भवत्सेवैवोचितेति भाव:॥ ३२॥

व्याख्यार्थ—जो कि आपने (भगवान् ने) कहा 'स्त्रियों को अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए', इसलिए यह घोर रात्रि है, यहाँ (वन में पर पुरुष के पास) आप को नहीं रहना चाहिए' इस पर गोपियाँ कहती हैं कि, पति सन्तान और सम्बन्धी इनकी सेवा स्त्रियों के लिए स्वधर्म[1] है, यह जो धर्मज्ञ आपने धर्म शास्त्र जानने वालों का मत कहा है, वे धर्मशास्त्र जानने वाले बहिर्मुख हैं वे शरीर सम्बन्धी धर्म को ही धर्म कहते हैं, आत्म धर्म और भगवद्धर्म का वर्णन नहीं करते हैं, कारण कि वे आत्म ज्ञानी नहीं है। धर्मज्ञ आपने भी यों ही कह दिया है, हमारा वा आत्मा का विचार कर के नहीं कहा है।

हम इस विषय का निर्णय करती हैं उसको दूषित नहीं करती हैं, आपने जो कहा कि स्त्रियों को अपने धर्म का पालन करना चाहिए, हम भी इन वचनों को मानती हैं कि वैसे ही करना चाहिए।

पति आदि धर्म के स्वरूप नहीं हैं और न धर्म के आश्रय हैं, केवल निमित्त हैं। वह धर्म दो प्रकार का है, एक जो कार्य में लाया जाए वह अनुष्ठीयमान धर्म है, उस धर्म में पुत्र आदि निमित्त हैं, और दूसरा जानने योग्य वह प्रमीयमाण धर्म है, उस धर्म में निमित्त गुरु है। अत: प्रथम गुरु की सेवा करनी चाहिए, यदि प्रथम गुरु की सेवा कर, ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जाएगी तो धर्म का ज्ञान कैसे होगा ? धर्म के ज्ञान के बिना उसका आचरण कैसे होगा ? भगवान् के वचन अनुवादक[3] नहीं हैं, मुख्य हैं किन्तु भगवान् के इस उपदेश से पहले हमको (गोपियों को) धर्म का ज्ञान नहीं था, यदि होता तो उसके अनुसार हम धर्म का पालन करती। किन्तु वह धर्म जो आपने (भगवान् ने) अब कहा है उस धर्म की स्फूर्ति भी सेवा के बिना नहीं होती है, यदि सेवा के सिवाय, केवल शब्द सुनने से स्फूर्ति होती, तो हम घर लौट जाती, इसलिए जो उपदेश मिला है उसकी सिद्धि के लिए प्रथम आप (गुरु) अपनी सेवा कराओ। उपदेश का आश्रय कर्ता ही होता है अर्थात् जो उपदेश करने वाला है उपदेश उसमें ही रहता है अत: उनकी (गुरु की) सेवा से उपदेश सफल होगा।

१—अपना धर्म, २—गौण,

हे अङ्ग ! यह प्रेमयुक्त कोमल सम्बोधन देकर, गोपियों ने यह बताया है, कि हम जो कुछ कहती हैं वह उपदेश के प्रतिकूल[1] नहीं है, किञ्च स्वधर्म अनेक प्रकार का है, कोई अपने से उत्तम विषय के हैं, कोई समान विषय के हैं और कोई हीन विषय के हैं। इन तीन प्रकार के धर्मों में तीसरे (हीन) से दूसरा (समान) उत्तम है, दूसरे (समान) से प्रथम उत्तम है। अपने समान पति पुत्रादिकों की सेवा स्त्रियों का धर्म है इस प्रकार अपने नियामक ईश्वर की सेवा भी सब के लिए मुख्य धर्म है। वह मुख्य धर्म है क्योंकि ईश्वर उत्तम है, इसलिए यह मुख्य है, यदि ईश्वर प्रेरणा न करे, तो पति सेवा आदि धर्म में प्रवृत्ति ही न होवे, अतः इस समय आप प्रकट हो, तो भी आप ईश्वर तथा अन्तर्यामी हो, वैसा होते हुए भी पति पुत्रादि के लिए प्रेरणा नहीं करते हो, किन्तु अपनी सेवा के लिए प्रेरणा दे रहे हो, इसलिए आपके वाक्यों में कहे हुए धर्म की सिद्धि के लिए प्रथम आपकी सेवा करनी चाहिए। किञ्च[3] धर्म की जड़ धर्मी है, इसलिए धर्मी से जो विरुद्ध न हो, वैसा धर्म पालना चाहिए और वह (धर्म) फल प्राप्ति के लिए पालना चाहिए, यदि इस प्रकार नहीं किया तो अर्थात् धर्मी से विरुद्ध धर्म का पालनकरने से परिणाम यह निकलेगा कि वेद जो आप्त[3] है वह पुरुष को अनिष्ट में (जिसका कोई फल नहीं है उसमें) प्रवृत्ति कराता है जिससे वह (वेद) अनाप्त[4] बन जाएगा। इसी कारण से धर्म शास्त्र में शरीर ही प्रिय समझ, उसके (शरीर के) धर्म का अनुरोध[5] किया है।

'द्रव्य संस्कार विरोधे द्रव्यं बलीय' अर्थात् द्रव्य (धर्मी) और संस्कार (धर्म) इन दोनों का जहां विरोध देखने में आवे वहां द्रव्य (धर्मी) को बलवान् मानना चाहिए। लोक में किसी को देह प्रिय है, किसी को आत्मा प्यारी है, किसी को परमात्मा प्यारे लगते हैं, किसी को निर्वाहक[6] प्यारा लगता है, किन्तु आप तो 'प्रेष्ठ' अर्थात् परम प्रेमी आनन्ददायक हो, कारण कि आप सर्व रूप हो, अतः बन्धु भीं हो, आत्मा भी हो निर्वाहक भी हो, और विशेष में आप केवल हमारे ही प्रेष्ठ नहीं हो, किन्तु सकल देहधारियों के परम प्रेम का आश्रय स्थान भी आप ही हो ("भवाय नाशाय" यहाँ यह दिखलाया था कि आपका दिया हुआ शरीर ही जो प्रयोजन आपने विचारा हो उसके लिए जीव गृहण कर रखता है। अतः उस भगवदीय देह को भगवान् ने ही स्थापित किया है, भगवान् को ही निवेदित करना चाहिए, भगवान् के लिए अनुपयोगी होने पर, अन्य को दिया जा सकता है। चेतन को प्रेरणा होती है, अतः जब तक भगवान् के लिए उपयोगी दीखता हो तब तक अन्य को नहीं दिया जाएगा, चाहे कोई कितना भी समझाये या बहकाये) प्रेष्ठ को ही प्रिय पदार्थ देना चाहिए, इसमें अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि श्लोक में 'किल' शब्द देकर कह दिया है, कि इसकी सर्वत्र 'प्रसिद्धि' ही प्रमाण है। आपने केवल देह दी है यों नहीं है, किन्तु उसका (देह का) प्रयत्न[7] कर पालन भी करते हो, अतः आप बन्धु भी हैं, उसका धारक[8] होने से 'आत्मा' भी आप ही हैं, अतः 'अन्तरङ्ग बहिरङ्ग न्याय' तथा 'नित्य अनित्य न्याय' के अनुसार, भगवान् की सेवा ही मुख्य है। जब वह आपके उपयोग की नहीं रहेगी और तब भी जब आप प्रेरणा करोगे तो दूसरे को देंगे ! नहीं तो (आप प्रेरणा न करोगे चाहे आपके उपयोग में न भी आवे, तो भी) नहीं देंगे। धर्म से धर्मी का विचार विशेष है, अर्थात् धर्म न रहे तो परवाह नहीं होनी चाहिए। किन्तु धर्मी तो किसी भी अवस्था में आपके पास होना ही चाहिए। आपके अङ्गी-

---

१—विरुद्ध, २—कुछ और, ३—प्रमाण रूप, ४—अप्रमाण, ५—आग्रह, ६—पालक, ७—कोशिश, ८—धारण करने वाले,

कार न करने से सर्वनाश हो जाएगा इसलिए हम प्रार्थना कर रही हैं, आप सर्व रूप हो अतः आप सेव्य हो ।

सर्व रूप होने से, पति आदि की सेवा भी आपकी सेवा से सिद्ध हो जाती है, दूसरे (पति आदि) में एक ही समय सर्व सेवा प्राप्त हो तो भी, वह पूर्ण हो नहीं सकती है, कारण कि उसमें बाध आता है जैसे कि पति की सेवा के समय में पुत्र आदि की सेवा नहीं हो सकती है, वैसे (ही) पुत्र की सेवा के समय में अन्य की सेवा नहीं बनती है, इस विषय में कोई नियम में रखने वाला प्रमाण नहीं है । अतः जिसका काल आदि बाध कर सकते हैं वह 'धर्म' नहीं है, तथा जो अशक्य है[1] वह भी धर्म नहीं है, प्रमाण कभी भी विरुद्ध नहीं कहता है, इसीलिए पति आदि की सेवा का विधान करने वाला शास्त्र आपकी सेवा का ही विधान करता हैं, अतः अनुवाद पक्ष में अथवा स्वतन्त्र पक्ष में भगवान् (आप) की सेवा करनी ही उचित है ॥ ३२ ॥

स्त्री पति की सेवा स्वतः करना चाहती है उस सेवा का शास्त्र में विधान किया है उस (विधान) को अनुवाद कहते हैं, अतः वह अनुवाद पक्ष है ।

स्त्री पति की सेवा शास्त्र में आज्ञा होने से करती है, इसे नियम विधि कहते हैं । अतः वह शास्त्र का विधान स्वतन्त्र होने से स्वतन्त्र पक्ष कहा जाता है । इसे अपूर्वविधि कहते हैं । यहां यह आशय है कि पति आदि की सेवा का विधान जो नियमविधि हो तो भी सेवा अंशतः बाधित होने के कारण और लौकिक स्वभाववस भी स्वतःसिद्ध होने के कारण विधान का विषय नहीं बनती अतः सेव्य भगवान् ही रह जाते हैं । यदि पति आदि की सेवा के विधान को अपूर्व विधि माना जाए तो इस अपूर्व धर्मोपदेश के कारण भी गुरू के रूप में पहले भगवान् की ही सेवा होनी चाहिए तभी धर्मज्ञान स्थिर होगा ।

आभास—एवं राजसीनां निरूप्य सात्त्विकीनां निरूपयति कुर्वन्ति हीति ।

आभासार्थ—शुकदेवजी इस प्रकार राजसी गोपियों ने जो कुछ कहा उसका निरूपण कर अब सात्त्विकीओं के वचनों का निरूपण 'कुर्वन्ति हि' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्**
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।
तन्नः प्रसीद वरदेश्वर मः स्मः छिन्द्या
आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—सब के आत्म रूप हो इसी कारण से कुशल[2] पुरुष, निरन्तर प्रिय

१—बन नहीं सके, २—चतुर

तथा अपने आत्म रूप आप में प्रीति करते हैं, पीड़ा देने वाले पति पुत्र में प्रेम करने से क्या लाभ हैं ? अतः हे वर देने वालों के ईश्वर ! हे कमल नयन ! आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ और कृपा करो, जिससे आप में बहुत समय की धरी हुई आशा सफल हो जाए टूटे नहो अर्थात् हमारी इस आशा को तोड़ो नहीं ॥ ३३ ॥

सुबोधिनी—यद्यप्युक्तं 'मातरः पितर' इति, 'मा कुढ्वं बन्धुसाध्वस'मिति, तत्किमिदं प्रथमतयास्माभिरेव क्रियते, आहोस्विदन्येऽपि कुर्वन्ति। तत्रापि किमधमाः मात्राद्यनुवृत्ति कुर्वन्ति, आहोस्विदुत्तमाः । उत्तमा अपि त्वत्सेवायामशक्ताः, आहोस्वित् शक्ता इति विचारणीयम् । अस्मिन्नर्थे निर्णायकं महतां चरित्रमाहुः । ये त्वात्मनि कुशलाः आत्महितार्थिन, न तु देहेन्द्रियाणाम्, ते त्वय्येव रतिं कुर्वन्ति । स्नेहेन हि क्रिया भवति । भगवत्कृतमेव जीवगामि भवतीति । तदुपपादितम् 'तश्चात्मने प्रतिमुखस्ये'त्यत्र । प्रीत्या च सेवा भवति । यदि पुत्रादिसेवापि धर्मः स्यात्, तदा पुरुषार्थत्वेनात्मपर्यवसायिनी स्यात् । 'कुशला' इत्यनेन तेषां कौशलमेतत्, प्रवृत्त्यपेक्षया निवृत्तिरुत्तमा । इन्द्रियदमनसामर्थ्याभाव एव अन्यगामि कर्तव्यम्, 'यतो यतो निवर्तते'त्यत्र निरूपितम् । निरुद्धानीन्द्रियाण्यात्मगामीनि भवन्ति । तत्राप्यात्मगामिनी तदैव भवन्ति, यदि त्वदर्थमुपयुक्तानि भवन्ति । अतः केवलनिग्रहकर्त्रपेक्षया ये त्वयि रतिं कुर्वन्ति, ते कुशला इति हिशब्दार्थः । त्वयीत्येकवचनेन च पूर्ववदेकत्र सर्वसंभवो निरूपितः । किञ्च, भवान् स्वात्मा स्वरूपभूतः, नत्वध्यासन्यायेन तथा जातः । किञ्च, प्रियस्य हि सेवा कर्तव्या, स चेत्प्रियः कालपरिच्छेद्यो न भवति, स भवानेव, अन्यथा जारसेवापि धर्मः स्यात्, जन्मवत् दिनस्यापि परिच्छेदकत्वात् । किञ्च, पतिसुतादयश्च न धर्महेतवो भवितुमर्हन्ति । यतः आर्तिदाः । न हि धर्मनिमित्तानि कदाचित् दुःखदानि भवन्ति अन्यथा संसारो न स्यात् । अतस्तैः किम् । तेषां भयमस्तु, अन्यद्वा, न तैः किञ्चित्प्रयोजमित्यर्थं । परमेकमेव प्रार्थनीयम्, यदभावे सर्वं शास्त्रं युक्तिश्च व्यर्था स्यात् । तदाहुः, तत्तस्मात् प्रसीद, त्वं प्रसन्नो भव । त्वदप्रसादादेव लोका भ्रान्ताः दुःखहेतुष्वपि प्रवर्तन्ते । ननु किं साधनं प्रसादे भवतीनामिति चेत्,, तत्राहुः **वरदेश्वरेति** । ये हि वरान् प्रयच्छन्ति, ते लोकानां क्लेशं ज्ञात्वा, यतो दयालवः, अन्यथा तपसि क्रियमाणे वरं न प्रयच्छेयुः । तेशामपि त्वमीश्वरोऽतिदयालुः । तद्द्वारापि सर्वेषां दुःखशमनं करोषि । अतो वयं क्लिष्टाः । क्लेश एव साधनम्, तपोवत् । निषिद्धप्रकारस्तु यद्यत्र कश्चन भविष्यति, स न कर्तव्यः । ननु यथैतावन्तं कालं पतिसेवा कृता, एवमेवाग्रेऽपि कर्तव्या, प्राप्तत्वात् । गौणमपि कर्म समारब्धं समापयेदिति, तस्मादविचार्यैव पतिसेवां कुरुतेति चेत्, तत्राहुः **मास्म छिन्द्या आशां धृताम्**इति । नास्माभिः पतिसेवा कृता, तदर्थं वा स्थितम्, त्वदाशया स्थितम्, मध्ये स्थितिनिर्वाहार्थमेव तदङ्गीकारः । इदानीं चेत् समागतानामभिलशितार्थो न सिध्येत्, तदा आशा भग्ना भविष्यति । तस्यां गतायां प्राणा एव गमिष्यन्तीति । अत एव केनचित् स्त्रीहृदयज्ञेन निरूपितम्, 'आशाबन्धो हृदयं रुणद्धी'ति । एतस्य मूलमपि स्त्रीशास्त्रे भविष्यति । चिरात् त्वय्येव धृताम्, तस्यां छिन्नायां अवलम्बनाभावात् अधः पतिष्याम इति । स्मेत्ययमर्थः प्रसिद्धः । **अरविन्दनेत्रे**ति सम्बोधनं दृष्टचै वाप्यायकत्वं निरूपयति। (आशाहेतुरप्यनेनोक्तः, तापहारकदृष्टया दर्शनात् । भावोद्गारिण्या एव तथात्वात् । इयदवधि जीवनमप्यत एवेति भावः ।) ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—जो कि आपने हमको कहा कि माता-पिता आदि तुमको ढूंढेंगे, अतः लौट जाओ

उनको दु:खी भयभीत मत करो, क्या इस प्रकार प्रथम हमने ही किया है, या दूसरे ने भी किया है ? उसमें भी आप बताइये कि माता आदि की सेवा अधम जन करते हैं, वा उत्तम करते हैं, वे उत्तम आपकी सेवा करने में समर्थ हैं वा असमर्थ हैं, इस पर विचार कर निर्णय करना चाहिए। इस विषय का निर्णय करने वाला, महापुरुषों का चरित्र होता है उसको गोपियां कहती है—कि जो कुशल महापुरुष हैं, वे आत्मा के ही हित को चाहते हैं न कि देह और इन्द्रियों के सुख की इच्छा करते है अत: वे तुममें ही प्रेम करते हैं। स्नेह से ही क्रिया (भगवान् की सेवा) होती है। भगवान् में का स्नेह ही लौट कर जीवात्मा में हो जाता है। इसको 'तच्चात्मने प्रतिमुखस्य' श्लोक में सिद्ध किया है और सेवा प्रीति से होती है, जो पुत्र आदि की सेवा भी धर्म होती, तो उससे पुरुषार्थ सिद्ध होकर आत्मा रूप फल की प्राप्ति होनी चाहिए वह नहीं होती है, इसलिए महापुरुष पुत्रादि की सेवा न कर आपकी प्रेम से सेवा करते हैं यही उनमें चातुर्य है, वे समझते है कि प्रवृत्ति से निवृत्ति उत्तम है, पुत्रादि सेवा प्रवृत्ति धर्म है, उससे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है, भगवत्सेवा निवृत्ति धर्म है उससे पुरुषार्थ सिद्ध होता है। मनुष्य भगवत्सेवा न कर पुत्रादि की सेवा अपना कर्तव्य समझते हैं उसका कारण यह है, कि उन मनुष्यों ने इन्द्रियों को अपने वश में नहीं किया है किन्तु स्वयं इन्द्रियों के वश होने से आत्म धर्म को भूल जाते है, देह धर्म को मुख्य धर्म समझते हैं, अपने वश में की हुई इन्द्रियां ही भगवान् की तरफ जाती है, इसलिए 'यतो यतो निवर्तेत' इस श्लोक में कहा है, कि मनुष्य जहां जहां से निवृत्त होता है वहां २ से बन्धन से छुट जाता है। वे वश की हुई इन्द्रियां भी, जब आपके उपयोग में आती हैं तब आत्म गामिनी बनती हैं, अत: केवल इन्द्रियों को वश करने वालों से भी जो आप से रति[1] करते हैं वे कुशल[2] हैं इसलिए श्लोक में 'हि' शब्द दिया है। श्लोक में 'त्वयि' यह एक वचन देकर यह आशय प्रकट किया है, कि पूर्व की भांति आप में ही सर्व (पति आदि) का संभव (उत्पत्ति) है, किञ्च आप ही स्वरूप भूत अपनी (सबकी) आत्मा हैं, आप अध्यास न्याय से हमारी (सब की) आत्मा नहीं हो, किन्तु वास्तविक आत्मा हो। प्रिय की ही 'सेवा' करनी चाहिए किन्तु वह प्रिय काल सेपरिच्छिन्न[3] न होवे, अर्थात् वह नित्य हो वैसे आप ही हैं.नहीं तो जार की सेवा भी धर्म हो जाएगी जैसे जन्म वैसे ही दिन भी परिच्छेदक है, पति आदि में जन्म परिच्छेदक है और जार में दिन परिच्छेदक है अत: वे काल परिच्छिन्न होने से अनित्य हैं उनसे प्रेम तथा उनकी सेवा 'धर्म' नहीं है और पति पुत्र आदि धर्म के कारण नहीं बन सकते हैं, क्योंकि धर्म के कारण वे होते हैं, जो आनन्द प्राप्ति करावें, वे तो दु:ख देने वाले हैं, यदि ये धर्म के कारण होते तो इनसे प्रीति करने से एवं इनकी सेवा करने से संसार[4] न होना चाहिए, किन्तु होता है, इसलिए इन (पति आदि) से क्या लाभ है ? इनसे तो भय अथवा कोई दु:ख हो। अत: इनसे कोई प्रयोजन नहीं है, चाहे इनको भय दु:ख आदि कुछ भी हो।

हम तो एक ही वस्तु चाहती हैं वह वस्तु ऐसी है जिसके होने से सर्व शास्त्र तथा युक्तियां सार्थक हैं, यदि वह नहीं है, तो सकल शास्त्र एवं सर्व युक्तियां व्यर्थ हैं, उस वस्तु को देने के लिए भगवान् की प्रार्थना करती हैं, कि आप हम पर प्रसन्न हो, अर्थात् कृपा करो, आप की कृपा के बिना

१—प्रेम, २—चतुर, ३—सीमित, ४—अहन्ता ममता

ही लोक भ्रम में पड़ कर दुःख के देने वाले कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं, हमारी यह दशा न होवे, इसीलिए हम पर प्रसन्न हो कृपा करो। यदि आप कहो, कि आपने वैसा कौनसा साधन किया है? जिससे मैं प्रसन्न हो जाऊँ, कृपा करूं? इस पर गोपियाँ कहती हैं, कि हमने कोई साधन नहीं किया है, हम निःसाधन हैं किन्तु आप 'वरदेश्वर' हो, वर देने वालों के भी स्वामी हो, वर देने वाले दयालु होते हैं, दुःखियों के दुःख को जानकर उनको मिटाने के लिए स्वयं वर दे देते हैं यदि उनमें दया न हो तो तपस्या करने पर भी वर न देवें, उनके भी आप ईश्वर हैं अतः आप तो महा दयालु हैं अतः उन वर दाताओं के द्वारा भी आप ही सर्व का क्लेश नष्ट करते हो, अतः हम बहुत क्लिष्ट हैं यों तो हम अन्य साधन हीन हैं किन्तु हमारा क्लेश ही तपस्या की भांति साधन समझलो, हमारा क्लेश लौकिक क्लेश नहीं है किन्तु आ के लिए जो ताप है वही हमारा क्लेश है। हमारे क्लेश में, किसी प्रकार का निषिद्ध भाव है ऐसा आप मत समझो। गोपियां कहती हैं कि आप यों कह दो कि जैसे आपने इतने समय तक पति सेवा की है वैसे ही अब भी करती रहो, गौण कर्म भी यदि प्रारम्भ किया जाए तो आधे में उसका त्याग नहीं करना चाहिए इसलिए कोई विशेष विचार न कर पति सेवा करती रहो, इसका उत्तर यह है, कि हमने जो पति सेवा की है वह भी आपकी आशा से की है, कि जब तक आप न मिलें तब तक की स्थिति का निर्वाह होता रहे इसलिए ही वहां रही थीं, अब तो यहां आपके चरण मूल में प्राप्त हो गई हैं अभी जो हमारी अभिलाषा पूर्ण न होगी, तो इतने दिनों से जिस आशा को धारण कर रक्खा, वह टूट जाएगी तो उसके टूट जाने पर प्राण ही चले जाएँगे, अतः हमारे इतने दिन की धारण की हुई आशा को मत टालो, अतः किसी स्त्री-हृदय को जानने वाले अनुभवी विद्वान ने कहा है कि 'हृदय की गति बन्ध न हो जाए उसको रोकने¹ वाली आशा ही है' इस विषय की जड़, स्त्री शास्त्र में मिलेगी, यह आशा अभीकी नहीं है, बहुत समय की धारण की हुई है यदि वह टूट गई, तो आश्रय² चले जाने से, हम नीचे पड़ जाएँगी, इस प्रकार आशा टूट जाने से पड़ जाना प्रसिद्ध है, श्लोक में 'स्म' शब्द देकर इस विषय के प्रसिद्धि की सूचना दी है, गोपियाँ ने भगवान् को 'अरविन्द नेत्र !' यह सम्बोधन देकर यह भाव प्रकट किया है, कि आपके नेत्र कमल जैसे हैं अतः कमल के सदृश आप भी भक्तों के ताप को शान्त कर आनन्द दे तृप्त करते हैं इसी से ही हम अब तक जीवित रह सकी हैं, क्योंकि आपकी इस प्रकार की दृष्टि से आशा दृढ़ हो जाती है, कि आप हमारा त्याग न कर अवश्य रस दान करेंगे ॥ ३३ ॥

आभास—यदुक्तं 'वनदर्शनार्थं किमागता' इति, ततश्च वनवर्णना कृता, तत्राहुः चित्तं सुखेनेति ।

आभासार्थ—आपने हमको कहा, कि क्या वन देखने आई हो? यों कहकर वन की शोभा का भी वर्णन किया, इसके उत्तर में हम निम्न श्लोक कहती हैं।

श्लोक—**चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषि यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।**
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥ ३४॥

१—टिकाने, २—आधार

श्लोकार्थ—हमारा जो चित्त अब तक घर में लगता था उसको आपने हर लिया है, और जो हाथ, घर का काम करते थे, वे भी आपने वहां से हटाकर अपने पास खेंच लिए हैं, शेष जाने वाले पैर, वे भी आपके चरण कमल को छोड़ना नहीं चाहते हैं, तो आप बताईये कि व्रज को किस प्रकार जावें, वा क्या करें ॥ ३४॥

सुबोधिनी—वनदर्शनेच्छा तदा भवति, यदा चित्तं स्वस्मिन् तिष्ठेत्। तत्तु त्वयैवापहृतम् तत्रापहारे न तव प्रयासः, तथा सति सर्वं नापहृतं स्यात्, तदाह सुखेनेति। भवता वा आनन्दरूपेणापहृतम्। न हि साक्षात् परमानन्दे सति कश्चित् परम्परया पाक्षिकं साधनं गृह्णाति। वनदर्शनं दूरे, गृहेऽपि यच्चित्तं निर्विशति। अनेन ज्ञानशक्तेरपहार उक्तः। नापि मन्तव्यं वनं किञ्चित् कार्यार्थमागता इति। तदर्थं क्रियाशक्तेरप्यपहारमाह **उत करावपीति**। यौ गृह्यकृत्ये निर्विशतः, दूरेणापास्तं वनकृत्यम्, कामेन बलस्य हृतत्वात्। त्वत्स्पर्शेनैव करौ सजीवौ भवतः। नो चेन्मृतौ। अतः सेवाविधिरपि हस्ताभावात् कुण्ठितः। न हि कररहितं कर्मणि कश्चिन्नियुंक्ते। किञ्च, यत् व्याघुट्य गन्तव्यमित्यभिप्रायेण वनदर्शनं जातमित्युक्तम्, तद्प्यसम्भावितम्। यतोऽस्माकं पादौ द्वावपि तव पादमूलादस्मात् स्थानात् एकमपि पदं न चलतः, नान्यत्र गच्छतः। पादानाँ गतियुक्तानां मूलभूतौ त्वत्पादौ, तस्यापि चेन्मूलं गताः, तदा कथमन्यत्र गच्छेयुः, अन्यथा वृक्षाणामपि गतिः, स्यात्, मूलं गतानाम्। 'अस्मात् स्थाना'दिति वक्तव्ये, यत् 'तव पादमूला'दित्युक्तम्, तत् त्वद्गमनेन सर्वत्र गन्तुं शक्यते, न तु त्वद्व्यतिरेकेणेति ज्ञापितम्। अतः कथं यामः। शकटादिना प्रेषणीया इति चेत्, तत्राहुः। **अथो** अथ तत्र गत्वा किं वा करवाम। यथा शकटादिकं गृहे यातनार्थं साधनमस्ति, न चैवं हस्तयोः कार्यकरणे किञ्चित् लोकसिद्धम्। न केवल गमनेन प्रयोजनम्, किन्तु पित्रादिसेवार्थं गमनम्, तद्भावाद् व्यर्थमेव गमनमिति भावः। तदाहुः। **अथो अथ किं वा करवामेति**। हस्तनिरपेक्षा कृतिः भिन्नप्रक्रमेण भगवद्भावेन भवतीति तथोक्तम्। अनेन स्तनपानमप्यशक्यं निरूपितम्। आशाऽभावे सर्वत्रैव शोषात् ॥ ३४॥

व्याख्यार्थ—चित्त अपने में हो, तो वह (चित्त) वन के दर्शन की इच्छा कर सकता है, चित्त को तो आपने अपने पास हरण कर लिया है, आपको चित्त चुराने में किसी प्रकार प्रयास करना भी नहीं पड़ा, यदि प्रयास होता तो, समग्र चित्त आप नहीं हरण कर सकते, किन्तु परिश्रम बिना सुख पूर्वक हरण हुआ इसीलिए सम्पूर्ण चित्त आपने चुरा लिया है अतः जब चित रहा ही नहीं तो वन के देखने की इच्छा कौन करे? जिससे हम वन देखने नहीं आई हैं, आप आनन्दरूप[1] हैं इसलिए चित्त भी आनन्द देते हुए हरण कर लिया है, जब हरण में, साक्षात् परमानन्द कारण है, तब कोई भी पाक्षिक साधन को कारण नहीं मानता है। आपके द्वारा चित्त हरण हो जाने पर, वन देखने के लिए इच्छा तो दूर रही, किन्तु घर के कामों में भी रुचि नहीं होती है। यह (चित्त हरण) कहकर गोपीजनों ने बताया, कि आपने चित्त मात्र नहीं हरण किया है, किन्तु ज्ञान शक्ति का हरण किया हैं।

वन में किसी काम के लिए (वस्तु आदि ले जाने के लिए) हम आई हैं यों भी नहीं है, कारण,

---

[1] —पुखरूप

कि कोई भी काम क्रिया शक्ति से होता है, उस क्रिया शक्ति के आश्रय स्थान करों (हाथों) का भी आपने हरण कर लिया है, इसलिए जब हाथ घर का भी काम नहीं कर सकते हैं तो वन में कार्य के लिए हम क्यो आवें ? काम ने (आप से मिलने की इच्छा ने) बल का हरण कर लिया है, जिससे हस्त निर्जीव[1] हो गए हैं, अब आपके स्पर्श होने पर भी वे सजीव[2] होंगे, नहीं तो मरे हुए हैं, अतः हस्तों के अभाव से सेवा का करना भी रुक गया है। कोई भी, बिना हाथ काम नहीं कर सकता है।

आपने जो कहा, कि वन देख लिया अब लौट कर व्रज में जाओ, वह भी होना असम्भव है, कारण कि हमारे दो पैर भी आपके चरण मूल में प्राप्त हुए हैं, वहाँ से एक पैर भी नहीं चल सकते हैं अर्थात् दूसरी जगह नहीं जा सकते हैं, कारण, कि गमन करने वाले हमारे पैरों के मूलभूत[3] आपके चरण हैं उन आपके चरणों की मूल में ये हमारे पैर प्राप्त हो गए हैं अर्थात्, हम जब पैरों से हीन होगई हैं तब दूसरी जगह कैसे जावें ? बिना पैर वाली हम जा सकती हैं, तो वृक्ष भी इधर उधर चल सकें, अतः हम इस स्थान से तो, तब चल सकती हैं जब आप यहां से चलें। आपके सिवाय हम चल ही नहीं सकती हैं इसी कारण से, लौट जाना भी असम्भव है। यदि आप कहो, कि पैरों से नहीं जा सकती हो तो रथ में बैठकर जाओ, इसके उत्तर में हमारा कहना है, कि रथ से जावें भी किन्तु वहाँ जाकर करें क्या ? जाने के लिए तो रथ साधन है, किन्तु कार्य करने के लिए हाथ का प्रतिनिधि कोई साधन नहीं है, केवल जाने से कोई प्रयोजन नहीं है। प्रयोजन तो यह है कि वहाँ जाकर पिता आदि की सेवा करें वह तो हो नहीं सकती, अतः जाना व्यर्थ[4] है, यह सारा भाव गोपीजनों ने 'अथो किं करवाम' पङ्क्ति से कहा है। यहाँ तो भगवद्भाव के आवेश से दूसरे प्रकार से भी (हाथों के बिना भी) कार्य हो सकेगा। यों कहकर यह भी कह दिया, कि बालकों को स्तन पान कराना भी कठिन है, कारण, कि जब हम आपके (भगवान् के) बिना वहाँ जाएँगी तो हमारी आशाएँ नष्ट होने से, हम सर्व प्रकार से शुष्क हो जाएँगी, तो बच्चों को भी, दूध सूख जाने से नहीं मिलेगा अतः हमारा वहाँ जाना व्यर्थ ही होगा ॥ ३४ ॥

आभास—यद्भगवता शीघ्रं गच्छतेत्युक्तम्, तत्राहुः सिञ्चाङ्गेति ।

आभासार्थ—भगवान् ने गोपियों को कहा 'शीघ्रं गच्छत' जल्दी जाओ, इसके उत्तर में निम्न 'सिञ्चाङ्ग' श्लोक कहती हैं।

श्लोक—**सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।**
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपभुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे प्रिय ! आपके हास्य पूर्वक अवलोकन[5] से और मधुर गीत से पैदा हुई हमारी कामाग्नि को, आप अपने अधरामृत के पूर[6] से सिञ्चन कर शान्त

---

[1]—अशक्त, [2]—शक्तिमान्, [3]—जड़, [4]—बेकार, [5]—देखने, [6]—पिचकारी,

करो, हे सखा ! नहीं तो हम विरह से उत्पन्न अग्नि से, देह को दग्ध[1] कर, ध्यान द्वारा आपके चरणों की पदवी को प्राप्त करेंगी ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी – वयं शीघ्रमेव गमिष्यामः, यदि त्वं प्रतिबन्धं न करिष्यसि । अनेन तूष्णींभावेऽपि मरणम्, परावृत्तौ तु न किञ्चिद्वक्तव्यम् । हे अङ्ग! त्वदधरामृतपूरकेण त्वदधरामृतप्रवाहजलेन नो हृच्छयाग्निं सिञ्च । स चाग्निः त्वयैवोत्पादित इति । तत्कारणमाहुः **हासावलोककलगीतजेति ।** तव योऽयं हासपूर्वकः अवलोकः कलगीतं च, ताभ्यां जातो यो हृच्छयः कामः, स एवाग्निः । हासः कामजनकः, अवलोकः सन्धुक्षणकर्ता । गीतं वायुरिव, तत्रापि कलगीतं सर्वतो वायुः । सोऽपि जातो हृदये । हृदयगामि च त्वदधरामृतमेव । पूरो हि वस्तु प्रवाहयति, तस्यात्र सिञ्चनकरणत्वेनोक्त्याऽग्नेरतिमहत्त्वं ध्वन्यते । अतो युक्ता सिञ्चनोक्तिः । अलौकिकश्चाग्निः अलौकिकेनैव शाम्यति । कन्दर्पो हि मृतो ज्वलति, स हि जीवन् अग्न्यवस्थां त्यजति, नान्यथा, अमृतेनैव च जीवति, तत्रापि न देवभोग्येन, अन्यथा तैरेव जीवितः स्यात्, सृष्टिकारणत्वात् नास्य मोक्षः । अतोऽतिगुप्तेनैवाधरामृतेन तस्य जीवनम् । अतः सिञ्चनमेवोक्तम् । अन्यथा निर्वापणमेव प्रार्थयेयुः । कामे जीवति जीविष्यामः, अन्यथा स स्वयं ज्वलन् अन्यानपि ज्वालयिष्यति । तदाहुः **नो** चेदिति । सिञ्चनेन यदि मन्त्रवादीव न जीवयिष्यसि, तदा विरहेण जनितो योऽग्निः, तेनोपभुक्तदेहाः ध्यानेन ते पदयोः पदवीं यामः । स्वयं स्वतन्त्रमार्गाज्ञानात्, त्वं च सखा येन मार्गेण गमिष्यसि, तेनैव वयमपि यास्यामः (यथा त्वमधुनास्मभ्यमार्तिप्रदः, तथा वयमपि तथाभूतास्तुभ्यं पश्चात्तापादिहेतवो भविष्याम इति गूढाभिसन्धिः 'ते पदयोः पदवीं यामे'ति वक्त्रीणामिति ज्ञेयम ।) देहे गते त्वन्तर्यामिणा क्वचिद्गन्तव्यम् देहान्तरस्य तु नोत्पत्तिः, बीजस्य दग्धत्वात् । हरेणैव दग्धो न कामः प्ररोहति, स विपरितो रहो भवति । तत्रापि विशिष्टो विरहः एकान्ताभावरूपो वा । अनेन त्वया सह एकान्ताभावे विरहत्वम् । यद्यपि पूर्वोक्ताग्निनैव दाहः सम्भवति, तथापि भस्मसात् करणे न तस्य सामर्थ्यम्, यावत् सर्वाङ्गेषु सूक्ष्मावयवेष्वप्यग्निः प्रविश्य नोद्बुद्धो भवति । यथा वह्निसम्बन्धेन शुष्कं काष्ठं ज्वलति तत उपाधेरत्यन्तं गतत्वात् ते पदयोर्गमनम् । अतो गमनं दूरापास्तम्, प्रत्युत मरणमुपस्थितमिति शीघ्रं प्रतीकारं कुरु ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—जो आप प्रतिबन्ध[2] न करोगे तो हम शीघ्र ही (आपके पास) जाएंगी, वहां भी यदि आप मौन धारण कर बैठेंगे बुलावेंगे नहीं तो ? निश्चय हमारा मरण ही होगा । घर लोट जाने में तो कुछ भी कहना नहीं है ।

हे अङ्ग ! जिस अग्नि को आपने पैदा किया है उस अग्नि को आप अपने अधरामृत रूप जल के प्रवाह से सिञ्चन करो,[3] इस कामाग्नि को कैसे उत्पन्न किया उसका प्रकार कहती हैं कि आपके हास्य[4] ने काम को उत्पन्न किया, कटाक्षों ने उस (काम) को तेज किया और कलगीत रूप वायु ने उसको चारों तरफ सकल अङ्गों में फैला दिया है तो भी वह हृदय में ही पूर्ण रूप से रहा हैं अतः उसको शान्त करने के लिए वह वस्तु चाहिए जो हृदय में पहुँच सके, वह हृदय में पहुँचने वाली वस्तु तो आपका अधरामृत पूर ही वस्तु को खेंच ले जाता है, गोपियों ने उस अधरामृत पूर के सिञ्चन

१—जला, २—रुकावट, ३—शान्त करो, ४—मुसक्यान

करने का कहकर अग्नि का महत्व बताया है, अतः सिञ्चन की उक्ति[1] योग्य है, कारण, कि अलौकिक अग्नि अलौकिक भगवान् के अधरामृत से (न कि देवों के अमृत से) शांत होती है।

मरा हुआ काम, अग्नि का रूप धारण कर जलाता रहता है वह (काम) जब जीवित होता है, तब अग्नि रूप का त्याग करता है, अन्य प्रकार से अग्नि रूप को नहीं छोड़ता है। वह अमृत से ही जीवित होता है, किन्तु वह अमृत देवों का अमृत नहीं, यदि उस अमृत से जीता होता तो, देव ही उसको जिला देते। (काम) सृष्टि उत्पन्न करने में कारण है अतः उसका मोक्ष नहीं होता है, जब उसका मोक्ष नहीं होता है तब उसको अति गुप्त, आपके अधरामृत से उसको जिला दो इसीलिए सिञ्चन कहा, नहीं तो मार डालने की प्रार्थना करती, मार डालने की प्रार्थना इसलिए नहीं की, कि गोपियों को यह निश्चय था कि काम के जीने से हम जीवित रहेंगी, नहीं तो मरा हुआ, वह स्वयं जलता हुआ दूसरों को भी जलाएगा।

हे सखे ! यदि आप मन्त्र जानने वाले के समान अधरामृत का सिञ्चन कर उसको जीवित न करोगे, तो विरह से उत्पन्न अग्नि से अपनी देह को जला कर ध्यान पूर्वक आपके चरणों का अनुसरण करेंगी। हमको तो यह ज्ञान है ही नहीं, किस मार्ग से जाना चाहिए अतः आप सखा हैं, आप जिस रास्ते से चलेंगे हम भी वह ही रास्ता स्वीकार करेंगी[2]। गोपियाँ के इस कथन के अभिप्राय को प्रभुचरण ने यों स्पष्ट किया है कि गोपियाँ भगवान् को कहती हैं कि जैसे अब हमको आप दुःख दे रहे हैं, वैसे ही हम भी वैसी ही बन कर, आपके पश्चाताप का कारण बनेंगी अर्थात् आपको आर्ति (मरकर आपको विरह दुःख) देंगी।

गोपियाँ कहती हैं, कि यह देह चली जाएगी, तब अन्तर्यामी भी कहां चला जाएगा, हमारे कर्म बीज, तो विरहाग्नि से जल गए हैं, दूसरी देह की प्राप्ति तो होगी नहीं। महादेवजी ने काम को जला दिया जिससे वह उत्पन्न तो नहीं होता है, किन्तु महादेवजी से विपरीत होता है, जैसा कि महादेवजी 'हर' कहलाते हैं यह 'रह'[3] कहलाता है, उसमें भी विशेषता यह है, कि जहाँ एकान्त का अभाव है वहाँ रहता है जिससे 'विरह' कहलाता है, इससे गोपियों ने यह भाव बता दिया, कि आप से एकान्त में न मिलने से 'विरह' ही रहेगा। प्रथम विरह को अग्नि कहा है, उससे दाह तो हो सकता है किन्तु वह जलकर भस्म नहीं कर सकती है जब तक कि वह सब अङ्गों में और सूक्ष्म अवयवों में भी फैलकर जागृत नहीं होती है। जैसे अग्नि के सम्बन्ध से, शुष्क काठ ही जलता है, सर्व उपाधियों के चले जाने पर ही, आपके चरणों में जाना होता है, किन्तु यहां तो हम में आपका स्नेह (उपाधि) रह गया है, जिससे वह (विरह) भी जल्दी हमको जला नहीं सकता है, अतः आप जल्दी अधरामृत सींचकर जिलादो, नहीं तो, मरण का समय आगया है तो, व्रज में कौन लौट जाएगा और हमारा मरण होगा तो, हमारी भांति आपको भी आर्ति भोगनी पड़ेगी ॥ ३५ ॥

आभास—किञ्च, यदप्युक्तं 'अथवा मदभिस्नेहात् आगता' इति, यदस्माकं स्नेहः स्तुतः, तत्र याथार्थ्यं शृण्वित्याहुः यर्हीति।

---

[1] —सिञ्चन करने को कहना, [2]—चलेंगी, [3]—काम

आभासार्थ—आपने, 'मेरे में स्नेह होने से आप आई हो', यह कहकर जो हमारे स्नेह की प्रशंसा की है उस विषय की सत्यता सुनो, वह सचाई इस श्लोक में वर्णन करती हैं।

श्लोक—**यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया**
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत् प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ।। ३६ ।।

श्लोकार्थ—हे कमल नेत्र ! वन में रहनेवालों के प्रिय, आपके चरणारविन्द की सेवा, लक्ष्मीजी को भी किसी समय मिलती हैं। उनका जब से हमने स्पर्श किया है और आप से आनन्द की प्राप्ति हुई है तबसे दूसरों के सामने स्थित रहने में हम सर्वथा असमर्थ हैं ।। ३६ ।।

सुबोधिनी—हे अम्बुजाक्ष, दृष्ट्यैव तापनाशक, यर्हि यस्मिन् क्षणे तव पादतलं अस्प्राक्ष्म, तत्प्रभृति नान्यसमक्षं अञ्जः सामस्त्येनापि स्थातुं पारयामः। साक्षात् चरणस्पर्शो दुर्लभः । यत्र पुनः पादः प्रतिफलितः, तत्पादतलमुच्यते । रमापि तेनैव जीवति । तदुक्तं नागपत्नीभिः । 'तवांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः यद्वाञ्छये'ति । अतस्तत् फलस्थानीयम् । [रमायाः क्षणं सुखं तेनैव दत्तम्, क्वचिद् हृदये समागतम्, सुखं तत्रैव भवतीति तत्र स्पर्श एवास्माकं भूमिष्ठस्य, न तु लक्ष्मीवत् हृदये तत्तलमायाति । अस्माभिर्विचारितम्, लक्ष्म्या चेदेतत्प्राप्तम्, तपसा चाञ्चल्यपरिहारेण तदास्माभिरपि चाञ्चल्यपरिहारेण तन्निष्ठतया स्थातव्यम् । किञ्च, अरण्यजनाः प्रियाः यस्य । तेनापि सर्वसङ्गपरित्यागेन स्थातव्यम् । सङ्गाभाव एव भगवत्तोषहेतुरिति । अरण्यं हि सात्त्विकं वैष्णवं च । (एतेन पुलन्दीस्मारणं वा । पादतलसम्बन्धिकुङ्कुमसम्बन्धेनैव ता अपि प्रिया आसन्निति । तेन पादतलस्य फलपर्यवसायित्वं प्रभुप्रीतिसाधकत्वं च सहजमति वयमप्यात्मनि तथैव जानीम इति भावः । स्फुटमिदं न वक्तुं शक्यमित्येवमुक्तम् ।) अतः त्वत्प्राप्त्यर्थं नान्यसमक्षं स्थातुं शक्नुमः । सर्वथा त्वां यो न प्रपन्नः, शक्त्यभावः तद्धर्मप्रवेशात्, यो हि यस्य घातकः तद्भावापत्तौ तस्याग्रे स्थातुं न शक्तो भवति । यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी, तथा भगवदीयः, भगवद्व्यतिरिक्तो हि तद्भावं नाशयिष्यतीति । यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका, तत्रान्यस्य स्थाने गमनं, तस्य च देवतात्वेन भावनं दूरापास्तम् । अतः प्रीतिमात्ररतुतिर्या सा अल्पीयसी । अनन्यभावा एव वयं लक्ष्मीवत् । किञ्च, यथा सर्वपरित्यागेन लक्ष्मीः चेत् त्वां शरणं गता, तदा त्वया अभिरमिता जाता, तथा वयमपि जाताः । सर्वदैव स्वप्ने त्वत्सम्बन्धं प्राप्नुमः । अन्यथा जीवनमेव न स्यात् । एवं भुक्तपूर्वा वयं नान्यत्र प्रेषयितुमुचिता इति ।।३६।।

व्याख्यार्थ—हे प्रिय ! आप कमल जैसे नेत्र वाले होने से, दृष्टि से ताप को नाश करते है। जिस समय से आपके चरण तल का स्पर्श किया है, उस दिन से लेकर दूसरे के सामने हम पूर्ण रूप से ठहर नहीं सकती हैं। आपके चरण का साक्षात् स्पर्श दुर्लभ है, जहां आपके चरणों के चिन्ह पड़े हैं, उस आकृति को पादतल कहते हैं, लक्ष्मीजी भी इस पादतल से ही अपना जीवन धारण करती हैं,

और नागपत्नियों ने भी कहा है, कि जिस पाद रेणु की अभिलाषा से लक्ष्मीजी तपस्या करती है, उस रज के स्पर्श करने का अधिकार कालीय को प्राप्त हुआ है इसलिए यह चरण रज फल रूप है। लक्ष्मीजी को भी उस रज ने क्षणिक सुख दिया, वह पाद कभी लक्ष्मीजी के हृदय पर आता है, सुख, हृदय में ही होता है।

हमको तो पृथ्वी पर पड़े हुए चरणतल का स्पर्श ही प्राप्त होता है, लक्ष्मीजी के समान हृदय पर चरण तल का स्पर्श नहीं हुआ अतः हमने विचारा कि जब लक्ष्मीजी को तपस्या तथा चञ्चलता छोड़ने से इस पाद तल की प्राप्ति हुई है, तब हम भी इस प्रकार करें तो हमको भी प्राप्त होंगे, यों विचार कर चञ्चलता (गोप आदि में मन आदि का जाना) त्याग आपके चरणों में निष्ठा[1] करली, अर्थात् लौकिक काम त्याग किया, और आपको अरण्यवासी[2] प्रिय हैं इसलिए हमको भी सर्व त्याग कर आपके पास रहना चाहिए, सङ्ग का अभाव ही, आपके प्रसन्न होने का कारण है इसलिए हम सर्वसङ्ग छोड़, इस अरण्य में आपके पास आई हैं जिससे हम पर प्रसन्न हो जाओ। अरण्य सात्विक और वैष्णव है अतः अरण्य में रहने वाले सतोगुणी एवं वैष्णव होते हैं जिससे वे आपको प्रिय हैं। अतः आपकी प्राप्ति के लिए दूसरे के पास हम स्थित रह नहीं सकती हैं। अन्य के पास वह स्थित हो सकता है, जिसने आपकी शरण नहीं ली है। हम आपकी शरण आई हैं जिससे आपके धर्मों ने हममें प्रवेश किया है; अतः आपके अथवा आपके सेवकों के सिवाय दूसरों के यहां स्थिति करने की हममें अब शक्ति का अभाव है।

जो जिसका घातक[3] है उस (मारने वाले) के पास वह ठहर नहीं सकता है, जैसे देह का अभिमानी बाघ के पास ठहर नहीं सकता है क्योंकि बाघ उसका नाश करेगा, इसी प्रकार भगवान् का भक्त अभक्त[4] के पास नहीं ठहरना चाहता है, कारण कि वह अभक्त भक्त के भाव को नष्ट कर देता है जहां वैसी सूक्ष्म दृष्टि (विचार) है वहां अन्य के स्थान में जाना और उसको देव मानना तो दूर ही रहा।

आपने जो हमारे स्नेह की स्तुति की है वह कुछ नहीं है, हम तो लक्ष्मी के समान अनन्य भाव वाली हैं और जब लक्ष्मी सर्व त्याग कर आपके शरण आई हैं तो आपने आनन्द देकर उनसे रमण किया, वैसे ही हम भी सब छोड़कर आपके पास आई हैं, तब आपने हम से भी रमण किया है और हम सर्वदा ही स्वप्न में आपसे सम्बन्ध प्राप्त करती हैं, यदि यों सम्बन्ध न होवे तो हमारा जीवन ही न रहे। इस प्रकार जिनसे आपने पहले रमण किया है उनको दूसरे स्थान भेजना योग्य नहीं हैं॥३६॥

(गो० विठ्ठलनाथजी प्रभुचरण स्वतन्त्र लेख में 'अरण्य जन प्रिय का भाव' अथवा कहकर इस प्रकार समझाते हैं, कि उस समय गोपियों को पुलिन्दीओं की स्मृति हो आई, पुलिन्दीओं को भगवान् के साक्षात् चरणों की प्राप्ति तो नहीं हुई थी, किन्तु भगवान् के चरण तल का कुंकुम जो घास पर लगा हुआ था, उस प्रसादी कुंकुम को उन्होंने हृदय पर लगाया, जिससे वे प्रभु की प्रियाएं बनी, इससे यह सिद्ध है, कि पादतल सहज[5] फलदाता फल रूप है एवं प्रभु में प्रीति का साधन भी है, हम भी अपने को पुलिन्दी के समान मानती हैं, यह भाव विशेष स्पष्ट कहा नहीं जा सकता है, इसलिए इतना ही कहा)

१—विश्वास, २—सर्व त्याग कर अरण्य में रहने वाले, ३—मारनेवाला
४—लौकिक–लोक मैं आसक्त–भगद्विमुख, ५—स्वभाव से,

आभास—ननु तस्या दैवगत्या सम्बन्ध आसीत्, स च प्राथमिकः, भवतीनां तु प्रथमतोऽन्यत्रैव सम्बन्धः, अतो वैषम्यमिति चेत्, तत्राहुः श्रीरिति ।

आभासार्थ—गोपियों के चित्त में यह शङ्का हुई कि भगवान् यों कह दें, कि तुम लक्ष्मी से अपनी समानता मत करो, कारण, कि लक्ष्मीजी का तो दैव गति से प्रथम ही मेरे साथ सम्बन्ध हुआ है और तुमको प्रथम दूसरों (गोपों) से हुआ है जिससे आप लक्ष्मी की समानता मत करो, इसका उत्तर इस 'श्री' श्लोक में कहती हैं—

श्लोक—**श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या**
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥३७॥

श्लोकार्थ—जिस लक्ष्मीजी के कटाक्ष अपने पर पड़ने के लिए अन्य देवता प्रयास करते हैं, वह (लक्ष्मी) स्वयं आपके वक्षः स्थल में सौत रहित स्थान पाकर भी, आपके चरण रज की इच्छा करती है, जिस रज में सौत तुलसी का भी भाग है और जिस रज का सेवन सर्व, दास भी करते हैं, वह रज लक्ष्मीजी के समान हमने भी प्राप्त करली है ॥३७॥

सुबोधिनी—लक्ष्मीरपि न दैवगत्या भवन्तं प्राप्तवती, किन्तु त्वच्चरणारविन्दार्थं महत्तपः कृतवती । सा न स्त्रीत्वेन त्वदीया, किन्तु भक्तत्वेन्, अन्यथा वक्षसि स्थलं प्राप्य स्वतन्त्रम्, तुलस्या सह सापत्न्यमप्यङ्गीकृत्य, चरणरजो न कामयेत् । चरणरजस्तुलस्या भवति, भक्ता हि भक्तेः । तदुपपादितं प्रथमस्कन्धे । तस्य रजसः माहात्म्यमाह **भृत्यजुष्टमि**ति । तद्रजसैव भृत्यानां शरीरोत्पत्तेः । किलेति प्रसिद्धिः । सर्व एव भक्ताः त्वच्चरणरजसैव सम्पादितदेहवन्तः । अतस्तुलसी तत्र भक्तिरूपा प्रतिष्ठिता । तद्रजःप्राप्तिर्येषाम्, ते त्वत्सेवका एव भवन्ति । अतो लक्ष्मीः, अन्तःकरणे स्थानं प्राप्यापि, अन्यःस्प्रक्ष्यतीति चिन्तया, रजश्चकमे । तस्मिन् प्राप्ते तु न शङ्कापि । ननु किमेतावद्भयं लक्ष्म्याः, तत्राहुः । यस्याः स्ववीक्षणकृते अन्यसुरप्रयासः । अन्ये सर्व एव ब्रह्मादयो देवाः तपः कुर्वन्ति, 'लक्ष्मीरस्मान् पश्य'त्विति । अन्यथा तेषां कोऽपि पुरुषार्थो न सिध्येदिति । अतो बहुभिः प्रार्थ्यमाना भीता जाता । कश्चिदत्यन्तमपि तपःकुर्यात्, स, को वेद, किं कुर्यादिति । रजःकामनायां तु नेयं शङ्का । प्राप्तौ तु सन्देह एव न भवति । एवं चरणरजसः प्राप्तौ अनन्यगामित्वं **निरूप्य स्वस्य तथात्वमाहुः तद्वद्वयं चेति** । अस्मानपि बहवः प्रार्थयन्ति, तद्भयादेव पूर्वं चरणरजः स्पृष्टम्, ततो देहोऽपि तच्चरणरजसा समुद्भूत इति सर्वथा तव पादरजःप्रपन्नाः । चकारात् या अपि साम्प्रतं नागताः । या वा महिष्यः, ता एतादृशशरीर युक्ता एव । अतोऽस्मदर्थं एव समागतो भवान् । नात्मानं गोपय । नापि गुप्तः स्थास्यसि । तस्मान्नाग्रहः कर्तव्य इति भावः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—लक्ष्मीजीने आपको दैवगति से नहीं पाया है किन्तु आपके चरणारविन्द की प्राप्ति के लिए महती तपस्या की है, वह तपस्या स्त्री सम्बन्ध करने के लिए नहीं की है किन्तु भक्त बनने के लिए की है, यदि तपस्या वैसे (भक्त बनने के लिए) न होती तो स्वतन्त्र वक्षःस्थल[1] प्राप्त कर के भी तुलसी से सापत्न्य[2] भाव होते हुए चरण रज की कामना नहीं करती, चरण रज पर तुलसी का अधिकार है वह तो प्रसिद्ध ही है, और लक्ष्मीजी चरण रूप भक्ति की भक्त है यह प्रथम स्कन्ध में कहा ही है।

भगवान् के चरण रज का माहात्म्य वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि आपकी चरण रज सेवकों ने सदा सेवन की है और यह प्रसिद्ध ही है कि सेवकों के शरीर रज से ही बने हैं, सब भक्त आपके चरण रज से देह वाले हुए हैं, अतः चरण रज में एवं चरण रज से बने हुए शरीरों में, तुलसी भक्ति रूप में स्थित रहती है, जिनको वह रज प्राप्त हुई है, वे ही आपके सेवक बनते हैं और आपकी सेवा करते हैं, अतः लक्ष्मी अन्तःकरण में स्थान प्राप्त कर के भी जो आपकी चरण रज चाहती है उसका कारण यह है, कि लक्ष्मीजी को भय[3] था कि दूसरे मुझे चाहेंगे, अतः रज पाकर निश्चिन्त बन जाऊँ, जिससे वे मुझे न चाहें और न पा सकें।

लक्ष्मींजी को इतना भय इसलिए है कि ब्रह्मादिक 'लक्ष्मी हमको देखे' इसलिए तपस्या कर रहे हैं क्योंकि लक्ष्मी की कृपा के बिना कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है, बहुतों ने इस प्रकार लक्ष्मीजी के मिलने के लिए प्रार्थनाएँ की, जिससे वह डर गई। कोई अत्यन्त तपस्या करे, उस तपस्या से न जाने कौन क्या कर डाले. भगवान् के चरण रज की कामना करने पर यह शङ्का (किसी प्रकार भय) न रहेगी। चरण रज की प्राप्ति हुई तो, कोई मेरा स्पर्श मात्र कर सके, वैसी शङ्का भी न रहेगी। इस प्रकार चरण रज की प्राप्ति जिनको हुई वे अनन्य हो जाते हैं जैसे लक्ष्मीजी अनन्य होने से निर्भय बन गई, वैसे ही हम भी आपके चरण रज प्राप्ति से अनन्य हो, निर्भय होगई हैं। यों तो, हमको भी बहुत चाहते हैं उनके भय से, हमने भी प्रथम ही चरण रज का स्पर्श कर लिया जिससे देह भी, उस चरण रज से बन गया है, इस प्रकार सर्वथा आपके चरण रज की शरण ली है। श्लोक में 'च' शब्द आया है, उसका भाव बताती हैं कि जो अब नहीं आई है अथवा जो महीषीएँ हैं वे भी इस प्रकार के शरीर वाली ही हैं अर्थात् उनके शरीर भी रज से बने हैं। अतः आप हमारे लिए ही आए हो, अपने को छुपाओ मत, और आप छिप भी न सकोगे, इसलिए आप आग्रह मत करो ॥३७॥

आभास—एवं स्वस्य भगवदेकभोग्यशरीरत्वमुपपाद्य प्रार्थयन्ति तन्न इति।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने शरीर का उपभोग करने वाले एक भगवान् ही है और अन्य कोई नहीं हो सकता है यह सिद्ध कर अब 'तन्नः प्रसीद' इस श्लोक में प्रार्थना करती हैं—

श्लोक—**तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं**
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥

१—छाती, २—सौत, ३—चिन्ता

श्लोकार्थ—हे दुःख दूर करने वाले ! हम पर कृपा करो, कारण कि आपके चरणों की सेवा की आशा से घर बार छोड़ कर आपके चरणों की मूल में आकर हम पड़ी हैं । हे पुरुष भूषण ! आपके सुन्दर मन्द मुसकान सहित निरीक्षण से उत्पन्न काम ने हमको संतप्त किया है अतः आप हमारे लिए दास्य का दान कजिीए ॥३८॥

सुबोधिनी—पूर्वश्लोकेनैव भर्तृशुश्रूणाविधिर्निराकृतः । तदपरित्यागः सुतरामेव तेनैव निराकृतो भवति । अनेनापि निराकरणं प्रार्थयन्ति । भगवत्कृपाभावे तादृशेनैव सम्बन्धो भवेदिति, कृपा हि सर्वतोऽधिका, तत्तस्मात्कारणात् प्रसीद, प्रसन्नो भव, त्वयि प्रसन्ने सर्वं सेत्स्यतीति । ननु भवतीनां प्रतिकूलमदृष्टं दुःखप्रापकमस्ति, अतः कथं प्रसाद इति चेत्, तत्राहुः **वृजिनार्दनेति** । वृजिनं दुःखजनकं पापम्, स्वभावत एव सर्वेषां येन केनापि सम्बन्धेन तदर्दयसि । प्रसादे हेतुमाहुः **तेंघ्रिमूलं प्राप्ता** इति । यस्तु चरणतलं प्राप्नोति, स प्रसादमपि । स च प्रसादः पशुपुत्रादिरूपो मा भवत्विति स्वाधिकारमन्येभ्यो व्यावर्तयन्ति **विसृज्यवसती**रिति । गृहस्थाश्रमस्त्यक्तः न तु गृहमात्रमिति वसतीरिति बहुवचनम् । परित्यागेऽपि हेतुमाहुः **त्वदुपासनाशा** इति । त्वत्सेवां करिष्याम इति आशामात्रणैव पूर्वसिद्धं त्यक्तम् ।तत्र समागतानां पुनर्गृहसम्बन्धे किं वक्तव्यमिति । अतो देयं प्रार्थयन्ति **त्वत्सुन्दरेति** । तव सुन्दरं यत्स्मितं मोहकमप्यानन्दजनकं त्वत्सम्बन्धात् परमानन्दरूपं तादृशस्मितपूर्वकं यन्निरीक्षणं, तेन जातः तीव्रो यः कामः, तेन तप्तान्तःकरणानां अस्माकं; पुरुषाणां भूषणरूप, अनन्तकोटिकन्दर्पलावण्यरूप, स्वतः पुरुषार्थरूपमेव दास्यं देहि । (अधिकारिभेदेन दास्यस्यानेकविधत्वाद्देयं रूपं स्वतापोक्त्या व्यज्यते । उक्ततापविशिष्टानां यदेतत्तापनिवर्तकं तदिति । किञ्च, प्रभोतरपेक्षिवस्तुसमर्पणे हि दास्यं भवति, न त्वन्यथा । एवं सति यथास्माकमुक्ततापेन प्रचुरा त्वदपेक्षा, तथा तवास्मदपेक्षायां स्वयमुद्यम्यास्मदुपभोगः कार्य इत्यर्थः पर्यवस्यति । अन्यथा दासस्य कृतिसाध्यत्वेन दानोक्तिरनुपपन्ना स्यात् । अत एव तथा सम्बोधनं **पुरुषो** भूत्वा भूषणरूपेति । तद्धि कण्ठादिषु सर्वेष्वङ्गेषु भवति । त्वमपि तथा भूत्वा दास्यं देहीति वाक्यैकवाक्यतया प्राप्यते । भूषणत्वोक्त्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थताप्युक्ता । मणिखचितं तद्धिभूषणत्वसम्पत्त्यर्थं मध्ये लाक्षावदपि भवति । तेन महानपि तद्धारणार्थं लाक्षामपि धारयति, तुच्छामपि, तथा मध्ये कामोपयोग इति न तदुपाधिकृतं दास्ववरणम्, अपि तु तद्विपरीतमिति भावः ।) अतो दास्यार्थिन्य एव वयम्, न तु विवाहार्थिन्यः । अत उपनयनाद्यपेक्षापि न लोकव्यवहारेण कर्तव्येति भावः ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ—आपने हमको पति सेवा करने की जो विधि बताई थी, उसका खण्डन हमने प्रथम श्लोक से ही कर दिया है, और उनका (पतियों का) त्याग नहीं करना चाहिए इसका भी पूर्ण रूप से खण्डन उस श्लोक से ही हो गया है, इस श्लोक में भी उनके (पतियो के) त्याग न करने के पक्ष का खण्डन प्रार्थना रूप से करती हैं । वैसे (लौकिक) पतियों से सम्बन्ध तो तब होता है, जब आपकी कृपा नहीं होती है, जिन पर आपकी कृपा नहीं है, वे ही उनसे सम्बन्ध रखना चाहती हैं । हम तो समझती हैं, कि आपकी कृपा सबसे अधिक है क्योंकि आपकी कृपा संसार छुड़ाती है और अन्य प्रमाण संसार में पटकते हैं, अतः हम पर कृपा करो । आपकी कृपा हुई आप प्रसन्न हुए तो सर्व की सिद्धि हो जाएगी ।

हम कृपा करें, किन्तु आपका अदृष्ट[1] प्रतिकूल[2] है जो आपको दुःख दे रहा है, जिससे हम प्रसन्न होकर कृपा क्या करें ? यदि आप यों कहो तो उसका उत्तर यह है, कि भले हमारा भाग्य उलटा हो, वह हमें दुःख दे, किन्तु मनुष्य को किसी भी पाप से दुःख प्राप्त होता है तो, उसको आप नाश करते हो इसीलिए आपका नाम वृजिनार्दन है, अतः आप प्रसन्न हो कृपा करो।

हम आप पर प्रसन्न हो कृपा करें, उसका कोई कारण होना चाहिए, कारण बिना कार्य नहीं बनता है यदि आप कारण मांगते हैं तो प्रसन्न होने का प्रबल कारण हम बताती हैं, कि हम आपके चरण मूल में प्राप्त हुई हैं, जो चरण मूल को पाता है, वह प्रसाद को भी पाता है। वह कृपा वैसी नहीं चाहिए जैसी अन्य लौकिक मनुष्य, पशु पुत्र धन आदि को मांगते हैं, क्यों हम उन जैसी नहीं है, वे तो गृहस्थ में आसक्त हैं हम तो वासना सहित गृह से सम्बन्ध रखने वाले सर्व पदार्थों की आशा त्याग कर आपके पास आई हैं अर्थात् केवल गृह नहीं किन्तु गृहस्थाश्रम भी छोड़ दिया है अतः हमारा अधिकार उन लौकिकों जैसा नहीं है। यदि आप (भगवान्) पूछें कि घर क्यों छोड़ा ? क्या कोई घर में दुःख था ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि हमने घर किसी प्रकार के लौकिक दुःख होने के कारण से नहीं छोड़ा है, किन्तु आपकी सेवा प्राप्त हो इसी आशा मात्र से, पहले बना हुआ गृहस्थाश्रम त्याग दिया है। गृह सर्व प्रकार से छोड़ कर जिन्होंने आपके चरण कमल पा लिए हैं उनको फिर घर से सम्बन्ध करने को कहना वृथा है। अब गोपियाँ उसकी प्रार्थना करती हैं, जिसकी उनको कामना है, वे कहती हैं कि हे प्रभु ! आप पुरुषों में भूषण रूप हो, क्योंकि आपका स्वरूप अनन्त कोटि[3] कामदेवों के समान सुन्दरता वाला है, और ऐसे सुन्दर लावण्य वाले स्वरूप के मन्द मुसकान से उत्पन्न परम आनन्द रूप कटाक्षों ने जो हनारे अन्तकरण में तीव्र ताप पैदा किया है उसकी शान्ति के लिए स्वतः पुरुषार्थ रूप दास्य दो। श्री प्रभु चरणों के यहां दिए हुए स्वतन्त्र लेख का भावानुवाद[4]—

गोपियाँ भगवान् से जिस दास्य का दान मांगती हैं, उसका स्वरूप, अपने अन्तःकरण में भगवान् के लिए उत्पन्न काम को कह कर बता दिया है, अर्थात् हमको वह दास्य दो, जिससे हमारा काम शान्त हो जावे, और वह दास्य सिद्ध तब होता हैं, जब प्रभु को जिस वस्तु की अपेक्षा हो, वह प्रभु को अर्पण की जावे, अन्य प्रकार सिद्धी नहीं होती है। अतः उस ताप की शान्ति के लिए हमको आपकी आवश्यकता है। वैसे आपको हमारी अपेक्षा हो तो आपको स्वयं प्रयत्न कर, हमारा उपभोग करना चाहिए, नहीं तो, दास्य जीव की कृति से सिद्ध हो सकता है वैसे मानने पर हम जो दास्य का दान आपसे मांग रही हैं, वह हमारा कथन अयोग्य हो जाएगा। इसलिए ही भगवान् को पुरुष भूषण संबोधन दिया है जिसका भावार्थ है कि आप पुरुष होकर भूषण रूप हो, वह (भूषण) कण्ठ आदि सर्व अङ्गों में धारण किया जाता है। आप भी इस प्रकार भूषण हो हमारे अंग अंग में व्याप्त[5] हो जाओ वैसा दास्य दो। भूषणो में मणियों के जड़ाव से भूषणों की शोभा बढ़ती है, वैसे सुन्दर आभूषण महान् पुरुष धारण करते हैं किन्तु उनके धारण करने के लिए तुच्छ लाख को भी धारण करते हैं उसी प्रकार (लाख के समान) यहां काम है वह दास्यवरण कामोपाधिकृत नहीं है इसीलिए स्त्रीत्व से वरण का दान न मांग कर, दास्य से जो वरण मांगा है वह शुद्ध

१—भाग्य, २ उलटा–विपरीत, ३—करोड़, ४—सार, ५—फैलना

स्नेहात्मक काम है। हे प्रेष्ठ ! हम दास्य ही चाहती हैं, आपसे विवाह करना नहीं चाहती हैं, अतः जनोई आदि संस्कारों की अपेक्षा भी लोक व्यवहरा के समान नहीं करनी चाहिए ॥३८॥

आभास—ननु भवतीनां सर्वासामेव दास्यवरणे को हेतुः, सालोक्यादेरपि फलस्य विद्यमानत्वात्, तत्राहुः वीक्ष्यालकावृतमिति ।

आभासार्थ—सालोक्य आदि मुक्तियाँ फलरूप विद्यमान हैं तब आप सब दास्य से वरण क्यों मांग रही हो ? उसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में 'वीक्ष्यालकावृतं' श्लोक कहती हैं—

श्लोक—**वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रि**
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥३९॥

श्लोकार्थ—अलकों से आच्छादित कुण्डलों से सुशोभित गण्डस्थलों पर, रस वाले तथा अधर में सुधावाले हास्य युक्त दृष्टि वाले आपके श्रीमुख को, तथा आपके अभय देने वाले भुजदण्ड को एवं लक्ष्मीजी के ही रमण स्थली आपकी छाती को देख कर, हम आपकी दासियाँ हुई हैं ॥३९॥

सुबोधिनी--अनेन लोकेप्सायां पतिर्न त्यक्तव्य इत्यत्रोत्तरमुक्तम् । लोके हि पुरुषार्थत्रयम् । चतुर्विधो मोक्षः । इन्द्राद्यैश्वर्यभावेन स्वर्गप्राप्तिः । इहलोके परमा लक्ष्मीः । तदत्र त्रयमपि दास्ये सर्वोत्कृष्टममस्तीति तदुपपादयन्ति । प्रथमं सारूप्यं सालोक्यं सामीप्यं सायुज्यमिति मोक्षभेदाः ते दास्याग्रे अप्रयोजकाः । यतो मुखारविन्ददर्शनेन ते कामा निवर्तन्ते इति भक्तिरूपमुखारविन्दस्य तदपेक्षयोत्कृष्टधर्मवत्त्वं निरूप्यते । अलकाः सारूप्यमिव प्राप्ता भ्रमराः । ते बहव एवात्र आवृत्य मुखं तिष्ठन्ति । अतः सारूप्यं गतानामपि यदि भक्तिशेषत्वम्, तदा किं सारूप्येण । किञ्च, मुखं कुण्डलश्रि, कुडलाभ्यां श्रीर्यस्य, कुण्डलयोर्वा श्रीर्यस्मात् । सामीप्ये हि नैकट्यं भवति । अत्यन्तसामीप्यं जायमानमपि कुण्डलादप्यधिकं न भविष्यति । ते चेत्सांख्ययोगरूपे भगवत्प्रमाणवलम्बिनी भगवदधीनगतिमिती पुनर्भगवन्मुखनिरीक्षके, तदा किं सामीप्येन । किञ्च, **गण्डस्थलाधरसुध**मिति । गण्डौ स्थलरूपौ विशालौ । स्थले हि रसः पातुं शक्यत इति । अधरे च सुधा यस्मिन् । गण्डस्थले स्थित्वा अधरसुधा पातुमत्र शक्येति । सालोक्ये हि आनन्दमात्रमक्षरामृतपानं च । अक्षरापेक्षयापि गण्डस्थले स्थितिः चुम्बनाद्यर्थमुत्तमा । अधररसश्च अक्षररसादुत्तम इत्युक्तम् । कुण्डलश्रीयुक्तं गण्डस्थलमित्यस्मिन् पक्षेऽपि सामीप्यात् भक्तौ शास्त्रीयो रसः अधिको निरूपितः, परस्परं त्वद्गुदुणवादरूपः । अक्षरादाधिक्यं तु अधररसे स्पष्टमेव । किञ्च, हसितावलोकमिति । हसितपूर्वकमवलोको यस्मिन् । ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां न भक्तिविलासः । हासो हि सर्वरसोद्बोधरूपः । ज्ञानं चाविर्भूतम् । ब्रह्मानन्दे तु द्वयमप्यव्यक्तम् जले निमग्नस्य जलपानवत् । अनुभवरसो हि भिन्नतया स्थितौ भवति । अतो भक्तिरूपमुखस्य

दृष्टत्वात् दास्यमेव फलम्, न मोक्षः भुजदण्डयुगं च विलोक्य इन्द्रादिभावेनापि स्वर्गो न प्रयोजक इति निरूपयन्ति दत्ताभयमिति । स्वर्गं इन्द्रः परमकाष्ठां प्राप्तः। तेऽपि दैत्येभ्यो निरन्तरं भीताः इन्द्रादयः। तेषामप्यभयदातृ भगवतो भुजदण्डयुगलम् । तच्चे दत्रैवास्ति, तत्परित्यज्य किमिन्द्रत्वेन । चकारात् न केवलमभयमात्रं प्रयच्छति, किन्तु क्रियाशक्त्या यज्ञादिना हविरपि प्रयच्छति । यथाग्रे इन्द्रः स्वाधिकारसमाप्तौ मुक्तो भवति । दण्डपदेनानुल्लंघ्यशासनत्वमुक्तम् । उभयत्र च दण्डो युगपदेन निरूपितः । ततो हि सर्वथा दैत्यनाशो भवति । किञ्च, वृक्षोऽपि विलोक्य । लोकानां श्रिया रमणं भवति । श्रीरपि तत्र रमते चकाराद्धर्मस्यापि । अतो दास्य एव भवामः । (अत्र वीक्षणस्य दासीभवनहेतुत्वोक्त्या यत्रायं भावो नास्ति, तेषां नैतद्वीक्षणमस्ति, विधिपयुक्तत्वाभावेन तद्विपरीतविध्यनङ्गीकारश्च युक्त इति ज्ञाप्यते । यदप्युक्तं भगवता 'अस्वर्ग्य'मित्यादि स्वभजने दोषषट्कम्, तदपि षड्भिर्गुणैर्निवारितन । न हि परमपुरुषार्थसाधकं पापं भवति । फलत एव पापस्य निन्द्यमानत्वात्) ।।३६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने गोपियों को कहा था, कि जिनको इस लोक एवं परलोक में कीर्ति तथा सुख की इच्छा है, उनको पतिओं का त्याग नहीं करना चाहिए उसका उत्तर इस श्लोक में देती हैं—

लोक में तीन पुरुषार्थ हैं—१—चतुर्विध[1] मोक्ष, २—इन्द्र आदि ऐश्वर्य भाव से स्वर्ग की प्राप्ति, ३—इस लोक में अतिशय धन, ये तीन ही दास्य में विशेष रीति से और उत्तम मिलते हैं, जिनको गोपियाँ इस श्लोक में सिद्ध करती हैं।

पहले, जो मोक्ष के चार प्रकार सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य कहे हैं, वे दास्य के आगे व्यर्थ हैं, कारण कि भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन करने से मोक्ष की कामना ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि भक्ति रूप मुखारविन्द में मोक्ष से भी उत्तम धर्म[2] है, जिसका वर्णन गोपियाँ इस प्रकार करती हैं कि १—सारूप्य मुक्ति से भी मुखारविन्द में उत्कृष्ट आनन्द होने से ही जिन भक्तों ने सारूप्य मुक्ति पाई थी, तो भी उनके अन्तःकरण में भक्ति रस की इच्छा रह जाने, से वे भगवान् के अलक रूप बनकर मुखारविन्द का आनन्द ले रहे हैं, जैसे भ्रमर कमल रस पीने के लिए कमल को आच्छादित कर देते हैं, वैसे ही ये भक्त भी अलक रूप भ्रमर बन कर, भगवान् के मुखारविन्द का रसपान कर, सारूप्य मुक्ति से विशेष आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। इससे जाना जाता है कि जब जीव को मुक्त होने पर भी, भजनानन्द के रस प्राप्ति की कामना शेष रूप से रह जाती है, तो वैसी सारूप्य मुक्ति की प्राप्ति से क्या लाभ ? अतः हम सब दास्य माँगती हैं।

२—सामीप्य मुक्ति से भी दास्य की विशेषता बताती हैं, कि भगवान् के मुख से कुण्डलों से (सांख्य योग) की शोभा है अथवा कुण्डलों से मुख की शोभा हो रही है, दोनों प्रकार से अर्थ करने से, यही भाव प्रकट होता है, कि सामीप्य मुक्ति में भी, जीव को इतनो भगवान् की समीपता नहीं मिलती है, कि, जितनी कुण्डलों को कान में स्थिति करने से मिली है, यों कहने का स्पष्ट आशय यह यह है, कि सांख्य और योग भागवत, भगवद्गीता आदि प्रमाणों का आश्रय करते हैं और भगवान्

---

[1] —चार प्रकार का, [2] —परम और अनन्त आनन्द

की आज्ञानुसार कार्य करते हैं फिर यहाँ कुण्डल रूप से भगवान् के मुख का निरीक्षण करते हैं, इसी प्रकार जो जीव भागवतादि शास्त्रों का आश्रय कर उनमें की हुई भगवान् की आज्ञा के अनुसार चलते हुए भगवान् के मुखारविन्द का दर्शन करते हैं, उनको सामीप्य मुक्ति से विशेष समीपता कुण्डलों के समान मिलती है, जिससे वे दास्य प्राप्त कर अत्यन्त समीप रहते हुए मुखारविन्द का आनन्द लूटते हैं और फिर सामीप्य मुक्ति की लेश भी उनको इच्छा तो रहती ही नहीं, किन्तु उसको इस आनन्द के आगे तुच्छ समझते हैं।

३—सालोक्य मुक्ति से भी दास्य की विशेषता प्रकट करती हैं – भगवान् के मुखारविन्द में जो कपोल हैं वे विशाल हैं और अधर है उसमें 'सुधारस' भरा हुआ है, सालोक्य मुक्ति में तो केवल आनन्द और अक्षर के गणितानन्द रूप अमृत का पान मिलता है, किन्तु यहाँ तो भगवान् के विशाल गण्डस्थलों में स्थित रहकर कपोल चुम्बनादि रस की प्राप्ति के साथ अधर सुधा का रस पान किया जाता है, जो अधर सुधा रस अक्षर रस से उत्तम है, क्योंकि अक्षर रस गणित आनन्द वाला है और अधर सुधारस अगणित (अनन्त) आनन्ददाई है, श्लोक में कुण्डलश्रि, गण्डस्थलाधर सुधं. दोनों पृथक् हैं किन्तु यदि इसको साथ में लेकर इस प्रकार अर्थ किया जाए कि कुण्डलों की शोभा से युक्त गण्डस्थल है, तो भी कुण्डल, गण्डस्थल के अंग होते हैं जिससे सामीप्य मुक्ति भक्ति का अंग हो जाती है, अतः सामीप्य मुक्ति से भी भक्ति में शास्त्रीय रस अर्थात् भगवद्गुणगान रूप रस अधिक कहा गया है, अधर रस, तो अक्षर के रस से विशेष है यह तो स्पष्ट ही है। अब सायुज्य से उत्तमता बताती है—

भगवान् के मुखारविन्द में हास्य युक्त अवलोकन है अर्थात् भगवान् के मुख के जब दर्शन करते हैं तब आपकी मन्द मुस्कान वाले कटाक्ष से जो अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, वह सायुज्य में नहीं है, कारण कि, ब्रह्मानन्द में जो लीन हो जाते हैं उनको भक्ति में जो विलास[1] है उसकी प्राप्ति नहीं होती है, भगवान् की मन्द मुस्कान ही सर्व रसों को जागृत करती है और ज्ञान को भी प्रकट करती है। ब्रह्मानन्द में तो दोनों ही (रस तथा ज्ञान) छिपे रहते हैं जैसे जल में डूबा हुआ, न जल का पान कर सकता है और न उसको उस जल के रस का ज्ञान हो सकता है। सायुज्य मुक्त को भी न ब्रह्म के आनन्द का ज्ञान होता है और न उसके रस का स्वाद प्राप्त होता है। ब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान का तथा उसके रस का अनुभव उस अक्षर में मिल जाने पर नहीं होता है किन्तु अलग स्थिति में ही होता है, अतः भक्ति रूप मुख का जिसने दर्शन होता है वेता दास्य ही फल है और मोक्ष फल नहीं है। इस प्रकार लोक के तीन फलों में से, एक मुख्य फल मोक्ष का निराकरण कर (भक्ति से हीनता दिखाकर), अब दूसरे स्वर्ग फल की हीनता सिद्ध करती हैं, स्वर्ग में परमफल 'इन्द्र' पदवी है, वे इन्द्र आदि देव भी स्वयं निर्भय नहीं हैं, उनके भय को मिटानेवाली भगवान् की भुजाएँ हैं, वे भुजाएँ इस दास्य में स्वतः प्राप्त होती हैं, तो फिर उनको (भुजाओं को) छोड़कर इन्द्रादि पद के लिए स्वर्ग से क्या लाभ अर्थात् उसकी कौनसी आवश्यकता है ? किसी प्रकार भी नहीं है।

श्लोक में जो 'च' शब्द दिया हैं उसका आशय यह हैं, कि भगवान् देवों को केवल अभय दान नहीं देते हैं किन्तु क्रिया शक्ति (यज्ञ आदि) से 'हवि' भी देते हैं जिससे इन्द्र अधिकार पूर्ण होते ही मुक्त हो जाए। श्लोक में भुजाओं के लिए केवल 'भुज' नहीं कहा है, किन्तु 'भुजदंड' कहा हैं जिसका

---

[1] १—आनन्द रस

भावार्थ यह है कि भुजाएँ दण्ड के समान हैं जिससे इन्द्रादि को भयभीत करने वाले दैत्य भी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं तथा यदि ब्राह्मण भी वेद की आज्ञानुसार यज्ञ नहीं करें तो उनको भी उनसे शिक्षा करते हैं, इस प्रकार भुजदण्डों से भगवान् एक तरफ ऐहिक दुःख दूर करते हैं, दूसरी तरफ पारलौकिक सुख देते हैं। जिससे सर्व प्रकार से दैत्यों का नाश होता है।

तीसरे पुरुषार्थ (उत्कृष्ट लक्ष्मी) की भी तुच्छता बताती हैं—

जिस लक्ष्मी के प्राप्त होने से, मनुष्य आनन्द भोग सकते हैं, जो लक्ष्मी लोकों के रमण का साधन है, वह लक्ष्मी जिस आपके वक्षस्थल को अपने रमण का स्थल बना रही है और जिस वक्षस्थल में लक्ष्मी की प्राप्ति का साधन धर्म विराजता है, उस वक्षस्थल को देखकर, हम आपकी दासी बनी हैं, अतः वैसे वक्षस्थल के दर्शन करने वाली हमको न लक्ष्मी की और न धन की आकांक्षा[1] है। उपरोक्त विवेचन से यह बताया कि हम तीनों पुरुषार्थों को दास्य से अल्प फल समझती हैं, अतः दास्य की प्रार्थना की है।

श्री प्रभुचरण श्री विट्ठलनाथजी इस श्लोक पर लिखे हुए स्वतन्त्र लेख में आज्ञा करते हैं—जनमें प्रेम है उनको भगवान् के रसात्मक अलौकिक[2] श्री अंगों का दर्शन होगा और श्री अङ्गों के वैसे दर्शन होने से ही, दास्य भावना जागृत होगी जिससे दास्य ही माँगेगी। यह इस प्रकार अलौकिक वेदाज्ञा के पालन करने से नहीं हुआ है जिससे गोपियों ने घर लौट जाने की (विधि) (शास्त्राज्ञा) को माना नहीं वह योग्य ही है। स्त्रियों के लिए पति का त्याग कर अन्य का (मेरा–प्रभु का) भजन व्यभिचार है, जिसमें छ दोष हैं वे दोष भी भगवान् के दर्शन से प्राप्त छ गुणों से निवारण हो गए। वह कार्य कभी भी पाप नहीं हो सकता है, जो परम पुरुषार्थों को सिद्ध कर सकता है। पाप वह होता है जिसका फल दुःख होता है, दुःख रूप फल होने के कारण ही, पाप की निन्दा की जाती है, दास्य से तो परम आनन्द फल मिलता है जिससे उसकी निन्दा तो नहीं होती है, किन्तु प्रशंसा होती है। अतः दास्य ही परम फल है हम उसको ही चाहती हैं ॥३९॥

आश्रय का तात्पर्य यह है कि ये शास्त्र सांख्य और योग का माहात्म्य दिखाते हुए कहते हैं, कि इनके करने से मोक्ष आदि की प्राप्ति होगी, जो जीव सांख्य और योग का सेवन करते हैं, उन जीवों को वे (सांख्य तथा योग) संसार से छुड़ा कर उच्च पद दिलाते हैं इस प्रकार जब सांख्य और योग में दी हुई आज्ञा का पालन करते हैं, तब भगवान् ने इनको अपने कुण्डल बनाकर यह आनन्द दिया ।

आभास—ननु तथापि लोकविद्विष्टं स्त्रीणामभिसरणम्, अतः सन्मार्गरक्षणार्थं प्रमाणसिद्धमप्येतन्न कर्तव्यम्, अतः श्रवणदर्शनादिकमेव कर्तव्यमिति चेत, तत्राहुः का स्त्रीति।

आभासार्थ—गोपियाँ भगवान् को कहती हैं, कि यदि आप यह कह दो, कि सन्मार्ग की रक्षा के लिए आपने जो कहा वह प्रमाण से सिद्ध भी है, तो भी आपको यों नहीं करना चाहिए कारण कि

---

[1]—इच्छा, [2]—आधिदैविक,

जो स्त्रियाँ अपने जार के पास रमणार्थ जाती हैं, उनकी लोक में निन्दा होती है, अतः आपको हमारा श्रवण दर्शन आदि ही करना चाहिए, इस पर हमारा यह उत्तर है, जो, हम इस (का स्त्र्यंग) श्लोक में कहती हैं।

श्लोक—का स्त्र्यंग ते कलपदामृतवेणुगीत-
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! आपने जिन स्त्रियों को अव्यक्त मधुर अमृत से भरे हुए वेणु गीत से मोहित कर लिया है, वे तो सब आर्यचरित[1] से डिगेगी ही, जब कि आपके त्रैलोक्य स्वरूप को देखते ही पक्षी, वृक्ष और मृग भी पुलकित हो जाते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—अयं धर्मः पुरुषाणां वक्तव्यः, न तु स्त्रीणाम्, असंभावितत्वात्। नह्यसंभावितो धर्मो भवति। एवं धर्मनाशे धर्मस्थापकं स्वरूपमेव हेतुः, अद्भुतकर्मत्वात्। (वस्तुतस्तु स्वरूपसम्बन्धिनां भक्तानां धर्मं स्वरूपेणैव रक्षति। तच्चान्यभावेभ्यो रक्षणमेतद्भावपोषणं च। ये स्वरूपधर्मसम्बन्धिनस्तांस्तैरेवेति न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः। अत एवैवं स्वरक्षणेन स्वान्तरङ्गत्वज्ञापनाय) अङ्गेति सम्बोधनम्, अप्रतारणाय च। या स्त्री लोके स्त्रीशब्दवाच्या सा कथमार्यचरितान्न चलेत्। **त्रिलोक्यां** सत्त्वरजस्तमः कार्यरूपायाम्। तामसीनां मौढ्यात् आर्यचरिते स्थितिं मत्वा तन्निराकरणम्। राजसीनां स्वभाव एव। सात्त्विकीनां सत्त्वाद्धर्मबुद्धिमाशंक्य तन्निराकरणम्। आर्यमार्गपरित्यागे हेतुः **ते कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहितेति**। सम्मोहिता आर्यचरिताच्चलत्येव। सम्मोहः पञ्चपर्वाविद्यास्थानीयैः। भगवत्सम्बन्धात् अविद्या तु न बाधते, परमन्य एव बाधकाः। तेषां बलं **ते** इति, त्वदीया इति। कलान्यव्यक्तमधुराणि यानि पदानि तत्राविर्भूतं यदमृतं तदेव वेणुद्वारा गीतं तेन संमोहः। गीतं देहमोहजनकम्, 'गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' इति। स्त्री तु देह एव। इन्द्रियाणां व्यामोहको वेणुः, रसात्मकत्वात्। अमृतं प्राणानाम्। पदान्यन्तःकरणस्य। अव्यक्तता आत्मन इति सम्यग्विमोहिताः। आर्याः प्रमाणबलविवेकिनः। प्रमाणे हि इन्द्रमहेन्द्रयोरपि भेदस्वीकारः। पृथगुपस्थिताः सर्व एव भिन्ना इति। अन्यथा इन्द्रयाजिनोऽग्रे सम्वत्सरान्ते प्रायश्चित्तश्रवणं न स्यात्, 'सम्वत्सरस्य परस्तादग्नये व्रतपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपे' दिति। अतो देहव्यतिरिक्तः स्वरूपेणोपस्थितोऽपि प्रमाणबले विरुध्यते। वस्तुविचारस्तु प्रमेयबलमाश्रित्य अन्यथा विधिनिषेधविधयो व्यर्थाःस्युः। तदुत्तरत्र वक्ष्यति एकादशे। अतो मार्गान्तरविरोधो मार्गान्तरे नोपयुज्यत इति मर्यादाभङ्गोऽत्र न दूषणम्। एतस्योत्तरमग्रे शुकश्च वक्ष्यति, रासानन्तरम्, 'धर्मव्यतिकरो दृष्ट' इति। तस्मादत्र फलस्य

१—पतिव्रता धर्म,

सिद्धत्वात् साधनदृष्ट्या अपकीर्तिः नास्मप्रतिबन्धिका। किञ्च, न केवलं नाम्ना मर्यादाभङ्गः, किन्तु स्वरूपेणापि, तदाहुः **त्रैलोक्यसौभग**मिति। त्रैलोक्स्यापि सुभगत्वं यस्मात्। यथा सूर्येण दिनम्, चन्द्रमसा रात्रिः, तथा त्रैलोक्यमेव भगवद्रूपेण सुन्दरतां याति। इदमिति प्रत्यक्षसिद्धम्। चकारादनुभावाँश्च। तच्छ्रुत्वा एतद् दृष्ट्वा का वा आर्यचरितान्न चलेत्। अस्त्वियं प्रमाणवार्ता दुर्बला, प्रकारान्तरेणापि चलति, भगवतो रूपेण प्रमेयमर्यादाप्यपगच्छति। या कथमपि नान्यथा भवति। तदाह **यद्गोद्विजद्रुममृगा** इति। गावो हि प्रमाणवार्तानभिज्ञाः मातरमपि गच्छन्ति, द्विजाः पक्षिणः सर्वभक्षाः, द्रुमाः स्थावराः, कदाचिदपि बहिः सम्वेदनरहिताः, निरिन्द्रिया एवेति केचित्। मृगाः सर्वतोभयाः। तेऽपि चेद्भगवद्रूपेण गीतेन वा आश्लिष्टरसाः पुलकानि धारयन्ति, रसिकमनुष्यधर्मानाविष्कुर्वन्ति। ये भगवता अन्यथैव सृष्टाः। स्त्रियस्तु स्वभावतोऽप्यन्यथाभवन्तीति नाश्चर्यं किञ्चिदत्र ॥४०॥

व्याख्यार्थ—हे प्रिय ! आपने जो हमको उपदेश दिया है, कि घर लौट जाओ वहां रहकर ही मेरा श्रवण आदि करना, यह धर्मोपदेश पुरुषों को करना चाहिए स्त्रियों को वैसा उपदेश सार्थक नहीं है। क्योंकि स्त्रियों से वह धर्म पालन होना असम्भव है, जो असम्भव है वह धर्म नहीं कहा जाता है। आपका दास्य स्वीकार करने से जो पातिव्रत्य धर्म का नाश हुआ है, उसमें कारण, धर्म की स्थापना करने वाला आपका स्वरूप ही है, क्योंकि आपका स्वरूप अद्भुत कर्म का कर्ता है (प्रभुचरण यहां स्वतंत्र लेख में विशेष स्पष्टीकरण करते हैं, जिन भक्तों का सम्बन्ध भगवान् के स्वरूप के साथ है उनके धर्मों की रक्षा स्वरूप से करते हैं। और वह रक्षण है, अन्य भावों से रक्षण एवं इस भाव का पोषण। जिन भक्तों का सम्बन्ध भगवान् के धर्मों से है उनकी रक्षा धर्मों से ही करते हैं इसमें सर्व उचित ही है यही भाव बताया है, इस प्रकार अपने रक्षण से यह बताया है कि भगवान् सर्व के अन्तरङ्ग हैं) अतएव गोपियों ने अङ्ग, इस संबोधन से भगवान् को यह भी बताया कि हम आपको ठगती नहीं हैं।

गोपियों ने श्लोक में 'त्रिलोक्यां' तीन लोक में कह कर यह बताया है कि तमोगुण, रजोगुण तथा सतोगुण से बने हुए इस लोक में तीन प्रकार की स्त्रियाँ हैं, तमोगुणी, रजोगुणी, और सतोगुणी, ये तीनों ही आर्य पथ से विचलित हो जाती हैं, तमोगुणी मूढता से विचलित हो जाती हैं रजोगुणी स्वभाव से चञ्चल होने से विचलित होती हैं और सतोगुणी यद्यपि धर्म में बुद्धि वाली होती हैं किन्तु वे भी विचलित हो जाती हैं, कारण कि आपके अव्यक्त मधुर पदों में स्थित अर्थ रूप अमृत को वेणु द्वारा गाए हुए गीत से (पान कर) सब मोहित हो गई हैं इस प्रकार मोह को प्राप्त हुई सब प्रकार की स्त्रियाँ आर्य पथ से अवश्य विचलित होती हैं। यों तो साधारण रीति से मोह को अविद्या के पांच पर्व+ उत्पन्न करते हैं किन्तु गोपियों को तो, भगवान् के सम्बन्ध के कारण अविद्या के पंच पर्वों ने मोहित नहीं किया है। अपितु (बल्कि) भगवान् के वेणु, अमृत, पद, गीत और कल इन पाँचों ने मोहित किया है, क्योंकि इन पाँचों में भगवद् बल है उस बल ने मोह उत्पन्न किया है। इन पाँचों ने किस प्रकार किस किस अङ्ग में मोह को जागृत किया है उसका वर्णन करते हैं, कि गीत ने देह में मोह जगाया, श्रुति कहती है कि 'स्त्रियाँ गाने वाले को चाहती हैं, स्त्री तो देह ही है। वेणु ने इन्द्रियों को मोहित किया क्योंकि वह रसमय है, अमृत ने प्राणों में मोह

+ अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास, स्वरूप विस्मृति।

उत्पन्न किया, पदों ने अन्तः करण में मोह को पैदा किया और अव्यक्त ने आत्मा में मोह को जागृत किया इस प्रकार गोपियाँ सम्पूर्ण रीति से मोहित हो गई ।

वस्तु का विचार दो प्रकार से करने में आता है, एक प्रमाण बल से दूसरा प्रमेय बल से, इनमें आर्य पुरुष प्रमाण बल से विचार करते हैं जैसे कि इन्द्र और महेन्द्र एक है, तो भी प्रमाण बल से आर्य यज्ञ में इन्द्र और महेन्द्र को पृथक् मानते हैं तथा अलग अलग स्थित देवों को भी भिन्न समझते हैं, यदि भिन्न नहीं माने जाय तो भेद के कारण, केवल इन्द्र के लिए यज्ञ करने वालों को वर्ष के अन्त में (इसके लिए) प्रायश्चित करना न पड़े ।

देह से अतिरिक्त, स्वरूप से उपस्थित आत्मा के धर्म में प्रमाण बल से विरोध होता है, जिससे धर्म का पूर्ण रीति से वे (प्रमाण बल वाले) निर्णय नहीं कर सकते हैं, वस्तु का सत्य एवं पूर्ण विचार तो प्रमेय बल से ही होता है, नहीं तो विधि[1] और निषेध[2] दोनों व्यर्थ हो जावे, जिसका निर्णय एकादश स्कंध में होगा, अतः एक मार्ग से (प्रमाण मर्यादा मार्ग से) यदि किसी कार्य में विरोध हो तो वह विरोध दूसरे मार्ग (प्रमेय मार्ग) में नहीं माना जाता है जैसा कि प्रमाण मार्ग में स्त्री पति का त्याग करे यह कार्य धर्म विरुद्ध है किन्तु प्रमेय[3] मार्ग में शुद्ध ब्रह्मवादानुसार भगवान् सर्व के आत्मा हैं, सर्व रूप हैं अतः भगवान् ही वास्तविक नित्य पति है जिससे सर्व त्याग कर (कल्पित अनित्य पति आदि का त्याग कर) भगवान् को ही पति मान उससे प्रेम करना धर्म के विरुद्ध नहीं हैं, इसलिए प्रमेय मार्ग में लौकिक मर्यादा को तोड़ना दोष[4] नहीं है । इसका उत्तर देकर विशेष स्पष्टीकरण श्री शुकदेवजी रास हो जाने के अनन्तर 'धर्म व्यतिक्रमो दृष्टः' श्लोक से करेंगे । इससे यहाँ हमको फल की प्राप्ति हो गई है, जिससे साधन दृष्टि से जो हमारी अपकीर्ति होती है, वा होगी, वह हमारे इस कार्य में प्रतिबन्ध[5] नहीं कर सकती है और यह मर्यादा भङ्ग न केवल नाम से किया , किन्तु स्वरूप से भी किया है, जिसको गोपियाँ 'त्रैलोक्य सोभगं' पद से कहती हैं कि जैसे सूर्य से दिन में सुन्दरता आती है, चन्द्रमा से रात्रि की सुन्दरता होती है वैसे ही भगवान् के रूप से त्रिलोकी सुन्दर बनी हुई है, वैसे भगवान् के सुन्दर रूप और रस को जागृत करने वाले कटाक्षों को सुनकर तथा देखकर कौनसी स्त्री हैं जो आर्य पथ से विचलित न हो ।

प्रमाण बल की मर्यादा, भगवान् के स्वरूप के आगे निर्बल है केवल इसीलिए स्त्रियाँ आर्य मार्ग से विचलित नहीं होती है, किन्तु दूसरे प्रकार से भी विचलित हो सकती है, भगवान् का ऐसा अनुपम सुन्दर रूप है जिसके दर्शन से जहाँ प्रमेय मार्ग की मर्यादा भी नहीं रह सकती है वहां मर्यादा मार्ग की मर्यादा कैसे रहेगी ? इसको स्पष्ट समझाने के लिए 'यद्‌गोद्विजद्रुममृगा ' पद दिया है जिसका आशय है, कि, जो गो (बैल) शास्त्र के प्रमाण की वार्ता भी नहीं जानते हैं, जिससे माता से भी संभोग करते हैं, पक्षी सब कुछ खा लेते हैं, पेड़ चल नहीं सकते हैं, कोई कहते हैं कि उनको (वृक्षों को) इन्द्रियाँ नहीं है, इसलिए वे दुःख का अनुभव नहीं करते हैं, मृग सबसे सदा डरते हैं, ऐसे ये भी, भगवान् के अद्‌भुत सुन्दर स्वरूप से तथा उनके गीत से रस मग्न हो पुलकित[6] हो जाते हैं अर्थात् जिस

---

[1] —यह करना चाहिए वैसी आज्ञा, [2] —यह नहीं करना चाहिए, [3] —पुष्टि, [4] —दूषण, [5] —रुकावट, [6] —रोमाञ्च वाले,

प्रकार भगवान् के स्वरूप एवं गीत से रसिक मनुष्यों के शरीर में रोमाञ्च होते हैं वैसे उनके शरीरों में भी मनुष्य धर्म प्रकट हो जाते हैं, जिन गौ आदि को दूसरे प्रकार से बनाया है, स्त्रियाँ तो स्वभाव के कारण ही अन्यथा[1] होती हैं, अतः इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है, कि हम आपके स्वरूप सौन्दर्य तथा गीत से अपने मर्यादा धर्म से विचलित हुई हैं ॥ ४० ॥

आभास—एवं भगवदुक्तानां वाक्यानां निवारणार्थं पुष्टिसिद्धान्तं निरूप्य एतद्भगवत्कृपैकसाध्यमिति भगवत्कृपां प्रार्थयन्ति व्यक्तमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने जो वचन (प्रमाण-मर्यादामार्गानुसार) कहे थे उनका खण्डन पुष्टिमार्ग[2] के अनुसार दश श्लोक में किया, अब यह पुष्टि मार्ग का सिद्धान्त जीव के अन्तःकरण में तब स्थिर होता है और उसमें तब विश्वास होता है जब भगवान् की कृपा होवे, क्योंकि यह मार्ग कृपा साध्य है न कि साधन साध्य है, अतः गोपियाँ इस (व्यक्तं भवान्) श्लोक में भगवान् को कृपादान करने के लिए प्रार्थना करती हैं—

श्लोक—**व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो**
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

श्लोकार्थ— जैसे आदि पुरुष नारायण देव, देवताओं की रक्षा करता है वैसे ही आप व्रज के भय तथा आर्ति को हरण करने के लिए प्रकट हुए हैं, अतः हे आर्तों के बन्धु ! हम दासियों के तप्त स्तनों पर और मस्तकों पर अपने कर कमलों को धरो ॥४१॥

सुबोधिनी—नापि त्वदुक्तमस्मदुक्तं वा किञ्चित्साधकं बाधकं वा तथापि स्वावतारप्रयोजनं विचार्य अस्मासु कृपा कर्तव्या । तत्प्रयोजनमाहुः । भवान् व्रजभयार्तिहर एव व्यक्तमभिजातः व्रजस्य आर्तिः पीडा भयं च त्वया दूरीकर्तव्यम् । अन्यथा साक्षाद्भगवतोऽवतारे प्रयोजनं न पश्यामः । भूभारहरणं तु सङ्कर्षणांशेन । वसुदेवादिप्रियं प्रद्युम्नेन । धर्मरक्षा त्वनिरुद्धेन । यदि व्रजभयार्तिनिराकरणं न क्रियेत, तदा किमवतारान्तरकार्यं स्यात् । अतो व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरः । इदानीं यथार्तिरस्माकम्, तथा न कदापि । अस्मदपगमे तु सर्वस्यापि व्रजस्य महती आर्तिः । अत आर्तिनिवृत्तिः कर्तव्या । ननु मर्यादयैव निवृत्तिकरणमुचितम्, न तु अमर्यादया, तथा सति भवतीनां कामशान्तिः, ज्ञानं वा, भवत्विति चेत्, तत्राहुः **देवो यथादिपुरुष** इति । भगवान् ब्रह्मरूपः सर्वसमः, तथापि इन्द्रादिषु कृपां कुर्वन् दैत्यान् मारयन् विषमतामङ्गीकरोति । न तु देवेभ्यो ज्ञानं

---

[1]—विचलित, [2]—प्रमेय मार्ग

प्रयच्छति । यत्र स्वरूपमेवान्यथाकरोति, तत्र वाचमन्यथाकरोतीति किं वक्तव्यम् । अतो यथादिपुरुषोऽपि देवो भूत्वा सुरलोकगोप्ता जातः, तथा भवानपि धर्ममर्यादारक्षकः, अस्मत्सम्बन्धं करोत्विति भावः । तदेव रसपोषणार्थं व्याजेनाहुः **तन्नो** निधेहीति । आदावस्माकं शिरसि हस्तं स्थापय । यथा अस्माकमभयं भवति ततोऽस्माकं हृदयतापनिवृत्त्यर्थं स्तनेषु च करपङ्कजममृतस्रावि तापनाशकं निधेहि । अनौचिती तु नास्ति। यतो वयं किङ्कर्यः । परीक्षार्थं वा एतत् द्रष्टव्यमिति रसोक्ति ४१

व्याख्यार्थ—आपने जो वचन (पति आदि की सेवा और घर लौट जाना) कहे और उनके जो उत्तर हमने दिए उनमें कोई वचन साधक वा बाधक नहीं है, इन दोनों पर ध्यान न देकर आपको हम पर कृपा करनी चाहिए । भगवान् के प्राकट्य के कारण स्पष्ट कर बताती हैं, कि आप व्रज के भय और आर्ति[1] को हरने के लिए ही प्रकट हुए हो, अतः आपको ही व्रज की आर्ति तथा भय दूर करना चाहिए, यदि वह न हुआ अर्थात् आपने व्रज की आर्ति और भय दूर नहीं किया, तो भगवान् के साक्षात् स्वयं प्रकट होने का कोई अन्य कारण हम नहीं देखती हैं । अन्य कार्य तो आप अपने अंश रूप व्यूह द्वारा करते हैं । जैसे पृथ्वी का भार सङ्कर्षण अंश से, वसुदेवादिकों का प्रिय प्रद्युम्न अंश से और धर्म की रक्षा अनिरुद्ध अंश से करते हो, यदि आपने स्वयं साक्षात् प्रकट होकर भी व्रज की आर्त्ति तथा भय का निवारण नहीं किया तो आप पुरुषोत्तम स्वरूप से दूसरा कौन सा कार्य करोगे ? जिससे समझ में आता है, कि आप व्रज के भय और आर्ति के हर्ता रूप से ही प्रकट हुए हैं ।

इस समय जैसी आर्ति हमको हो रही है, वैसी आगे कभी भी नहीं हुई है, अतः इस आर्ति को नाश करो, यदि यह हमारी आर्ति नाश नहीं करोगे, तो हम नाश हो जाएँगी जिससे व्रज को अत्यन्त दुःख होगा ।

गोपियाँ विचार करने लगीं, कि भगवान् यों कह देवें कि आपकी आर्ति का नाश, मर्यादा से करना योग्य है, न कि मर्यादा का त्याग कर आर्ति का हरण करना योग्य है । मर्यादा से करने पर, आपके काम की भी शान्ति होगी और आपको ज्ञान भो हो जाएगा, इस प्रकार कह दें, तो कहने से पूर्व ही उसका उत्तर दे देती हैं, कि 'देवोयथादिपुरुषः' जैसे आदि पुरुष देव हैं, भगवान् (आप) ब्रह्म रूप हैं इसलिए ब्रह्म सब को समान दृष्टि से देखते हैं, तो भी इन्द्र आदि देवों पर कृपा कर दैत्यों का नाश करते हैं, जिससे आप विषमता[2] को अङ्गीकार करते हो, न कि देवों को ज्ञान देते हो । जहाँ स्वरूप की समानता का त्याग कर सकते हो, तो अब वाणी[3] को बदलने में आपको कौनसी बड़ी बात है इसलिए जैसे क्रीड़ाशील आदि पुरुष ने क्रीड़ा के लिए देवलोकों की रक्षा की है, वैसे ही आप भी धर्म मर्यादा के रक्षा करने वाले हो, तो भी हमारे साथ आत्म सम्बन्ध करो, क्योंकि अब भी आप क्रीड़ा शील हो और क्रीड़ा के लिए ही तो प्रकट हुए हो ।

वही बात रस के पोषण के लिए बहाने से कहती हैं कि 'तन्नो निधेही' 'इसलिए हमारे पर धरो' प्रथम हमारे शिर पर हाथ धरो, जिससे हमको अभय की प्राप्ति हो जाए अर्थात् हम निडर बन जाएँ, पश्चात् हृदय के ताप को मिटाने के लिए स्तनों पर अमृत वर्षानेवाला और तापनाशक करकमल

---

[1] —दुःख [2] —असमानता, [3] —वेदरूप वाणी ने जो कुछ मर्यादा कही है उसको

धरो, इसमें किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है, क्योंकि हम आपकी दासियाँ हैं, अथवा स्तनों पर हाथ धरकर हमारी परीक्षा ले लो कि ताप है वा नहीं, और हम सम्बन्ध योग्य हैं वा नहीं, यह रस की उक्ति है, अर्थात् यह (इस प्रकार) कहना रस को प्रकट करता है ॥ ४१ ॥

आभास—एवं प्रार्थनायां भगवान् यत्कृतवान् तदाह इतीति ।

आभासार्थ—गोपियों ने जब इस प्रकार भगवान् को प्रार्थना की, तब भगवान् ने जो कुछ किया वह श्री शुकदेवजी निम्न श्लोकों में वर्णन करते हैं—

श्री शुक उवाच

श्लोक—**इति विक्लवितं तासाँ श्रुत्वा यौगेश्वरेश्वरः ।**
प्रहस्य सदयं गापीरात्मारामोप्यरीरमत् ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि, इस प्रकार गोपियों के घबराहट वाले वचन सुनकर योगेश्वरों के ईश्वर आत्माराम होते हुए भी हंस कर दयायुक्त हो गोपियों को रमण कराने लगे ।

कारिका—**षड्गुणैश्वर्यभावेन षोढा रेमे हरिः स्वयम् ।**
स्वरूपेणापि शृंगारो द्विविधोऽपि निरूपितः ॥ १ ॥
सामान्यरमणं पूर्वं विशेषे मेलनं पुरा ।
बाह्येन रमणं पश्चात् आन्तरं च ततः परम् ॥ २ ॥
ततो नानाविलासेन जातकेलिविभेदतः ।
विप्रलंभस्य सिद्धचर्थं तासां मानुमुदीर्यते ॥ ३ ॥
तिरोभावस्ततश्चापि नायं लौकिककामुकः ॥

कारिकार्थ—(आचार्य श्री कारिकाओं में भगवान् ने जिस प्रकार गोपियों से रमण कर उनको रस दान दिया उसका स्पष्टीकरण करते हैं ।

भगवान् षड्[१] गुण वाले हैं अतः छ गुणों द्वारा साधारण रमण किया, जिस समय जिस गुण से रमण कराना था उस समग्र उस गुण को प्रकट कर रमण किया, इस प्रकार स्वयं हरि ने छ गुणों द्वारा संयोगात्मक शृंगार रूप से छ प्रकार का

---

[१]—छः

रमण किया, और विप्रयोगात्मक शृंगार स्वरूप से भी रमण किया, इसी भांति दो प्रकार से रमण इसलिए हुआ क्योंकि भगवान् द्विविध शृंगार रूप हैं ॥ १ ॥

प्रथम सामान्य रमण का वर्णन ४२ वें श्लोक में किया है। विशेष रमण बाह्य और आन्तर भेद से दो प्रकार का है। विशेष रमण के लिए प्रथम ४३ वें श्लोक में गोपियों का भगवान् से मिलन हुआ, जिसका वर्णन है। पश्चात् ४४ वें श्लोक में भगवान् ने बाह्य रमण[1] गति, कटाक्षादि क्रिया से गोपियों में काम को जागृत कराके जो रमण किया उसका वर्णन किया है। उस बाह्य रमण के अनन्तर ४५ वें श्लोक में आन्तर रमण का वर्णन है ॥ २ ॥

पश्चात् केलि[2] दो प्रकार की होती है. एक वह जिसमें, काम क्रीड़ा नहीं होती है उसको अजातस्मर केलि कहते हैं दूसरी जिसमें काम क्रीड़ा होती है उसको जातस्मर केलि कहते हैं। भगवान् ने अनेक विलासों से केलि क्रीड़ाएँ की जिसका वर्णन ४५ वें व ४६ वें श्लोकों में किया है, ४७ वें श्लोक में विप्रलम्भ शृंगार के सिद्ध्यर्थ गोपियों के मान का वर्णन है ॥ ३ ॥

४८ वें श्लोक में यह वर्णन है, कि भगवान् तिरोहित हो जाते हैं, क्योंकि भगवान् लौकिक पुरुषों के समान कामी नहीं हैं,

टिप्पणी का सारांश–यदि उनके समान कामी होते तो लौकिक पुरुषों के समान झूठे प्यार के वचनों से उनका मान छुड़ा देते। ऐसा न कर जो आप छिप गए उसका कारण यह है, कि जैसे लौकिक पुरुषों में स्त्रियों को देखकर काम उत्पन्न होता है, जिससे शरीर के अङ्गों में विकार होता है वैसे आप में नहीं हुआ, यदि होता तो आपका भी लौकिक पुरुषो के समान पतन[3] हो जाता वह नहीं हुआ, अतः आपने छिपकर अपना श्रुति सिद्ध, 'रसो वैसः' मैं पुरुषोत्तम स्वरूप हूं, यह बता दिया, अर्थात् रसस्वरूप आप में, रस शास्त्र में जितने रस के भेदों का वर्णन हैं, वे सब आपके स्वरूप के रूप ही हैं, अतः इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है, जैसे दैत्यों के लिए वीर्य रूप से प्रकट होते हैं क्योंकि उनका (दैत्यों का) वैसा अधिकार है, वैसे ही यहां भी जैसा अधिकार वैसे गुण स्वरूपों से आविर्भूत होकर रमण किया है, यह भाव है।

१—अंग के स्पर्श के बिना, २—क्रीड़ा वा विहार, ३—नाश

सुबोधिनी--प्रथमं तासां तापापनोदनार्थं सामान्यलीलामाह । **इति** तासां विक्लवितं परमवैक्लव्यभाषितं श्रुत्वा प्रहस्य अरीरमत् । ननु निरिन्द्रियः कथं रेमे, तत्राह, योगेश्वराणामपीश्वर इति । योगादिषु सर्वे पदार्थाः स्फुरन्ति, अणिमादयोऽपि, तथा तदैव स्वरूपमेवेन्द्रियादिभावेन प्रकटीकृतवान् । न तु स्वस्य कामेन । तथा सति बीजनिवृत्तौ कामो निवर्तेत । तासां यथा न कदाचिदपि स भावो गच्छति, तदर्थं **प्रहस्य** प्रकर्षेण हास्यं कृत्वा, तासामुद्धरणार्थं, न तु भिन्नगणनया मर्यादियां पातयित्वा नाशनार्थमिति । तदाह **सदय**मिति । गोपीरेवारमयत्, स्वयं त्वात्माराम एव । तासां रसाधारत्वाय वा सदयम् ।

व्याख्यार्थ—शुकदेवजी प्रथम गोपीजनों के ताप को मिटाने के लिए भगवान् ने जो सामान्य लीला की उसका वर्णन करते हैं—

इस प्रकार गोपीजनों के घबराहट वाले दीन वचन सुनकर हँसे, हँसकर गोपियों से रमण करने लगे।

भगवान् के इन्द्रियां तो हैं ही नहीं, तो बिना इन्द्रियों के कैसे रमण किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए भगवान् को 'योगेश्वरेश्वरः' विशेषण दिया है, कि जो योगेश्वर हैं उनके भी ईश्वर हैं, योगादि जिनके सिद्ध हैं जैसे उनके यहां सर्व पदार्थ स्वयं प्रकट दीखते हैं और अणिमा आदि सिद्धि भी सामने खड़ी हो जाती हैं, जिनसे बिना इन्द्रियों के सर्व क्रियाएँ वे सिद्ध कर लेते हैं वैसे ही उसी रमण समय में, भगवान् ने स्वरूप को इन्द्रियादि भाव में प्रकट कर दिया, यह इन्द्रिय रूप से भगवान् का प्राकट्य अपने काम के वास्ते नहीं है, किन्तु गोपियों को अपने रस स्वरूप के रस का दान करने के लिए है, यदि भगवान् कामी पुरुषों के समान अपनी काम तृप्ति के लिए वैसा (इन्द्रियों का प्राकट्य) करते तो रमण करते ही वीर्य पतन हो जाता और काम की शान्ति हो जाती, यों तो हुआ नहीं हैं, क्योंकि भगवान् में लौकिक काम नहीं है जिससे वीर्य पतन हो और काम शान्त हो जावे। गोपियों के जो भाव हैं भगवान् के रस प्राप्ति के भाव तो कभी भी जाने वाले नहीं हैं इसलिए भगवान् खूब हँसने लगे यह अच्छी तरह हँसना उनके (गोपियों के) ताप को मिटाने के लिए था, न कि, गोपियों को अपने से पृथक् समझकर उनको मर्यादा में डालकर उनके प्रेम मार्ग के भावों को नाश करने के लिए था। अतः दया युक्त होकर भगवान् गोपियों को रमण कराने लगे, आप (भगवान्) तो आत्माराम हैं अर्थात् भगवान् अपने स्वरूप से ही रमण करने वाले हैं, अतः उनको (भगवान् को) रमण करने की अपने लिए आवश्यकता नहीं थी, अथवा भगवान् ने दयाकर गोपीजनों को अपने रस का आधार बनाया जिससे उनका (गोपियों का) नायिका भाव सिद्ध हुआ।

कारिका—**क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते ।**
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेनेति तास्तथा ॥ १ ॥
कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः ।
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ॥ २ ॥
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च ।
अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेत् ॥ ३ ॥

भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यंते ।
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम् ।। ४ ।।

कारिकार्थ—रासलीला में लौकिक काम नहीं है इसको स्पष्ट रीति से समझाते हैं कि—

यहाँ रासलीला में वह समस्त[1] क्रियाएँ[2] हैं जो लौकिक काम क्रीड़ा में होते हैं (जिसका वर्णन ४६ वें श्लोक में होगा) किन्तु यहाँ (रासलीला में) 'काम' नहीं है, गोपीजनों में जो काम है उस काम की पूर्ति[3] भगवान् के अलौकिक काम से होती है इसलिए गोपियों का काम भी अलौकिक था, नहीं (लौकिक होता) तो उसकी अलौकिक काम से समाप्ति नहीं हो सकती, अतः गोपीजन भी निष्काम[4] थीं ।।१।।

गोपीजनों में लौकिक काम होता और उसकी पूर्ति भगवान् लौकिक काम से करते तो पुत्र आदि संसार में सृष्टि होती वह हुई नहीं है अतः भगवान् तथा गोपीजनों का काम लौकिक नहीं था, भगवान् में भी काम के अभाव से ही गोपियाँ भी पूर्ण निष्काम बन गई जिसमें कोई संशय नहीं है ।। २ ।।

इस कारण से रासलीला में किसी प्रकार की मर्यादा का भंग नही हुआ है, और यह लीला मोक्ष फल देनेवाली भी है, इसलिए इसके श्रवण से मनुष्य निष्काम हो जाता है, अर्थात् उस सुनने वाले का काम भी नाश हो जाता है ।।३।।

भगवान् की सब लीलाएँ निष्काम हैं अतः उनके सुनने से मनुष्यों के हृदय का रोग[5] नाश होता है ये शुकदेवजी के वचन हैं ।। ४ ।।

सुबोधिनी—आत्मारामस्य आत्मनैव रमणं व्यावर्तयितुमपिशब्दः । **अरीरमत्** बहुधा रेमे । उत्तरोत्तरं रसाधिक्यं च प्रकटितमान् ।। ४२ ।।

व्याख्यार्थ—मूल श्लोक में शुकदेवजी ने 'अपि' शब्द दिया है, उसका भाव यह है कि भगवान् यद्यपि आत्माराम हैं तो भी यहां अपने में रमण न कर गोपियों से बहु प्रकार रमण किया हे, बहुप्रकार रमण करते हुए उत्तरोत्तर रस की अधिकता प्रकट की है ।। ४२ ।।

१—सब, २—नमूने, ३—समाप्ति, ४—लौकिक काम रहित, ५—काम

आभास—एवं सामान्यलीलामुक्त्वा विशेषलीलामाह ताभिरिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्य लीला का वर्णन कर अब निम्न तीन श्लोको से विशेष लीला का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।**
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ—प्रिय के दर्शन से जिनके मुख खिल गए हैं ऐसी आई हुई गोपियों से घिरे हुए, जिनके उदार हास से युक्त दांत कुन्द पुष्पवत् शोभा दे रहे हैं वैसे अच्युत भगवान् नक्षत्रों से वेष्टित चन्द्रमा की भांति सुशोभित हो रहे थे ।

सुबोधिनी—अजातस्मरकेलिभिः प्रथमतः ताभिः समेतो जातः मिलितः । पूर्वं भयात् प्रथक् स्थिताः । तत उदाराणि चेष्टितानि यस्य । अत्र औदार्यं रसविषयकम् । यथा तासां महानेव रस आविर्भवति, तथा कामशास्त्रसिद्धलीलाः सर्वा एव कृतवान् । ततस्ता अन्तःपूर्णरसाः । प्रियस्य भगवत ईक्षणार्थमुत्फुल्लानि मुखानि यासां तादृश्यो जाताः । प्रियेक्षणेन वा सूर्यकिरणैरिव उत्फुल्लानि मुखानि । वस्तुतो लोभस्थितरसार्थमेव तथाकरणम् । एतावति कृते रसो निवर्तते, तदभावायाह **अच्युत** इति । तासामपि रससमाप्त्यभावाय **उदारेति** । उदारो यो हासः पूर्णकामप्रदः, कामार्थमेव यो मोहः तेनैव स्नेहः सम्बर्धितः । तदाह । हाससहिता ये द्विजाः त एव कुन्दपुष्पाणि, आरक्तान्यपि हासेन शुभ्राणि, तेषु दीधितिर्यस्य । कुन्दत्वं स्नेहस्यैतन्मात्रपर्यवसानार्थम् । (पूर्वं निरूपधिरेव स्नेहः स्थितः, भगवता परं रसशास्त्रोक्तरीत्या स्वरूपानन्दं दातुं तत्सजतीयः कामोपाधिकः स्नेहोऽधुना जनित इति ज्ञापनाय स्नेहरूपरदानां द्विजपदेन कथनम् ।) तथा सति फलभोगात् कान्त्यभावमाशंक्य तत्र दीधितिरुक्ता । यद्यपि भगवान् तन्निर्बन्धेन रेमे, जगद्दोषनिराकरणार्थं च, न तु स्वयम्, तथापि न पूर्णमनोरथ इव किन्तु यथा लौकिकः, तदाह दृष्टान्तेन । एणाङ्क उडुभिः नक्षत्रैः सह यथा व्यरोचतेति । बन्धातिरिक्ताः सर्वा बाह्या एव लीला उक्ताः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—जिन गोपियों को अब तक काम क्रीड़ा का अनुभव नहीं हुआ है, वैसी गोपियों का भगवान् के साथ यह पहला समागम हुआ है, इसलिए पहले तो भय के कारण, भगवान् से दूर अलग खड़ी रही, पश्चात् भगवान् ने जब रस विषयक[1] उदार चेष्टाएँ की, अर्थात् काम शास्त्र में रस[2] उत्पन्न कराने के लिए जो क्रियाएँ लिखी हैं, वे सब भगवान् ने की, उनसे उनके अन्दर पूर्ण काम रस जागृत हुआ जिससे वे रस से पूर्ण हो गई, अतः प्यारे (भगवान्) के दर्शन के लिए उनके मुख कमल ऐसे खिल गए, जैसे सूर्य दर्शन से कमल खिलते हैं, वास्तव में उनके मुख कमल, अधरामृत रस पान करने के लिए खिल गए थे, यदि गोपियों के मुख कमल अधरामृत रस पान के लिए खिल गए हैं तो

१—रस को उत्पन्न करनेवाली, २—काम,

भगवान् के रस को ये पान कर लेगी, तो भगवान् से रस की निवृति हो जाएगी, भगवान् नीरस हो जायेंगे ? ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिए शुकदेवजी ने भगवान् का नाम 'अच्युत' दिया है जिसका भावार्थ यह है, कि भगवान् सदैव सर्व रसादि से पूर्ण हैं उनकी 'च्युति' होती नहीं है, गोपीजनों ने अधरामृत के रस का पान अपनी, हृदय में प्रज्वलित, कामाग्नि को शान्त करने के लिए किया है, इतना ही नहीं, किन्तु भगवान् का हास्य उदार है, जिसका भी भाव यह है, कि आपके हास्य से गोपियों में से भी रस की समाप्ति नहीं होगी। वे भी पूर्ण काम ही रहेंगी, तो भगवान् का रस कैसे कम हो जाएगा ? कभी नहीं, क्योंकि वे तो अच्युत ही हैं।

भगवान् ने हास युक्त कुन्द के समान अपने दाँत खोलकर उनकी किरणों से गोपियों में मोह उत्पन्न कर अपने में दृढ स्नेह इसीलिए कराया, कि मेरे साथ सम्पर्क होने से, मेरा माहात्म्य देखकर मुझसे गोपियों को भय न हो जाए, यदि भय हुआ तो, रस के रंग में भंग हो जाएगा, मुझमें मोह होने से यों नहीं होगा। (श्रीगुसांईजी का लेख—पहले तो उपाधिरहित स्नेह था परन्तु भगवान् ने रस-शास्त्र में कही गई रीत के अनुसार स्वरूपानन्द का दान करने के लिए तत्सजातीय कामोपाधिक स्नेह उत्पन्न किया यही जताने के लिए जो स्नेहरूप दाँतों के लिए "द्विज" पद का प्रयोग किया गया)

दाँतों को जब कुन्द पुष्प जैसे कहा है तो फल भोग से उनकी कान्ति[1] चली जाएगी ? इस प्रकार की शङ्का न हो इसलिए शुकदेवजी ने श्लोक में 'दीधिति' पद दिया है, जिसका भाव है, कि उनमें किरणें हैं जिससे उनकी शोभा नष्ट न होगी।

यद्यपि भगवान् ने जगत् के दोषों का निवारण करने के लिए तथा गोपियों के आग्रह के कारण ही रमण किया है, न कि अपने आप ही अपने स्वार्थ वा इच्छा के लिए रमण किया है, तो भी भगवान् ने लौकिक नायक के समान पूर्ण रीति से रमण किया, दृष्टान्त समझाते हैं कि जैसे नक्षत्रों से चन्द्रमा शोभता है वैसे ही भगवान् गोपियों से शोभा पाने लगे, इस श्लोक में बन्ध के अतिरिक्त की हुई सब बाह्य लीलाएँ कही हैं ।। ४३ ।।

प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि चन्द्रमा जैसे पूर्ण होकर अपूर्ण होता है पश्चात् पुनः पूर्ण होजाता है सदा पूर्ण रूप नहीं रहता है वैसे पूर्ण भगवान् भी लीलार्थ अपूर्ण बने हैं पुनः पूर्ण हो जाएँगे किन्तु भगवान् सदा पूर्ण है।

आभास—एषा विशेषतः प्रथमलीला बाधककामनिवारिका । द्वितीयलीलाया उद्बोधार्थं पूर्वसामग्रीमाह उपगीयमान इति ।

आभासार्थ—इस प्रथम की हुई विशेष लीला ने गोपियों के बाधक काम को निवृत कर दिया अब दूसरी विशेष लीला के उद्बोधार्थ जो पूर्ण सामग्री चाहिए उसको इस श्लोक में वर्णन करते हैं।

---

[1] १—तेज

श्लोक—**उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः ।**
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ—सैंकड़ों स्त्रियों के यूथपति, गोपीजन जिनका गान कर रहो हैं और जिनके कण्ठ में वैजयन्तीमाला धारण की है वैसे भगवान् ऊँचे स्वर से गान करते और अपनी गति से वन की शोभा बढाते हुए फिरने लगे ।

सुबोधिनी—ताभिरुपगीयमानः निकटे गीयमानः स्वयमप्युद्गायन् जातः । ततः वनिताशतानामनेकविधस्त्रीणामनेकविधानेव यूथान् पातीति तथा जातः । यावतीभिर्मिलितो रसहेतुर्भवति, तावतीनामेकं यूथम् । एवमनेकरूपाणि कृतानि । तेषामत्र रक्षणं दूरादेवाश्वासनेन च। तदा गायतो गच्छतः रूपमाह **माला**मिति । वैजयन्तीं नवरत्नखचित्तां स्वाभाविकीमैश्वर्यप्रबोधिकां कीर्तिमयीं मालां बिभ्रत्, वनमेव सर्वं मण्डयन् अलंकुर्वन्, व्यचरत् लीलागतिं कृतवान् । एषा हि गतिः तासां कामोद्बोधिका । स तासां कामपूरकः । एकस्मात् वनात् वनान्तरं वा गत इति ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—गोपियों ने भगवान् के निकट उनका गान[1] किया तो भगवान् भी उसी समय जोर से गान करने लगे, पश्चात् अनेक यूथों के रक्षक हुए ।

भगवान् ने उन स्त्रियों के स्वयं के, अनेक यूथ बनवाए, प्रत्येक यूथ में, इतनी वनिताएँ साथ में लीं जितनी से रस प्राप्त हो सके अर्थात् रस उत्पन्न हो सके । भगवान् ने इनकी रक्षा, आश्वासन देकर दूर से ही की है, भगवान् गाते हुए जब गति विलास करते थे, उस समय के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नवरत्नों से जटित,ऐश्वर्य प्रकट करने वाली,कीर्तिमयी वैजयन्ती माला आपके गले को सुशोभित कर रही थी, आप समस्त बन को सुशोभित करते हुए वैसी गति से विचरने लगे जिससे गोपियों में काम की जागृति होने लगी, और उनके काम की पूर्ति करने वाले भी वे ही भगवान् हैं, भगवान् इस गति से वन वन में फिरने लगे ।

आभास—एवमुद्बुद्धे कामे ताभिः सह बन्धादिभिः रेम इत्याह नद्या इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब गोपियों में काम जग गया तब भगवान् ने रस शास्त्रानुसार बन्ध आदि प्रकार से गोपियों के साथ रमण किया, जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—**नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमबालुकम् ।**
रेमे तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना ॥ ४५ ॥

१—गुणगान

श्लोकार्थ—ठंडी बालु के रेत वाली तरङ्गों से आनन्द देने वाली और कुमुद के पुष्पों के सुगन्धियुक्त वायुवाली श्री यमुनाजी के तट पर पधारकर भगवान् ने गोपियों से रमण किया ॥ ४५ ॥

सुबोधिनी—नद्याः पुलिनमच्छं कोमलमाविश्य, आसमन्तात् प्रविश्य, रमणे बन्धादिभिरतिकोमलं कृत्वा, गोपीभिरनेकविधाभिः रेमे । हिमाः शीतलाः बालुका यत्रेति अन्तरूष्मा निवारितः । बहिः शैत्यं चाह **तत्तरलानन्दी**ति । तस्या नद्यास्तरलास्तरङ्गाः ताभिः कृत्वा आनन्दयुक्तं पुलिनमेव । आनन्दयुक्तो वायुर्वा । कुमुदानां चानन्दयुक्तसुगन्धः । तस्यानन्दजनकत्वेनैव मान्द्यं निरूपितम् । शैत्यं च कुमुदानां जलसम्बन्धात् । तादृशवायुना सहितं पुलिनम् । महाबन्धेषु वायोरप्यपेक्षा ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ—श्री यमुनाजी के स्वच्छ तथा कोमल तट पर पूर्णतः प्रवेश कर, भगवान् ने रमणार्थ उस तट को रेती के बन्धों से कोमल बनाकर अनेक प्रकार की गोपियों से वे रमण करने लगे। वह रेत वैसी ठंडी थी जो उसके नीचे भी ठंडक थी, बाहर ठंडक होने का कारण बताते हैं कि श्री यमुनाजी के चञ्चल तरङ्गों के संसर्ग से रेत ठंडी होने से तट आनन्द देने वाला होगया था, और वायु भी तरंगों के कारण ठंडी तथा कुमुदों के सुगन्ध से युक्त होने से सुगन्धवाली आनन्ददाई थी, वायु के आनन्ददाई होने में अन्य कारण यह था, कि वह मन्द मन्द चलती (लग रही) थी। रमण के समय जब महाबन्ध होता है तब वायु की भी अपेक्षा रहती है। अतः सर्वभाव से (सर्व सामग्री सिद्ध कर) गोपियों की दूसरी विशेष काम क्रीड़ा (जातस्मर केलि) पूर्ण की ॥ ४५ ॥

आभास—एवं सर्वभावेन तासां जातस्मरकेलित्वं सम्पादितम् । अतः परं अष्टविधालिङ्गनादिपूर्वकं चेष्टितकामादियुक्तं रसविलासचरित्रमाह बाहुप्रसारेति ।

आभासार्थ—भक्तों से की हुई विशेष केलि के अनन्तर आठ प्रकार के आलिङ्गन तथा काम की चेष्टा से युक्त जो भगवान् ने रासविलास चरित्र किए उनका वर्णन इस 'बाहुप्रसार' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुलीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार ॥४६॥

श्लोकार्थ—भुजाओं को पसारना, आलिङ्गन करना, हाथ, अलक, जांघ, नीवो और स्तन इनका स्पर्श, हास्य वचन, नखों के अग्र भाग चुभोना, क्रीड़ा, देखना और हंसना आदि लीला करने से व्रज भक्तों के काम का उद्दीपन कर भगवान् उनको (गोपियों को) रमण कराने लगे ॥ ४६ ॥

सुबोधिनी— दूरे स्थितामवयवं वा स्प्रष्टुं बाहुप्रसारणम् । ततो बलादपि परिरम्भः। ततः करालकोरुनीवीस्तनानामालभनानि । करालभनं हस्ते ग्रहणम् । पुरुषायितलीलासमबन्धे वा । एवं कचोन्नमनार्थं अलकानां स्पर्शः । ऊरुस्पर्शो बाहुबन्धार्थः । नीवीस्पर्शः पुष्टे रसे मोचनार्थः । स्तनयोस्तु रसोद्गमनार्थः । एवं पञ्चस्पर्शाविहिताः । **नर्म** परिहासवचनानि कामस्तम्भनार्थम् । ततो नखाग्रपाताः नखक्षतदन्तक्षतताडनादयः कामयुद्धनिरूपकाः । तत्तत्स्थाने स्थितः कामः तैरुद्बोध्यते, यथा सेनावधे राजा समायाति । क्ष्वेलिः क्ष्वेलिका प्रस्तोभनादिः, तत्पूर्वकान्येवावलोकनानि । हसितानि रसस्थापकानि । एवं द्वादशविधोऽपि कामः द्वादशाङ्गेषु स्थितः प्रबुद्धो भवति, तदाह **व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन्निति** । संयुक्तः कामोरतिपतिः वियुक्तस्त्वग्निरूपः । एवमाधिदैविकं काममुद्बोधयन् रमयांचकार । गोपीनां सुखमेव प्रकटितवान्, न तु कामान्तेन विरतिमुत्पादितवान् ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ—दूर खड़ी हुई गोपी वा उसके अङ्ग का स्पर्श करने के लिए भगवान् ने अपनी बाहु[1] को पसारा[2], पश्चात् भगवान् ने बलपूर्वक[3] गोपो को आलिङ्गन किया, अनन्तर[4] गोपी के हाथ, अलक, जांघ, नीबी और स्तनों का हाथ से स्पर्श किया । हाथ से हाथ को पकड़ना इसको पुरुषायित लीला अथवा सम्बन्ध कहा जाता है, इस प्रकार बालों को ऊपर करने के लिए अर्थात् ठीक करने के लिए अलकों का स्पर्श किया बाहु बन्ध के लिए जंघाओं का स्पर्श किया, रस के पुष्ट होने पर नीवी[5] की गांठ खोलने के लिए उसका (नीवी का) स्पर्श किया, रस बढाने के लिए स्तनों को छूआ अर्थात् मर्दन किया, इस प्रकार काम शास्त्र में कहे हुए पांच स्पर्श किए पश्चात् काम के स्तंभन के लिए कोमल वचन[6] कहने लगे, उसके बाद काम की लड़ाई हो रही है वैसा दिखाने के लिए नख तथा दान्तों से ताड़ना करने लगे, यों ताड़ना करने से जहां जहां अर्थात् जिस जिस अङ्ग में काम शान्त हो वह काम जागृत हो जाए जैसे सेना के वध होने पर, राजा स्वयं लड़ाई के मैदान में आता है वैसे ही यहाँ भी नख तथा दन्तों से ताड़ित हुए अङ्ग शिथिल हो जाते हैं तब काम राजा स्वयं प्रकट होता है । क्ष्वेलि[7] पूर्वक अवलोकन[8] तथा हास्य करते थे, इस प्रकार की लीला (क्रीड़ा कृति) से द्वादश[9] अङ्गों में स्थित द्वादश प्रकार का काम जागृत होता है, इसलिए श्लोक में 'व्रजसुन्दरीणा–मुत्तम्भयन्' पद दिया है जिसका भावार्थ है कि व्रज की सुन्दरियों के काम को बढाते थे ।

संयोग दशा में जो काम होता है वह 'रतिपति' कहलाता है, और वियोग दशा वाला काम 'अग्नि' कहलाता है, इस प्रकार आधिदैविक काम को जागृत कर भगवान् ने गोपियों को रमण कराया । जिससे भगवान् ने गोपियों को आनन्द की प्राप्ति कराई न कि काम के अन्त में वैराग्य (संभोग के इच्छा का नाश) कराया ॥ ४६ ॥

आभास—एवं संयोगशृंगारमुपपाद्य विप्रयोगमुपपादयितुं तासां मानमाह एवमिति

आभासार्थ—इस प्रकार संयोग श्रृङ्गार की सिद्धी कर अब विप्रयोग श्रृङ्गार की सिद्धि के

१—हाथ, २—लम्बा किया, ३—जबर्दस्ती से, ४—पीछे, ५—नाड़ा,
६—परिहास के वचन, ७—रस को स्थापित करने वाली क्रीड़ा, ८—देखना, ९—बारह

लिए भगवान् ने उनमें (गोपियों में) अहङ्कार उत्पन्न किया जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**एव भगवतः कृष्णाल्लब्धकामा महात्मनः ।**
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणाँ मानिन्योभ्यधिकं भुवि ।। ४७ ।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्ण से गोपियों ने अपने मनोरथ पूर्ण किए जिससे उनको अहङ्कार हुआ, कि हम पृथ्वी पर जो स्त्रियाँ हैं उन सबसे अधिक (उत्तम) हैं ।। ४७ ।।

सुबोधिनी—पूर्वोक्तप्रकारेण **भगवतः** सर्वरसदानसमर्थात्, **कृष्णात्** सदानन्दात् फलरूपात्, **लब्धकामाः** प्राप्तमनोरथाः सत्यः आत्मानमेव पूर्णं मेनिरे, न तु भगवन्तं पूर्णम्, तेन वा स्वपूर्णताम्। ननु भगवानेवं कथं कृतवान्, न्यूना एव कथं न संरक्षिताः, तत्राह **महात्मन** इति। भगवान् महानेवात्मा। न ह्यगाधे जले प्रविष्टः अमग्नो भवति, घटो वा अपूर्णो भवति। किञ्च, आत्मानं स्त्रीणां मध्ये अभ्यधिकं मेनिरे, भुवि चाभ्यधिकम् भुवि स्त्रीणाँ मध्ये वा। अत एव मानिन्योऽपि जाताः। न ह्यस्मत्सदृशोऽन्याः सन्ति। अतोऽस्मान् यदि प्रार्थयिष्यति, तदा रसं दास्याम इति मानयुक्ता जाताः। भगवद्धर्मास्तासु समागताः। तथा सति यथा प्रार्थनया पूर्वं भगवान् वशे जातः, एवं वयमपि भविष्याम इति। रसार्थमेवेवं भावः, न तु दोषरूपः, भगवद्भावात् ।। ४७ ।।

व्याख्यार्थ—आगे कहे हुए प्रकार से सदानन्द फलरूप सर्व रस देने में समर्थ भगवान् कृष्ण से अपनी कामना पूर्ण कर लेने से अपने को ही पूर्ण समझने लगीं, भगवान् को भी पूर्ण नहीं समझा और हम उनके द्वारा ही पूर्ण हुई हैं यों भी नहीं मानने लगीं।

भगवान् ने उनको पूर्ण क्यों बनाया? क्यों नहीं उनमें कुछ कमी रखी? इस शङ्का को मिटाने के लिए कृष्ण को 'महात्मा' कहा है, भगवान् महती आत्मा हैं, जो अगाध जल में प्रवेश करता है वह गीला हो जाता है शुष्क नहीं रहता है अथवा डूब जाता है एवं जो घट उसमें पड़ता है वह पूर्ण होकर ही बाहर आता है। और उन्होंने अपने को पृथ्वी पर तथा समस्त स्त्रियों से उत्तम माना, इसलिए वे अहङ्कारिणी[1] हो गईं, जिससे समझने और कहने लगी कि हमारे समान दूसरी कोई नहीं है, अतः भगवान् जब प्रार्थना करेंगे तब हम उनको रस देंगी, इस प्रकार मान करने लगीं, भगवान् के धर्म उनमें आगए, इसलिए जैसे प्रथम हमने प्रार्थना की तब भगवान् वश हुए वैसे हम भी तब वश होंगी जब भगवान् हमको प्रार्थना करेंगे, इस प्रकार उनका कहना रस के लिए ही था अतः दोष रूप नहीं था, क्योंकि उनमें यह मान भगवद्भाव के कारण हुआ है ।। ४७ ।।

आभास—भगवांस्तु ऐक्येनैव रसं प्रयच्छन् बहिस्तिरोहिता जात इत्याह तासमिति

---

[1] —अभिमान वाली

आभासार्थ—भगवान् की इच्छा हुई कि गोपियों से एक होकर ही रसदान दूं अतः बाहर से तिरोहित होगए[१] जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।**
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ।। ४८ ।।

श्लोकार्थ—गोपियों का वह सौभाग्य मद देखकर उसको (मद को) शान्त करने के लिए तथा उन पर (गोपियों पर) कृपा करने के लिए भगवान् वहाँ ही अन्तर्हित[१] हो गए ।। ४८ ।।

सुबोधिनी—मानः पूर्णता च न दोषाय । स्त्रीषु भूमौ च यदाधिक्यज्ञानं स दोषो भवति । तननूद्य तत्परिहारार्थं तिरोहित इत्याह । तासां तत्प्रसिद्धं पूर्वोक्तं सर्वोत्तमत्वलक्षणं सौभाग्यमदं वीक्ष्य, तस्य मदस्य प्रशमाय अन्तरधीयत । ननु भगवद्रमणेन हि तासामेवं भावः, अतःस्वकृत एवेति कथं तिरोधानं कृतवानित्याशङ्क्याह । वीक्ष्य मानं च प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयतेति । मानापनोदनं कर्तव्यम् । मानस्त्वान्तरः । अशक्तो हि बहिरपनोदनार्थं यत्नं करोति । चकारात् स्वधर्मं च । अतः प्रसादाय, प्रथमतस्तासाम्, पश्चात् स्वस्य च । **तत्रैव** गोपिकासु यूथमध्ये वा अन्तर्धानं प्राप्तवान् । नन्वेतत् द्वयमपि न कर्तव्यम्, उपेक्षिताः कुतो नेति चेत्. तत्राह **केशव** इति । यथा रजोगुणं ब्रह्मणो निवार्य, तस्मै मुक्ति दत्तवान्, यथा वा शिवस्य तमोगुणं निवार्य, एवमेतासामपि मदं मानं च निवार्य, मुक्ति दातुं तथा कृतवानित्यर्थः । कायिकतिरोभावोऽयम्, प्रथमाधिकारित्वाद्गोपीनाम् ।। ४८ ।।

व्याख्यार्थ—गोपियों ने अपने को पूर्ण समझा, जिससे उनमें जो मद उद्भव[२] हुआ वद दोष रूप नहीं था किन्तु अपने को स्त्रियों तथा पृथ्वी पर श्रेष्ठ समझने लगी वह (अभिमान) दोषरूप था, शुकदेवजी ने श्लोक में इस दोषरूप अभिमान का अनुवाद किया है अतः इस दोष रूप मद को नाश करने के लिए भगवान् तिरोहित होगए जिसका वर्णन करते हैं—उनका वह प्रसिद्ध पहले कहा हुआ हम सबसे उत्तम हैं वैसा सौभाग्य मद (अभिमान) देखकर उसको शान्त करने के लिए भगवान् तिरोहित हो गए ।

भगवान् ने गोपियों से रमण किया जिससे ही उनमें इस भाव[३] की उत्पत्ति हुई, अतः भगवान् ने स्वयं वैसा भाव पैदा किया फिर आप उस भाव को शान्त करने के लिए कैसे तिरोहित हुए ? इस शङ्का के उत्तर में शुकदेवजी ने श्लोक में कहा है कि मान देकर उन पर कृपा करने के लिए वहाँ ही (गोपियों के अन्तःकरण में अथवा गोपियों के यूथों के मध्य में) अन्तर्हित हो गए, अभिमान का तो नाश करना ही चाहिए, क्योंकि वह रमण में प्रतिबन्धक होता है, मान तो आन्तर धर्म है, अतः भगवान् बाहर से अन्तर्धान होकर अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गए, जो अशक्त[४] होते हैं वे बाहर से ही मान

१—छिप गए, २—पैदा, ३—मद, ४—अल्प (कम) शक्ति वाले,

को मर्दन करने का प्रयत्न करते हैं, भगवान् सशक्त हैं अतः अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर उनका मान मर्दन करने लगे अर्थात् अन्तः प्रविष्ट होकर उनको वश करने लगे और उन पर कृपा भी की। इस प्रकार भगवान् ने अपने धर्म को प्रकट किया। पश्चात् आप भी उनके वश होंगे।

भगवान् ने गोपियों के अभिमान, और मान की उपेक्षा क्यों नहीं की ? इसके उत्तर में शुकदेवजी ने भगवान् का नाम 'केशव' देकर समझाया है कि भगवान् ने जैसे ब्रह्मा के रजोगुण को मिटाकर उसको मुक्ति दी है और शङ्कर के तमोगुण को नाश कर उसको मुक्ति दी है वैसे ही इनका भी मदादि मिटाकर इनको मुक्ति दान देने के लिए तिरोहित हुए हैं अतः उपेक्षा नहीं की है।

भगवान् का यह तिरोभाव कायिक है अर्थात् भगवान् ने अपने श्री अङ्ग को छिपा लिया, कारण कि गोपियां अभी तक प्रथम कक्षा की अधिकारिणियां है क्योंकि तामस है जिससे उनको विरहानुभव काया के तिरोधान से ही होने वाला था अतः भगवान् बाहर से तिरोहित होकर गोपियों के अन्तः करण में रस स्वरूप स्थित हो गए ।। ४८ ।।

योजना में लालू भट्टजी कहते हैं—अन्तः करण में लीला सहित प्रभु क्रीड़ा, अलौकिकी लीला है।

योजना में लालू भट्टजी कहते हैं—यूथ के मध्य में छिप जाना यह लौकिक प्रकार है।

तीसरा पक्ष कहते है कि भगवान् जब तक छिपे थे तब तक छिपे तब तक व्यापि वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी के साथ रमण करते थे,

विप्रयोगात्मक शृङ्गार रस का अनुभव ही गोपियों के लिए 'मुक्ति' है।

इति श्रीमदभागवत् महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध के २६ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस फल अवान्तर प्रकरण के ऐश्वर्य निरूपक पहले अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

****

महारास—गौडौ

कर गहि अधर धरी मुरली।
देखहु परमेसुर की लीला ब्रजबनितानि की मन–चुरली ।।
जाको नाद सुनत गृह छांड्यो
प्रचुर भयो तन मदन बली।
जिनि सनेह सुत-पति बिसराए
हा हरि! हा हरि! करति चली ।।
बिहँसित बदन प्रफुल्लित लोचन
रवि–उद्योत जनु कमल–कली।
'परमानन्द' प्रीति पद–अंबुज कृष्ण-समागम बात भली ।।

महारास—आसावरी

मोहन ! आजु नीकौ जम्यो राग आसावरी ।
मदन गोपाल बेनु नीकौ बाजे नाद सुनत भई बावरी ॥
कमल नयन सुन्दर व्रज नाइक सब गुन-निपुन कथा है रावरी
सरिता थगित ठगे मृग पंछी
खेवट चकित चलति नहिं नाव री ॥
बछरा खीर पिबत थन छांड्यो
दन्तनि तृन खण्डति नहिं गाव री ।
'परमानन्द' प्रभु परम विनोदी इहै मुरुली-रस को प्रभाव री ॥

महारास—गौरी

आई हम पाँइनु परन ।
सोई करहु जैसे संग न छूटै राखहु सरन ॥
जव तुम बेनु बजाइ बुलाई अब कैसे चतुराई ।
तुम्हारौ भजन पाप को कन्दन इहि तो निगम बताई ॥
चलत नहीं जु चरन गति थाकी मन न चलै व्रज–वासा ।
"परमानन्द" प्रभु हों उदार तुम छाँडहु वचन उदासा ॥

महारास— टोडी

बन्यो रास मण्डल में माधौ गति में गति उपजावै हो ।
कर कंकन झनकार मनोहर प्रमुदित बेनु बजावै हो ।
स्याम सुभग तन पर दच्छिन कर पूजत चरन सरोजै हो ।
अबला–वृन्द अवलोकत हरि-मुख नयन–विकार मनोजै हो ।
नील पीत पट चलत चारु नट रसना नूपुर कूजै हो ।
कनक कुम्भ–कुच बीच पसीना मानों मोतिनि पूजै हो ।
हेम–लता तमाल अवलंबित सीस–मल्लिका फूली हो ।
कुञ्चित केस–बीच अरुझाने जानों अलि-माला भूली हो ।
सरद बिमल निसि चन्द बिराजित क्रीडत जमुना–कूले हो ।
"परमानन्द" स्वामी कौतुहल देखत सुर–नर भूले हो ॥

रास–गौरी

गोपाललाल सों नीके खेली ।
विह्वल भई संभार न तन की सुंदरि छटे बाल संकेली ।
टूटत हार कंचुकी फाटत फूटत चुरी खसत सिर फूल ।
बंदन मिटत सरस उर चंदन देखत मदन महीपति भूल ।
बाहु-बंध परिरंभन चुंबन महा महोत्सव रास विलास ।
सुर-विमान सब कौतुत भूले कृष्ण-केलि 'परमानंददास' ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

'द्वितीयो अध्याय'

स्कन्धानुसार सप्तविंशो अध्याय

श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों की दशा

कारिका—**स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता ।**
स बाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तर्निविशेत्पुनः ॥ १ ॥
तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोऽविशत् ।
चत्वारोऽत्र निरूप्यार्थाः रसासक्तिर्हरेः क्रियाः ॥ २ ॥
गर्वाभावश्च तत्रादौ निरूप्यन्ते क्रमात्त्रयः ।
उद्देशतो लक्षणतः फलतश्च यथायथम् ॥ ३ ॥
सप्तविंशे तिरोधानाल्लीलान्वेषणतत्पराः ।
रसमन्तर्गतं चक्रुर्गोपिका इति रूप्यते ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—भगवान् ने अपने आनन्द की स्थापना गोपीजन में करने के लिए

(२६ वें अध्याय में) लीला की है, जिस लीला से वह आनन्द (रस) बाहर प्रकट हुआ, यह देखकर भगवान् उस रस को अन्दर* पुष्ट करने के लिए, लीला सहित गोपीजन के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गए ॥ १½ ॥

इस लीला में चार अर्थ अर्थात् विषय निरूपण करते हैं १–रस में आसक्ति, २–हरि की क्रिया, ३–गर्व का अभाव, ४–भगवद्गुणगान। इन चारों में से प्रथम, उद्देश्य, लक्षण और फल ये तीन क्रम से जैसे हैं, वैसे वर्णन किए जाएंगे ॥ २-३ ॥

सताईसवें अध्याय में रसासक्त गोपियों में भगवान् के तिरोहित हो जाने से, उनकी खोज करने में तत्पर होकर उस रस को भीतर स्थित करने लगी, इसका वर्णन किया जाता है ॥ ४ ॥

कारिका व्याख्या—२६ वें अध्याय में, भगवान् ने जो काम लीला गोपियों के साथ की है, वह लौकिक काम लीला के समान नहीं है। लौकिक काम लीला, अनित्य तथा विकार वाली है किन्तु भगवान् द्वारा की हुई यह लीला, नित्य एवं अविकृत तथा रसरूपा है, क्योंकि भगवान् नित्य एवं अविकृत तथा रसरूप हैं अतः उनसे की गई लीला भी वैसी ही है, और गोपियां भी श्रुति रूपाएं हैं, संयोगावस्था में वह रस (आनन्द) बाहर आनन्द देता है किन्तु विरह अवस्था में भीतर सर्व इन्द्रियादि में प्रविष्ट होकर सबको आनन्द देता है अथवा आनन्द रूप बना देता है।

इस २७ वें अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों में रसासक्ति, हरि की क्रिया और गर्व का अभाव इनके उद्देश्य संक्षेप में कहे हैं, किन्तु गुणगान के स्वरूप तथा लक्षण नहीं कहे हैं।

गोपियों ने भगवान् की खोज की है, यह उनके १–रसासक्ति का लक्षण है, २–हरि की क्रिया अर्थात् गोपियों ने कृष्ण की लीलाऐं स्वयं की है, यह हरि की क्रिया का लक्षण है, ३–गर्वाभाव का लक्षण यह है कि गोपियों ने अपनी सौतिन की बड़ाई की है।

---

*इन्द्रियों आदि सर्व में व्याप्त करने के लिए।

उपरोक्त तीनों का फल-भगवान् की खोज का फल-चरणारविन्दों के दर्शन हुए। हरि की लीला करने का फल–गोपियों में भगवान् की लीलाओं के आवेश होने से, लक्ष्मी आदि से की हुई लीलाओं का वर्णन करना और उनमें (भगवान् में) दोष दृष्टि का अभाव होता है।

सबको भूल कर भगवान् की खोज में ही प्रयत्नशीला होना गर्व के अभाव का फल है।

गुणगान का साधारण वर्णन इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में है तथा विशेष वर्णन २८ वें अध्याय में किया हुआ है।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भगवतस्तिरोभाव उक्तः, ततस्तदनन्तरं प्रथमतः तासां रसासक्तचित्तानामापाततो महांस्तापो जात इत्याह **अन्तर्हिते भगवतीति**।

आभासार्थ—२६ वें अध्याय के अन्त में, भगवान् तिरोहित हो गए यों कहा गया है, जिसमें रस में आसक्त चित्त वाले गोपीजनों को, भगवद्दर्शन न होने से महान् ताप[1] हुआ, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी इस श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।**
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि अचानक भगवान् के अन्तर्हित होने पर व्रजाङ्गनाएं वैसे ताप को प्राप्त हुई जैसे हथनियां यूथपति गजराज के बिना संतप्त होती हैं ॥ १ ॥

सुबोधिनी—भगवति अन्तःप्रविष्टे षड्गुणैश्वर्यसहिते यावदन्तरनुसंधानं न कृतवत्यः, तावत् सहसैव अकस्मादतप्यन्। अन्तर्विचाराभावे हेतुः **व्रजाङ्गनाः** इति। तापे हेतुः **तमचक्षाणा** इति। तापः सहज एव स्थितः कामात्मा तद्दर्शनस्पर्शादिभिः शान्तो भवति। यदा पुनः पूर्वसिद्धं बहिर्दर्शनं न जातम्, तदा तत्ताप उचित एव। तासां स्पर्श एव मुख्य इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **करिण्य** इवेति। यूथपो महामत्तगजः। 'रतिं गज एव जानाती'ति वात्स्यायनः। 'रत्यां विमर्दे गज' इति विवृतश्च। सन्ति च सिंहाः, तथात्र कालः। अतः करिणीनां यूथपादर्शने महानेव क्लेशः ॥१॥

---

[1] —दुःख

व्याख्यार्थ—षड् ऐश्वर्यादि गुण सहित स्वरूप से, श्रीकृष्ण गोपियों के अन्दर प्रविष्ट हो गए, जिससे बाहर प्रत्यक्ष दर्शन आदि गोपियों को न होने लगा, उससे उनको अचानक ताप हुआ, कारण कि इन व्रज की स्त्रियों के लिए भगवान् का बहि:प्रकट रूप ही मुख्य है इसलिए इनको आन्तर रूप का विचार ही नहीं अतः भगवान् ही आन्तर स्थिति से सन्तुष्ट हो जाएँ ऐसी ये गोपीजन नहीं हैं। फलतः वैसी दृढ आग्रही गोपियाँ उस वही प्रकट स्वरूप को न देखकर, यह विचार भी न कर सकीं, कि वे हमारे भीतर होंगे, अतः वे संतप्त: होगई, उन लोगों में सहज काम रूप ताप, जो सदैव रहता है, उसकी शान्ति भगवान् के इस स्वरूप के दर्शन और स्पर्श आदि से होती थी, अब उनको यह विचार हुआ, कि अब हमारे इस ताप को कौन शान्त करेगा? जब तक यह स्वरूप प्रकट न होगा, तब तक हमारे ताप की शान्ति नहीं होगी। उनका यों ताप करना योग्य ही है। कारण कि उनके लिए भगवान् का स्पर्श ही मुख्य है, यह जताने के लिए श्री शुकदेवजी ने हथनियों का दृष्टान्त दिया है। हथनियों के यूथ के पति हाथी के चले जाने पर, जैसे हथनियाँ दुःखी होकर डरती हैं, क्योंकि बन में सिंह रहते हैं, किसी ने हस्ती को मार तो नहीं दिया है? उसके जाने पर हमारी रति का मर्दन कौन करेगा? इससे वे हथनियाँ संतप्त होती हैं। वात्स्यायन ने कहा है कि 'रति करना हाथी ही जानता है' और 'रति[1] का मर्दन भी हाथी करता है'। इसी प्रकार हथनियों की भांति गोपियों को भी इसी विचार से बहुत ताप हुआ कि कृष्ण के बिना हमारे सहज ताप को शान्त करने वाला अन्य कोई नहीं है, क्या वह काल आगया है? जिससे अवतार लीला सम्पूर्ण हुई? इसी चिन्ता से वे (गोपियाँ) दुःखी होने लगीं ।। १ ।।

आभास—यदा पुनः स तापः अन्तःप्रवेष्टुमैच्छत्. तावता भगवल्लीला अन्तःप्रविष्टा तापं दूरीकृत्य स्वयमेवाविर्भूतेत्याह **गत्येति**।

आभासार्थ—गोपियों का वह ताप फिर भीतर प्रवेश करने की इच्छा करने लगा इतने में अन्तः प्रविष्ट भगवान् की लीला ताप को दूर कर स्वयं प्रकट होगई जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ।। २ ।।

श्लोकार्थ—भगवान् की गति, अनुराग, मन्द मुसकुराहट, विलास सहित ईक्षण, मनोहर भाषण, वन के विहार और विलासों से जिनके चित्त का हरण हो गया है वैसी गोपीजन भगवद्रूप बनकर उनकी (भगवान् की) लीलाओं का अनुसरण करती हुई वैसी क्रीड़ा[2] करने लगी ।। २ ।।

---

[1] १—भोग, [2] २—लीला,

सुबोधिनी—ता भगवदीयैः कायवाङ्मनोभिः वशीकृताः तद्भावमापन्नाः तास्ता एव भगवच्चेष्टा जगृहुः । प्रथमतः कायिकीमाह । **गत्या** कायचेष्टया वशीकृताः । तत इन्द्रियसहितमनश्चेष्टया वशीकृता जाता इत्याह **अनुरागे**ति । अनुरागः स्नेहो मानसः, तत्पूर्वकं स्मितम्, तस्य विलासः स्वनिष्ठतात्याजनार्थः । अन्यथैवं सति ज्ञानमेवोदयं प्राप्नुयात् । अतः स्मितेन मन्दहासेन ईषद्विमोहिताः, न बहिर्गताः, नान्तःस्थिताः, किन्तु भगवति मध्ये स्फुरिते तद्धर्मेषु च समागताः । अनुरागस्मितेन सहितो यो विभ्रमो विलासः अलसवलितादिः तत्सहितानीक्षितानि, सर्व एव कटाक्षाः । वाचिकैरपि विमोहमाह **मनोरमालापे**ति । मनोरमयतीति, मनसि रमते इति वा, मनोरमः, योऽयमालापः, भगवतो गुह्यभाषणानि, केवलवाक्यस्य चित्ताक्षेपकत्वं न भविष्यतीति प्रामाण्यावधारणं स्त्रीणां प्रकारान्तरेण न भवतीति फलमेवादौ निरूपितम् । सुखार्थं हि भगवद्वाक्यानि तदानीमेव च सुखमुत्पादयन्ति । ते चालापाः क्वचिद्बन्धादिबोधका लीलोपयोगिन इत्याह **विहार** इति । तत्रापि विलासाः आवान्तरभेदाः, यथोत्तानके ग्रास्यादयः । तै पूर्वकृतैः तमःसत्त्वरजोरूपैः त्रिविधमपि चित्तमाक्षिप्तमिति आक्षिप्तचिता जाताः । अतस्तापं न प्राप्तवत्य इति भावः । **प्रमदा** इति (बाह्याभ्यन्तराननुसन्धानेहतुभूतोत्युत्कटरसभावोऽत्रमदपदेनोच्यते । तेन प्रभुलीलाविष्करणं युक्तमिति भावः। किञ्च,) **प्रमदाः** प्रकृष्टो मदो यासां स्वभावत एव, अन्यथा दास्यभावान्न प्रच्युताः स्युः । तदा केवलभगवतः लीला स्वानुपयोगिनी साम्प्रतं च नानुभूतेति **रमापते**र्लक्ष्मीपतेः, लक्ष्म्या सह विलासरूपां चेष्टां जगृहुः । एकस्या अपि बह्वयश्चेष्टा इति तास्ता उक्ताः । नन्वीश्वरधर्माविष्करणं दासीनां निषिद्धमिति चेत्, तत्राह **तदात्मिता** इति । भगवानेवात्मनि यासाम्, तथात्वेन स्फुरितः । अतो भगवल्लीलाग्रहणं तापनिवारकत्वेनोद्देशत उक्तम् । विस्तरमग्रे वक्ष्यति । क्रमहेतुत्वं च वक्ष्यामः ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—भगवदीय काया वाणी और मन की चेष्टाओं से वशीकृत हो जाने से, उनको भगवद् भाव प्राप्त हो गया जिससे वे भगवान् की उन उन चेष्टाओं[1] को करने लगीं ।

शुकदेवजी उसका (वशीकृत होने का) प्रकार बताते हुए कहते हैं कि प्रथम भगवान् की काया की चेष्टा[2] से गोपियाँ वश हुई, पश्चात् उनकी (भगवान् की) इन्द्रियों सहित मन से की हुई चेष्टा से वश हो गई, यह 'अनुराग' शब्द से कहा है, कारण कि, अनुराग[3] मन का धर्म है, उस मानस धर्म स्नेह के साथ किया हुआ स्मित[4] और विलास (हाव भाव (कटाक्षों) से ईक्षण) किया, वह इसीलिए किया, कि गोपियों की भगवान् के भजन में, जो शेष[5] रही हुई निष्ठा भी समाप्त हो जाए, यदि भगवान् ने इस आशय से हाव भाव कर ईक्षण[6] न किया होता तो, भगवान् के ईक्षण से ज्ञान उत्पन्न हो जाता, वह न होकर ईक्षण ने गोपियों के प्रमदा भाव को जगाकर मानादि भाव जो उद्भव किए उनसे समझा जाता है कि भगवान् का इक्षण इस प्रकार का था, मन्द मुसक्यान से मोह उत्पन्न होने से गोपीजन, न बाहर जा सकीं और न भीतर ठहर सकीं अर्थात् गोपीजनों में उस समय

१—लीलाओं, २—गति-चाल, ३—स्नेह, ४—मन्द मुसकराहट,
५—बाकी, ६—अवलोकन, देखना

न भगवद्धर्म में और न भगवत्स्वरूप में स्थिर निष्ठा रही कारण कि उस समय मध्य में गोपीजन अन्तः करण में स्फुरित भगवान् में तथा उसके धर्म में पहुँच गई थीं।

श्री शुकदेवजी 'मनोरमालाप' आदि शब्दों से कहते हैं कि भगवान् ने वाणी से भी गोपियों को विमोहित किया है, मन को जो आनन्द देता है वा मन में जो रमण करता है उसको मनोरम कहते हैं। वैसा मनोरम आलाप[1] अर्थात् भगवान् के गुप्त भाषण हैं, किन्तु केवल वाक्यों से चित्त का आकर्षण नहीं होगा। और स्त्रियां भगवान् के वचन प्रमाण हैं इसे अन्य प्रकार से समझ न सकेंगी इसलिए 'मनोरम' शब्द से प्रथम आलाप का फल बता दिया है, कि भगवान् के वाक्य सुख[2] उत्पन्न करने के लिए हैं भगवान् के वचन उसी वक्त ही (कहने के समय ही) आनन्द उत्पन्न करते हैं।

'विहार' शब्द से यह आशय प्रकट करते हैं कि वे आलाप[3] लीला के उपयोगी कभी बन्ध आदि का बोध कराते हैं, उसमें भी 'विभ्रम (विलास)' शब्द से बन्ध आदि के अवान्तर भेद भी बताते हैं जैसे उत्तानक बन्ध में ग्राम्य आदि बन्ध होते हैं। वे बन्ध तीन प्रकार के(सात्विक, राजस और तामस) हैं जो प्रथम भगवान् ने भक्तों से किए हैं, जिनसे गोपियों के तीनों प्रकार के चित्त भगवान् में खिच गए हैं अर्थात् आसक्त हो गए है अतः गोपीजनों को अब ताप नहीं रहा है।

गोपियों को प्रमदा कहा, उसका आशय (प्रभुरचण के अनुसार) यह है, कि मद यहां कोई लौकिक मद नहीं किन्तु आन्तर एवं बाह्य अनुसंधान को भुला देने वाला अति उत्कठ एक विलक्षण रसभाव यहाँ मद पद से कहा जा रहा है। इसी से प्रभु की लीला का अनुकरण जो गोपियों ने किया वह भी संगत हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि इनका यह विलक्षण-प्रकृष्ट मद स्वभाव भी है (अर्थात् चित्ताक्षेप एवं स्वभाव दोनों कारणों से वे प्रमदा थीं) अन्यथा दास्यभाव से कैसे अलग हो पाती ! तब केवल भगवान् की लीला (गो चारणादिरूपा) जो इनके लिए उपयोगिनी नहीं थी सो उसका अनुभव नहीं हुआ अतः लक्ष्मी सहित भगवान् की लीला का अनुभव हुआ अर्थात् लक्ष्मी के सहित जो भगवान् का विलास है उसका अनुकरण करने लगीं।

एक ही (लक्ष्मी अथवा लीला) की भी अनेक चेष्टा है अतः उन सभी चेष्टाओं का निरूपण किया गया। ईश्वर-स्वामी के धर्मों का अनुकरण करना तो दासियों के लिए निषिद्ध है, इसके उत्तर में शुकदेवजी कहते है कि 'तदात्मिकाः' भगवान् उनके आत्मा में प्रकट हो गए हैं अर्थात् गोपियां उनका ही रूप हो गई हैं अथवा भगवान् ही अन्दर स्थित होकर उन लीलाओं को कर रहे हैं अतः यह लीला ताप मिटाने के उद्देश से यहां कही गई है। और इसका विस्तार आगे कहेंगे। उन लीलाओं के क्रम का कारण कहा जाएगा ॥ २ ॥

१—वाणी, २—आनन्द, ३—शब्द,

आभास—ततो भगवतः स्वरूपपरिग्रहो जात इत्याह गतिस्मितेति ।

आभासार्थ—गोपियों ने भगवान् के धर्मों को ग्रहण करने के अनन्तर भगवत्स्वरूप को भी ग्रहण कर लिया, उसका वर्णन 'गतिस्मित' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।**
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिकाः न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ।। ३ ।।

श्लोकार्थ—प्यारे श्रीकृष्ण की गति[1] स्मित[2] प्रकृष्ट रीति से ईक्षण[3] और भाषण आदि में गोपियों ने अपने स्वरूप का आरोपण कर दिया अर्थात् तद्रूप हो गई थीं, तद्रूप बनी हुई गोपियाँ अबलाएँ थी, तोभी प्रियाएँ होने के कारण कृष्ण की भांति विहार तथा विलास करती हुई कहने लगी कि मैं श्रीकृष्ण हूँ ।। ३ ।।

सुबोधिनी—धर्माश्चेत् स्वस्मिन् समागताः, तदैकत्रोभयधर्मा विरुद्धा इति भगवति स्वधर्मानारोपितवत्यः । कायवाङ्मनसां दृष्टेश्च चत्वारः प्रधानधर्माः । तेषु सर्वेष्वेव प्रतिरूढा मूर्तिर्यासाम् । भगवद्धर्मेषु स्वमूर्तिरारोपिता । अन्यथा अन्योऽन्यधर्माभिनिवेशाभावे सम्यक् विलासो न स्यात्, तदाह । गतिः कायिकी, स्मितं मानसम्, प्रेक्षणमैन्द्रियकम्, भाषणं वाचिकम्, तदादयो यावन्तो विभ्रमाः बन्धादयः रतिरूपा एव । तेषु सर्वेष्वेव प्रियस्य सम्बन्धिषु स्वयं प्रियाः भोगावस्थामेव प्राप्ताः विपरीता जाताः । 'रसाधिक्ये स्त्रियः पुरुषत्वमापद्यन्त' इति वात्स्यायनः । अत एव स्वयं प्रियायोग्याः प्रतिरूढाः विपरीततया आरूढा मूर्तयः स्वरूपाणि यासामिति । तत्र यासां भगवानलङ्घ्यवहितः पूर्वमासीत्, ताभिर्भगवत्प्रश्ने कृते, अन्तर्हिताज्ञानात् तत्रोत्तरवक्त्रयो भवन्ति । 'असौ कृष्णः' 'अहं कृष्ण' इति । अथवा । योऽन्विष्यते, सोसावहमिति । अन्यासां प्रतीत्यर्थं नटः कपटवेषं कृत्वापि वदति क्रीडायाम्, तथा न, किन्तु स्वत एवेत्याह **अबला** इति । अबलाः स्त्रियः भगवद्रूपाविष्कारे च बलरहिताः । स्पष्टवैलक्षण्यं च स्त्रीपुरुषयोः । तथा कथने प्रतारकत्वमालक्ष्याह **तदात्मिका** इति । न केवलं धर्म्यापत्तिः, किन्तु तद्धर्माणामपीत्याह । कृष्णवत् विहारः कायवाङ्मनोव्यापारः, विभ्रमाः तत्रत्या विलासाः यासाम् ।। ३ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के धर्म और गोपीजनों के धर्म परस्पर विरुद्ध हैं अतः जब भगवान् के धर्म भी गोपीजनों में आए तो इस विरुद्धता को समझकर गोपियों ने अपने धर्मों को भगवान् में स्थापित कर दिया जिससे विरोध नष्ट हो गया । शरीर, वाणी, मन और ईक्षण इन के चार मुख्य धर्म हैं उन सभी में गोपियों ने अनेक स्वरूप की स्थापना की और भगवान् के धर्मों में अपने स्वरूप का आरोप कर दिया । यदि गोपीजन इस प्रकार न करते तो विलास[4] पूर्ण रीति से नहीं हो सकता था क्योंकि एक दूसरे के धर्मों के आग्रह के बिना भलि भांति विलास नहीं हो पाता अतः शुकदेवजी ने 'गति, स्मित आदि' शब्दों से इन मुख्य चार धर्मों का वर्णन किया है जैसे कि 'गति' शब्द से शरीर के

१—चाल, २—मन्द मुस्कराहट, ३—देखना, ४—क्रीड़ा-हाव भाव अंग चालन आदि,

धर्म, स्मित शब्द से मन के धर्म. प्र+ईक्षण शब्द से नेत्र इन्द्रिय के धर्म और भाषण वाणी के धर्म कहे हैं। इन उपरोक्त धर्मों (क्रियाओं) द्वारा जितने विलास बन्ध वगैर जो रति रूप हैं उनसे अपने प्रीतम के साथ स्वामिनियाँ भोग करने लगीं तो रस विशेष होने से वे (गोपीजन जो स्त्रीरूपा थीं) विपरीत दशा को (पुरुष भाव को) प्राप्त होगई, कारण कि वात्स्यायन ने कहा है कि स्त्रियों को भोग के समय जब विशेष रस प्राप्त होता है तब पुम्भाव प्रकट हो जाता है।

ऊपर जो कहा है उसका आशय यह है कि गोपियों ने कृष्ण बन कर, जो कृष्ण की लीलाएँ की हैं, वे इस प्रकार हैं, कि प्रथम भगवान् के धर्मों में अपने स्वरूप को विलीन किया और भगवान् के स्वरूप में अपने धर्मों को लय कर दिया जिससे गोपियों के स्वरूप तथा धर्मों का अस्तित्व न रहा केवल भगवान् के धर्म तथा स्वरूप ही रहे अतः उस स्वरूप से और धर्मों से वे लीलाएँ होने लगी जिससे गोपियों में यही भावना जागृत रही कि ये लीलाएँ श्रीकृष्ण ही कर रहे हैं।

जिन गोपियों के लिए भगवान् पहले अल्प व्यवहित—कुछ दूर हुए—वे पूछने लगी कि भगवान् कहाँ है? किन्तु अपने में अन्तर्हित—छिपे हुए—भगवान् के ज्ञान न हो पाने से उत्तर देने लगी—'यह कृष्ण है' 'मैं कृष्ण हूं' अथवा 'जिसकी खोज चल रही है वह मैं हूं'।

गोपीजनों का इस प्रकार कहना वैसा नहीं है जैसे खेल में नट कपट वेश बनाकर कहता है कि मैं राजा आदि हूं, किन्तु वह वास्तविक कहना है क्योंकि गोपीजन निर्बल स्त्रियाँ हैं वे भगवद् रूप बनाने में असमर्थ हैं। स्त्री तथा पुरुष में जो विलक्षणता[1] है वह स्पष्ट देखने में आजाती है, फिर भी इस प्रकार कहने में किसी को प्रतारणा[2] देखने में आता हो तो उस संशय को मिटाने के लिए शुकदेवजी 'तदात्मिका' शब्द कहकर उस संशय को मिटा देते हैं कि ये गोपीजन धर्म तथा धर्मी रूप से कृष्णमय हैं जिससे इस कहने में किसी प्रकार प्रतारणा नहीं है। अतः काया, वाणी और मन आदि से जो विलास है वह कृष्णवत् ही है, अर्थात् कृष्ण ही कर रहे हैं ॥ ३ ॥

आभास—एवं तापलीलाभगवतामुद्देशतस्तासु सम्बन्धमुक्त्वा प्रथमं तापनिवृत्त्यर्थं अन्वेषणं कृतवत्य इत्याह। गुणानामिव त्रयाणामेषामन्योन्योपमर्दनेन भगवदिच्छयाविर्भाव इति न परस्परकार्यप्रतिबन्धकता आपाततः। अतो यदा प्रपञ्चसम्वेदनम्, तदा पृष्टवत्य इत्याह गायन्त्य इति। प्रथमतो मिश्रभावात् गायन्त्यो जाताः।

आभासार्थ- उपरोक्त प्रकार से गोपियों को ताप विशेष होने लगा तब भगवान् की लीलाओं ने उनमें प्रवेश किया जिससे उन्होंने भगवान् के स्वरूप को स्वीकार किया यों करने से गोपियों में रस की आसक्ति, भगवान् की लीलाएँ एवं गर्व के अभाव का सम्बन्ध हुआ। गोपीजन प्रथम अपने ताप को मिटाने के लिए भगवान् को ढूंढने लगीं जिसका वर्णन निम्न 'गायन्त्य' इस श्लोक में करते हैं। जैसे सत्व आदि तीन गुण परस्पर एक दूसरे का उपमर्दन[3] करते हैं, वैसे ही ये तीन (ताप, लीला और भगवद्रूप) भी परस्पर एक दूसरे को दबाते हैं और जिसके आविर्भाव होने के लिए भगवदिच्छा होती है उसका आविर्भाव होता है, इसलिए एक दूसरे के कार्य में किसी प्रकार रुकावट नहीं होती है, अतः जब गोपियों को जगत् का ज्ञान होता था तब भगवान् के लिए पूछती थीं वह श्री शुकदेवजी

१—भेद, २—छल, ३—दूसरे के धर्म को दबाकर अपना धर्म प्रकट करना,

'गायन्त्यः' श्लोक से वर्णन करते हैं—गोपियों का यह गान मिश्रभाव* से है।

श्लोक—**गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।**
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—सब गोपीजन मिलकर उच्च स्वर से भगवान् के गुणों को गाते हुए उन्मत्त की भांति एक वन से दूसरे वन में श्यामसुन्दर प्यारे को ढूंढने लगीं। आकाश की तरह सर्व भूतों में भीतर और बाहिर व्यापक पुरुष के लिए वनस्पतियों से पूछने लगीं ॥ ४ ॥ ॥

कारिका—**शब्दो हि धूमवल्लोके बाह्याभ्यन्तरयोगतः ।**
विराजते विनिर्गच्छन् तारतम्यं च गच्छति ।
अतोऽत्र धर्मिधर्माणामाधिक्याज्ज्ञानमुत्तमम् ॥ १ ॥
यथा भगवतो गानात् स्वयमागत्य संगताः ।
एवं स्वयं भगवत आगत्यर्थं जगुः स्फुटम् ॥ २ ॥
कृत्रिमत्वात्तु भावस्य मिलिताश्च स्वतोऽन्यतः ।
ततो विशेष विज्ञानात् तिरोभावोऽस्फुरत् स्फुटः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—जैसे लोक में गोली लकड़ियों के भीतर रही हुई अग्नि को बाहर की अग्नि स्पर्श करे, तो भी वह उन लकड़ियों से अग्नि को प्रकट न कर, धूम को प्रकट करती है, वैसे ही गोपीजनों की विरहाग्नि भी हृदय स्थित वियोग स्वरूपात्मक आनंदाग्नि को प्रकट न कर, बाहिर जगत् के संवेदन[1] रूप आर्द्रता[2] के कारण, गुणगान रूप धूम को प्रकट करती है, वह गुणगान धूम्रवत् भीतर और बाहर व्याप्त हो जाता है और उस गुणगान में उसी की तरह तारतम्य भी रहता है, अर्थात्, गोपियों को एक क्षण में भीतर का भान और अन्य क्षण में बाहर की सुधि होती है, जिससे वह

---

* गोपीजनों को कभी जगत् का ज्ञान होता था कभी नहीं होता था, तात्पर्य यह है कि गोपियाँ उस समय संयोग (संगम) और वियोग दोनों का क्रमशः क्षण क्षण में अनुभव करती थीं।

१—ज्ञान, २—गीलापन

शब्द जब बाहर आता है, तब विविध भावों को प्रकट करता है और गान का रूप धारण कर लेता है। धर्मी स्वरूप भगवान् तथा उनके धर्म रसात्मक हैं अतः वे (भगवान् तथा उनके धर्म) जीव तथा उसके धर्मों से उत्तम हैं, किन्तु गोपिआँ अब तदात्मिकता होगई हैं, अतः गोपियाँ को जो यह कृष्ण, मैं कृष्ण, इस प्रकार का ज्ञान हो गया था वह उत्तम ज्ञान था, कारण कि, यह ज्ञान साधन साध्य नहीं हैं, किन्तु भगवान् की कृपा से प्राप्त होता है ॥ १ ॥

गोपीजन ने यह गान इसी भाव से किया कि जिस प्रकार हम भगवान् के गान को श्रवण कर उनके पास आ गई हैं वैसे ही वह भी गान को सुनकर हमारे पास आ जावे ॥ २ ॥

गोपीजन में तो तदात्मिकता (मैं कृष्ण हूँ इस प्रकार का भाव आदि) उत्पन्न हुई थी वह केवल विरह के कारण उद्भूत[1] हुई थी जिससे वह कृत्रिम[2] थी, उसके तिरोहित[3] हो जाने पर जब वे आपस में मिलने लगीं तब विशेष ज्ञान होने से उन को भगवान् तिरोधान हो गए यह भान हुंआ जिससे ढूंढने लगी ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—तदा विचिक्युः क्व भगवानस्तीत्यन्वेषणं कृतवत्यः । तत्रापि न सर्वात्मना तिरोभावः स्फुरित इति अन्वेषणेऽपि अनियतवृत्तयो जाता इत्याह **उन्मत्तक**वदिति । अज्ञात उन्मत्त उन्मत्तकः, कुत्सितो वा । स यथा स्वपरविवेकं न जानाति, वस्त्रादिरहितश्च भवति । एवमवस्थां प्राप्ताः । एकस्माद्वनात् वनान्तरं गताः । किञ्च, न केवलमन्वेषणमात्रम्, किन्तु उन्मत्तकवत् पृच्छन्ति स्मेत्याह **पप्रच्छु**रिति । शुको हि भगवत्स्वरूपाभिज्ञः आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिं कृष्णं सर्वत्रैव विद्यमानं पश्यति । यदि भक्तिसहितं ज्ञानमाविर्भवति, तदा अन्योऽपि पश्यति । सर्वत्रैव तिरोधाननाशात् । तादृशमेताः परिच्छिन्नं मत्वा पृच्छन्तीति । तासामज्ञानकथनार्थमाह **आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्त**मिति । बाह्याभ्यन्तरविवेकहेतुराकाश इति पूर्वं निरूपितम् । तद्वदेवायमपि । अत एवाकाशस्य ब्रह्मलिङ्गत्वम् । एतादृशं सर्वत्रैव विद्यमानदृष्ट्वा, आत्मनि विचारं त्यक्त्वा, चेतनांश्चापृष्ट्वा, स्थावरान् पृच्छन्ति । वनस्पतीन् प्रपच्छुरिति । ते हि वैष्णवा इति । मूढा अपि वैष्णवा एव हि विष्णुगतिं जानन्ति, नत्वत्यन्तं निपुणा अप्यवैष्णवाः ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—गोपीजन भगवान् कहां चले (छिप) गए इसकी पूछताछ करने लगीं, किन्तु अभी तक गोपीजनों को भगवान् के छिप जाने की सम्पूर्ण स्फूर्ति नहीं हुई थी, जिससे ढूंढने में भी उनकी एक सी वृत्ति नहीं होने पाई, इसलिए श्री शुकदेवजी कहते हैं कि पागल की तरह ढूंढने लगीं, जैसे पागल को अपने पराए का ज्ञान नहीं रहता है, और अपने शरीर पर वस्त्र हैं या नहीं, इसकी भी

---

[1] —पैदा हुई, [2] —बनावटी, [3] —छिपना

सुधि नहीं रहती है, वैसी दशा इनकी भी हो गई है वैसी ही दशा में, पागलों की तरह एक वन से दूसरे वन में भटकती हुई न केवल ढूंढने का कार्य करने लगीं किन्तु उन्मत्तों की तरह पूछने लगीं ।

श्री शुकदेवजी भगवान् के स्वरूप को जानने वाले थे, अतः आनन्द मात्र कर पाद मुख उदर आदि वाले श्रीकृष्ण को, सर्वत्र विद्यमान देखते हैं, यदि भक्ति सहित ज्ञान, दूसरे में प्रकट हो, तो वह भी इस प्रकार दर्शन कर सकता है, क्योंकि उनकी दृष्टि में तिरोधान का नाश हो जाता है । गोपियाँ वैसे सर्वत्र व्यापक अपरिच्छिन्न आनन्द रूप भगवान् को परिछिन्न समझ कर उनके लिए पूछती हैं । इससे श्री शुकदेवजी कहते हैं कि जैसे आकाश भीतर बाहर सर्वत्र व्यापक है, श्रीकृष्ण भी वैसे ही सर्वत्र व्यापक हैं । आकाश को इस लिए ही ब्रह्म का लिङ्ग कहा गया है । वैसे (हो) सर्वत्र विद्यमा[1]न कृष्ण को न देखकर और आत्मा में भी विचार न कर तथा चेतनों से न पूछकर स्थावरों[2] से पूछने लगीं । गोपियों ने जो वनस्पतियों से पूछा उसका कारण यह है कि शास्त्रों में कहा है कि 'वैष्णवाः वै वनस्पतयः' वनस्पति[3] वैष्णव हैं, मूर्ख हो तो भी, वैष्णव ही निश्चय से विष्णु की गति को जानते हैं, किन्तु अवैष्णव विद्वान् हो तो भी उनकी गति को नहीं जानते हैं ।। ४ ।।

आभास—तत्रापि प्रथमं विष्णुब्रह्मशिवतां लोके प्राप्ताः अश्वत्थप्लक्षवटास्तान् पृच्छंति दृष्ट इति ।

आभासार्थ—उनमें भी प्रथम, उन पीपल, पाकुर और बड़ नाम वाले वृक्षों से पूछती हैं जो ब्रह्मा विष्णु और महादेव के रूप हैं ।

श्लोक—**दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ।**
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ।। ५ ।।

श्लोकार्थ—हे पीपल ! हे पाकुर ! हे बड़ ! प्रेम और हास से विलसित अवलोकन से, हमारे मन को चुराकर जा रहे, नंद के पुत्र को आपने देखा ।। ५ ।।

सुबोधिनी—अश्वत्थो हि वैष्णवो वृक्षः, विष्णुवत् लोके सन्मानमर्हतीति प्रायेणायं ज्ञास्यति, तथाप्ययं स्तब्धः स्वोत्तमभावनया न ज्ञास्यतीति तदर्थं हेतुभूतं नामाह । अश्वस्तिष्ठत्यस्मिन्निति अश्वत्थः । लोकास्त्वश्वे तिष्ठन्ति, अस्मिंस्त्वश्वस्तिष्ठतीति । 'अश्वो रूपं कृत्वा यदश्वत्थेऽतिष्ठत्' इति श्रुतेः । तर्हि प्राजापत्योऽश्वत्थ इति तदपेक्षया प्राजापत्यो वृक्षः प्रष्टव्य इति प्लक्षं पृच्छन्ति प्लेक्षेति। तत्रापि तस्याज्ञानं नाम्ना वदन्ति । अयं हि मनुष्याणामज्ञानार्थं पावित्र्यक्षारणादुत्पन्नः अपवित्रः लोकानामज्ञानहेतुरेव । अतः कथं वक्ष्यतीति । 'पशुना वै देवाः स्वर्गं लोक–

---

[1]—मौजूद, [2]—जड़ों, वृक्षादि, [3]—वृक्ष लता आदि

मायन्, तेऽमन्यन्त मनुष्या नो त्वा भविष्यन्तीति, तस्य शिरश्छित्त्वा मेधं प्राक्षारयन्, स प्लक्षोऽभव' दिति श्रुतेः । तर्हि कर्मसम्बन्धरहितः वैष्णवधर्मोपदेष्टा शिवः प्रष्टव्य इति तद्रूपं न्यग्रोधं पृच्छन्ति **न्यग्रो**धेति । तस्यापि दूषणम् । नितरामग्राण्यधो यस्येति । अतोऽन्ते हीनभावं गच्छतीति अग्रे गमने हेतुर्भविष्यति । वः युष्माकं सम्बन्धी भवद्भिः किं दृष्टः । प्रश्नसम्भावनायां कच्चिदिति दृष्टोऽस्माभिः पूर्वम्, सर्वदैव वा, ततः किं भवतीनामिति चेत्, **नो मनः हृत्वा गत**इति । ननु स विष्णुः कथं चौर्यं करिष्यतीति, तत्राहुः **नन्दसूनु**रिति । नन्दस्य चेत् पुत्रो जातः, तदा तत्कार्यं कर्तव्यम् । ते हि दधिदुग्धादिचौर्यं कुर्वन्ति । अतो मनश्चौर्यमपि नात्यन्तं विरोधि । भर्तृनामाग्रहणं वा । अत एव हरणपर्यन्तं प्रभुपुत्र इति न ज्ञातः । अन्यथा भोगं परित्यज्य कथं गच्छेत् । नन्वन्तःस्थितं मनः कथं गृहीतमित्याशंक्य, त्रिविधं मनः त्रिभिरपि धर्मैर्गृहीतवानित्याह **प्रेमहासावलोकनै**रिति । प्रेमपूर्वकहास्यसहितान्यवलोकनानि मनोहराणि । तमोरजः सत्त्वभावा उक्ताः । प्रेम्णा अन्तःप्रवेशः, हास्येन ग्रहणम्, अवलोकनेन हरणमिति ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—गोपीजन उन्मत्त दशा में भगवान् की पूछताछ करने के लिए चलीं तो प्रथम उनकी दृष्टि पीपल वृक्ष पर पड़ी उनके मन में विचार हुआ कि यह पीपल वैष्णव है, इसका देवता विष्णु है इसलिए यह नन्द सूनु[1] को जानते होंगे कि कहां है ? किन्तु यह तो स्तब्ध[2] है, कुछ उत्तर नहीं देता है, इसको अभिमान है कि में उत्तम हूं, क्योंकि वैष्णव हूं, इस अभिमान के कारण इसको पता नहीं होगा । अभिमानी को भगवान् अपना ज्ञान नहीं कराते हैं और इसके अभिमान का कारण इसके नाम से भी प्रकट होता है । 'अश्वत्थ' नाम का अर्थ है कि घोड़ा इसमें स्थिति करता है, जगत् में मनुष्य घोड़े पर स्थिति करते हैं किन्तु यहां उससे विपरीत घोड़ा इसमें स्थिति करता है, जिस बात की पुष्टि श्रुति भी करती है, भगवान् अश्व‡ रूप धारण कर पीपल में स्थिति करते हैं इसलिए पीपल को 'अश्वत्थ' कहा जाता है ।

जब यह उत्तर नहीं देकर स्तब्ध हो के खड़ा है तो चलें प्लक्ष से पूछें जो सामने बाजू में ही खड़ा है जिसका देव प्रजापति है, प्रश्न करने पर भी, जब उससे भी कोई उत्तर नहीं मिला तब कहने लगीं कि, यह कुछ जानता ही नहीं है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति अज्ञान से हुई है, वह अज्ञानी कैसे जानेगा ? जैसा कि कहा है 'मनुष्य को मूर्ख बनाने के लिए, उसमें जो पवित्रता थी उसको निकालली अनन्तर यह पाकुर वृक्ष बना, जिसका विशेष वर्णन यों है कि 'पशु से देव स्वर्ग में गए उनको विचार हुआ कि जैसे हम स्वर्ग में जा रहे हैं, वैसे ही मनुष्य भी आ जाएँगे, इसी भाव से देवों ने पशु का शिर काट लिया जिसमे लोहू की धारा बहने लगी, उससे यह 'पाकुर' बना है अतः पाकुर अपवित्र और अज्ञानी है, वह क्या उत्तर देगा ? अपवित्र एवं अज्ञानी को भगवान् का ज्ञान होता ही नहीं है, इसकी आशा छोड़ अब कर्म से जिसका सम्बन्ध नहीं है और जो वैष्णव धर्म के उपदेशक, महादेव हैं, उस महादेव का रूप यह 'बड़' का पेड है, इससे पूछना चाहिए, हे न्यग्रोध ! यों पुकारकर

---

‡ 'अश्वो रूपं कृत्वा यदश्वत्थेऽतिष्ठत्' श्रुतिः

---

[1]—पुत्र, [2]—चुप चाप खड़ा

पूछने लगीं किन्तु वहां भी स्तब्धता पाई, तब समझ गईं कि, इसमें भी कोई दोष है, विचार करने पर समझ गईं कि यह 'बड' ऊंचे जाने वाली शाखाओ का अधःपात करता है, अर्थात् अन्त में इसकी गति नीचे की ही है, जो अन्त में उत्तम[1] की गति नीची करदे वह, स्वयं कैसे ज्ञानी होगा ? जो भगवान् को जानकर कर सके, वास्तव में भगवान् तो आगे ही पधारे हैं ।

फिर भी पूछने लगीं, कि आपका जो सम्बन्धी भगवान् है उनको आपने देखा ? श्लोक में 'कच्चित्' यह शब्द प्रश्नार्थक है ।

यदि वृक्ष कहदे, कि हमने भगवान् को कितनी ही बार देखा है और देख रहे हैं, इस विषय में आप क्यों पूछती हैं ? जिसके उत्तर में गोपियाँ कहती हैं, कि हम इसलिए पूछती हैं कि वह हमारा मन चुराके ले गए हैं, यदि वृक्ष कह देवे, कि विष्णु कभी भी चोरी नहीं करता है, जिसके उत्तर में कहती हैं, कि विष्णु चोरी करते हैं, हम कहती हैं, कि जो चोरी कर गया है, वह नन्दजी का सूनु[2] है इसलिए वह चोर है, क्योंकि जैसे कुल में उत्पन्न है, वह कुल ग्वालों का है । ग्वाले सदैव क्षीर आदि की चोरी करते हैं, इसने तो हमारे मन को चुराया है इसमें किसी प्रकार विशेष विरोध नहीं है, वे दूध दही चुराते हैं यह मन चुराते हैं, चौर्य कर्म तो वे भी करते हैं, तो इनने भी उस कार्य (चौर्य कार्य) में कमी नहीं की है । अथवा शास्त्रानुसार पति का नाम नहीं लेना चाहिए इसलिए 'नन्दसूनु' कहा है, जिससे यह निश्चय हो जाता है, कि गोपियाँ भगवान् को अपना पति ही मानती हैं । और साथ में राजा का पुत्र भी मानती हैं, चोर नहीं समझतीं, क्योंकि राजा का पुत्र कभी चोरी नहीं करेगा, वैसा उनको निश्चय था, जब वे मन चुराके गए तब उन्होंने भगवान् को चोर समझा, यदि चोर न हो, तो भोग का त्याग कर, क्यों भाग जावे ? अतः यह भगवान्, चोर हैं ।

मन तो भीतर रहता है उसको कैसे चुराके ले गए ? उत्तर में कहती हैं, कि मन को तीन प्रकार अपने प्रेम, हास और अवलोकन, इन तीन धर्मों से चुराया, जैसा कि, प्रेम से अन्तःकरण में प्रविष्ट हुए, हास्य से मन को पकड़ लिया और अवलोकन से चुराके ले गए । यों करने से सात्विक (प्रेम से अन्तःकरण में प्रवेश) राजस (हास्य से मन को पकड़ना) और तामस (अवलोकन से चुराना) ये तीन भाव प्रकट किए ॥ ५ ॥

आभास—तेषामनुत्तरं मत्वा, एते अमुख्यफला महान्तोऽपि काकसेव्या एवेति, ये महान्तः पुष्पवन्तः **सुगन्धाः** तान् पृच्छाम इति कुरबकादीन् पृच्छन्ति कच्चिदिति ।

आभासार्थ—गोपीजन को जब पीपल, पाकर और बड़ से उत्तर नहीं मिला तब वे समझ गईं कि इनके जो फल हैं, वे श्रेष्ठों के लिए उपयोगी नहीं है, अतः वायस[3] ही उनको खाते हैं यद्यपि ये वृक्ष बड़े हैं किन्तु काम के नहीं है इसलिए अपन उन बड़े पृक्षों से पूछें, जो फल पुष्प वाले हैं वैसे पेड़ कुरबक आदि हैं यों विचार कर पूछने के लिए उनके पास गईं जिसका वर्णन 'कच्चित्कुरबक' श्लोक में करते हैं—

---

[1] १—उच्च, [2] २—पुत्र, [3] ३—काक, कव्वे

श्लोक—**कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः ।**
रामानुजो मानिनीनां गतो दर्पहरस्मितः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—हे कुरबक ! हे अशोक ! हे नाग केशर ! हे पुन्नांग ! हे चम्पक ! जिनका मन्द हास्य[1] मानवतियों के मान को हरण करता है वैसे राम के छोटे भाई को यहाँ से पधारते हुए आपने देखा ?

सुबोधिनी—कुरबकाशोकौ कामोद्दीपकौ एते कामबाणपुष्पाः । नागो नागकेसरः, पुन्नागश्चम्पकश्च अतिसुगन्धपुष्पाः । ते हि कामिनं व्यावर्तयन्ति । अतः पञ्चाप्येते ज्ञास्यन्तीति । रामानुजः कच्चिद्भवद्भिर्दृष्ट इति पृच्छन्ति । पूर्ववदेव प्रयोजनकथनम् । मानिनीनां दर्पहरं स्मितं यस्य । व्यर्थमेव गतो भगवान्, स्मितमात्रेणैव दर्पो गच्छति, किं गमनेन । भयं तु नास्त्येव, यतो **रामानुजः** बलभद्रभ्राता, भर्तृ नाम न ग्राह्यमिति । वयं सर्वा एव मानिन्यः स्थिताः । अतोऽस्मद्दर्पदमनार्थं गतः । प्रायेणैतैर्न दृष्टः । कुत्सितरवात् कं सुखं यस्य । रोदनप्रियोऽयम् । अशोकश्च शोकनाशक एव, न तु कस्यचित् सुखं प्रयच्छति । नागोऽयं नाम्नैव भयानकः । गजपक्षेऽपि पुंसामपि नागः । चम्पकोऽपि परिणामविरसः । अफलाश्चैते ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ--कुरबक और अशोक ये दोनों बड़े वृक्ष काम को उद्दीपन करने वाले हैं । ये कामदेव के बाण के पुष्प हैं, नागकेशर, पुनांग और चम्पक के वृक्षों के पुष्पों की जो भी कामी सुगन्धि लेते हैं उनका चित्त दूसरी वस्तुओं से हट जाता है, अतः ये पांच पेड़ इस बात को अवश्य जानते होंगे कि भगवान् कहां पधारे हैं ? इसलिए उनसे पूछती हैं, हे कुरबक ! हे अशोक ! हे नाग ! हे पुनांग ! हे चम्पे ! बताओ तो सही, कि राम के छोटे भाई को आपने देखा है ? आप क्यों पूछती हैं ? यदि वैसा प्रश्न करें तो प्रथम हीं उसके उत्तर में पहले की तरह वे सब कारण बता देती हैं और विशेष में यह भी कहती हैं कि भगवान् तो व्यर्थ ही चले गए ? यदि हमने मान[2] किया तो आप उसको वहां ही उतार सकते थे, इतने परिश्रम की आयश्यकता ही नहीं थी, भगवान् की मन्द मुस्कान में मानिनियों के मद को चूर करने कीं शक्ति है, केवल हमारे सामने वह मन्द मुस्कान करते तो, हमारा गर्व कपूरवत् उड़ जाता । इस परिश्रम करने से वे छूट जाते, वे बलराम के भ्राता हैं अतः निर्भय तो हैं ही, यहां भी बलराम के भ्राता कहने से यह बताया है, कि हम पत्नियाँ हैं वह भर्ता हैं, हम सब अब भी मानवाली हैं अतः हमारे अभिमान को नाश करने के लिए गए हैं ।

गोपियाँ पुनः कहती हैं, कि हम समझती हैं, कि इन वृक्षों ने भी भगवान् के दर्शन नहीं किए हैं कारण कि, इनके गुण वैसे ही हैं अर्थात् भगवद्दर्शन के योग्य नहीं है, जैसे कि कुरबक, नाम से ज्ञात हो जाता है, कि इस वृक्ष को नीच रव[3] से आनन्द आता है, 'नाग' से तो स्पष्ट अर्थ निकलता है कि यह भय देनेवाला हैं क्योंकि नाग[4] है, अथवा नाग का अर्थ हस्ती लिया जाए तो भी भयानक है, पुनांग पुरुष नाग भी भयप्रद है, चम्पक भी परिणाम में रस प्रद नहीं है वे वृक्ष भी दोष वाले हैं तथा फल रहित हैं ॥ ६ ॥

१—मुस्कराहट, २—अभिमान, ३—ध्वनि वा शब्द, ४—साँप,

आभास—पूर्वोक्तास्त्वपुष्पाः, एते अफलाः। फलपुष्पाभ्यां नानाविधविनियोग-संभवादज्ञानं मत्वा, तुलस्यास्तदुभयं नास्तीति भगवदीयत्वेन प्रसिद्धां पृच्छन्ति कच्चिदिति।

आभासार्थ—प्रथम कहे हुए (पांचवें श्लोक में कहे हुए) वृक्ष पुष्प रहित हैं और ये (छठे श्लोक में कहे हुए) वृक्ष फल रहित हैं, अतः दोनों को भगवान् का ज्ञान नहीं हैं, कारण कि इनके फल और पुष्प अनेक प्रकार के विनियोग में आते हैं, इसलिए अब जो भगवदीया हैं तथा जिसके फल तथा पुष्पों का विविध विनियोग अथवा दोनों प्रकार से विनियोग (अन्यत्र) नहीं होता है और वह चरण सेविका होने से, भगवदीया है, चाहे उसने हम जैसा रस ग्रहण नहीं किया है तो भी यह जानती होगी इससे पूछना चाहिए, इस प्रकार विचार कर निम्न 'कच्चित्तुलसि कल्याणि' श्लोक से पूछती हैं।

श्लोक—**कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।**
सह त्वाऽलिकुलैर्बिभ्रत् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः॥ ७॥

श्लोकार्थ—हे कल्याणी! हे तुलसी! हे गोविन्द के चरणों में प्रेम करने वाली! भ्रमरों के साथ तुझे धारण करने वाले तेरे, अतिप्रिय अच्युत को तुमने देखा? ॥ ७॥

सुबोधिनी—तुलसीति सम्बोधनं सखीमिव मत्वा। सा चेत् पूर्वसम्बन्धस्मरणेन भक्तेव भगवन्तं भजेत्, तदा रसो न पुष्ट इति तां भगवत्पत्नीं मन्यमाना आहुः **कल्याणीति**। एवमपि सति भक्तिप्रधानेत्यस्मदाद्यपेक्षया उत्कृष्टेत्याहुः **गोविन्दचरणप्रिय** इति। किञ्च, तव दर्शने उपायोप्यस्ति। त्वत्सजातीयस्य तत्र विद्यमानत्वात्। सजातीयो हि सजातीयं मार्गस्थं दृष्ट्वा गच्छति। तदाहुः। अलिकुलै, सह त्वा त्वां बिभ्रत् दृष्ट इति। किञ्च, ते भगवानत्यन्तं प्रियः, यद्यनेन मार्गेण गतः स्यात्, अवश्यं त्वया दृष्टः स्यादिति॥ ७॥

व्याख्यार्थ—गोपियां तुलसी को अपनी सखी समझ कर हे तुलसी! इस प्रकार संबोधन करती हैं, और दूसरा संबोधन हे कल्याणि। कहने का भावार्थ यह है कि गोपियां तुलसी को भगवान् की पत्नी समझती हैं, यदि प्रथम संबन्ध स्मरण करे, तुलसी भगवान् की केवल भक्त ही है, माना जाए तो, रस पुष्ट न होवे, अतः पत्नी समझ यह (हे कल्याणि) विशेषण वा संबोधन दिया है। पत्नी भाव होते हुए भी उसमें भक्ति भाव विशेष है इसलिए हमसे यह (तुलसी) उत्कृष्ट[१] हैं, जिसको (उत्कृष्टता को) बताने के लिए 'गोविन्द चरणप्रिये' विशेषण दिया है अर्थात् तुलसी भगवान् के चरणों में प्रेमवाली होने से हमसे विशेष है, मन में विचारती है कि तुलसी कह दे कि मुझ से क्यों पूछती हो, तो उसका उत्तर स्वयं दे देती हैं, कि आपकी जातिवाली (तुलसी) प्रभु के चरणों में,

---

१—उत्तम

सदैव रहती है उसको देख आप भी वहां जाने की इच्छा करती हैं, क्योंकि एक जातिवाला कहीं भी अपनी जाति वाले को देखता है, तो उससे मिलने की चाहना करता है और इसके सिवाय, भगवान् भ्रमरों के कुलों को भी, आपके साथ ही धारण करते हैं, इसलिए भी आपने उनको (भगवान् को) देखा होगा। तथा आपको भगवान् बहुत प्रिय हैं, अतः यदि भगवान् इस मार्ग से पधारे होंगे, तो निश्चय आपने दर्शन किए होंगे ॥ ७ ॥

आभास—तत्राप्यरुचिं मत्वा, इयं सपत्नीवत् स्वोत्कर्षं ख्यापयन्ती कथमन्याभ्यो वक्ष्यतीति, साधारण्यः स्त्रिय एवास्माकमुपकारिण्य इति, ताः पृच्छन्ति मालतीति ।

आभासार्थ—तुलसी से भी कुछ उत्तर न मिलने पर, गोपियों ने समझा, कि यह सौति की तरह अपना उत्कर्ष जताने के लिए अन्यों को कैसे बताएँगी ? अतः अपने लिए तो साधारण स्त्रियाँ ही उपकार करने वाली बनेगी, इसलिए उनसे पूछना चाहिए यह निर्णय कर निम्न 'मालत्यदर्शि' श्लोक से साधारण वनस्पतियों से पूछती हैं—

श्लोक—**मालत्यदर्शि वः कच्चित् मल्लिके जाति यूथिके ।**
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—हे मालति ! हे मल्लिके ! हे जाति ! हे यूथिके ! हस्त स्पर्श से प्रीति को उत्पन्न करते हुए माधव इस मार्ग से पधारे थे उनको आपने देखा ?

सुबोधिनी—हे मालति, वः युष्माभिः प्रत्येकं नानारूपाभिः दृष्टः कच्चित् । तथैव मल्लिके, हे जाति, हे यूथिके। एताश्चतस्रो लताः अतिसुगन्धपुष्पाः भगवत्प्रियाः । अतः वः युस्माकं करस्पर्शेन प्रीतिं जनयन् पुष्पावचयं कुर्वन् माधवो लक्ष्मीसहितः । लक्ष्म्या सह तिष्ठति, अतस्तस्याः चूडाबन्धनार्थं पुष्पावचय आवश्यक इति ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ—हे मालति ! हे मल्लिके ! हे जाति ! हे यूथिके ! अनेक रूप वाली आप सबने भगवान् को देखा ? ये चार लताएँ अत्यन्त सुगन्धिवाले पुष्प उत्पन्न करती हैं एवं भगवत्प्रिय भी हैं, अतः भगवान् अपने कर कमलों से पुष्प चयन[1] करते हुए आपका स्पर्श कर प्रेम को उत्पन्न करते है । उनको (भगवान् को) पुष्प चयन इसलिए आवश्यक था, कि उस समय आपके साथ लक्ष्मीजी थीं उनकी (लक्ष्मीजी की) चोटी[2] गूंथने के लिए पुष्प चाहिए थे ।

आभास—ननु यद्यप्येताः स्त्रियः, तथाप्यफला इति, अल्पा इति, स्वार्थपरा इति, लक्ष्मीपक्षपातिन्य इति न वदिष्यन्तीति ज्ञात्वा आम्रादीनत्युत्तमान् वृक्षान् पृच्छन्ति चूतेति ।

---

[1]—तोड़ते, [2]—जूड़ा

आभासार्थ—ये लताएँ स्त्रियाँ हैं और निष्फल हैं अर्थात् इनसे कोई लाभ नहीं है, ये न छाया कर सकती हैं और न फल खिला सकती हैं केवल लक्ष्मी का पक्ष करती हैं, उनकी चोटी गूथने के लिए पुष्प दे सकती हैं, अतः ये भी भगवान् का पता अपन को नहीं बताएँगी, इसलिए इन अल्पों[1] को छोड़ो, चलो तो महान् आम्रादि वृक्षों से पूछो, यह विचार कर निम्न श्लोक 'चूत प्रियाल' में उनसे पूछती हैं।

श्लोक— **चूतप्रियालपनसाशनकोविदारजम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।**
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥६॥

श्लोकार्थ—हे चूत[2] ! हे प्रियाल ! हे पनस ! हे अशन ! हे कोविदार ! हे जामुन ! हे अर्क[3] ! हे बिल्व ! हे बकुल ! हे आम्र हे कदंब ! हे नीप ! और अन्य जो यमुनाजी के तट पर परोपकार के लिए उत्पन्न हुए हो अतः हम, जो श्रीकृष्ण के बिना आत्मा रहित बन गई हैं, उनको श्रीकृष्ण का पता बताओ ॥ ६ ॥

सुबोधिनी—चूताम्रौ मनुराम्लप्रकृतिकौ । कालभिन्नफलौ वा । प्रियालस्तु बीजेप्यधिकरसैयुक्तः । पनसो महाफलः । अन्ये चाशनादयो वृक्षाः पुष्पफलप्रधानाः । किं बहुना । अन्येऽपि ये मधूकादयः । परार्थमेव जन्म येषां ते परार्थभवकाः । किञ्च, यद्यपि सर्व एव वृक्षाः परार्थजन्मानः, तत्रापि ये यमुनोपकूलाः, यमुनाया उपकूले तपस्विन इव तिष्ठन्ति, ते ह्यवश्यं भगवन्तं पश्यन्ति बोधयन्ति च । अतः सदानन्दस्य पदवीं शंसन्तु । यथास्मद्धृदये समायाति । दयार्थमाहुः **रहितात्मनामिति** । केचित् गृहरहिताः धनरहिताः देहरहिता वा । वयं त्वात्मरहिता एव । अतः सर्वापेक्षया वयं दीनाः । अतः कृष्णपदवीमस्मदर्थं शंसन्तु ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—आम दो प्रकार के होते हैं एक मीठे और दूसरे खट्टे, मीठे आम को चूत कहते हैं, जो रस वाले होने से चूँसे भी जाते हैं और दूसरे जो साधारण तथा मीठे न होकर खट्टे होते हैं, उनको आम्र कहते हैं, अथवा अलग २ समय से उत्पन्न होने से एक को चूत दूसरे को आम्र कहते हैं। 'प्रियाल' के बीजों में भी अधिक रस भरा रहता है, 'पनस' के फल बड़े होते हैं, अन्य अशन आदि वृक्षों में पुष्प तथा फल मुख्य हैं, विशेष क्या कहें। अन्य भी जो मधूक आदि वृक्ष हैं, वे सब परोपकार के लिए ही उद्भूत हुए हैं, किञ्च, यद्यपि सब वृक्ष परोपकार के लिए ही जन्मे हैं तो, भी जिनका जन्म, श्री यमुनाजी के तट पर हुआ है, वे तपस्वियों के समान वहां रहते हैं, वे अवश्य भगवान् को देखते हैं और अन्यों को भी ज्ञान कराते हैं, अतः हे वृक्षों ! सदानन्द भगवान् का पता बताओ, कि भगवान् किस मार्ग से गए हैं, जिससे हम उनको पा सकें, गोपियाँ वृक्षों को अपनी दीन स्थिति बताती हैं, कि हे वृक्षों ! हम आत्मा से रहित हैं, जगत् में कितने बिना गृह के, वा बिना धन के अथवा बिना देह के होंगे, किन्तु हम ही हैं, जो आत्मा के बिना हैं अतः हम सर्वथा दया के पात्र हैं इसलिए हमको कृष्ण का पता बतावो ॥ ६ ॥

१—स्वार्थियों, २—चूसे जाने वाले आम, ५—मंदार

आभास—एवमतिविलापे दीनतायामाविष्कृतायां भूमौ भगवच्चरणारविन्दानि दृष्टानि, तद भूमिं स्तुवन्ति किं **ते कृत**मिति ।

आभाषार्थ—इस प्रकार जब गोपियों में दीनता प्रकट हुई, तब उन्होंने पृथ्वी पर भगवान् के चरण चिन्ह देखे, देखते ही निम्न श्लोक 'किं ते कृतं' से पृथ्वी की स्तुति करने लगीं—

श्लोक—**किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवांघ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।**
अप्यंघ्रिसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ।। १०।।

श्लोकार्थ—हे पृथ्वी ! तू ने कौनसा तप किया है ? जिससे, भगवान् के चरण स्पर्श होने से, तेरे रोमांच (खड़े) हो गए हैं और तू अत्यन्त शोभा पा रही है, क्या अभी (इस समय हुए) भगवान् के चरण स्पर्श से यह आनन्द हुआ है ? या वामनावतार में नापने के समय जो चरण स्पर्श हुआ उसका आनन्द है, अथवा वराह अवतार के समय पाताल से लाते हुए जो तुमने भगवान् से आलिङ्गन किया उस समय का आनन्द है, यह स्पष्ट बता द । १० ॥

सुबोधिनी - हे क्षिति । ते त्वया किं वा तपः कृतम् । अस्माभिरपि तपः कृतमेव, परं नैव फलमनुभूतम् । सर्वथा पुण्यव्यतिरेकेण नेष्टसिद्धिः । सुतरां भगवल्लक्षणा । स्वस्य तदभावमाशङ्क्य बतेति खेदे । न केवलं तव पादसम्बन्धमात्रम्, किन्त्वन्येऽपि भावा दृश्यन्त इत्याहुः । केशवस्य ब्रह्मादेरपि मुक्तिदातुः ब्रह्मप्राथितचरणारविन्दस्य अंघ्रिस्पर्शेन उत्सवो यस्याः । स्वेदो दृश्यत एव, अन्यथा पदानि स्पष्टानि न भवेयुः । अन्योप्युत्सवो दृश्यते, उत्पुलकिता च । सर्वत्र दूर्वाङ्कुरा उत्थिता इति **अङ्गरूहैः** रोमाञ्चैः कृत्वा विशेषेण भासि । उत्पुलकिताङ्गरुहैर्वा । अंघ्रिस्पर्शोत्सवा विभासि । ननु सर्वत्रैव पुलको दृश्यते, यदि केशवांघ्रिस्पर्शेन स्यात्, तत्रैकदेशे स्यात्, स्वदेवदित्याशङ्क्य हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षन्ते **अप्यंघ्रिसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वे**ति । अपीति संभावनायाम् । अनेन चरणस्पर्शेन पूर्वस्थितचरणस्पर्शः स्मृतः । स तु सर्वत्र भूमौ व्याप्तः । अतस्तेन अंघ्रिणा संभवो यस्य उत्सवस्य । उरुक्रमः त्रिविक्रमः । तस्य विक्रमात् पदन्यासाद्वेति तत्राप्यनिर्धारः । न हि चरणसंबन्धमात्रेण संभोगरहितेन सात्त्विकभावरूपः उत्सवो रोमाञ्चो भवितुमर्हति । तदर्थं पक्षान्तरमाशङ्कते **आहो वराहवपुषः परिरम्भणेने**ति । अनेन स्वसमानता च वर्णिता ।। १० ।।

व्याख्यार्थ—हे पृथ्वी ! तुमने किस प्रकार तप किया है ? हमने भी तो तप किया है, किन्तु जिस फल का अनुभव तू ले रही है, उस प्रकार के फल का अनुभव हम नहीं कर रही हैं । हां हमने समझ लिया कि पुण्य के बिना इष्ट[1] की सिद्धि नहीं होती है, उसमें भी भगवत्सम्बन्धी इष्ट सिद्धि

---

[1] इच्छित फल

जिससे भगवान् का पता लग जावे, वह तो विशेष पुण्य के बिना नहीं हो सकती है, गोपियों ने इस प्रकार के फल का अनुभव न होने से, अपना खेद प्रकट करने के लिए मूल में खेद वाचक 'बत' शब्द दिया है, हे पृथ्वी ! तुमने केवल चरण स्पर्श का अनुभव नहीं किया है, किन्तु उस स्पर्श से उत्पन्न अन्य पुलक आदि विकारों का भी अनुभव लिया है, 'केशव' नाम का भावार्थ, यह है कि श्रीकृष्ण ब्रह्मा और महादेव को भी मोक्ष देते वाले हैं, उनकी प्रार्थना से, आप पृथ्वी पर पधारे हैं, जिससे उनके चरणारविन्द के स्पर्श का आनन्द तुमने प्राप्त किया है, उस आनन्द के उत्सव को मनाते हुए तुमको प्रस्वेद[1] हुआ जिससे तू वैसी आर्द्र हो गई है कि प्रभु के चरणारविन्द के चिन्ह तुम पर अङ्कित होगए हैं अन्यथा यदि तुझे पसीना न आया होता, तू शुष्क रहती तो ये चरण चिन्ह अङ्कित न होते, यह तुम्हारी आर्द्रता सात्विक भाव को प्रकट करती है, और इसके अतिरिक्त तुझे उस आनन्द से पुलक हुए वे (पुलक) दूर्वा रूप में प्रत्यक्ष देखने में आते हैं उनसे तुम्हारी शोभा विशेष बढ रही है, अथवा चरण स्पर्श से उत्पन्न आनन्द से, ये सब विकार हुए हैं, जिनसे तुम्हारी शोभा हो रही है। पृथ्वी में यह पुलक तो सर्वत्र देखने में आती है, यदि अबके चरण स्पर्श से हुई होती तो पसीने की तरह एक स्थान पर होती, सर्वत्र न होती, इस शङ्का के निवारण के लिए अन्य कारण कहती हैं कि वामनावतार में भगवान् ने पृथ्वी नापते हुए अपने चरण का समग्र पृथ्वी को स्पर्श कराया था इस समय चरण स्पर्श से यह स्मृति हो गई है, जिससे पृथ्वी में सर्वत्र पुलक रूप दूर्वा उद्भूत हुई है, केवल चरण स्पर्श से तो इतना आनन्द नहीं होता है जिससे पुलक हो जाए, किन्तु वह तब होता है, जब आलिङ्गन और चुम्बन आदि क्रिया पूर्वक भोग होता है इसका उत्तर देती हैं, कि जब वराह रूप धारण किया था तब आलिङ्गन आदि हुए थे, जिससे पुलक आदि होने में किसी प्रकार संशय नहीं है और वे प्रत्यक्ष देखने में आ रहे हैं। इन कारणों से हे पृथ्वी ! तुम और हम दोनों समान हैं ॥ १० ॥

आभास—एवं स्थावरान् पृष्ट्वा जङ्गमान् पृच्छन्ति अपीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्थावरों से पूछकर अब चेतन प्राणियों से पूछती हैं—जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'अप्येण' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रैस्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।**
कान्ताङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ।।११

श्लोकार्थ—हे हरिणी ! हे सखी ! किसी प्यारी के साथ घूमते हुए और अपने अवयवों से तुमको आनन्द देते हुए भगवान् को इस मार्ग जाते हुए तुमने देखे ? उनके गले में वह कनेर के फूलों की माला है, जिसमें प्रिया के अङ्ग सङ्ग करते समय उसके कुचों का चन्दन लग रहा है यहां उनकी सुगंध युक्त वायु आ रही है ॥ ११ ॥

---

[1] १—पसीना

सुबोधिनी-हे एणपत्नि,कृष्णसारपत्नि,प्रियया कयाचित लक्ष्म्या अन्यया वा उपयतः मिलितः स्त्रीसहितः, अनेन मार्गेण गच्छन्, स्वगात्रैः स्वावयवैः, भवतीनां दृशां सुनिर्वृतिं तन्वन् दृष्टः कश्चित् । अनेनैव मार्गेण गत इति चरणारविन्ददर्शनात् निश्चीयते । यदि दृष्टो भवेत्, तदा अस्माभिरपि द्रष्टुम् शक्यत इति । त्वं त्वन्यस्य पत्नी अस्माकं च सखी भवसि । अत आहुः हे सखीति । सखि त्वं कृष्णानुरक्त्या, नेत्रतुल्यत्वेन भीरुत्वादिधर्मैः । अन्यथा भवतीनां विकसितनयनानि न भवन्तीति । ननु कृतलीलः किमिति प्राथ्यर्ते, तत्राहुः अच्युत इति । ननु कथं ज्ञायते प्रियया उपगत इति, तत्राहुः **कान्ते**ति । कान्ताया अङ्गसङ्गे यत्कुचयोः कुङ्कुमं तेन रञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुन्दपुष्पमालायाः गोकुल पतेः सम्बन्धिन्या इह गन्धो वाति । आर्द्रश्च गन्धः आर्द्र कुङ्कुमं ज्ञापयति । सात्त्विकभावादेवार्द्रता । अतो ज्ञायते प्रियया सङ्गत इति ॥११॥

व्याख्यार्थ—हे कृष्णसार मृग की पत्नी ! हे सखी ! अपनी प्रिया (लक्ष्मी अथवा अन्य) के साथ, इस इस मार्ग से जाते हुए अपने श्री अङ्गों के अवयवों से, तुम्हारी दृष्टि को आनन्द देते हुए क्या तुमने भगवान् को देखे ? इस मार्ग से ही पधार रहे हैं इसका निश्चय भगवान् के चरण चिन्ह देखने से हुआ है । यदि देखे हो तो हमको भी बतादो, तो हम भी देख सकें, तू तो अन्य की पत्नी है और हमारी सखी है, सखी होने के कारण बताती हैं, जैसी हमारी कृष्ण में प्रीति है, वैसे तेरी भी है, तेरे नेत्र भी हमारे नेत्रों के समान हैं तथा जैसे तू डरपोक है वैसे हम भी डरपोक हैं, तू ने भगवान् के दर्शन किए हैं इसका प्रमाण यह है, कि तेरे नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं यदि दर्शन न किए होते तो, कदाचित् वैसे नेत्र नहीं होते । वे अकेला तो नहीं थे स्वामिनी के साथ थे, अतः लीला भी अवश्य की होगी, ऐसा कहने पर गोपियों के मन में शङ्का हुई, कि हरिणी कह देगी, कि जब उन्होंने लीला करली है, तो फिर उनसे मिलने के लिए क्यों पूछती हो ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि जिसके लिए हम पूछ रही हैं, वह 'अच्युत' है अर्थात् वह रमण कर लेने पर च्युत[1] नहीं होते हैं अतः रमण करने के अनन्तर, फिर भी रमण कर सकते हैं । यदि हरिणी पूछले, कि वे स्त्री के साथ थे, यह कैसे कहती हो ? (तो) इसके उत्तर में कहती हैं, कि—यहां उस माला की सुगन्धि आ रही है, जिस कुन्दमाला में प्रिया के स्तनों पर चर्चित चन्दन लगा हुआ है, क्योंकि वह गीला है, वह माला आपने कण्ठ में धारण की है, जिससे जाना जाता है कि आपके साथ प्रियाजी भी हैं ॥ ११ ॥

आभास—एवं हरिणपत्नीं पृष्ट्वा इयं भर्तृसमीपे वक्तुमशक्तेति पूर्वं भगवत्स्तुतान् वृक्षान् पृच्छन्ति बाहुमिति ।

गोपियों ने जान लिया, कि यह हरिणी पति के साथ होने से, हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकेगी, अतः हमको उन वृक्षों से पूछना चाहिए जिनकी स्तुति स्वयं भगवान् ने की है, यह निश्चय कर 'बाहुँ प्रियांस' श्लोक से उनसे पूछती हैं—

श्लोक—**बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।**
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रमाणं किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥१२

---

[1] —कम शक्तिवान्

श्लोकार्थ—हे वृक्षों ! एक हाथ प्यारी के कंधे पर धर, दूसरे हाथ में कमल लिए हुए यहां विचरते हुए और जिनके पीछे तुलसी की गन्ध से मत्त भ्रमर जा रहे हैं वैसे राम के छोटे भ्राता ने स्नेह पूर्वक अवलोकनों से तुम्हारे प्रणाम को स्वीकार किया व नहीं ? ॥ १२ ॥

सुबोधिनी—प्रियाया अंसे बाहुमुपधाय द्वितीयेन हस्तेन गृहीतपद्मः रामानुजो निर्भयः तुलसिकायाः सम्बन्धिनो येऽलयः तेषां कुलैः कृत्वा अन्वीयमानः पश्चाद् गम्यमानः । हे तरवः । पूर्वं भगवता भक्तत्वेन स्तुताः, अतो भगवद्भिः कृतं प्रणाममिहैव किमभिनन्दति, न वेति प्रश्नः । प्रियांसे बाहुमुपधायेति समतया गमनेन लक्ष्यते । उभयोः पदानां पङ्क्त्याकारेण गमनात् । कदाचित्पदानां चाञ्चल्येन भ्रमरोपरुद्धगत्या तन्निवारणार्थं यत्नो लक्ष्यते । तरवश्च नम्राः, नमस्कारार्थमेव फलोपहारं कृत्वा भूमिसम्बद्धशिरसो जाताः । अतो ज्ञायते प्रणामः कृत इति । अनुत्थानात्संदेहः अभिनन्दति न वेति । अनभिनन्दने हेतुः **चरन्निति** यो हि गच्छति, सः अनवहितोऽपि भवति । ननु निकट एव स गच्छति । यद्यभिनन्दनं कृतं स्यात्, तदैव श्रूयेत, कथं संदेह इति चेत्, तत्राहुः **प्रणयावलोकै**रिति । प्रणयपूर्वकमवलोकैः, न तु वाचा । अतो ये निकटस्थाः, त एव जानन्ति नान्ये ॥१२॥

व्याख्यार्थ—बलदेवजी के अनन्तर प्रकट होने के कारण जो निर्भय है, तुलसी के सम्बन्धी भ्रमर जिनके पीछे आ रहे हैं, वैसे भगवान् प्यारी के कन्धे पर एक हस्त को धर, दूसरे हस्त में कमल को लेकर जो विचरण कर रहे हैं, हे वृक्षों ! जिन्होंने आपके भक्त होने के सम्बन्ध से, पूर्व स्तुति की है, जिससे तुमने भगवान् को, जो अब प्रणाम किया उसको उन्होंने स्वीकृत किया वा नहीं ? वह बताओ;

भगवान् एवं प्रिया की पद पंक्ति साथ साथ इसलिए जा रही है, जो भगवान् ने अपने श्री हस्त को प्यारी के कन्धे पर धरा है जिससे निश्चय है, कि दोनों मिलकर इकट्ठे ही साथ में जा रहे हैं, कहीं कहीं भगवान् के चरण की गति टेढी देखने में आती है, उसका कारण यह है, कि १—चञ्चल गति से चलना, २—भ्रमरों के उपद्रव से उनको दूर करना, अन्यथा तो दोनों की चाल समान है ।

वृक्ष नम्र स्वभाव वाले होते हैं, अतः इन्होंने भेट के लिए फल लेकर पृथ्वी तक नत मस्तक होके भगवान् को प्रणाम किया है, किन्तु वे (भगवान्) तो चले गए हैं, अब तक इनके मस्तक पृथ्वी पर क्यों हैं ? जिससे संशय उत्पन्न होता है, कि यह पृथ्वी पर मस्तक प्रणाम के कारण से है वा अन्य किसी कारण से है, अर्थात् इन्होंने (वृक्षों ने) प्रणाम किया है वा नहीं ? प्रणाम के अनन्तर तो मस्तक, अपने स्थान पर होना चाहिए, वह नहीं होने से, प्रणाम के विषय में शङ्का होती है और इनका प्रणाम भगवान् ने वाणी से वा इङ्गित से स्वीकार किया या नहीं ? भगवान् जा रहे थे इसलिए इन्होंने प्रणाम किया यह ध्यान में न भी आया हो, हम उस समय पास तो थी नहीं जो जान सकें, पास वालों ने जाना होगा । हे वृक्षों ! इत्यादि कारणों से सन्देह होने से, हम आप से पूछती है ॥ १२ ॥

आभास—ते ज्ञानिनो वृक्षाः स्त्रिभिः सह सम्भाषणं न करिष्यन्तीति तत्पत्नय एव प्रष्टव्या इत्याहुः पृच्छतेमा लता इति ।

आभासार्थ—वृक्ष तो ज्ञानी हैं, वे स्त्रियों से सम्भाषण नहीं करेंगे, अतः इनकी स्त्रियों से 'पृच्छतेमा' श्लोक में पूछती है—

श्लोक—पृच्छतेमा लता बाहुनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ।। १३ ।।

श्लोकार्थ—ये लताएं वृक्ष के डालिओं रूप भुजाओं को आलिङ्गन कर रही हैं तो भी, भगवान् के नख स्पर्श से इनमें पुलक हो गई है, जिससे ये भगवान् का पता बता सकेंगी अतः इनसे पूछें ।। १३ ।।

सुबोधिनी—वनस्पतेर्बाहुनाश्लिष्टा अप्येताः पृच्छत । यद्यपि तासामप्यनवसरः, ताश्च पुनर्भर्तृभुजालिङ्गिता अपि भगवत्करजैरेव नखैः स्पृष्टाः सत्यः उत्पुलकानि बिभ्रति । न हि रसान्तराविष्टानां रसान्तरार्थं स्पृहा भवति । अत एव ज्ञायते 'सर्वोपमर्दी भगवत्सम्बन्धी रस' इति । एवं सर्वेषामेवावचने मूर्छिता इव जाता इति । एतदन्ता प्रश्नकथा । नवविधा एता गोप्यो निरूपिताः । दशमी तु भगवता नीयते । एवमन्वेषणेन रसस्थैर्यं निरूपितम् ।। १३ ।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि ये बेल वृक्षों के बाहु से आश्लिष्ट हैं तो भी, इनसे पूछो, जो कि इनको भी उत्तर देने का अवसर[1] तो है नहीं, कारण कि एक तो ये पतिओं से आलिङ्गित हैं, और दूसरे पुष्प चयन करते हुए भगवान् के नख स्पर्श से इनके रोमांच खड़े होगए हैं, उस रस में ये, छकी हुई हैं अतः एक रस में मग्न, दूसरे रस ग्रहण करने की इच्छा नहीं करते हैं, जिससे जाना जाता है, कि भगवान् का रस सब रसों का मर्दन करने वाला होने से, सब से उत्तम, श्रेष्ठ है ।

इस प्रकार सब से पूछने पर किसी ने भी कोई उत्तर नहीं दिया, तब वे मूर्छित सी हो गई, इसी तरह प्रश्न करने वाली नौ प्रकार की गोपियाँ थीं, दशमी तो भगवान् के साथ गई हुई थीं, यहाँ तक प्रश्न की वार्ता हुई, जो कि प्रश्नों का उत्तर गोपियों को नहीं मिला किन्तु इस भांति प्रश्न करने से इनको (गोपियों को) यह फल मिला कि उनमें रस स्थिर हो गया ।

आभास—एवं तिरोधानेन जाततापनिवारणार्थं यत्नो निरूपितः । एतदुपमर्दिका भगवल्लीला प्रादुर्भूता । तस्या विलासं वक्तुं पूर्वोपसंहारपूर्वकमुपक्रमते इतीति ।

---

[1] १—मोका,

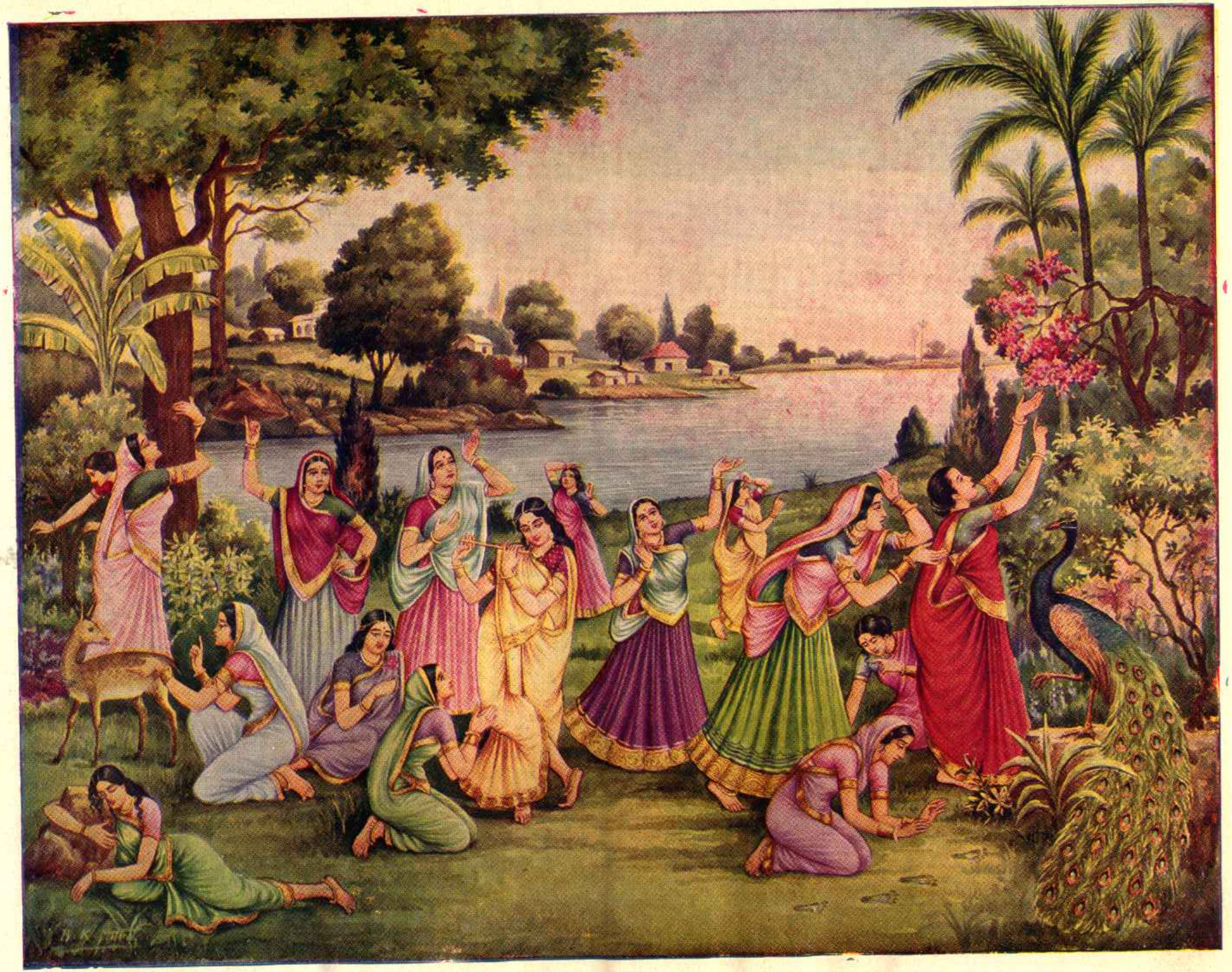

सुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

गोपियोंकी तन्मयता

आभासार्थ - गोपियों ने ताप को मिटाने के लिए इस प्रकार प्रयत्न किया किन्तु उससे केवल रस पुष्ट हुआ ताप नहीं मिटा, अब ताप को मिटाने वाली भगवल्लीला प्रकट हुई, जिसके विलास का वर्णन करने के लिए पूर्व विषय का उपसंहार कर, उसका उपक्रम[1] 'इत्युन्मत्त' श्लोक से करते हैं—

श्रीशुक उवाच

श्लोक—**इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।**
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार उन्मत्त की भांति वचन कहती हुई, भगवान् को ढूंढने से दीन हुई गोपियाँ तद्रूप होगईं, जिससे भगवान् द्वारा की हुई, वे लीलाएँ स्वयं करने लगीं ॥ १४ ॥

सुबोधिनी—इतिशब्दः प्रकारवाची । एवंप्रकारेण प्रश्नायोग्येऽपि प्रश्नकरणादुन्मत्तवाचो गोप्यो जाताः । कृष्णस्यान्वेषणे कातरा अपि, दीना अपि, जाताः । तनुर्वाक् श्रान्ता । मनसि तु त्रयो वर्तन्त इति प्रथमस्यापगमे द्वितीय आविर्भूत इत्याह **लीला** इति । भगवतस्तास्ताः पूर्वमुक्ताः कृताश्च तदात्मिकाः सत्यः अनुचक्रुः । **उन्मत्तवच** इति छान्दसो ह्रस्वः । अथवा । इति पूर्वोक्तमुन्मत्तवचः एतावदिति । ततो गोप्यः कृष्णान्वेषणार्थं कातरा जाता इति । भगवतो लीलाः षड्विधाः स्वाभाविक्यस्तासामपि भेदाः तास्ताः । युक्तश्चायमर्थः । भगवति हृदि समाविष्टे लीलाभिः सहिते । यदा यदा भगवानवतरति तदा तदा पूतनासुपयःपानादिकं करोति, तथैव संवत्सरलीलायां पुरुषोत्तमादिषु प्रसिद्धिः । एतासामपि मनसि आविर्भूतेन कर्तव्यं तत्साक्षात्कर्तुमशक्यमिति भाव नयैवाविर्भूत इति अनुकरणमात्रं कृतवत्यः ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ—मूल श्लोक में 'इति' शब्द दिया है, उसका अर्थ 'प्रकार' है, गोपियों के वचन उन्मत्त जैसे थे, इस प्रकार कहने का आशय यह है कि गोपियों ने उनसे (ऐसे प्रश्न किए जो प्रश्न करने कोग्य नहीं थे, जिससे जाना गया है, कि गोपियां उन्मत्तवत्त बोल रही हैं, और कृष्ण का अन्वेषण करती हुई दीन बन गई हैं जिससे शरीर तथा वाणी भी थक गई किन्तु मन में तो तीनों (ताप, लीला और भगवान्) ही हैं, एक (ताप) के जाने पर दूसरे (लीला) का आविर्भाव हुआ जिसके लिए श्री शुकदेवजी ने मूल में 'लीला' शब्द दिया है, गोपियां तद्रूप (भगवद्रूप) हो कर, वे वे लीलाऐं जिनका अनुभव किया था, करने लगीं । मूल में जो 'वचः' कहा है वह वैदिक व्याकरण नियमानुसार छान्दस प्रयोग है, यदि इस शब्द को छान्दश न माना जाय तो इसका अर्थ इस प्रकार कहना चाहिए 'इति' अब तक जो कहा गया है वह 'उन्मत्त वचः = उन्मत्तस्य वचः * उन्मत्त का वचन (कहना) है ।

---

* वचसू—शब्द मानकर यह अर्थ किया जा सकता है

---

[1] —प्रारम्भ

गोपियां भगवान् का अन्वेषण करती करती कायर[१] बन गई। भगवान् की स्वाभाविकी छ प्रकार की लीलाएं हैं, उनमें भी, अनेक प्रकार[२] है, इसलिए मूल में 'ताः ताः' 'वे वे' शब्द देकर उनकी विविधता प्रकट की है। इसी भांति अर्थ करना योग्य है। गोपियों के हृदय में भावात्मक भगवान् अकेले नहीं पधारे, किन्तु लीला सहित पधारे हैं। जब जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब तब, पूतना के प्राण सहित पयः पान आदि लीलाए करते हैं, वैसे ही पुरुषोत्तम मास में और संवत्सर लीलाओं में ये सब उत्सव किए जाते हैं यह प्रसिद्ध है :

भगवान् ने गोपीजनों के मन में प्रकट होकर जो-जो लीलाऐं की हैं, उनका साक्षात्कार दर्शन होना अशक्य है: इसलिए वे भावना से ही, आविर्भूत हुए हैं जिससे गोपियों ने लीलाओं का अनुकरण मात्र किया है अर्थात् जैसे लोक में कोई कुछ कार्य करता है, उसको देखकर अन्य वही कार्य उसी प्रकार करने लगे, तो कहा जाता है कि इसने उसका अनुकरण किया है, वैसे ही यहां गोपियां ने जो लीलाऐं की हैं, वे भी अनुकरण मात्र हैं, कारण कि भगवान् गोपियों में भावना से ही प्रकट हुए ॥ १४ ॥

जब कि, सब गोपीजनों का भगवान् में समान प्रेम था, तो सब गोपियों में एक ही समय समान लीलाओं का प्रादुर्भाव न होकर, पृथक क्यों हुवा ? इस शङ्का की निवृत्ति आचार्य श्री निम्न तीन कारिकाओं द्वारा करते हैं।

कारिका—**भक्त्यातिमत्तास्तद्भावमीषन्मत्तास्तु रोषतः ।**
द्वेषभावं समाश्रित्य क्रीडन्त्यो जातमत्सराः ॥ १ ॥
सत्त्वादिगुणभावेन नवलीलाः प्रपेदिरे ।
अतो न न्यूनभावोऽत्र हृद्याविष्टाः शकटादिभिः ॥ २ ॥
सर्वत्र हरिबुद्धया वा पादस्पर्शेच्छया पुनः ।
उलूखलादिभावोऽपि तत्सम्बन्धप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—भगवान् में समान प्रेम होते हुए भी, भाव के भेद से, लीला में भेद की प्रतीति होती है, जो गोपी भक्ति से अतिमत्त हो गई है, उसमें केवल भगवद्भाव (ज्ञान) ही रहता है, और जो गोपी भक्ति से स्वल्पमत्त हुई है, उसमें भगवद्भाव के साथ उनके सम्बंध वाले पदार्थों का भी भाव (ज्ञान) रहता हैं, अतः भगवान्, भगवल्लीला तथा भगवत्सम्बंधी पदार्थ इन तीनों में से जिसका भाव हृदय में उद्भूत होता है, उस समय वह गोपी तद्रूप बन जाती है, इसलिए भक्ति से, जो अतिमत्त हो

---

[१] —दीन, [२] —भेद-नमूने,

गई थी, जिसको भगवान् के सिवाय अन्य किसी का ज्ञान न रहा था, उसको भगवद्भाव प्राप्त हुआ अर्थात् उसने अपने को मैं कृष्ण हूँ यों समझा, और जिसको स्वल्पमत्तता के कारण, अन्य का भी ज्ञान रहा था, उसको पूतना आदि भाव जगा, जिससे उसने अपने को पूतना समझा इसलिए क्रोध आदि धारण क्रीड़ा करने लगी। सत्त्व, रज और तम गुण के कारण, गोपियां ने नौ लीलाएँ की हैं जिनका वर्णन १५ से २३ श्लोकों में पृथक् २ प्रकार से किया गया है ॥ १॥ ॥

जिन गोपियों को भगवद्भाव न होकर, पूतना भाव हुआ, वे भगवद्भाववालियों से न्यून कक्षा की गिनी जाएंगी वैसी शङ्का हो तो उसका समाधान यह है कि उनको न्यून कक्षा वाली नहीं समझना चाहिए कारण कि, भगवान् और भगवान् की लीला से सम्बंधित पदार्थ सब समान ही हैं, अतः पूतनादि भाव वाली तथा शकटादि भाव वाली गोपियाँ भगवद्भाव वाली गोपियाँ से न्यून नहीं हैं सब समान हैं। केवल वर्णन करने में अन्तर देखने में आता है कारण कि, जहां एक लीला का प्राकट्य होता है; वहां उस समय दूसरी लीला के दर्शन नहीं होते हैं, जिससे प्रकट लीला का ही वर्णन किया जाता है, अतः इन सब लीलाओं में समान भाव ही है; कहीं भी किसी में भी (लीला में वा लीला कर्ता में) भेद वा न्यूनता नहीं है ॥ २ ॥

यद्यपि सब गोपियाँ समान हैं, तो भी जिनमें पुनः भगवान् के चरण स्पर्श करने की अत्यन्त आर्ति जागृत हुई है, जिससे उन्होंमें, उलूखल, शकट आदि होने का भाव उत्पन्न होते ही, वे उलूखलादि बन, भगवान् के चरणारविंद का इस प्रकार स्पर्श करती हैं, वे भगवद्भाववालियों से उत्तम हैं ॥ ३ ॥

श्लोक—**कस्याश्चित्पूतायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम् ।**
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम् ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—जो गोपी कृष्ण बनी, उसने पूतना रूप बनी गोपी का स्तन पान किया और जो गोपी, बालक बनी, उसने रोते हुए शकट रूप गोपी को लात मारी जिससे वह उलट गई ॥ १५ ॥

सुबोधिनी—प्रथमतो भगवच्चरित्रं पूतनासूपयःपानमिति, काचित्पूतना भूता जाता, अन्या 'अहं कृष्ण' इत्युक्तवती, तदा तामङ्के भगवद्बुद्धया अगृह्णात् । ततस्तस्याः पूतनायन्त्याः कृष्णायन्ती स्तनमपिबत् । तस्यास्तु मरणभावना न स्थितेति, सा न मृता । नाप्यनुकरणं कृतवती । कृष्णायन्ती च स्तनमात्रमेव पिबति । अलौकिकसामर्थ्याभावात् इति स्तनपानमात्रमुक्तम् । अमङ्गलतानिवृत्तये च शकटभङ्गलीलामाह **तोकायित्वेति** । तोकवदाचरति, आत्मानं तोकं मन्यते वा, तोकवदात्मानं कृत्वा वा । **शकटायतीं** शकटवत् स्थितां, अहन् ताडितवती ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ -- भगवान् ने पूतना का दूध पीते हुए प्राण चूँस लिए । भगवान् का यह चरित्र पहला है, कोई गोपी पूतना बनी दूसरी गोपी 'मैं कृष्ण हूं' यों कहने लगीं, तब जो गोपी पूतना बनी थी उसने दूसरी गोपी को कृष्ण समझ कर गोद में ले लिया, गोद में लेते ही कृष्ण रूप गोपी पूतना हुई गोपी का स्तन पान करने लगी, उस समय पूतना बनी गोपी को यह भावना नहीं हुई, कि मैं मरी, अतः मरी नहीं, और पूतना के समान मरने का अनुकरण भी नहीं कर सकी तथा कृष्ण बनी हुई गोपी ने भी केवल स्तन पान करने की क्रिया मात्र की, कारण कि उसमें कृष्णवत् कोई अलौकिक सामर्थ्य तो नहीं थी, इसलिए यहां केवल स्तन पान कहा है, असुपान[1] नहीं कहा है, यदि असुपान हो तो, मृत्यु हो जावे जिससे अमङ्गल होवे अतः अमङ्गलता को निवृत्ति के लिए केवल स्तन पान कहा गया है ।

शकट भङ्ग लीला—एक गोपी बालक बन शकट बनी हुई गोपी को लात मारने लगी जिससे वह औंधी होकर गिर गई ॥ १५ ॥

आभास—तृणावर्तलीलामाह दैत्यायित्वेति ।

आभासार्थ—इस 'दैत्यायित्वा' श्लोक में तृणावर्त की लीला कहते हैं—

श्लोक—**दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।**
रिङ्गयामास काप्यंघ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—एक बालकृष्ण बन बैठी, दूसरी अपने को दैत्य (तृणावर्त) बनाकर उसको (बालकृष्णवाली को) हर लेगई, कोई कटिमेखला के किंकिणियों की ध्वनि करती दोनों पैरों को घसीटती हुई घुटनों से रेंगने लगी ॥ १६ ॥

सुबोधिनी—दैत्यवदात्मानं कृत्वा कृष्णस्यार्भबाल्यं भावयन्ती, कृष्णार्भभावनां तामेका आत्मानं दैत्यायित्वा जहार । काऽपि अंघ्री कर्षन्ती घोषनिः स्वनैः रिङ्गयामास चलितवती । यथा बाल्ये मुग्धप्रभीतवत् घोषप्रघोषरुचिरं भगवान् गच्छति । पूर्वश्लोके चतस्र उक्ताः लीलाद्वयेन,

---

[1]—प्राणपान,

तास्तामसतामस्यः । अत्र तिस्र एव राजसतामस्य इति । चरित्रलीलायामुक्ता विशेषा अत्राप्यनुसंधेयाः । अथवा । युगलास्तिस्रो निरूपिताः । गुणातीता त्वेका । पुनः प्रकारान्तरेण बह्व्यः एकभावमापन्नाः भगवदिच्छया प्रधानगुणभावं प्राप्य रजसा अनेकधा विक्षिप्ताः बहुरूपा जाताः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—कोई कृष्ण को बालक समझ, अपने को दैत्य जान कर, बालकृष्ण रूप बनी हुई गोपी को हरण कर गई, कोई गोपी करधनी की घूगरियों की ध्वनि करती हुई दोनों पैरों को घसीटती हुई, घुटनों से रेंगने लगी, इस प्रकार एक गोपी ने मुग्ध और भीत कृष्ण की रिंगणलीला का अनुकरण किया ।

पूर्व श्लोक में दो लीलाएँ कही, उनमें जो लीला करने वाली चार गोपियाँ थीं, वे 'तामस तामसी' थीं, इस श्लोक में लीला करने वाली जो तीन गोपियाँ हैं, वे राजस तामसी हैं ।

श्रीकृष्ण की लीलाओं में जो विशेष भेद हुए है, उनको भी यहां जान लेना चाहिए, अथवा दोनों श्लोकों में लीला करने वाली गोपियां सात हैं, उनमें से एक तो गुणातीत है, जिसने एक रिंगण लीला की है, शेष छ रही, उनके तीन युगल[1] हुए, एक युगल वह जिसने पूतना और कृष्ण बन कर लीला की, दूसरा युगल वह जिसने बालक और शकट बन कर लीला की और तीसरा युगल वह जिसने दैत्य (तृणावर्त) और बालक बन कर लीला की है ।

फिर प्रकारान्तर[2] से एक भाव वाली अनेक गोपियाँ भगवदिच्छा से प्रधान गुण को प्राप्त कर रजोगुण से उत्पन्न विक्षेप के कारण अनेक रूप बन गईं ॥ १६ ॥

तीनों युगलों का विवेचन और प्रधान से अनेक रूप बन गईं तक का स्पष्टीकरण योजनाकार पं० लालू भट्टजी ने किया है, जिनमें से युगलों का विवेचन अनुवाद में दिया है शेष—'प्रधान अनेक रूप बन गईं का स्पष्टीकरण यहां दिया जाता है—'प्रधान गुण भावं' दो गोपियाँ श्रीकृष्ण तथा बलदेव भाव को प्राप्त हुई, शेष शृङ्गार रस के सम्बन्ध वाले रजोगुण रूप भाव विशेष से विक्षिप्त[3] होने से अनेक रूप हो गई, अर्थात् श्रीकृष्ण रूप, बलदेव रूप, गोप बालक रूप भेद से अनेक गोप रूप हो गईं ।

आभास—वृन्दावनक्रीडायां वत्सपालकरूपा जाताः । तत्र प्रकारमाह कृष्णेति ।

आभासार्थ—गोपियाँ वृन्दावन की क्रीड़ा का अनुकरण करते समय, कोई वत्स बनीं और कितनीक गोप बनी, जिसका वर्णन 'कृष्णरामायिते' निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ।**
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥ १७ ॥

१—जोड़े, २—अन्य प्रकार, ३—व्याकुल

श्लोकार्थ—दो गोपियों ने तो राम और कृष्ण का रूप धारण किया, कितनीक गोप बनीं, एक गोपी ने वत्स बनी हुई गोपी को मारा तो दूसरी ने बक बनी हुई को मारा ॥ १७ ॥

सुबोधिनी—द्वे कृष्णरामायिते, कृष्णरामवत् जाते । काश्चन गोपायन्त्यः। गोपा अत्र बालकाः । जातिशब्दोऽयम् । वत्सरूपाश्च काश्चन जाताः । चकारेण समुच्चिताः । अन्या पुनर्वत्सायिता, वत्सासुरवदाचरति । तां घ्नती च जाता । कृष्णायिता अर्थात् चकारात् फलानि पातयन्ती च । अन्या पुनः बकायन्तीं घ्नती जाता । वत्सवधो लोके बलभद्रकृत इत्यपि प्रसिद्धः । 'प्रलम्बो निहतोऽनेन वत्सको धेनुकादयः ।' अत उभयोर्मध्ये एका बकायतीम्, अन्या वत्सायतीम् ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—दो गोपियाँ राम और कृष्ण बनीं, श्लोक में गोप शब्द जाति वाचक है अतः कितनीक गोप जाति के बालक बन गईं और कितनी वत्स रूप हो गईं 'च' का अर्थ समुच्चय'[1] है, अर्थात् बहुत गोपियाँ बछड़ों का रूप धारण कर इकट्ठी हो गईं, इसमें से जिसने वत्सासुर का रूप धारण किया उसको एक गोपी कृष्ण बनी हुई ने मारा और जो गोपी बक बनी थी, उसको दूसरी गोपी जो बलराम बनी उसने मारा, दूसरे 'च' का आशय है, कि एक (कृष्ण बनी गोपी) ने ताड़ के फल भी गिराए। लोक में, यों भी प्रसिद्ध है, कि वत्सासुर को बलभद्रजी ने मारा, इसलिए एक ने वत्सासुर को दूसरी ने बकासुर को मारा, इस प्रकार अर्थ कर लेना ॥ १७ ॥

आभास—ततः परं गोपरूपेण वृन्दावनलीलामाह आहूयेति ।

आभासार्थ—इसके पश्चात् वृन्दावन में जो गोप रूप से लीलाएँ की, उनका वर्णन 'आहूय' इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।
वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार श्री कृष्ण दूर से गौओं को बुलाते थे, वैसे ही जब एक गोपी भी, उनका अनुकरण करती हुई वेणु बजाती हुई गौओं को बुलाती थी, तब उसकी अन्य सखियाँ वाह वाह कर उसकी प्रशसा करती थो ॥१८॥

सुबोधिनी—गोरूपाः काश्चन जाताः, गोपालरूपाः काश्चन । तत्र यद्वत् कृष्णः दूरगाः गाः आहूय वेणुक्वणनं करोति, एवं दूरगा गोपीराहूय तं कृष्णमनुकुर्वती काचित् जाता ताम् । वेणुं क्वणन्तीम्, ततो नानाविधक्रीडां कुर्वतीं अन्याः गोपायिताः साधुसाध्विति शंसन्ति ॥ १८ ॥

---

[1] १—समूह

व्याख्यार्थ—कितनी गोपियों ने गौ रूप धारण किया, कितनीक गोप रूप बनीं। जैसे कृष्ण, दूर गई हुई गौओं को बुला कर, वेणु बजाते हुए क्रीड़ा करते थे, वैसे ही कृष्ण रूप बनी हुई गोपी, दूर गई हुई गोपियों को बुला कर, वेणु बजा के नाना विध क्रीड़ा करने लगी, जिसको देखकर गोप रूप बनी गोपियों ने वाह वाह कर उसकी प्रशंसा की ॥१८॥

आभास—एका पुनः क्रीडायां कृतापि लीला भागवते अनुक्ता तां भावयित्वा तादृशीं लीलां कृतवती, तदाह कस्याश्चिदिति ।

आभासार्थ—जिस लीला को भगवान् ने क्रीड़ा करते हुए किया था, उसका भाव जागृत होने से, एक गोपी ने लीला की, यद्यपि भागवत में कही हुई लीलाओं में इस लीला का वर्णन नहीं है, जिसका वर्णन निम्न 'कस्यांचित्' श्लोक में करते है—

श्लोक—**कस्याश्चित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।**
कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—किसी एक (निर्गुण) गोपी के कन्धे पर गोप रूप दूसरी गोपी ने अपनी भुजा को रखा और चलते चलते अन्य गोपियों से कहने लगी, कि मैं 'कृष्ण हूं' मेरी सुन्दर गति को देखो। इस प्रकार का कहना तन्मयता के कारण था ॥१९॥

सुबोधिनी—अत्रापि पूर्ववत् युगलास्तिस्रः । चतुर्थ्येषा । कृष्णरामायिते द्वे युगले । साध्वाशंसनसहिता वेणुनादनपरा च तृतीया । एशा तु निर्गुणा । कस्यांचित् गोपरूपायां स्वभुजं स्थापयित्वा चलन्ती, अपरा गोपरूपा, अतोऽन्या । ननु हे गोप्यः अहं कृष्णः मे ललितां गतिं पश्यतेति । दोषाभावार्थमाह **तन्मना** इति । पूर्वं कायिकीं चेष्टां केवलां कृतवती । इदानीं वाचा सहिताम् ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—इन तीन (१७-१८-१९) श्लोकों में वर्णन की हुई वृन्दावन की लीला में भी, तीन युगल हैं, शेष चौथी यह एक है, कृष्ण और राम के बने हुए दो युगल तीसरा युगल वह है, जिसमें एक गोपी वेणु बजाती हुई क्रीड़ा करती है, अन्य उसकी प्रशंसा करती हैं, यह चौथी निर्गुण है, उसने किसी गोप रूप गोपी के कन्धे पर हाथ धर कर चलते चलते दूसरी को कहा कि 'मैं कृष्ण हूं' मेरी सुन्दर गति को देखो, शुकदेवजी 'तन्मनाः' (कृष्ण में आसक्त चितवाली) कह कर बताते हैं, कि यह निर्दोष है, अतः 'मैं कृष्ण हूं' यों कहने में कोई दोष नहीं है, इस गोपी ने प्रथम केवल शरीर की चेष्टा की थी, अब वाणी के साथ काया की चेष्टा भी करती है ॥१९॥

श्रीमान् लालू भट्टजी इन तीन युगलों को स्पष्ट कह कर समझाते हैं—

१–एक युगल–एक गोपी 'कृष्ण' और एक गोपी 'बक' बनी ।

२–दूसरा युगल–एक गोपी बलराम रूप और एक गोपी वत्सासुर रूप बनी ।
३–तीसरा युगल–एक गोपी कृष्ण रूप बनी और एक गोपी वाह वाह करने लगी ।
४–निर्गुण–एक, जिसने किसी गोप रूप के कन्धे पर भुजा धरी वह कृष्ण रूपा एक गोपी 'निर्गुण थी ।

आभास—पुनः प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यमाह मा भैष्टेति ।

आभासार्थ—शुकदेवजी प्रकारान्तर[1] चार प्रकार की गोपियों का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।**
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—पवन और वर्षा से मत डरो, उनसे तुम्हारी रक्षा मैंने की है, यों कहकर प्रयत्न पूर्वक अपने एक हस्त वस्त्र को ऊँचा उठाया ॥ २० ॥

सुबोधिनी—एषैव निर्गुणा । काश्चन गोगोपगोपीरूपा जाता वृष्टिभीता इव । तदा वातवर्षाभ्यां हेतुभूताभ्यां मा भैष्ट, मया त्त्राणं विहितं इत्युक्त्वा एकेन हस्तेन अम्बरं नयन्तीं, पर्वतवत् स्थापयन्ती, ऊर्ध्वं निदधे । गोवर्धनवत् धारितवती, यतन्ती प्रयत्नं कुर्वन्ती वा ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में कही हुई लीला में वस्त्र को पर्वत के समान ऊँचा करने वाली गोपी निर्गुणा है ।

कितनी गोपियाँ गौ बनी, और कितनी गोप रूप बनीं तथा कुछ गोपी रूप में ही रही, इस प्रकार की तीनों ने वायु और वर्षा से डरने का स्वांग किया तब कृष्ण रूप बनी गोपी ने उनको कहा कि पवन वर्षा से डरो मत मैंने तुम्हारा रक्षण कर लिया है, यों कहकर प्रयत्न पूर्वक एक ही हाथ से गोवर्धन के समान वस्त्र को ऊपर ऊँचा धारण कर गोवर्धन धारण लीला का अनुकरण करने लगी ॥ २० ॥

आभास—सात्त्विकत्याश्चेष्टामाह आरुह्येति ।

आभासार्थ—सात्विकी गोपी ने जो चेष्टा (लीला) की, जिसका वर्णन 'आरुह्यैकां' श्लोक में करते हैं ।

---

[1] १—दूसरे तरीके से ।

श्लोक—आरुह्यैकां पदाक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—एक गोपी दूसरी के शिर पर चढ पैर से दबा कर कहने लगी कि हे दुष्ट सर्प ! चला जा, समझले कि दुष्टों को दण्ड देने वाला मैं प्रकट हो गया हूँ ॥२१॥

सुबोधिनी—एकामारुह्य, पदा च आक्रम्य, शिरसि पादाघातं कृत्वा। नृपेति सम्बोधनं विश्वासाय। एषा लीला कठिना। उपरि वृक्षशाखामवलम्ब्य वा तथा कृतवती। (वस्तुतस्तु या लीला यथा प्रभुणा कृता, सा तथैवात्राविर्भवति इति निरालम्बनत्वेऽपि नानुपपत्तिः।) हे दुष्टाहे कालिय। इतो गच्छ। यतोऽहं खलानां दण्डधृक् जातः। ननु इति सम्बोधनं अमारणार्थम् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—एक गोपी दूसरी पर चढ, पैर से उसके शिर पर प्रहार करने लगी और कहने लगी, कि हे दुष्ट सर्प ! यहां से चला जा, कारण कि दुष्टों को दण्ड देने वाला मैं प्रकट हो गया हूँ। श्लोक में जो 'ननु' शब्द है वह यहां शङ्का अर्थ में नहीं है किन्तु सम्बोधन में है जिसका आशय है कि मैं तुझे मारूंगा नहीं केवल यहां से निकालूंगा। यहां परीक्षित को हे नृप ! इस प्रकार संबोधन करने का आशय यह है, कि शुकदेवजी के वचनों में परीक्षित की श्रद्धा है, अतः शुकदेवजी कहते हैं।

यह लीला कठिन जैसी लगती हैं अतः कदाचित्[1] किसी वृक्ष की डाली को पकड़ के दूसरी के मस्तक पर पैर धरा हो अथवा जिस प्रकार भगवान् ने की थी वैसे ही की हो (श्री प्रभुचरण यहां आज्ञा करते हैं—यथार्थ तो यह है कि यह लीला वैसे ही की गई है जिस प्रकार प्रभु ने की थी, वृक्ष के आश्रय की कोई आवश्यकता नहीं थी)

आभास—तत्रैकोवाचेति।

आभासार्थ—'तत्रैकोवाच' श्लोक में दावाग्नि लीला के अनुकरण को कहते हैं—

श्लोक—तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्नि पश्यतोल्बणम् ।
चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—वहां एक गोपी कहने लगी, कि हे गोप ! भयंकर दावाग्नि को देखो। जल्दी आँखों को बन्द कर दो, मैं तुम्हारी रक्षा शीघ्रता से करूँगा ॥ २२ ॥

---

[1] —शायद,

सुबोधिनी—राजसी पुनस्तत्रैका जाता । उवाच च वक्ष्यमाणम् । गोरूपाः काश्चन । गोपरूपास्तथापराः । एका तु कृष्णरूपा आह । हे गोपा उल्बणं दावाग्नि पश्यतेति । विरहेण दावाग्नि दृष्टवती, भावनया वा तथा भानम् । सर्वापि क्रीड़ा भगवद्रूपा तत्र तत्राविशतीति दावाग्नेरपि दर्शनम् । अन्यासां विशेषाकारेण तस्यां भगवद्भावाभावात् न तत्प्रार्थना । एवमेव वातवर्षस्थलेऽपि । अतिमत्तानामेव भगवद्भावेन तल्लीलावेशात् तस्य एव दर्शनमिति निष्कर्षः ।२२।

व्याख्यार्थ—वहां एक राजसी गोपी बनी, कितनीक गोपी गौ रूप बनीं, गोप रूप वाली गोपियों को कृष्ण रूप बनी हुई गोपी कहने लगी, कि हे गोपों ! इस भयंकर दावाग्नि को देखो, यह दावाग्नि किनको देखने में आई, जिसका स्पष्टीकरण यह है कि जिन गोपियों के अन्तःकरण में उत्कट विरह भाव था, उनको यह दावाग्नि देखने में आई थी, और जिनमें पूर्ण लीला भावना जागृत थी उनको भी देखने में आई थी अन्यों को नहीं आई ।

भगवान् की सकल लीलाएं जो भगवद् रूपा हैं वहां प्रवेश करती हैं, अर्थात् उनको देखने में आती है, जहां सच्ची पूर्ण भावना होती है जैसे दावाग्नि का भी उसको (पूर्णभाव वाली को) दर्शन हुआ है ।

जिन अन्यों को, उस गोपी में भगवद्भाव नहीं था, उन्होंने अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना नहीं की है, इस प्रकार २० श्लोक में वायु और वर्षा से भी उन्होंने प्रार्थना नहीं की थी ।

सारांश यह है कि जो भगवद्भाव से अतिमत्त हैं उनमें ही लीला का आवेश होता है जिससे उनको ही दर्शन होते हैं ।।२२।।

आभास—तामसीमाह बद्धेति ।

अभासार्थ--तामसी की हुई लीला का वर्णन इस 'बद्धाऽन्यया' श्लोक से करते है ।

श्लोक—**बद्धाऽन्यया स्रजा काचित् तन्वी तत्र ह्युलूखले ।**
भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—वहां एक तन्वो[1] गोपी को दूसरी गोपी ने पुष्प माला से ऊखल में बान्ध दिया तब वह डरकर अपने मुख को बन्द करने लगी जिससे उसने भय का पूर्ण अनुकरण कर दिखाया ।।२३।।

सुबोधिनी—उलूखले कयाचिद्बद्धा स्रजा मालया, उलूखलस्थानीयापि काचित् । अन्या तु यशोदारूपा । तदा भीता सती सुदृक् उत्तमदृष्टियुक्ता आस्यं पिधाय, हस्तेन सम्पूर्णं मुखमाच्छाद्य, भीत्यनुकरणं भेजे । अत्र क्रमे गुणा एव प्रयोजकाः । तत्तदधिकारानुसारेण तत्तल्लीलाः प्रादु-

---

[1]—पतली,

र्भवन्ति । भगवद्वशीकरणान्ता च लीला । अन्यथान्ते उलूखललीला न कृता स्यात् । नातः परं कर्तव्यमस्तीति लीलाया विरतिः एवं लीलाभावमुपपाद्य भगवद्भावे वक्तव्ये भगवतो भीतिविडम्बनलीलायां सर्वा लीलास्तिरोहिताः । ततः पूर्ववत् पुनः प्रश्न एव स्थितः । तस्य संवेदनपूर्वकत्वात् । एतत्त्वावेशेन जातमिति संवेदनराहित्यम् । अतस्त्वस्य नोपसंहारः ।।२३।।

व्याख्यार्थ—इस लीला को करने वाली तीन गोपियां थी, एक वह गोपी जो कृष्ण रूप बनी, दूसरी वह जिसने ऊखल का रूप धारण किया और तीसरी यशोदा का रूप बनी, इस प्रकार बनने के अनन्तर एक गोपी (यशोदा रूप गोपी) ने दूसरी गोपी (कृष्ण रूप बनी हुई गोपी) को ऊखल रूप गोपी के साथ पुष्प माला से बान्ध दिया, तब बन्धी हुई कृष्ण रूप गोपी ने भयभीत होने का स्वांग रचा । उनकी दृष्टि सुन्दर थी इसलिए अपने मुख को आच्छादित कर दिया और भयभीत होने का अनुकरण कर दिखाया ।

ये जो लीलाएं गोपियों ने की हैं, उनका प्रेरक गुण है, अतः अधिकारानुसार, वे वे लीलाएं होती हैं, लीलाएं तब तक होती ही रहती हैं जब तक भगवान् वश में नहीं होते हैं, कारण कि भगवान् लीलाओं द्वारा ही वश में होते हैं, भगवान् के वश में हो जाने के अनन्तर, लीला करने की आवश्यकता नहीं रहती है, अतः यह लीला अन्त में हुई है कारण कि इस लीला में भक्ताधीन भगवान् ने भक्त द्वारा अपने को बन्धन में डलवाकर अपनी भक्तवश्यता सिद्ध कर दिखाई है । भीति से, भगवद्भाव का प्राकट्य दिखाकर सब लीलाएं उसमें तिरोहित करली, जिससे लीलाओं का जो आवेश हुआ था वह बन्द हो गया ।

अनन्तर पहले की भांति, गोपियों को प्रश्न करना ही रहा क्योंकि वह क्रिया ज्ञान पूर्वक होती थी, मध्य में जो ये लीलाएं हुई वे आवेश से हुई थी, अतः इनमें बाहर का ज्ञान नहीं था, इसलिए वृक्षों से पूछने की क्रिया रूप शोधन[1] लीला का तिरोधान नहीं हुआ है जिससे वहां ही स्थित थी और पुनः पूछने लगी ।।२३।।

आभास—पूर्वं तु 'इत्युन्मत्तवच' इति वचनमेवोपसंहृतम्, न तु प्रश्न उपसंहृतः । अत इदानीं मध्ये लीलामुक्त्वा तस्यास्तिरोधाने पुनरेव वृन्दावनलतास्तरून् कृष्णं पृच्छमाना जाता इत्याह एवमिति ।

आभासार्थ—"इत्युन्मत्तवचः" श्लोक में वचनों का ही उपसंहार किया प्रश्न का नहीं अतः मध्य में लीला का वर्णन करके गोपियां आवेश वाली लीलाओं के तिरोधान हो जाने से, पुनः निम्न 'एवं कृष्णं' श्लोक में बेल और वृक्षों से पूछने लगी ।।२३।।

श्लोक—**एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् ।**
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ।।२४।।

---

[1] —ढूंढने की

श्लोकार्थ—इस प्रकार वृन्दावन की लता और वृक्षों से, कृष्ण संबन्धी प्रश्न पूछती पूछती आगे गईं, तो गोपियों ने वन में परमात्मा के चरणों को देखा ॥२४॥

सुबोधिनी—तदा पुनरनुत्तरे प्राप्ते भगवानाविशन् मोहं दूरीकृत्य सर्वं ज्ञापितवानित्याह **व्यचक्षते**ति । तापापनोदार्थं एव त्रयम् अन्वेषणं लीलावेशो भगदावेशश्चेति । तत्र प्रश्नोऽन्तरङ्ग इति स एव सर्वत्रानूद्यते । वृन्दावनलताः तरून् कृष्णं पृच्छमाना जाता इति । ततो वनोद्देशे वनभूमौ भगवतः पदानि दृष्टवत्यः । **परमात्मन** इति । पदानां परमपुरुषार्थता सूचिता । भगवदावेशे हि सर्वज्ञता भवति । तेषां च कार्यं भगवत्पददर्शनम् । 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय' इति श्रुतेः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—मूल श्लोक में जो 'व्यचक्षत' पद दिया है, उसका आशय यह है कि गोपियों ने वृन्दावन के पेड़ और लताओं से कृष्ण के संबन्ध में जो प्रश्न किए उनका उन्होंने जब कुछ भी उत्तर नहीं दिया तब भक्त वत्सल भगवान् स्वयं गोपियों में आविष्ठ होकर उनका मोह दूर कर उनको सबका ज्ञान कराने लगे,

विरह ताप मिटाने के लिए तीन उपाय हैं—

१—भगवान् को ढूंढना, २—लीला का आवेश और ३—भगवदावेश, इन तीनों में प्रश्न करना[1] अन्तरङ्ग उपाय है, इसलिए उसका सर्वत्र अनुवाद किया जाता है । वृन्दावन की लताओं और वृक्षों से पूछती पूछती आगे गई, तो वन की भूमि पर भगवान् के चरण देखे ।

मूल में दिए हुए 'परमात्मन' पद से यह भाव प्रकट होता है, कि भगवान् के पदारविन्द परम पुरुषार्थ रूप हैं,

जब जीव में, भगवान् का आवेश[2] होता है, तब वह सर्वज्ञ हो जाता है । जब जो जीव आवेश से सर्वज्ञ होते हैं, तब वे भगवान् के चरणों का दर्शन कर सकते हैं अन्यथा नहीं ! इस विषय में श्रुति का प्रमाण देते हैं 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय' श्रुति का भावार्थ—ज्ञानी और भक्त, विष्णु के परम पद का सदा दर्शन करते हैं ॥२४॥

आभास—एता अपि पूर्ववत् दशविधाः । तथैव तासां वचनानि । पदानि प्रत्यक्षयोग्यानि सर्वैरेव दृश्यन्त इति तेषाँ याथात्म्यज्ञानं साध्यम् । अतः प्रथमं आहुः पदानि व्यक्तमेतानीति ।

आभासार्थ—वे गोपियां भी पहली की भांति, सगुण निर्गुण भेद से दश प्रकार की हैं, उनके वचन भी उतने ही प्रकार के हैं । चरण तो सब देख सकते हैं, किन्तु वे यथार्थ भगवान् के हैं वा नहीं, यह सिद्ध करना है, अतः प्रथम 'पदानि व्यक्त' इस श्लोक में उसकी सिद्धि करते हैं—

---

[1] —पूछना, [2] —प्रवेश,

श्लोक—पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः ।
लक्ष्यन्ते हि ध्वजांभोजचक्रांकुशयवादिभिः ॥२५॥

श्लोकार्थ—ये चरण तों स्पष्ट[1] महात्मा नन्दजी के पुत्र (श्रीकृष्ण) के ही हैं, कारण कि इनमें ध्वज, कमल, वज्र, अङ्कुश और यव आदि सब चिन्ह देखने में आते हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—एतानि पदानि नन्दसूनोरेव । व्यक्तं सत्यम्, नात्र संदेहः चिन्हैः पदानां विशेषज्ञानम् । चिन्हान्येव कथं भवन्तीत्याशङ्क्य, तत्रोपपत्तिमाहुः **महात्मन** इति । महतामप्यात्मा **महान्** वा ब्रह्मरूपः । तस्य तत्तत्कार्यार्थं पदे चिन्हानि भवन्ति, प्रकृतेऽपि तेषामुपयोग इति तदभिव्यक्तिः क्रियते । तानि चिन्हान्याह **लक्ष्यन्त** इति । अनुमीयन्ते पदानि । असाधारणधर्मैः । लोकेऽप्येतादृशोऽर्थः प्रसिद्ध इति सम्मतिः । ध्वजस्य स्थापनं भक्तानां निर्भयवासार्थम् । अम्भोजस्थापनं सुखसेव्यत्वाय । चक्रस्थापनं रक्षायै । मनोनिग्रहार्थं अङ्कुशस्थापनम् । कीर्तिसिद्धयर्थं यवः । वज्रादयोप्यादिशब्देनोच्यन्ते, पापपर्वतादिनिराकरणार्थाः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—ये चरण नन्दजी के पुत्र के ही हैं, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं है, क्योंकि स्पष्ट, उनके चरण देखने में आते हैं अतः हमारा यों मानना सत्य है, इन चरणों में वे चिन्ह देखे जाते हैं, जिनसे विशेष निश्चय पूर्वक हम कहती हैं वा समझती हैं, वैसे चिन्ह साधारणों के पैरों में नहीं होते हैं केवल महानों की भी आत्मा वा ब्रह्म रूप हैं उनके ही चरणों में होते हैं ।

वे,वैसे चिन्ह क्यों धारण करते हैं ?उसके उत्तर में कहते हैं,कि,वे जो जो कार्य उनको करने हैं उन उन कार्यों का इन चिन्हों द्वारा संकेत करते हैं जैसे कि, ध्वज से भक्तों को संकेत करते हैं कि हे भक्तगण ! तुम निर्भय रहो, कमल के चिन्ह से कहते हैं, कि जैसे कमल ताप निवारक एवं सुख तथा आनन्ददाई है,वैसे ही,मेरी सेवा करने से सुख की ही प्राप्ति होती है,तथा ताप निवृत हो जाते हैं, चक्र चिन्ह से यह सूचित करते हैं कि यह मैंने भक्तों की रक्षा के लिए धारण किया है, भक्तों के मन मातङ्ग[2] का निरोध करने के लिए अंकुश का चिन्ह रखा है, यव का चिन्ह भक्त के यश विस्तार के लिए है, आदि शब्द से वज्र आदि चिन्ह समझने चाहिएँ, वज्र का चिन्ह भक्तों के पाप रूप पर्वतों को तोड़ने के लिए है इसी प्रकार अन्य भी हैं । इन चिन्हों को प्रकट इसीलिए किया है कि उपरोक्त कार्य अब भी (इस लीला में-अवतार में) भगवान् को करने हैं, इन असाधारण धर्मो (चिन्हों) से ही भगवान् के ये चरण हैं, यह निश्चित सत्य अनुमान हमारे विचारों को पुष्ट करते हैं, लोक में भी इन धर्मों की प्रसिद्धि है कि भगवान् के चरणों में ये चिन्ह इसलिए हैं ॥२५॥

आभास—एवमसाधारणधर्मैः पदानि निश्चित्य, तन्मार्गेण गता इत्याह तैस्तैरिति ।

१—सत्य, २—हाथी

आभासार्थ—इन असाधारण धर्मों से ये चरण भगवान् के ही हैं यह निश्चय होने से समझ गई, कि भगवान् इस मार्ग से ही पधारे हैं जिसका वर्णन 'तैस्तैः पदैः' निम्न श्लोक से करती हैं—

श्लोक—**तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः ।**
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—उन उन चरणों के पीछे चलती आगे भगवान् के मार्ग को ढूँढती हुई गोपियों ने एक वधु (स्त्री) के चरणों के साथ भगवान् के चरण देखे, जिससे दुःखी हो बोलनी लगीं ॥ २६ ॥

सुबोधिनी—ज्ञानं क्रियापर्यवसायीति क्रिया निरूप्यते। तत्पदवीमन्विच्छन्त्योग्रतोऽबलाः जाताः, पदान्यन्विष्य तत्पदवीं गता इत्यर्थः । मध्ये तासां प्रतिबन्धमाह **वध्वा** इति । यदि तासां मत्सरदोषो न स्यात्, गच्छेयुरेवान्तिकम्। दोषवशाच्च परं कुण्ठता भवन्ति । तदाह । वध्वाः कस्याश्चिद्गोपिकायाः पदैः सुपृक्तानि पंक्त्याकारेण गतानि भगवत्पदानि दृष्ट्वा तानि विलोक्य च आर्ता जाताः । तदा अन्योऽन्यमेवाब्रुवन् । ज्ञानक्रिययोरुपसर्जनं कृत्वा वाचि प्रतिष्ठिता जाताः । अन्यथा शीघ्रगमने भगवान् प्राप्तः स्यात् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान हो जाने के अनन्तर क्रिया का प्रारम्भ होता है, अर्थात् जिस वस्तु की चाहना होती हैं उस वस्तु का जब पता लग जाता है, कि यह वस्तु यहां है, तब उसको पाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया जाता है, अतः गोपियों को, अब यह ज्ञान हुआ, कि भगवान् इस मार्ग से पधारे हैं हम भी इस पथ से जाएँगी तो भगवान् मिलेंगे, यह निश्चय कर गोपियों ने, उस रास्ते से भगवान् से मिलने के लिए जाने की क्रिया प्रारम्भ की, अर्थात् भगवान् से मिलने के लिए आगे चलने लगीं, किन्तु मध्यमें उसमें (जाने में) प्रतिबन्ध पड़ा, कारण कि गोपियों में अभी तक मत्सर दोष विद्यमान था उस दोष के कारण ही यह रुकावट आई, भगवान् से मिल न सकी, यदि यह दोष न होता, तो उसी समय भगवान् के पास पहुँच जाती, श्री शुकदेवजी उस प्रतिबन्ध का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब वे ढूँढने की क्रिया प्रारम्भ कर आगे चली तो उन्होंने भगवान् के चरण एक वधु के (स्त्री के) पैरों के साथ मिलकर जाते हुए देखे, उनको देखते ही, उनमें मत्सर दोष जागृत हुआ जिससे वे दुःखी हुई और उनके ज्ञान और क्रिया दोनों का साथ छोड़कर वाणी का सहारा लेते हुए परस्पर बातें करने लग गई, नहीं तो शीघ्र जाकर भगवान् से मिल जाती ॥ २६ ॥

आभास—तासामसूयावाक्यान्याह कस्याः पदानीति ।

आभासार्थ—'कस्या पदानि' इस निम्न श्लोक में गोपियों ने जो मत्सर के कारण वचन कहे श्री शुकदेवजी उनका वर्णन करते हैं—

श्लोक—**कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना ।**
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ—नन्दजी के पुत्र के साथ जाने वाली, यह स्त्री कौन है ? जिसके ये पैर हैं, जिस प्रकार हस्ति हथिनी पर अपना हाथ[1] रखता है वैसे ही भगवान् ने इसके कंधे पर अपना प्रकोष्ठ[2] धरा है ॥ २७ ॥

सुबोधिनी—पुरषोऽत्र न संभाव्यते, नापि ग्रामान्तरस्त्रियः, अतोऽस्मन्मध्य एव कस्याश्चिद्भविष्यन्तीति । अयं प्रश्न इतरपरिच्छेदेन विशेषज्ञानार्थः । न त्वत्र पदे लक्षणानि सन्ति । चकाराद्भगवतः तस्याश्च चेष्टाज्ञापकानि चिह्नान्यप्युच्यन्ते । सा हि नन्दसूनुना सहैव याता । अन्यथा भगवान् न गच्छेत् । तयैव प्रायेण नीतः । स्वापेक्षया तस्या महद्भाग्यमाहुः । अंसे न्यस्तः प्रकोष्ठभागो यस्याम् । प्रकोष्ठभागो भगवदीयः करतलादर्वाचीनभागः । तावता करेण क्वचित्सम्बन्धः सूचितः । तावदेव नैकट्यं पदयोरिति । किञ्च, मध्ये तयोः रसाविर्भावोऽपि जायत इति दृष्टान्तेनाहुः **करेणोः करिणा यथेति** । करेणोरंसे करिणा यथा हस्तः प्रसार्यत इति । करेणुः स्त्री, तस्या अंसे यथा करी हस्तं प्रसारयति, तदा पदानि मिलन्ति, संमुखश्च भवति,उद्घृष्टकण्ठा वा भवति । स्पर्शसुखमेव प्रधानमिति गजो दृष्टान्तीकृतः । एवं त्रिविधा गोपिका उक्ताः ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ—यहां (वृन्दावन में) भगवान् के सिवाय अन्य पुरुष होने की संभावना नहीं है तथा अन्य ग्राम की स्त्रियां भी यहां हो, वैसी भी संभावना नहीं है, इस प्रकार प्रश्न पूर्वक पूछने का तात्पर्य यह है कि निश्चय हो जावे कि यह स्त्री कौन है ? अनुमान से हम तो समझती हैं कि हममें से ही कोई होनी चाहिए, कारण कि ये पैरों के जो चिन्ह दीखते हैं, वे हमारी सखियों में से ही, किसी स्त्री के हैं, और ये चिन्ह बताते हैं कि यहां भगवान् तथा उस स्त्री के आपस में चेष्टा[3] भी हुई है, इस आशय को बताने के लिए श्लोक में 'च' है ।

वही नन्दजी के सुत को साथ लेकर गई होगी, नहीं तो भगवान् हमको त्याग कर नहीं जाते, बहुत कर, वह ही समझाबुझाकर उनको ले गई है, इससे निश्चय, वह हमसे विशेष भाग्यवती है । विशेष भाग्य की पुष्टि में कारण बताती है, कि भगवान् ने उसके कन्धे पर अपने प्रकोष्ठ को धरा है, जिससे श्री हस्त का किसी अंग से सम्बन्ध होना भी बताया है, इसलिए ही दोनों के पाद भी परस्पर[4] मिले हुए हैं, किञ्च[5] मध्य में उनमें (भगवान् और सखी में) रस का भी आविर्भाव[6] हुआ है, जिसको हाथी के दृष्टान्त से समझाते हैं, हस्ति जब हस्तिनी के कन्धे पर अपना हाथ[7] धरता है तब दोनों के पैर मिल जाते हैं, दोनों परस्पर सामने आ जाते हैं । हाथी के गले को हथिनी रगड़ती है, इस प्रकार स्पर्श से परस्पर रस उत्पन्न होता है, स्पर्श सुख हस्ती ही लेना जानता है, इसलिए हस्ती का दृष्टान्त देकर गोपियों ने दिखाया है कि इस सखी ने भी इस समय भगवान् के स्पर्श होने से परस्पर सुखलिया है, अतः यह हमसे विशेष भाग्यवाली है, इस प्रकार तीन प्रकार की सात्विक प्रधान गोपियों का वर्णन कहा ॥२७॥

आभास—गुणातीताया वाक्यद्वयमाह । दोषाभावप्रतिपादकं गुणप्रतिपादकं च ।

१—सूंड, २—कोहनी से नीचे का भाग, ३—क्रीड़ा, ४—आपस में, ५—कुछ और,
६—प्राकट्य, ७—सूंड

तामसतामसी भगवदाविष्टा न भवतीति । अनयाराधित इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—अब दो श्लोकों में गुणातीता[1] के दोषाभाव एवं गुण का प्रतिपादन करनेवाले दो वाक्य कहते हैं, तामस तामसी में भगवान् का आवेश नहीं होता है (इसलिए उसका कोई वचन नहीं है) यह 'अनयाराधित' इस श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ।। २८ ।।

श्लोकार्थ—भगवान्, हरि ईश्वर का आराधन निश्चय से इसने ही किया है यों जाना जाता है, जिससे हमको छोड़कर उसको एकान्त में ले गए हैं ।। २८ ।।

सुबोधिनो—तत्र प्रथमं तया सह विशेषरमणे तस्या भाग्यं तस्याः पुण्यं हेतुत्वेनाहुः । अनया हरिर्नू नमाराधितः । यद्यप्यस्माभिरप्याराधितः, तथापि नूनं नाराधितः । भगवदनाराधकैरपि फलत्वात् भगवतः सम्बन्धसम्भवात् । आराधिते तु फलं स्ववशे भवति । तत्रापि तारतम्यम् । ननु तुल्यकर्मणां मध्ये कथं अवान्तरभेदः, तत्राह **भगवानिति** । सामग्रीभेदात् कर्माणि सर्वत्र विलक्षणानि भवन्ति । तदवान्तरवैलक्षण्यं स एव जानाति । अतस्तथा फलनिरूपको जातः । ननु तथापि वयं तथा न ज्ञापनीयाः, दुःखसाधकत्वादिति चेत्, तत्राहुः हरिरिति । स हि सर्वदुःखहर्ता वैलक्षण्यज्ञापनार्थं तथा बोधितवान् । ननु भक्तिः तुल्येति कथं भक्त्यनुसारेण तुल्यं फलं न कृतवान् तुल्यफलत्वेन कर्म कुतः स्वीकृतवान्, तत्राहु**रीश्वर** इति । कदाचिद्भक्तिमुररीकरोति, कदाचित्कर्म, कदाचित् स्वेच्छाम् । न हीश्वरो नियन्तुं शक्यः । अस्मान् भक्तिमार्गे योजयति, न कर्ममार्ग इति । अत एव **नः** अस्मान् **विहाय गोविन्दः** साधारणेन्द्रोऽपि **रहः** एकान्ते प्रीतः सन् तामेवानयत् । कामरसः स्त्रीसमूहापेक्षयाप्येकस्यामेव मुख्यतयोत्पद्यते । तथा करणे प्रीतिर्हेतुः, प्रीतौ भक्तिः, कर्म वा ।। २८ ।।

व्याख्यार्थ—गोपियां प्रथम यह सिद्ध करती हैं, कि उसके साथ जो एकान्त में विशेष रमण किया है, उसका कारण उसका भाग्य तथा उसके पुण्य हैं, जैसा कि उसने भगवान् की अराधना निश्चित सची की है, यद्यपि हमने भी सेवा की है, किन्तु वैसी साक्षात् नहीं की है ।

भगवान् फल रूप हैं, किन्तु जो भक्त भगवान् की साक्षात् आराधना[2] नहीं करते हैं, दूसरे की आराधना द्वारा उस फल को चाहते हैं, उनको भी भगवान् से सम्बन्ध तो होता है, अर्थात् भगवान् मिल तो जाते हैं, बल्कि जैसे साक्षात् सेवा करने वालों को प्राप्त होकर वश होते हैं, उस प्रकार वश नहीं होते हैं ।

---

[1]—दोषों के अभाव को समझाने वाले और गुणों को बताने वाले, [2]—सेवा,

उसमें (साक्षात् आराधन करने पर भी फल में) तारतम्य[1] है, जब कर्म[2] समान हैं फिर फल में भेद क्यों ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह 'भगवान्' हैं, सामग्री के भेद से सर्वत्र कर्म[3] विलक्षण[4] होते है जिससे फल में तारतम्य होता है, इसको (तारतम्य-भेद वा विलक्षणता को) भगवान् ही जानते हैं अतः वे (भगवान्) ही कर्म अनुसार फल देते हैं, जब यों है, तो उनको (भगवान् को) इसका ज्ञान हमको नहीं कराना था, जिससे हम दुःखी हुई हैं, इसका समाधान करने के लिए कहा है, कि वे 'हरि' दुःखों के हरने वाले हैं अतः आपको जो (मत्सर * दोष के कारण) दुःख हुआ है उसको वे मिटा देंगे, यह ज्ञान इसलिए कराया है, कि भक्ति में वैलक्षण्य है अतः जो भक्त, जिस प्रकार के कर्म से भक्ति करता हैं, उस भक्त को उसी प्रकार का फल मिलता हैं। तुम लोगों की भक्ति और जो मेरे साथ गोपी है उसकी अराधना में, कर्म से भेद है, जिससे वह मेरे साथ रह (एकान्त में) रस प्राप्त्यर्थ आई हैं, तुम रह गई हो।

जब भक्ति तुल्य[4] है तो भक्ति के अनुसार फल भी समान क्यों नहीं दिया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि (वे) ईश्वर हैं, ईश्वर स्वतन्त्र होते हैं, अतः वे अपनी इच्छानुसार कभी भक्ति से, कभी कर्म और कभी तो दोनों का विचार न कर स्वेच्छा से जो चाहे वह फल दे देते हैं—सारांश यह है, कि गोपियाँ कहती हैं, कि हमारा अङ्गीकार भक्ति मार्ग में किया है, न कि कर्म मार्ग में, इसलिए हमको छोड़ कर साधारण (सब का) इन्द्र होते हुए भी प्रेम युक्त होकर उसको ही ले गए।

काम रस बहुत स्त्रियों की अपेक्षा एक स्त्री में विशेष उत्पन्न होता है, यों करने का (ले जाने का) मुख्य कारण प्रेम है और प्रेम में भक्ति का कर्म कारण हैं ॥ २८ ॥

आभास—एवं तस्या भाग्यमभिनन्द्य मात्सर्येऽपि गूढे तथा वचनम् भवतीति स्व-भाग्याभिनन्दनमप्याहुः धन्या इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गोपियों ने भगवान् के साथ गई हुई गोपी के भाग्य की बखान की, हृदय में मत्सर छिपा हुआ हो तो भी कभी कभी अभिनन्दन करना पड़ता है अतः मात्सर्य से हमने यों कहा है इस शङ्का को मिटाने के लिए अपने भाग्य का भी अभिनन्दन करती हैं—

श्लोक—**धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः ।**
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ—हे सखियों ! ये भगवान् के चरण कमल के रजकण, धन्य हैं, जिनको ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मी देवी अपने पाप मिटाने के लिए शिर पर धारण करती हैं ॥ २९ ॥

---

* भक्त को 'मत्सर' नहीं करना चाहिए जिससे भगवान् के दर्शन में विलम्ब हो —अनुवादक

१—भेद, २—सेवा, ३—सेवाएँ, ४—पृथक् पृथक् भाव से, समान

सुबोधिनी—अहो आश्चर्ये, हे आल्यः सख्यः, अमी अघ्रिरेणवो धन्याः । मात्सर्याभावार्थं चैतदुच्यते । यथा रेणवः, तथा सेति । विश्वासार्थं अप्रतारणार्थं च सम्बोधनम् । अनेन रेणूत्कर्षेण रेणव एव धार्याः स्वदोषनिवृत्त्यर्थमित्युक्तं भवति । पूर्वमत्रैव ते रेणवः स्थिताः न तदा तेषामुत्कर्षः, यदा पुनश्चरणसम्बद्धाः, तदा धनमर्हन्तीति । धनं कृष्णः, यथेन्द्रो देवानाम् । यथा धनेन सर्वविषय प्राप्तिः, एवं प्रभुणापि । तेषां धन्यत्वमुपपादयन्ति यानिति । ब्रह्मा ईशो रमा च देवतारूपा पालिका शक्तिः । तेषां स्वस्वाधिकारे दोषसंभवात् तन्निवृत्त्यर्थं मूर्न्धि दधुः । ब्रह्मानन्दरूपाया निवृत्त्यर्थं देवतापदम् । अतः कारणादेतद्धारणेन वयमपि निर्दुष्टाः नीयमानगोपिकातुल्या भविष्याम इति ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ--श्लोक में 'अहो' शब्द आश्चर्य की सूचना करने के लिए दिया गया है । हे सखिओं ! ये भगवान् के चरण कमल की रेणु धन्य (भाग्यवानी) हैं । रेणु का अभिनन्दन कर अपने मात्सर्य दोष के अभाव को प्रकट किया है, कि जैसे रेणु भगवान् के चरण के संसर्ग से धन्य हुए हैं, वैसे ही वह गोपी भी भगवान् के संसर्ग से धन्य हुई है, यह (निर्गुण) गोपी अन्य गोपियों को 'आल्य' हे सखियों ! इस प्रकार संबोधन देकर कहती हैं, कि मैं जो कुछ कह रही हूं वह सत्य कहती हूं आपको धोखा देने के लिए नहीं कह रही हूं, क्योंकि तुम मेरी सखियां हो और सखियों को कोई धोखा नहीं देता है इसलिए मेरे वचनों पर आपको विश्वास करना चाहिए । इसलिए हम लोगों को भी ये रेणु दोष निवृत्ति के लिए मस्तक पर धारण करने चाहिए, ये रेणु आगे भी यहां स्थित थे, तब इनका यह उत्कर्ष इतना नहीं था, कारण कि तब भगवान् के चरण का इनको स्पर्श नहीं हुआ था, अब भगवत् चरण कमलों के स्पर्श से इनका उत्कर्ष हो गया है, अर्थात् ये रेणु धनवान् हो गए हैं, वह धन श्रीकृष्ण हैं जो हमारे हैं. जैसे इन्द्र देवों का है, वैसे ही कृष्ण हमारे हैं, धन से तो केवल सर्व वस्तु प्राप्त हो सकती है किन्तु इस कृष्ण रूप धन से तो लौकिक ही नहीं किन्तु पारलौकिक अलौकिक गुप्त सर्व पदार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं । इसको समझाने के लिए (सिद्ध करने के लिए) कहती हैं, कि जिन रेणू को बह्मा, शिव और लक्ष्मी, देवता रूप पालिका शक्ति भी अपने अधिकार से उत्पन्न दोषों के निवारण के लिए मस्तक पर धारण करते हैं, यहां जो लक्ष्मी शब्द है वह बह्मानन्द रूप लक्ष्मी नहीं है, इसका ज्ञान कराने के लिए लक्ष्मी का विशेषण देवता दिया है । अतः हम भी इस रेणु को मस्तक पर धारण करें, तो निर्दोष होकर उस गोपी के समान हो जावे ॥२९॥

आभास—अन्या रजःप्रकृतय आहुः तस्या इति

आभासार्थ—रजोगुण वाली गोपियां अपने विचार इस निम्न 'तस्यो अमूनि' श्लोक में कहती हैं—

श्लोक—**तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।**
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—उसके (जो भगवान् को साथ ले गई है) ये पैर हमको बहुत दुःख देते हैं, कारण कि वह अकेली, जो भगवान् सब गोपियों के हैं उन (भगवान्) को

उड़ा ले गई है और लेजाकर एकान्त में अच्युत का अधरामृत जो सबका है, उसका भी अकेली पान कर रहो है ॥३०॥

सुबोधिनी— भगवच्चरणारविन्दरजस्तथैव, परमस्याः गोपिकायाः अमूनि पदानि सङ्गे गच्छन्त्याः नोऽस्माकं क्षोभं कुर्वन्ति । तत्राप्युच्चैरत्यर्थम् । नन्वेकाकी भगवान् गच्छेत्, तदपेक्षया ससहायो भक्तिमार्गे युक्त इति चेत, तत्राहुः । यद्यस्मात् गोपिकानां सर्वासामेव भागरूपमच्युताधरं ता विहाय एकैवोपभुङ्क्ते । तत्रापि रहः एकान्ते तासामनुज्ञाव्यतिरेकेण । ननु विरतो भगवान् बहुस्त्रीसम्बन्धाद्भविष्यति, कुतः सा भोक्ष्यते, तत्राहुः अच्युतेति । स हि पूर्णकाम एव, न तस्य च्युतिरस्ति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के चरण रज की महिमा तो वैसी ही है, किन्तु उस गोपी के चरण भगवान् के साथ देखकर हमको बहुत क्षोभ[1] होता है, वह दुःख भी स्वल्प नहीं, किन्तु अत्यन्त हो रहा है,

गोपी भगवान् के साथ गई, जिससे दुःख करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि भगवान् के साथ एक सहायक अवश्य होना चाहिए, अतः तुमको तो भक्तिमार्ग के अनुसार प्रसन्न होना चाहिए क्षोभ क्यों करती हो ? इसके उत्तर में कहती है, कि वह भगवान् के साथ गई है, इसलिए हमको घबराहट वा दुःख नहीं है, किञ्च सब गोपियों का जो धन है, जिसमें सबका समान भाग[2] है, उस अधरामृत धन के रस को हमारी सम्मति लिए बिना अकेली एकान्त में स्वयं पान कर रही है, उससे हमको अत्यन्त क्षोभ है ।

भगवान् तो बहुत स्त्रियों से भोग करने के कारण अब भोग से उदासीन हुए होंगे, वह इससे भोग कैसे करेंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए, भगवान् का नाम 'अच्युत' दिया है जिसका तात्पर्य यह है, कि वह कितनी भी स्त्रियों से भोग करें तो भी वे विरत नहीं होते हैं । अतः यह शङ्का करनी व्यर्थ है, क्योंकि उदासीनता अपूर्ण में होती है भगवान् अच्युत होने से, विरत नहीं होते हैं । क्योंकि भगवान् पूर्णकाम हैं । अतः वे गोपी को रसदान करते हैं, जिससे हमको बहुत क्षोभ हो रहा है ॥३०॥

आभास—अन्याः पुनस्ततोऽपि खेदं कृतवत्य इत्याह न लक्ष्यन्त इति ।

आभासार्थ—फिर अन्य गोपियां उससे भी विशेष खेद प्रकट करने लगी जिसका वर्णन 'न लक्ष्यन्ते' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः ।**
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३१ ॥

---

[1] —घबराहट-दुःख, [2] —हिस्सा,

श्लोकार्थ—यहां तो उसके चरण देखने में नहीं आते हैं उसका कारण यह होगा कि तृण के अङ्कुरों से उसके चरण कमल पीड़ित हुए हैं जिससे प्यारे भगवान् ने उसको उठा लिया है क्योंकि उनकी प्रेयसी[1] है ॥३१॥

सुबोधिनी—अहो किमिति विचार्यते । अधरामृतं पिबतीति । एतावददूरे समागतानि तस्याः पदानि अग्रे न लक्ष्यन्ते । न च वक्तव्यं समीचीनं जातमिति, तत्राहुः । तस्याः तृणाङ्कुरैः खिद्यत् पादतलं जातम् । तदा तादृशीमुन्निन्ये, ऊर्ध्वं नीतवान् । कटिभागे स्कन्धभागे वा । वस्तुतस्तु हस्ताभ्यामेवोद्धृतवानिति सुतरां खेदे हेतुः । ननु कथमेवं करिष्यतीत्याशङ्क्याहुः **प्रेयसीमिति** । साप्यत्यन्तं प्रिया, स्वयमपि तस्याः प्रियः । अतो ज्ञायते न सा स्कन्धमारूढा, किन्तु केवलमुन्निन्ये ॥३१॥

व्याख्यार्थ—ये गोपियां अन्य गोपियों को कहती हैं कि, अरे ! वह गोपी अधरामृत का पान करती है, जिसका खेद क्यों करती हो ? यह तो साधारण है किन्तु खेद तो विशेष का करना चाहिए, देखो तो सही, इतने तक तो पैर देखने में आते थे, अब तो वे भी देखने में नहीं आते हैं, अनुमान से जाना जाता है, कि इस गोपी के चरणों में तृण के अंकुरों के चुभने से पीड़ा हुई होगी, जिससे भगवान् ने उसको कटि वा कन्धे पर उठा लिया होगा, वैसा हो, तो भी महान् खेद न होवे, किन्तु भगवान् ने उसको हाथों से ऊपर उठा लिया है जिससे हमको महान् खेद होता है ।

भगवान् ने उसको हाथों से कैसे ऊपर उठाया होगा ? इस पर कहती हैं, कि निश्चय है कि हाथों से ऊपर ले लिया है, कारण कि वह प्रेयसी है और आप प्यारे हैं इससे जाना जाता है, कि उसको कन्धे पर नहीं किन्तु हाथों से उठाया है ॥३१॥

आभास—किञ्च । तेन प्रकारेण न बहुदूरे गमनं सम्भवति । अतः क्वचिद्विश्रम्य पुष्पावचयमपि तदर्थं करोतीत्याहुः अत्रेति ।

आभासार्थ—भगवान् ने हाथों से ऊपर (हाथों पर) ले लिया है जिससे इस प्रकार बहुत दूर तक लेजाना नहीं बन सकता, अतः मध्य में विश्राम किया है और उस समय प्रेयसी के लिए पुष्पों का भी चयन किया है—जिसका वर्णन 'अत्र' इस निम्न श्लोक में करती हैं—

श्लोक—**अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ।**
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३२॥

श्लोकार्थ—यहां प्यारे ने प्यारी के लिए फूल चुने हैं देखो, एड़ी को उंचे करने से, भगवान् के पैर पृथ्वी पर आधे ही देखने में आते हैं ॥३२॥

---

[1] —अत्यन्त प्यारी

सुबोधिनी—प्रसूनानामवचयो वृक्षादुत्तारणम्। न च स्वार्थं भविष्यतीति शङ्कनीयम्। सा हि श्रान्ता। अतः प्रियार्थ एव। सा तु कर्तुमशक्तैव। तदाहुः **प्रेयसा कृत** इति। सा हि भगवदपेक्षया खर्वा प्रपदाभ्यामुत्थातुमप्यशक्ता। अतः प्रेयसैव कृतः। यतः प्रपदाक्रमणे पादाग्राभ्यामेवाक्रमणं ययोः। अत एवासकले, पार्ष्णिभागो नाभिव्यक्त इति। **पश्यतेति** सन्देहाभावार्थं वचनम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने वृक्षों से पुष्पों को उतारा, अर्थात् पुष्पों को चुना, यह कार्य (फूलों का चुनना) भगवान् ने प्यारी के लिए किया है, क्योंकि भगवान् ने विचारा, कि प्यारी एक तो छोटे कद की हैं और थकी हुई हैं, अतः वह इतना परिश्रम नहीं कर सकेगी, इसलिए, मैं ही उतार लेता हूं, जिससे भगवान् को पैरों के अग्र भाग पर खड़ा रहना पड़ा है, इसी कारण से पृथ्वी पर पैरों के एड़ी का भाग देखने में नहीं आता है। जिसका प्रमाण यह है, कि पृथ्वी पर भगवान् के समग्र पैर नहीं है, तुम देखकर निर्णय करलो। देखने से संशय होगा तो मिट जाएगा ॥३२॥

आभास—ततोऽप्यन्या अधिकमेव सूचयन्त्य आहुः **केशप्रसाधन**मिति।

आभासार्थ—दूसरी इससे भी विशेष 'केशप्रसाधनं' श्लोक में कहती हैं—

श्लोक—केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—यहां कामी ने (भगवान् ने) कामिनी की चोटी गूंथी है, उसमें (चोटी में) फूल गूंथने के लिए भग्वान् को यहाँ अवश्य कान्ता के पास बैठना पड़ा है ॥३३॥

सुबोधिनी—नखैरेव केशानां प्रसाधनम्, वेण्याकारेण आपीडाकारेण वा। तुशब्दोऽन्यथापक्षं व्यावर्तयति। न ह्यत्र ज्ञानोपदेशः सम्भवति तदाहुः **कामिन्या कामिना कृत**मिति। एतत् उत्थानापि भवति। चूडायां पुष्पप्रवेशनं तु उत्थिते न भवति। क्रोडे पुष्पाणि स्थापयित्वा क्रमेण तानि निवेशनीयानि। अतः तानि चूडयता इहोपविष्टम्। ध्रुवमिति सत्यम्। कान्तामुप कान्तासमीपे। कान्तामुद्दिश्य वा। तथैवाकृतिर्दृश्यत इति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने यहां प्रथम प्रत्येक केश को नखों से पृथक् पृथक् कर अनन्तर उनको वेणी[1] के आकार में वा आपीड[2] के आकार में गूंथा है वा सजाया है, यदि कोई कहे कि चोटी गूंथने के लिए वा उसमें पुष्प लगाने के लिए नहीं विराजे हैं, किन्तु ज्ञान देने के लिए विराजे हैं, इस शङ्का के मिटाने के लिए मूल श्लोक में 'तु' शब्द दिया है, जिसका आशय है, कि ज्ञान के वास्ते नहीं किन्तु

१—चोटी, २—चोटी के गोल करने के,

चोटी में फूल गूँथने के लिए बैठे हैं, यहां इस समय ज्ञान का उपदेश बन नहीं सकता है, क्योंकि एकान्त में कामी और कामिनी मिलें, वहां ज्ञान की वार्ता असम्भव है। इस समय काम सम्बन्धी विषय होते हैं, अतः यहां कामी ने कामिनी का केश प्रसाधन[1] किया है, यह कार्य खड़े रह कर भी किया जा सकता है बैठने की आवश्यकता नहीं है, वहां कहती हैं, कि केवल चोटी गूंथने का कार्य तो खड़े होकर किया जा सकता है, किन्तु उसमें फूल लगाने का कार्य बैठे बिना नहीं हो सकता है, कारण कि उस कार्य के लिए फूल अपने पास गोद में रखने पड़ते हैं, उनमें से एक एक फूल लेकर उसमें लगाया जाता है, यह इतना कार्य खड़ा रहकर नहीं हो सकता है, अतः उन पुष्पों को लगाते समय आप कान्ता को पास लेकर विराजे हैं, यह निश्चय सत्य हैं, आकृति से पहचान हो जाती है ॥ ३३ ॥

आभास—एवं रसार्थं तस्यानयनं सामग्रीसम्पादनमलङ्करणं चोक्तम् । यदर्थमेतावत्तदाहुः **रेम** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रस सिद्धि के लिए उस गोपी को साथ ले जाना रमण की सर्व सामग्री को सिद्ध करना तथा चोटी गूंथ उसमें पुष्प सजाना आदि से प्रेयसी को सुशोभित करना आदि कार्य भगवान् ने जो किए उनका वर्णन ऊपर के श्लोक में कर, अब जिस कार्य के लिए इतने कार्य किए उसका वर्णन 'रेमे तया' इस निम्न श्लोक में करती हैं—

श्लोक—**रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।**
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् आत्माराम होने से, आत्मा में ही अनुरक्त हैं, स्त्रियों के विलास उनको खण्डित[2] नहीं कर सकते हैं, तो भी कामी पुरुषों की दीनता और स्त्रियों की दुष्टता दिखाने के लिए उस गोपी से रमण करने लगे ॥ ३४ ॥

सुबोधिनी—पुष्टत्वात् कामस्य आत्मरतः तया च सह रेमे । चकारात् लक्ष्म्या च । अन्तःप्रविष्टाभिर्वा । सापि रेम इति वा । आत्मन्येव रतिर्यस्य। तेन निष्काम एव तस्या यथेच्छं कामं पूरितवान् । अस्यामपि दशायामात्मरत एव, रसाधारत्वाय तस्यामात्मानं स्थापितवान् । आत्मन्येव मुख्या रतिः आत्मन्येव रमणं क्रीडा च यस्य । यतः अखण्डितः इन्द्रियैरन्तःकरणैर्विषयैर्वा। यदि स्वानन्दोऽन्यत्र गच्छेत्, तदान्यत्र रतो भवेत् । ननु कथमेवमसमीचीनस्थाने एतावता प्रयासेन एवं रमणं कृतवानिति, तत्र प्रयोजनमाहुः**कामिनां दर्शयन् दैन्य**मिति । कामिनस्त्वेवमेव दीना भवन्ति । 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणा' इति तेषामनुकरणं करोति । अन्यथा तेषां निरोधो न स्यात् । प्रयोजनान्तरमप्यस्तीत्याहुः स्त्रीणामिति । स्त्रीणां च दुरात्मता प्रदर्शिता । न तासां काचिदशक्तिरस्ति, नापि सौकुमार्यम्, किन्तु वशीकृते पुरुषे दौष्ट्यमेव कुर्वन्ति। 'शालावृकाणां हृदयान्येता' इति । अत उभयबोधनार्थमेवं रेमे ॥३४॥

---

[1]—चोटी कर उसमें फूल गूंथने का कार्य, [2]—च्युत।

व्याख्यार्थ--तब भगवान् आत्मा में ही रमण करने वाले होते हुए भी उस गोपी से रमण करने लगे, मूल श्लोक में 'च' कहने के ये भाव हैं, उस समय १---लक्ष्मी से भी रमण किया अथवा २–अन्तर्गृहगता जिनका भगवान् के साथ सायुज्य हुआ था, वे भगवान् के हृदय में स्थित हैं, उनसे भी रमण किया, अथवा गोपी ने भी रमण किया। जिनकी भगवान् में रति थी उनकी उस रति की पूर्ति के लिए स्वयं निष्काम रहकर उनसे रमण किया है अर्थात्, इस रमण दशा में भी आप आत्मरत अर्थात् अपनी आत्मा[1] में अनुरक्त हैं, केवल उसकी उस रति को आधार बनाकर उसमें आत्मा * को स्थापित किया है, जिस भगवान् की अपने में ही मुख्य रति है और अपने में ही रमण है, अतः इन्द्रियों से अन्त करणों से अथवा विषयों से आप अखण्डित रहते हैं, यदि भगवान् का आनन्द अपनी आत्मा के सिवाय अन्यत्र चला जाए तो उसमें (दूसरे में जहां आनन्द गया हो उसमें) रत[2] हो जाना चाहिए, वह तो हुआ नहीं है अतः आप रमण करते हुए भी अखण्डित, आत्माराम तथा आत्मरत हैं।

यदि यों है, तो इतना परिश्रम कर, वैसे असमीचीन स्थान में रमण क्यों किया? जिसका कारण बताते हैं, कि भगवान् को यह काम लीला कर लोक में कामियों की दीनता दिखलानी थी, कि काम से पीड़ित मनुष्य, इस प्रकार प्रकृति के वश हो दीन बनते हैं अर्थात् उनके (स्त्रियों के) आधीन बन जाते हैं इसलिए भगवान् ने उनका अनुकरण कर दिखाया है, यदि भगवान् यों अनुकरण न करें, तो उनका (कामियों का) भगवान् में निरोध नहीं होवे, इसके सिवाय दूसरा प्रयोजन भी है, वह यह है कि स्त्रियों की दुष्टता दिखाना, जैसा कि कोई भी क्रूर कर्म हो, तो भी वे कर सकती हैं, तथा वे इस काम विषयक कार्यों में सुकोमल चित्तवाली नहीं हैं, उसकी पूर्ति के लिए वे क्रूर प्रकार के साहस करने से चूकती नहीं है श्रुति में इनको 'गीदड़ का हृदय' कहा है॥ ३४॥

आभास—एवं सर्ववष्तुयाथात्म्यस्फुरणं भगवदावेशात्तासां निरूपितमुपसंहरति इत्येवमिति।

आभासार्थ—इस प्रकार जब हृदय में भगवान् पधारते हैं, तब सर्व वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप की स्फूर्ति होती है। गोपियों के हृदय में भगवान् पधारे जिससे उनको भी सर्व लीलाओं के स्वरूप की वास्तविक स्फूर्ति हुई, उसका वर्णन कर अब इस लीला का संवरण करते हैं, अर्थात् लीला को समेटते हैं, जिसका वर्णन 'इत्येव' आदे श्लोक में करते हैं।

श्रीशुक उवाच

श्लोक—**इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।**

---

* टिप्पणीजी का आशय है—रति वाली गोपी श्रृङ्गार का आधार होने से उसमें अपनी आत्मा (श्रृङ्गार स्थायी भाव) को स्थापित किया। अन्यथा इस भगवद् रस का अनुभव नहीं हो सकता है।

२—स्वरूप २—आसक्त।

श्लोकार्थ—इस प्रकार अचेत वे गोपियां, भगवान् को लीलाएँ दिखलाती हुई घूम रही थी ॥ ३४½ ॥

सुबोधिनी—एवंप्रकारेण भगवल्लीलाः प्रदर्शयन्त्यः चेरुः गतिं कृतवत्यः। तासामनेकविधत्वेहेतुमाह **गोप्य** इति। न हि ताः शास्त्रेण भगवदीया जाताः, किन्तु स्वभावेन। स्वभावस्त्वनेकविध इति सर्वमुपपद्यते। किञ्च, नहीं ताः किञ्चित् ज्ञात्वा वदन्ति, किन्तु विचेतस एव। अथवा। एवं दर्शयन्त्यो विचेतसो जाताः। प्रकारत्रयस्यापि समाप्तत्वात्। अतस्तासां नाग्रे गतिर्न वचनानि।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार वे गोपियाँ भगवान् की लीलाएँ दिखलाती अचेत विचरती थी, वे गोपियां अनेक प्रकार की थीं इसलिए मूल श्लोक में 'गोप्यः' बहुवचन में दिया है, वे गोपियां शास्त्र पढ़कर भगवदीया नहीं बनी थीं, किन्तु सहज स्वभाव से ही भगवान् की सेविकाएं थीं। स्वभाव एक प्रकार का नहीं होता है, अतः गोपियाँ भी स्वभावानुसार अनेक प्रकार की थीं, यों होना उपपन्न[1] ही है, ये गोपियां जो कुछ बोल रही हैं, वह ज्ञान प्राप्त कर समझ से नहीं बोल रही हैं, किन्तु अस्थिर[2] चित्त से कह रही हैं, अथवा यों लीलाओं को दिखलाते हुए पागल सी हो गई हैं, क्योंकि तीनों * कारणों की समाप्ति हो गई है, जिससे बोलने की शक्ति तथा चलने की गति रूक गई है ॥ ३४½ ॥

आभास—एवमेतासां स्वरूपंनिरूप्य, तस्याः स्वरूपं निरूपयति यां गोपीमिति सार्धैः त्रिभिः।

आभासार्थ—इस प्रकार जिनको वन में छोड़ आए थे उन गोपियों के चरित्र (स्वरूप) का वर्णन कर अब जिस गोपी को भगवान् स्वयं ले आए थे उसके स्वरूप तथा कार्य वर्णन ३॥ श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—**यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥३५॥**
सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥३६॥
ततो गत्वा वनोदेशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥३७॥

---

* १—रसासक्ति, २—भगवत् क्रिया, ३—गर्वाभाव।

---

[1] उचित-मुनासिब, [2] पागल-विक्षिप्त

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्धआरुह्यतामिनि ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥३८॥

श्लोकार्थ—भगवान् अन्य स्त्रियों (गोपियों) को वन में छोड़, जिसको साथ ले गए, वह तब अपने को सब स्त्रियों में 'वरिष्ठ' मानने लगी, क्योंकि जो स्त्रियां भगवान् को चाहती थीं, उनको छोड़कर ये प्यारे मेरा भजन करते हैं (मुझसे रमण करते हैं) इसलिए वह गर्वयुक्त हुई, और आगे वन प्रदेश में जाकर कहने लगी, कि मैं चलने में असमर्थ हूँ, अतः आपको जहां ले जाना हो, मुझे उठाकर ले चलो। इस तरह कहे जाने पर, भगवान् ने प्रिया को कहा—"कन्धों पर चढ़ो" और इसके अनन्तर वे अन्तर्हित हो गए और वह वधु अनुताप करने लगी ॥३५-३६-३७-३८॥

कारिका—**दोषोऽभिमानवचनं वचनोत्तरमेव च ।**
पूर्ववच्च तिरोभावो विज्ञेयं दोषदर्शने ॥१॥

कारिकार्थ—(१) दोष (२) अभिमान वचन (३) वचन का उत्तर और पहले की तरह (४) तिरोभाव, जिससे सभीको अपने दोषों का दर्शन हो। अर्थात् इस गोपी के त्याग से अन्य सभी गोपिकाओं को अपने दोषों की स्फूर्ति होगी कि हमको भी भगवान् ने हमारे दोषों के कारण ही छोड़ा। इसके लिए प्रथम मूल में श्लोक पंक्ति "यां गोपीम्" से "भजते प्रियः" तक 'दोष' का वर्णन है। "ततोगत्वा" अर्थात् ३७ वें श्लोक में 'अभिमान वचन' का वर्णन है। ३८ वें श्लोक के पूर्वार्ध में, वचनोत्तर का वर्णन है। एवं उत्तरार्ध में 'तिरोभाव' का वर्णन इस तरह चारों बातों का वर्णन यहां हुआ।

सुबोधिनी—यां गोपीं पूर्वमजातदोषां अनयत् यतः कृष्णः सदानन्दः, तस्यामानन्दं स्थापयितुम्। अन्यास्तु स्त्रियो जाताः। सा तु मुग्धैव गोपी। अतस्ता वने विहाय तामनयत्। वनस्थानां विवेको भवतीति ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—वह गोपी जिससे, कोई भी दोष नहीं हुवा अतएव उसे भगवान् ले गए। भगवान् उसे इस लिए ले गए, क्योंकि वे कृष्ण–सदानन्द हैं और उस गोपीमें भी उन्हें आनन्द स्थापित करना था। अन्य जिन्हें साथ नहीं ले गए वे तो स्त्रियां हुई अर्थात् स्त्री स्वभाववाली थी। जबकि यह जिसे लाए वह मुग्धा ही है। अतः उनको वन में छोड़कर इसे ले आए क्योंकि वन में रहने वालों को विवेक उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥

मान को दोष माना क्योंकि मान के कारण प्रियतम के साथ बहिःसम्बन्ध में, अन्तराय उपस्थित होता है। परन्तु दोनों–इस गोपी के एवं पहले वाली गोपियों के–उदाहरण में रस तो समान ही हैं, फिर उनको पहले मान हुआ और इसे नहीं, और अब इसे भी हुआ यों इस विषमता का कारण समझाते हैं—

कारिका—स्वयं त्वयुक्तकरणात् प्रकृत्याद्यधिकारिणः ।
बुद्धिं स्म नाशयामासुः साप्यन्येवाभवत्ततः ॥१॥

कारिकार्थ—नायिकाओं की प्रकृति सदा मानिनी होने की रहती हैं। प्रकृत में अभी तक इस नायिका ने नायक के अधीन होना स्वीकारा अतः वह नायिका की प्रकृति (स्वभाव) की जो रीति होती हैं उसके योग्य नहीं था कि नायक के अधीन रहे अतः नायिका के स्वभाव-व्यवहार के नियामक जो प्रौढ़ भाव है उन्होंने पहले के कोमल भावों का नाश कर दिया। तो पहले ही इस स्वामिनी को भी मान क्यों नहीं हुआ? कहते हैं–भगवान्–भक्तों को भजनानन्द के लिए लीला करते हैं और उसी में स्वय भी रसानुभव करते हैं। यों बहुतसी प्रियाओं के रहते हुए भी एक के साथ, अलग ले जाकर विशेष रमण में जो रसानुभूति है वह समूह में नहीं। और यह मान भी तो भगवदभावात्मक है अतः कोई अनुपपत्ति नहीं। और पहले मान नहीं हुआ इसका कारण तो स्वामिनियों ने ही बता दिया था "अनयाराधितो नूनम्" स्थल पर यों फिर यह स्वामिनी भी अन्यों की तरह हो गई।

सुबोधिनी—तदाह। सा च तदा सर्वयोषितां मध्ये वरिष्ठं मेन इति। चकारः पूर्वसमुच्चयार्थोऽप्यर्थे। **तदेति**। पूर्वं तस्यास्तथात्वं न जातमिति अनेन समुदायदोषेण न भगवांस्त्यजति, किन्तु प्रत्येकदोषेणेति ज्ञापितम्। तस्यास्तथा दोषे हेतुः हित्वेति। कामयाना अपि सर्वाः गोपीः हित्वा असौ मां भजत इति। तत्रापि प्रियः, यथैव मम प्रीतिर्भवति, तथैव करोति। न तु क्वचिदप्यप्रियविषयः। अतोऽहं वरिष्ठा। अन्यथानुपपत्त्या तथात्वं कल्प्यते ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—उस मान का वर्णन करते हैं—तब उसने भी सभी स्त्रियों में अपने आपको 'वरिष्ठ' माना। यहां 'सा च मेने' में 'च' आता है जिसका अर्थ है "पहले जो कहा उसके साथ" अर्थात् 'भी' के अर्थ में। पहले उसमें अभिमान नहीं था अर्थात् अब ही हुआ, इससे सिद्ध हुआ कि समुदाय के दोष से भगवान् त्याग नहीं करते, किन्तु व्यक्तिगत दोष से। उसके अभिमान का कारण यह है, कि भगवान् को चाहने वाली सभी गोपियों को छोड़कर, भगवान् इसी का भजन करने लगे, और वह भी प्रिय होकर अर्थात् जैसे इसे प्रिय लगे वैसे ही सब कुछ करने लगे। कहीं भी कुछ भी, अप्रिय नहीं किया। अतः उसे प्रतीत हुआ, कि मैं वरिष्ठ हूं अन्यथा इन सारी बातों की अन्य क्या व्याख्या हो सकती है ॥ ३६ ॥

सुबोधिनो—दोषाभावेनैवोत्तमता, न तु धर्मान्तरेण, अतस्तस्या भ्रमः भ्रान्ताया वाक्यमाह **ततो गत्वेति** । ततो भोगस्थानादग्रे गत्वा । वनोद्देशमतिरमणीयम् । स्वार्थमयं गच्छति, न तु मदर्थम् । ततश्चान्यार्थं मया कथं खेदः प्राप्तव्यः इति दृप्ता । तादृशभगवत्कृपायामनधिकारिणी प्राप्तप्रसादेन जाताजीर्णा ब्रह्मादिभ्योऽपि मोक्षदातारं देहेन्दियादिसर्वरहितं परमानन्दरूपं केशवमब्रवीत् । तस्या वाक्यमाह **न पारय** इति । अहं चलितुं न पारये । तथापीष्टदेशं गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह । यत्र ते मनः, तत्र मां त्वमेव नय ॥३७॥

व्याख्यार्थ—दोष न होने से ही उत्तमता है। अन्य किसी धर्म के कारण नहीं। अतः अन्य कारणों से अपने आप को यह वरिष्ठ मानना भ्रम है। इसी भ्रम के कारण इसने कहा उसको 'ततो गत्वा' में वर्णन करते हैं। वहां भोग स्थान—रमण स्थल से आगे जाकर अब अति सुन्दर वन प्रदेश आया तो विचार उठा कि "प्रिय अपने कार्य के लिए जा रहे हैं मेरे कार्य के लिए नहीं, तो फिर अन्य के लिए मैं क्यों खेद-श्रम करूं" यह भाव अभिमानिनी का है। यह गोपी अन्यों को जो कृपा प्राप्त हुई वैसी कृपा की अधिकारिणी नहीं है (अर्थात् उनसे विलक्षण कृपा की अधिकारिणी है) और जो प्रसाद अब तक प्राप्त हुआ उसी का पचना इतना कठिन है कि मानों अधिक कृपा के भोग के कारण अजीर्ण सा होगया हो ऐसी होगई। ब्रह्मा शिव आदि को भी मोक्ष देने वाले देह, इन्द्रिय आदि सभी से रहित परमानन्द रूप केशव को कहने लगी—"मैं चलने में समर्थ नहीं"। तो भी जहां जाना है वहां तो चलना ही पड़ेगा—"तो जहां मन हो वहां आप ही मुझे उठाकर ले चलेंगे" ॥३७॥

यहां प्रिया को भ्रम हुआ है, परन्तु यह भ्रम क्या है ? प्राकृत कामी पुरुष की तरह क्योंकि प्रभु ने भी अलौकिक काम को उत्पन्न किया है अतः वे भी कामाधीन होकर सामान्य कामी पुरुष की तरह नायिका के अधीन हैं यह लीला भी करेंगे। अतः शक्ति रहने पर भी अशक्ति जताऊं तो अपने कन्धों पर उठा के ले चलेंगे। यह जो भाव उदित हुआ वह भ्रम है। भगवद्रमण में कोई भी दोष (लौकिक रमण की तरह) नहीं होता, अपने सौभाग्य के बारे में मद-मान जो भी होते हैं वे भगवद्भावात्मक ही हैं। इसका निरूपण 'तासां तत्सौभगमिदं' किया है। वैसे ही यहां भी अभी तक जो रसदान प्रभु ने किया, वह नायिका के अधीन होकर, अतएव भाव भी वैसे ही उदित हो रहे हैं, कि 'प्रभु मेरे अधीन हैं" यह दोषरूप नहीं है। "हित्वा गोपीः' में इसी भाव प्रतिबिंब का वर्णन है (पहले गर्व हैं पश्चात् अशक्ति यों दोनों भगवान् से यहां आए हैं)।

अभिमान दर्प यहां मर्यादा रहित होने के अर्थ में हैं। अर्थात जैसाकि कहा गया निरवधि रस के दाता प्रभु की रसदान में संकोच की इच्छा रस मर्यादा से मेल नहीं खाती और वैसे भाव का उदय जब प्रिया में भी हुआ तो उसे दृप्ता-अभिमानिनी कहा जारहा है।

रजस् एवं तमस् के अधिष्ठाता ब्रह्मा शिवादि के भी राजस तामस भाव दूर करके मोक्ष-अमृत को देने वाले ये भगवान् हैं। यों यहां भी पूर्णरस के दान के लिए ही प्रिया में वैसे भाव उत्पन्न कर रहे हैं और फिर स्वयं तिरोहित हो गए। यही दिखलाने के लिए यहां भगवान् का 'केशव' पद से शुकदेवजी वर्णन करते हैं। यों अन्ततः विचार करने पर यह फलित होता है कि दर्प जगाना, एवं तिरोहित हो जाना इन सबका लक्ष्य है तो पूर्ण रसदान ही अतः इस ऐसी संयोग रसदान के संकोच की इच्छा का रसमर्यादा में होना भी सिद्ध हो सकता है।

विप्रयोगात्मक रस का अनुभव जब तक न हो जाए तब तक रसदान की पूर्णता नहीं बन पाती, अतः प्रभु ने संयोग रसदान की इच्छा संकुचित की। "न पारदेहं" में इसी क्रिया शक्ति के संकोच का भाव है। अन्यथा यह मिथ्याभाषण हो जाएगा। जब कि भगवदियों का भगवान् से मिथ्याभाषण संभव नहीं है। पूर्ण रस के अत्यन्त आविर्भाव से भी यह चलने में असामर्थ्यरूप—स्तंभरूप सात्त्विक भाव उदित हो सकता है।

स्वामिन्यामपि संयोगजनक भाव दूरी करणाय दृप्ताय दोष भावजननम् अर्थात् जिन भावों के कारण संयोग रस प्राप्त होता है, वे भाव यदि बने रहें, तो संयोग रस भी निरन्तर रहे, फलतः उत्तर दल—विप्रयोगात्मक रसदान न हो पायेगा। इसलिए स्वामिनी में भी, संयोगरसदानेच्छा के संकोच के भाव जो प्रभु में थे, सो एकान्त हुए। फलतः स्वामिनी भी विप्रयोगाभिनय चाहने लगी कि प्रभु मेरा विप्रयोगानुभव करें।

सुबोधिनी—तदा भगवानतिचतुरः तद्वाक्यस्योत्तरमाह **एवमुक्त** इति। प्रियेति कृत्वा उत्तरमुक्तवान्। उत्तरमाह **स्कन्धमारुह्यतामिति**। एषा हि नृत्यं कर्तुं वाञ्छति। स्वान्तर्गतं रसमभिनेतुम्। तद्भूमौ पदस्थापने ऊर्ध्वभावाभावात् रसः च्युतो भवेत्। अतः स्वस्कन्धमेवारुह्यतामिति। स एवात्यन्तं नटवटुः यः स्वस्कन्धमारुह्य नरीनर्ति। अशक्यं ह्युपदिशति। प्रार्थितं तथेति। भगवतो हि मनः अलौकिकरसाभिनयने, तद्भूमौ पदस्थापने न भवति। अशक्ता चेत् कथं वदेत्। अतो मम तत्रैव मनः। यदि तथा करिष्यति, तदा नेष्यामीति। नह्यनधिकारी नेतुं योग्यः। भगवांस्तु नान्यथा वदतीति न स्वस्कन्धसम्भावना। तया तु मोहवशात् तथैव बुद्धम्। ततो मोहवशात् तथा चिकीर्षमाणां तां दृष्ट्वा ततोऽप्यन्तर्दधे। यतोऽयं कृष्णः सदानन्दः। ततः पूर्ववदेव सापि जातेत्याह **सा वधूरन्वतप्यतेति**। वधूरिति सा अनन्यपूर्वा व्रतमध्यस्था। तत्रापि गुणातीता। अतः अन्वतप्यत, अनुतापं कृतवती ॥३८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् तो अति चतुर हैं और ये भगवान् की प्रिया है, सो भगवान् ने उत्तर दिया—"कन्धों पर चढ़ो।" अपने में समागत रस को अभिनीत करने के लिए प्रिया नृत्य करना चाहती हैं! इस नृत्याभिनय से आन्तर अनुभव के रस समुद्र के लहराने के बजाय सूखने की संभावना अधिक, यदि रसामृत को आन्तर भूमि से बाह्य भूमि पर लाया गया तो। अतः यह अशक्य कार्य तभी हो सकता है जब अपने कन्धों पर चढ़ने का अशक्य कार्य करो। निश्चयेन जो अपने कन्धोंपर चढ़कर नाचता हो वह कुशलतम नर्तक होगा! यह अशक्त कार्य का विधान इसलिए किया कि अशक्य वस्तु के बारे में ही प्रार्थना की गई। भगवान् का मन (लौकिक नायक की तरह नायिका के अधीन होकर वियोग रसानुभव का नहीं किन्तु) अलौकिक रसाभिनय में है। यह अलौकिक रसाभिनय यदि नायिका लौकिक रीति से नायक को अपने आधीन बना कर स्वयं का वियोगानुभव कराना चाहे तो संभव नहीं है (यदि अभिनय करना भी हो तो अलौकिक रस का ही करना चाहिए अर्थात् प्रभु के अधीन होकर विरहानुभव करते हुए आर्ति आदि को प्रकट करना न कि लौकिक रीति से नायक को विरहार्त देखने का)। परन्तु यदि स्वतः इतनी अशक्त होती तो न तो यह कहती कि "विप्रयोगाभिनय मुझे करने दो" और न यह कि "चलना हो तो गोद में उठाकर चलो फिर जहां भी आप का मन हो चलने को तैयार हूं!" (क्योंकि दोनों कल्पों में एक जगह अभिनय के कारण प्रभु से दूर होना है तो दूसरी जगह स्वयं प्रभु की विप्रयोगदान की इच्छा के कारण ही। यों

दोनों विकल्प में स्वतः अशक्त होती तो कहने का अवसर नहीं आता परन्तु प्रिय की इच्छा के अनुरूप ही अशक्ति हुई है) अतः मेरा मन तो विप्रयोग के अनुभव कराने में ही है—जिसका मेल स्वामिनी-वचन से स्वस्कन्धारोहण की तरह अशक्त है। यदि स्वस्कन्धारोहण का अशक्त कार्य स्वामिनी कर दिखलाये तो प्रभु भी स्वामिनी को अभिनय के धरातल पर जाने देंगे या ले जायेंगे अथवा गोद में लेजाते हुए भी अपने मन के अनुसार अन्तर्हित भी हो जायेंगे। अन्यथा विप्रयोग रस के अभिनय की अनधिकारिणी को प्रभु क्यों अभिनय भूमि पर जाने दं और क्यों स्वयं वियोगानुभव करें। इसी तरह संयोग रस को निरन्तर रखने के कल्प में भी दर्प, क्रियाशक्ति के संकोच आदि को उत्पन्न करके जब अनधिकारिणी बनाया ही है तो गोद में लिए हुए चलने के साथ-साथ स्वयं भी अन्तर्हित हों ऐसी अशक्त लीला में क्यों स्वामिनी को ले जायें ?

भगवान् कोई मिथ्या भाषण तो करते नहीं हैं, कि अपने कन्धों पर चढ़ने को कहें और प्रिया वैसा करने जाये, तब तिरोहित हो जायें अतः यहां भगवान् ने अपने कन्धों पर चढ़ने को कहा इस अर्थ की संभावना नहीं है। हां स्वामिनी ने मोह-भगवान् ने प्रार्थना या आग्रह स्वीकार लिया यों समझ करके कारण सयझा कि प्रियतम के कन्धों पर चढ़ना है, और वैसा ही करने जा रही थी कि प्रिय अन्तर्हित हो गए क्योंकि ये "कृष्+ण=सत्+आनन्द" हैं। तब वह भी अन्य गोपिकाओं की तरह हो गई। यह अनन्यपूर्वा एवं व्रत करने वालियों में से है और उनमें भी गुणातीत अतः अनुताप करने लगी ॥३८॥

नट नृत्यमें के अभिनय की चेष्टाओं द्वारा अपने अन्दर रहे हुए रसका अनुभव दर्शक को कराता है। इसी समानता को लेकर यहां नृत्य का कथन है। इससे पहले प्रभु ने प्रिया के अधीन होकर रस दान किया और वह रस प्रिया में अवस्थित हुआ तो अब स्वयं उस रसका अनुभव प्रभु को कराने के लिए वचन एवं व्यवहार द्वारा प्रिया प्रकृत हो रही है यहां प्रथम प्रभु ने रसाभिनय किया जिसका रसानुभव प्रिया ने किया। अब प्रिया रसाभिनय करके प्रिय को रसानुभव कराना चाहती है। यह रस शृंगार है जिसके पूर्वदल का अभिनय प्रभु कर चुके हैं और प्रिया अनुभव। अतः जो उत्तर दल का अभिनय प्रभु करना चाहते हैं, सो वह भाव भी प्रियामें प्रतिबिंबित हुआ और उसके अनुसार ही प्रियामें प्रथम अपने आपको वरिष्ठ भावना, दूसरे प्रभु को अपने अधीन मानना और तीसरे प्रभु को अपना विप्रयोगानुभव कराने की इच्छा यों क्रमशः जो प्रभु के भाव थे वे प्रतिबिंबित हुए।

यहां (१) अपने आपको वरिष्ठ मानना अर्थात् गर्व तो अग्रिम विप्रयोगात्मक रसदान में निमित्त है सो हुआ ही किन्तु शिष्ट दो अर्थात् (२) लौकिक कामी पुरुष की तरह प्रभु का कामवश नायिका के अधीन बनना तथा (३) नायक का दर्शक (अनुभव करने वाला) बन कर स्वामिनी का रसाभिनय करना और वह भी रस के अन्तर दल का अभिनय ये दो अशक्य हैं (१) स्वस्कन्धारोहण की तरह। (२) इसलिए अशक्य है कि प्रभु भक्त स्नेह वश ही भक्तों के वशीभूत होकर रमण करते हैं कामाधीन होकर नहीं। अतः प्रकृत में नायिका का "न पारयेह" कहना स्नेह की रीति के विरूद्ध है। नायक का कामवश नायिका के अधीन होना तो रसमार्ग से विरुद्ध नहीं है तब फिर क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यह हैं कि प्रभु को लौकिक नायक की तरह अपने अधीन मानने का (जो प्रभु के अब तक अधीन होकर रसदान करने से) भाव जो उत्पन्न हुआ है उसकी परिणति

होगी प्रभु के स्वामिनी को विप्रयोग रसदान के भाव का भी स्वामिनी में प्रतिबिंब, अर्थात् प्रभु को अपना विप्रयोगरसानुभव कराना तथा स्वयं विप्रयोग रसाभिनय करना। यही (३) भाव है। किन्तु अनुभव एवं अभिनय के धरातल परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। अनुभव आन्तर है जबकि अभिनय बाध्य। अनुभव के धरातल पर बने रहने से रसामृत का समुद्र अन्दर उत्तरोत्तर भाव तरंगों द्वारा लहराता रहता है। इसे 'ऊर्ध्व भाव' कहते हैं। जबकि अभिनय के धरातल पर रस को लाने की चेष्टा में रस स्वभाव के कारण अन्तः स्थित रस के ढुलक जाने की सम्भावना है। और यदि आन्तर रस समुद्र बाहर ढुल जाये तो प्रिया किस का तो अभिनय करेगी और प्रभु किस का अनुभव ? रसामृत के समुद्र में न तो वह अर्ध्वभाव ही रह पायेगा और न वह स्वयं ही। अर्थात् रस के स्वरूपतः नष्ट होने की सम्भावना है। और ऐसा होने पर प्रभु को जो आगे चलकर स्वयं विप्रयोग के दान से स्वामिनी के रसानुभव को पूर्णता तक पहूंचाना है उसमें भी प्रतिबन्ध उपस्थित हो जायेंगे। प्रभु भी विप्रयोगरसाभिनय चाहते हैं और स्वामिनी भी, अब दोनों की इच्छाओं का संवाद कैसे संभव है ? एक को तो रसानुभव के धरातल पर रहना ही पड़ेगा। अब यदि (२) भाव के कारण अर्थात् प्रोढ़ीभाव से लौकिक नायिका की तरह प्रभु-नायक को अपने अधीन बनाकर स्वयं रसाभिनय में प्रवृत होने का भाव रखे तो वह तो सम्भव नहीं है, यह बता ही दिया है। और कोई तो उपाय ही नहीं है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि स्वयं प्रिया यह चाहती है कि प्रभु संयोग रस दान में संकोच की इच्छा नहीं करे। क्योंकि ये अपने आपको विप्रयोग रस दान की कृपा की अधिकारिणी नहीं मानती है। किन्तु जब भगवान् ने पूर्ण अपने रस का दान किया ही है जिसके कारण सारे भगवन्निष्ठ भाव हृदय में स्फुरित हो रहे हैं तो सर्वतः अपना आधिक्य-वरिष्ठता, विप्रयोग रस दान की इच्छा आदि सभी यहां भी प्रतिबिंबित हुए हैं। किन्तु पूर्व दल की गरिमा के कारण अब रस उच्छलित होने की अवस्था में है। आन्तर रसानुभव का बाह्य रसाभिनय करना चाहती है। अतएव ऐसे भाव उदित हुए कि ऐसे सुन्दर वन में प्रिय यदि मुझे ढूढें तो रस की चमत्कृति कैसी हो इसी भाव को दर्प कहा गया है।

यों "नय मां यत्र ते मनः" से दो तरह की भावना व्यक्त हो रही है—(१) क्रियाशक्ति–संयोग रस (पूर्वदल के नैरन्तर्य) की अथवा (२) विप्रयोगात्मक रसाभिनय की अर्थात् रसानुभव की नहीं। यह स्वामिनी का विप्रयोग रसाभिनय लौकिक रीति के बिना संभव नहीं है। लौकिक रीति नायक के अलौकिक होने से संभव नहीं है। जैसे अपने कन्धों पर चढ़ना अशक्य है वैसे ही प्रभु के सामने से प्रिया का अन्तर्हित होना भी अशक्य है। पूर्णज्ञान शक्तिवाले प्रभु के लिए कौनसी वस्तु ज्ञान-परिधि के बाहर हो सकती है ? यद्यपि विरुद्धसर्वधर्माश्रय होने के कारण एवं रसात्मक होने के कारण जानते हुवे भी अनजान बन सकते है। परन्तु सर्वसमर्थ प्रभु अपनी प्रिया-अत्यन्त प्रिय स्वामिनी को–एक क्षण भी बिन देखे रहने में असमर्थ हैं। यही तो कारण है कि उत्तर भी दिया अन्यथा चुप रह जाते या चुपचाप अन्तर्ध्यान हो जाते। प्रिया होने के कारण स्वामिनी का भगवान् के सामने से छुप सकना कठिन है अतः प्रभु को ही अन्तर्हित होना पड़ेगा। इस तरह प्रिया की प्रार्थना क्योंकि **प्रिया ने** की है इसीलिये स्वीकृत न हो पायी। और जहां तक (१) विकल्प का प्रश्न है तो क्रिया शक्ति की स्वीकृति भी स्वस्कन्धारोहण की तरह अशक्य ही है क्योंकि अन्यथा रसानुभव की पूर्णता नहीं होगी। स्वामिनी को यह वृतान्त की सुध नहीं है सो पहले की तरह अब

भी क्रियाशक्ति देकर संयोग रसाभिनय निरन्तर रखेंगे यों सोचकर प्रार्थना की "नय मां" किन्तु अनजाने यह भी कह दिया कि "यत्र ते मनः" प्रभु का मन विप्रयोग दान में है अतः दोनों का संवाद पुनः स्वस्कन्धारोहण की तरह अशक्य है। जो रस आगे देना है उसका ख्याल करके प्रभु ने अपने आशय को चतुराई से ढक दिया कि "कन्धों पर चढ़ो" किन्तु किसके यह खुलासा नहीं किया। स्वामिनी ने विचारा कि संयोग रस के दान को निरन्तर रखने की बात मान ली गयी और अपने कन्धों पर चढ़ने को प्रभु कह रहे हैं परन्तु वैसा करते समय प्रभु अन्तर्हित हो गए। ऐसा क्यों किया इसका कारण प्रभु के नाम में ही निहित है यह सुबोधिनी में कृष्ण का अर्थ सच्चिदानन्द देकर दिखलाया है। यह आशय है, कि प्रभु आनन्दात्मक रूप में प्रकट रहते है अब यह प्राकट्य के दो भेद हैं, आन्तर एवं बाह्य, आन्तर लीला अब करनी है सो बाह्य में तिरोहित हुए। इसी तरह अब इस दशा में रस पोषण करना है।

आभास—न केवलमन्तरनुतापः, किन्तु तज्जनितो बहिरपि विलापो जात इत्याह हा नाथेति।

आभासार्थ—इस गोपी को केवल भीतर अनुताप नहीं हुआ किन्तु उनसे बाहिर भी हुआ जिससे विलाप करने लगी, उसका वर्णन 'हा नाथ' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।**
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—हा नाथ! हा रमण! हा प्यारे! हा महाभुज! तुम कहाँ हो? कहाँ हो? हे सखा! मैं जो आपकी दीन दासी हूं उसको सन्निधि में दर्शन दीजिए ॥३९॥

सुबोधिनी—हा इति पश्चात्तापे। अयुक्तं कृतमिति। तथापि हे नाथ, त्वमेव स्वामी। अतो दोष एवं दूरीकर्तव्यः, न तु त्यक्तव्या। ननु दूरे स्थित्वा पालनं करिष्यामीति चेत्, तत्राह **रमणे**ति। त्वमेव रतिवर्धको भोक्ता, भोग्यरूपाश्च वयम्। अतो निकट एव स्थातव्यमिति भावः। नन्वनुरोधेन केवलं पालनं करिष्यामि, भोक्तुरिच्छाभावात्। न हि भोग्येच्छया भोक्ता भुंक्ते, तत्राह **प्रेष्ठे**ति। न ह्यन्यः प्रीतिविषयोऽस्ति येन जीविष्यामि। अत्यन्तं व्याकुलाया वचनमाह **क्वासि क्वासी**ति। मोहवशात् अन्धा पतिता च जाता, तत उत्थापनार्थं संबोधयति **महाभुजे**ति। महान् भुजो यस्य। महती क्रियाशक्तिः। अतो दोष एव दूरीकर्तव्यो, नत्वहम्। यतोऽहं दासी, तत्रापि **ते** तवैवाहं दासी, स्वभावत एवाहं कृपणा, अनालोचितयाचिका, अतो मद्वचनान्नान्यथाभावः कर्तव्यः। एवं प्रार्थनायां परमकृपालुस्तामुत्थाप्य स्वस्थां कृतवान्, अदृश्यरूपेणैव। तदा पुनराह। हे सखे, स्पर्शेन स्वधर्मारोपात्स्वसंनिधिं दर्शय। वर्तसे निकटे, तथापि यथा सान्निध्यं दृष्टं भवति, तथा कुरु। एवमेव वदन्ती स्थिता। भगवानपि तत्रैव स्थितः ॥३९॥

व्याख्यार्थ—गोपी ने 'हा' शब्द कहकर अपना पछतावा प्रकट किया है, कि मैंने जो किया वह अयुक्त है तो भी हे नाथ ! आप स्वामी हैं, अतः मेरा किया हुआ दोष नष्ट कीजिए न कि मेरा त्याग करना चाहिए, यदि भगवान् कह दें, कि विचार मत करो, मैं तुम्हें छोड़ूंगा नहीं, दूर से ही पालन करता रहूंगा, जिसके उत्तर में प्रथम ही कह देती हैं, कि हे रमण ! आप रति को बढाने वाले भोक्ता हैं और हम आपकी भोग्य रूप हैं अतः आपको निकट[1] ही रहना चाहिए।

और यदि भगवान् कह दे, कि मुझे भोग की इच्छा नहीं है। भोग्य की इच्छा से भोक्ता भोग नहीं करता है अपनी ही इच्छा से करता है, तो भी यदि तुम्हारा अनुरोध[2] है तो केवल पालन करता रहूँगा, इसका उत्तर प्रथम ही दे देती हैं, कि आप हमारे 'प्यारे' प्रीति के विषय हैं अन्य कोई प्रीति का विषय नहीं है, जिससे हम जीवन धारण कर सकेंगी, यों कहते कहते वह अत्यन्त व्याकुल हो गई[3] तब कहने लगी, कि कहां हो ? कहां हो ? मोह वश होने से देख न सकी एवं गिर गई। अनन्तर उठाने के लिए प्रार्थना करती हुई कहती है कि हे महाभुज ! हे महाभुजा[4] वाले आप सर्व शक्तिमान हैं अतः दोष को ही दूर करना चाहिए, मुझे तो अपने पास ही रखिए, कारण कि मैं दासी हूं, उसमें भी आपकी ही दीन दासी हूं, वह दासीपन वैसा है, जो बिना कुछ विचार किए जो जचे वह मांग लेती हूँ, अतः मेरे वचन का अन्यथा[5] भाव न समझना चाहिए। इस प्रकार जब उसने प्रार्थना की, तब परम कृपालु ने अदृश्य रूप से[6] उसको उठाकर सावधान किया, जब भगवान् ने उठाकर सावधान किया तब पुनः प्रार्थना करने लगी, कि हे सखा ! आप मेरे सखा हो, सखा के शील व्यसन आदि समान होते हैं, अतः स्पर्श से अपने धर्मों का मुझ में आरोप[7] कर अपनी सन्निधि से दर्शन दो, आप निकट तो हैं, तो भी जैसे सामीप्य में दर्शन हो, वैसा करने की कृपा करो, इस प्रकार ही कहती हुई वहां खड़ी रही, भगवान् भी वहां ही स्थित हो गए ।। ३९ ।।

अभास—ततो यज्जातं तदाह अन्विच्छन्त्य इति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो हुआ उसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'अन्विच्छन्त्यो' श्लोक में करते हैं-

श्लोक—**अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्यो विचेतसः ।**
ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ।।४०।।

श्लोकार्थ—भगवान् के मार्ग को ढूंढती हुई, उन विह्वल चित्तवाली गोपियों ने प्यारे से वियोग हो जाने के कारण, मूर्छित तथा दुःखी हुई सखी को देखा ।।४०।।

१—पास में, २—आग्रह व प्रार्थना, ३—घबरा गई, ४—क्रियाशक्ति,
५—उल्टा, ६—दर्शन न देते हुए, ७—मान,

सुबोधिनी—पूर्वोक्ता गोप्यः भगवन्मार्गमन्विच्छन्त्यः अविदूरत एव तां ददृशुः तासां क्रोधाभावायाह **दुःखितामिति**। न हि दुःखितायां क्रोधो भवति। दुःखे हेत्वन्तरनिराकरणायाह **प्रियविश्लेषमोहितामिति**। भगवत एव विश्लेषेण परममोहं मूर्छां प्राप्ताम्। सापि तासां सखी। अतः सख्यभावेन बह्वयः तांप्रबोधितवत्यः। 'न दुःखं पञ्चभिः सहेति' ॥४०॥

व्याख्यार्थ--भगवान् के जाने वाले मार्ग को ढूंढती हुई गोपियों ने निकट ही, जो भगवान् के साथ गई थी, उस गोपी को देखा, देखने पर उस पर क्रोध करना चाहिए था, किन्तु उनमें क्रोध उत्पन्न न हुआ, कारण कि देखने से उनको मालूम हो गया, कि यह भी हमारे समान दुःखी हैं, दुःखी पर क्रोध नहीं होता है। क्रोध करने का अन्य भी कारण था, वह कहते हैं, कि वह भी हमारी भांति प्यारे के बिछुड़ने से मूर्च्छित है, इस पर क्रोध क्या करें ? और फिर उनकी सखी थी, जिससे भी उस पर क्रोध करना योग्य नहीं था। अतः सख्य भाव से बहुत गोपियों ने उसको जगाया, जगने पर, अपनी सखियों के मिलने से, उसका दुःख कम हो गया, क्योंकि शास्त्र में कहा है, कि ' न दुःखं पञ्चभिः सह' पांचो के साथ मिलने से दुःख नहीं रहता है ॥४०॥

आभास—पूर्वमेताः भगवानेवमेव कौतुकार्थं गतः, न त्वस्मद्दोषेणेति ज्ञातवत्यः। अन्यथा दोषनिराकरणार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्। स्वदोषापरिज्ञानं च भगवत्कृपयैव भवति, न स्वत इति ज्ञापयितुं सा नीता, पश्चात् त्यक्ता कथनार्थमेव, अतो भगवदिच्छया सर्वं कथितवती। तत्र वक्तव्ये यत्प्रयोजकं तदाह **तया कथितमिति**।

आभासार्थ—जो गोपियां भगवान् को ढूंढ रही थीं, उन्होंने प्रथम यों समझा था, कि भगवान् कौतुक[1] के लिए अन्तर्द्धान हुए हैं, हममें दोष देखकर अर्न्तहित हुए हैं यों नहीं समझा था, यदि यों समझती, तो उस दोष के निवारण के लिए प्रयत्न करतीं, अपने दोष का भान भगवत्कृपा से होता हैं, भगवान् को यह बात उनको समझानी थी, कि तुम में दोष देखकर ही हम अन्तर्द्धान हुए हैं, इसके जताने के लिए उस (मुग्ध) गोपी को साथ ले गए थे, पुनः उसका त्याग भी दोष जताने के लिए हुआ, जिससे, यह उनको बता देवे, अतः भगवान् की इच्छा से, उसने सब बता दिया, इस प्रकार कहने में जो प्रयोजक वाक्य है वे ' तया कथितं' श्लोक से कहे हैं—

श्लोक—**तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात्।**
अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥४१॥

श्लोकार्थ—उस गोपी ने जो कुछ कहा, वह सुनकर इन गोपियों ने निश्चय पूर्वक जान लिया, कि भगवान् के गुणों से, मान मिलता है और यदि अहङ्कार से अपना दौरात्म्य प्रकट किया जाता है तो भगवान् सहसा त्याग कर देते हैं, इस प्रकार ज्ञान होने पर, अत्यन्त आश्चर्य को प्राप्त हुई ॥४१॥

---

[1] १—तमाशे,

सुबोधिनी—मानप्राप्तिं च माधवात्, अवमानं च दौरात्म्यादिति। तया कथितं यद्यपि बह्वेव श्रुतम्, तत्रैतावानर्थो निर्धारितः। सन्माननं यत्प्राप्तम्, तन्न स्वगुणैः, किन्तु लक्ष्मीपतेरेव गुणैः, लक्ष्म्यंशा एता इति। दौरात्म्यात्स्वधर्मादेव अवमानम्। चकारात् खेदभ्रमादयः। एवं भगवतः अलौकिकं सामर्थ्यं दृष्टवा परमं विस्मयं प्राप्ताः। एवं तद्वाक्यैः पदार्थनिर्धारो जातः। अन्वेषणादिना भगवान् न प्राप्तव्य इति ॥४१॥

व्याख्यार्थ—मान की प्राप्ति तो भगवान् माधव से है। यह उनके स्वकीय गुणों से होती है, हमारे गुणों के कारण मान नहीं मिलता है। ये गोपियां लक्ष्मी की अंश हैं भगवान्, लक्ष्मी पति हैं इस कारण से, मान मिला है, किन्तु अब मान[1] तो हमारे दौरात्म्य[2] से प्राप्त होता है, और उस दौरात्म्य[2] के कारण खेद और भ्रम आदि की भी प्राप्ति होती है, इस प्रकार भगवान् का अलौकिक सामर्थ्य देखकर, अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुई, वैसे उसके वाक्यों से पदार्थ का निर्णय हुआ, क्या निर्णय हुआ उसको स्पष्ट करते हैं, कि गोपियों को निश्चय हुआ, कि हम जो ढूंढ़ने का प्रयत्न कर रही हैं उससे भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती है, अर्थात् भगवान् जब कृपा कर अपने को जनावे[3] तब प्राप्त होते हैं ॥४१॥

आभास—अतः परं भगवत्प्रसादे को हेतुरिति विचार्य, सर्वपरित्यागेन देहपरित्यागपर्यन्तं साधनमिति निश्चित्य, तथा कृतवत्य इत्याह तत इति।

आभासार्थ—इसके अनन्तर विचार करने लगीं, कि भगवान् के अनुग्रह होने में हेतु क्या है? अर्थात् भगवान् के दर्शन, क्या करने से मिलते हैं, विचार से यह निश्चय किया, कि, देह त्याग तक सर्व का त्याग ही साधन है अर्थात् देह से लेकर सब का प्रभु में समर्पण कर देना ही साधन है इस निश्चय को कार्य रूप में लाने के लिए वैसा करने लगीं—

श्लोक—ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते।
तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो विनवृतुर्हरेः ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ—उसके पश्चात् जब तक चांदनी रही तब तक वे सब वन में जाती रही, अन्धकार होता देख, ये हरि की प्रियाएँ पीछे लौट आईं ॥ ४२ ॥

सुबोधिनी—ततो वनमविशन्। मोहनिवृत्यर्थं वनप्रवेशः। वनं गतानामपि चेन्मोहः, तदा किं वनप्रवेशेनेति। चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते, तावद्दूरमेव गताः। अतिनिबिडवनं तु न प्रविष्टाः यदा पुनर्गाढे वने अन्तश्चन्द्रकिरणा न प्रतिशन्ति, तदा तत्र तमः प्रविष्टमालक्ष्य, ततो निववृतुः निवृत्ता जाताः। ननु प्रथमं यदुद्योगेन वनं गताः, तदकृत्वा कुतो वा निवृत्ता इत्याशंक्याह हरेरिति। हरेः सकाशात् हरेः सम्बन्धिन्यो वा। ततः अन्धकारान्निवृत्ताः। न हि भगवदीया अन्धकारं प्रविशन्ति। भगवतैव निवर्तिताः ।४२।

---

[1] —तिरस्कार, त्याग,

[2] —दुष्टता, अभिमान आदि

[3] —जतावे-दिखावे

व्याख्यार्थ—पश्चात् उन्होंने मोह की निवृत्ति के लिए वन में प्रवेश किया, यदि वन में गए हुए मनुष्यों को मोह होवे तो वन में जाने से क्या लाभ ? अर्थात् जाना ही निरर्थक है, जब तक वहां चन्द्रमा की चांदनी खिल रही थी, तब तक वे दूर दूर चली गई । अत्यन्त घने बन में तो प्रविष्ट नहीं हुई, जब देखा कि यह बन वैसा है जिसमें भीतर चन्द्र की किरणों का प्रवेश नहीं हो सकता है, वहां अन्धकार है यों जानकर वहां से पीछे लौट आई । प्रथम, जिस उद्योग से वन में गई, वह (उद्यम) न कर, क्यों लौट आई ? जिसके उत्तर में कहा है, कि ये हरि की सम्बन्धिनी हैं, इस कारण से लौट आई, जो भगवदीय होते हैं वे अन्धकार (अज्ञान) में प्रवेश नहीं करते हैं उनको भगवान् ने ही लौटाया है ॥ ४२ ॥

आभास—निवृताः चेत्, गृहं गताः भविष्यन्तीत्याशंकायामाह तन्मनस्का इति ।

आभासार्थ—वन से लौट आने पर घर गई होगी ? इस शङ्का के निवारण के लिए 'तन्मनस्का' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।**
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ—उनको घर की स्मृति नहीं हुई, क्योंकि उनका मन भगवान् में ही लग रहा था, भगवत्सम्बन्धी ही भाषण करती थीं, शरीर की क्रिया भी भगवन्मय, थी, कृष्ण को ही अपनी आत्मा समझती थीं और उनके गुणों को गाती हुई अपनी आत्मा तथा घरों को भूल गई थीं ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—ता नात्मागाराणि सस्मरुः । आत्मानं देहम् । अगारं गृहम् । तत्सम्बन्धीनि च वस्तूनि स्मृतवत्य एव न, कुतो गमिष्यन्ति । अस्मरणे हेतवः । **तन्मनस्का** इत्यादिभिः पञ्चभिः पदैः पञ्च निरूप्यन्ते । स्मृतिर्मनसि जायते, तन्मनस्तु केवलं भगवत्येव, अतस्तन्मनस्काः भगवन्मनस्का न सस्मरुः । अन्यद्वाराप्यस्मरणार्थमाह **तदालापा** इति । अन्या अपि चेदन्यवार्तां कुर्युः, तदा तत्प्रसङ्गात् गृहादिस्मरणं भवति । सर्वा एव तस्मिन् भगवत्येवालापो यासाम् । अतोऽन्यतोऽपि न स्मरणम् । ननु दैहिकी क्रिया क्षुत्पिपासाकृता आवश्यकी, तया देहादिस्मरणं भविष्यतीति चेत्, तत्राह **तद्विचेष्टा** इति । तस्यैव भगवतः पूर्ववच्चेष्टाविष्टाः । ननु तथापि सर्वज्ञाने ष्वात्मांशः स्फुरति, घटमहं जानामि, पटमहं जानामीति । अतः कथमात्मास्फूर्तिः, तत्राह **तदात्मिका** इति । स एवात्मा यासाम् । सर्वदा कृष्णात्मभावनैव चित्तो सहजा तासाम् । अत आत्मत्वेन भगवानेव स्फुरति इति न देहादिस्फुरणम् । ननु' सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधका' इति अदृष्टवशात् कथं न स्मृतिः तत्राह **तद्गुणानेव गायन्त्य** इति । यदि तूष्णीं तिष्ठेयुः, भवेदपि स्मृतिः, अन्यासक्तास्तु ताः कार्यान्तरपराः । यतस्तस्य भगवतो गुणानेव गायन्ति । गुणैः कृत्वा दुरदृष्टं च नश्यति । अतो नादृष्टद्वारापि स्मृतिबोधः ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ – वे अपनी देह को तथा अपने घर को भूल गई थीं, उनसे सम्बन्ध वाली वस्तु तो याद ही नहीं थी तो वहां किस कारण जाएगी, उनको (देह, घर और सम्बन्धी वस्तुओं को) इस प्रकार असल भूल जाने के ५ कारणों को कहते हैं--

१-किसी की भी स्मृति मन से होती है वह मन तो केवल भगवान् में ही लग गया था, तो अन्य की (उनकी) स्मृति कैसे होगी ? अतः भगवान् में मन पिरो जाने से देह, घर आदि को याद ही न करती थी।

२—मन से नहीं तो अन्य किसी के द्वारा वार्तालाप से स्मरण हो जायेगा, तो कहते हैं कि सभी की वाणी भी भगवान् में आसक्त हो जाने से उससे भी कभी उनका प्रसंग ही न होता था जिससे वाणी द्वारा स्मरण हो जाए, उन सबकी वाणी द्वारा भगवत् सम्बन्धी चर्चा के सिवाय अन्य कोई चर्चा हो नहीं सकती थी।

३—क्षुधा[1] और तृष्णा[2] से देह सम्बन्धी क्रिया तो अवश्य होती होगी, जिससे देहादिक स्मरण भी तो होता होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वे गोपियां पहले की भांति भगवान् की चेष्टाओं से, आविष्ट[3] थीं, अतः देहादिक क्रिया करने का अवसर ही नहीं है।

४—देह आदिक का स्मरण, इस प्रकार से भी तो होता है, जैसे सब प्रकार के ज्ञानों में आत्मा का अंश 'मैं' का स्फुरण होता है, "मैं' घड़े को जानता हूं, 'मैं' पट को जानता हूं, अतः आत्मा की स्फूर्ति कैसे ? अर्थात् नहीं होगी, इस पर कहते हैं कि 'तदात्मिकाः' जिनका (गोपियों का) वह ही आत्मा है, अर्थात् उनके चित्त में सर्वदा स्वाभाविक कृष्ण ही हमारी आत्मा है वैसी भावना रहती है, अतः आत्मापने से उनको भगवान् की ही सर्वत्र सर्वदा स्फूर्त्ति होती है जिससे देहादि का स्फुरण नहीं होता है।

५—स्मृति होने के कारण सदृश पदार्थ, अदृष्ट और चिन्तन आदि हैं इस न्याय सिद्धान्त के अनुसार अदृष्ट से इनको गृहादि की स्मृति होनी ही चाहिए अदृष्ट तो इनके साथ भी है तो स्मृति क्यों न हो ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'तदगुणानेवगायन्त्यः' भगवान् के गुणों को ही गान कर रही थी, जिससे उनका बुरा प्रारब्ध नाश हो गया है। इसलिए अदृष्ट से भी इनको देहादि की स्मृति नहीं हुई है, और वे यदि चुप कर बैठ अन्य कार्य में निरुद्ध न हो, तो स्मृति हो सकती है, किन्तु वे तो अन्य कार्य (भगवद्गुणगान) के परायण हैं, इसलिए उनको देहादि का भान नहीं हुआ है ॥४३॥

आभास— तर्हि किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **पुनः पुलिनमागत्येति**।

आभासार्थ—जब वे घर नहीं गई, तब क्या हुआ ? अर्थात् उन्होंने क्या किया ? जो किया उसका वर्णन 'पुनः पुलिन' श्लोक में करते हैं—

१—भोजन की इच्छा, २—पानी पीने की इच्छा, ३—आवेश युक्त

श्लोक—**पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः ।**
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः ॥४४॥

श्लोकार्थ—जहां प्रथम श्री यमुनाजी के तट पर थी, फिर वहां ही आकर, कृष्ण में भावना वाली और भगवान् के पधारने की आकाङ्क्षावाली वे गोपियां आपस में सब मिल कर कृष्ण का गान करने लगीं ॥४४॥

सुबोधिनी—पूर्वं पुलिने स्थिता यत्र, तत्रैव पुनरागताः। ननु विवेकरहिताः कथं तत्रागताः, तत्राह **कृष्णभावना** इति। कृष्ण एव भावना यासाम्। तेन भगवदिच्छया भगवत्प्रेरणया तत्रैव स्थाने भगवान् रतिं करिष्यतीति निश्चित्य, तत् स्थानमस्माकं हितकरमिति तत्रैवागताः। ततः कस्या वा भाग्यात् स्नेहेन कृपया व आगच्छेदिति सदेहात् समवेता जाताः। तदा साधनान्तरमलभमानाः कृष्णं सदानन्दं जगुः। दोषनिवारणे हरिगुणगानमेव साधनमिति। निवृत्ते पुनर्दोषे स्वमेवायास्यतीति तदागमनकाङ्क्षया जगुः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—जहां पहले श्री यमुनाजी के पुलिन पर स्थित थी वहां ही फिर आ गई, उनमें विवेक तो था नहीं, फिर वहां कैसे आई ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वे कृष्ण में भावनावाली थी, जिससे भगवान् की इच्छा से, वा प्रेरणा से, उनके मन में स्फूर्ति हुई, कि भगवान् वहां ही रति करेंगे, ऐसा निश्चय कर जाना, कि वह ही स्थान हमारा हित करने वाला है, इसलिए वहां आई पश्चात् यह संदेह हुआ, कि न जाने, भगवान् किसके भाग्य से, अथवा स्नेह या कृपा के कारण पधारेंगे ? जिससे सब साथ में मिल गई। मिलकर विचार करने लगीं, कि क्या साधन करें जिससे प्यारा शीघ्र पधारे। दोष नाश करने के लिए कृष्ण के गुणगान करने के सिवाय, अन्य कोई साधन नहीं है, यों समझ, निश्चय कर 'कृष्ण का गुणगान' करने लगीं, उन्होंने समझा कि गुणगान से हमारे दोष नष्ट होंगे तब स्वतः स्वयं पधारेंगे ॥ ४४ ॥

कारिका—**श्रीकृष्णगोपिकास्तत्र द्विविधा नवधा गुणैः ।**
समुदायेन भिन्ना वा गतगर्वा असाधनाः ॥ १ ॥
हरेर्गानं प्रियं मत्वा जीवनार्थमपि प्रियाः ।
स्वसंदेहात्तु मिलिता जगुर्नानाविधैर्गुणैः ॥ २ ॥

कारिकार्थ—वहां (श्री यमुनाजी के पुलिन में) जो आकर मिली, वे श्रीकृष्ण की गोपियां दो प्रकार की हैं—

१—अन्यपूर्वा-(जिनका विवाह हुवा है)
२—अनन्यपूर्वा-(जिनका विवाह नहीं हुआ है-कुमारिकाएँ है)

१—अन्य पूर्वा–सात्विकादि गुणों के कारण नौ प्रकार की हैं ।
२—अनन्यपूर्वा भी सात्विकादि गुणों के कारण नौ प्रकार की हैं ।

इस प्रकार गोपियों के १८ भेद हुए और १ भेद उपलक्षण विधि से माना जाता है, जिससे १९ भेद हुए ।

यह भेद एक एक से भी है, अथवा यूथ से भी समझना चाहिए, अर्थात् यूथ भी १९ प्रकार के हैं—

अन्य पूर्वा–विवाह की हुई–१-सात्त्विक, २-राजस, ३-तामस
एक प्रकार की तीन–सात्विक-सात्विकी, सात्विक-राजसी, सात्विक-तामसी
दूसरे प्रकार की तीन–राजस-सात्विकी: राजस-राजसी, राजस तामसी
तीसरे प्रकार की तीन–तामस-सात्विकी, तामस राजसी, तामस-तामसी

अनन्य पूर्वा जिनका विवाह नहीं हुआ हैं, वे भी इसी प्रकार (९) नौ भेद वाली हैं, अतः दोनों मिलकर १८ प्रकार की हुई और एक भेद उपलक्षण विधि से है जिससे गोपियां १९ प्रकार की समझी जाती हैं ।

विशेष भिन्न प्रकार का वर्णन २८ वे अध्याय की कारिकाओं में स्पष्ट किया जाएगा । भगवान् के अन्तर्हित होने से गोपियों का गर्व तो नष्ट हो गया और भगवान् के पुनः दर्शन के लिए जो साधन (ढूँढना, वृक्षादि से पूछना) किए उनसे, भगवान् के दर्शन हुए, तब दीन और निःसाधन हो गई ॥ १ ॥

तब विचार करने लगीं, कि यदि प्यारे के दर्शन नहीं होंगे, तो हमारे प्राण नहीं रहेंगे, अतः प्यारे के दर्शन होवे तो हमारा जीवन टिक सके, इसका एक ही साधन प्यारे के गुणों का गान करना है, यह निश्चय कर, सब इकट्ठी होके भगवान् के अनेक प्रकार के गुणों को गाने लगी । इकट्ठी इसलिए हुई, कि उनको अपने में संदेह था, कि न जाने किसको भगवान् दर्शन दें । यदि साथ में होंगी तो भगवान् के प्रकट होते (ही) सब दर्शन कर लेंगी ॥ २ ॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध, के २७ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस फल अवान्तर प्रकरण का दूसरा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

'तृतीयो अध्याय'

स्कन्धानुसार अष्टाविंशो अध्याय

गोपिका गीत

कारिका—**अष्टाविंशे हरेर्गानं स्वभावादपराधतः ।**
कृतावज्ञा गोपिका हि स्तोत्रं चक्रुरितीर्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—इस २८ वें अध्याय में प्रथम गोपियों ने जो, गुणगान रूप स्तोत्र किया है, उसका कारण बताते हैं पहला कारण हैं, स्वभाव-गोपियां सहज स्वभाव से भगवान् में प्रेमवाली थीं; अतः भगवान् के वियोग में, उनका गुणगान ही जीवन है; जिससे उन्होंने गुणगान किया, तथा शृंगार रस मार्ग में नायिका ही आलंबन विभाव होती है यहां गोपियां आलंबन विभाव हैं अतः आलंबन विभाव में, जो मान होता है, वह इन गोपियों को भी हुआ हैं, जिससे नायक (कृष्ण) अप्रसन्न हुए हैं उनको प्रसन्न करने का उपाय प्रीतम का गुणगान करना ही है, इसलिए भी उन्होंने गुणगान करना योग्य समझा ।

दूसरा कारण, अभिमान रूप अपराध है गोपियों को (अन्तःकरण में) यह अभिमान हुआ कि हमारे समान अन्य कोई नहीं है, अतः हम प्यारे को रसदान तब करेंगी, जब वह हमको प्रार्थना करेंगे । इस प्रकार गोपियों का दर्प देख, दर्पहारी दामोदर, अन्तर्हित हो गए, जिससे उनको दुःख हुआ, उसको मिटाने के लिए साधन किए । साधनान्तर उनको ज्ञान हुआ कि साधनों से प्रीतम की प्राप्ति नहीं होगी वे तो स्वयं जब प्रसन्न होंगे तव कृपा कर दर्शन देंगे, उनको प्रसन्न करने का एक ही साधन, जो गुणगान है इसलिए हमको मिलकर उनको जो स्तुति प्यारी है, वह करनी चाहिए ।

इस प्रकार विचार पूर्वक निश्चय कर अपराध से की हुई, अवज्ञा के निवारणार्थ और स्वभाव से गुणगान रूप स्तुति करने लगीं ॥ १ ॥

कारिका—**एकोनविंशतिविधा गोप्यः स्वस्याधिकारतः ।**
एकोनविंशतिविधां स्तुतिं चक्रुर्हरेः प्रियाम् ॥ २ ॥

कारिकार्थ—उन्नीस प्रकार की गोपियां हैं, प्रत्येक ने अपने अपने अधिकार के अनुसार, जिस प्रकार की स्तुति भगवान् को प्रिय थी, वैसी ही की है । गोपियों के स्वभाव उन्नीस प्रकार के थे अतः स्तुति भी उन्नीस प्रकार से हुई है, जिससे इस अध्याय में १९ श्लोक हैं ॥२॥

कारिका—**राजसी तामसी चैव सात्विकी निर्गुणा तथा ।**
एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्यो निरूपिताः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—जिन गोपियों का विवाह हुआ,उनको अन्य पूर्वा कहते हैं,वे गोपियां: १-राजसी, २-तामसी, ३-सात्विकी और ४-निर्गुण होने से ४ प्रकार की हैं, उन्होंने सात्विक क्रम पूर्वक उत्तम गुण गान किया है, जैसे कि—

पहला श्लोक गाने वाली गोपियाँ अथवा उनका यूथ सात्विक-राजस है;
दूसरा श्लोक गाने वाली गोपियाँ अथवा उनका यूथ सात्विक-तामस हैं;
तीसरा श्लोक गाने वाली गोपियाँ अथव उनका यूथ सात्विक-सात्विक है और

चौथा श्लोक गाने वाली गोपियां अथवा उनका यूथ निर्गुण है ॥३॥

कारिका—**तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम् ।**
गुणातीताः सात्विकीश्च तामसी राजसीस्तथा ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—इसी प्रकार जिनका विवाह अन्य किसी से नहीं हुआ है, जो कुमरिकाएं हैं उनके भी गुणातीता, सात्विकी, तामसी और राजसी भेद से ४ प्रकार हैं। उन्होंने भी अन्यपूर्वा गोपियों के समान सात्विक क्रम से उत्तम गान किया है, जैसे कि—

पाचवां श्लोक गानेवाली गोपियाँ तथा उनका यूथ सात्विक-सात्विक है,
छठवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ सात्विक-तामस है।
सातवां श्लोक गानेवाली गोपियाँ तथा उनका यूथ सात्विक-राजस है।
आठवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ निर्गुण है ॥४॥

कारिका—**कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुकः ।**
अनन्यपूर्विका एव पुनस्तिस्रो मुदा जगुः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—शुकदेवजी कहते हैं, कि फिर राजस क्रम से तीन श्लोक विशेष प्रकार से अनन्य पूर्वा ही प्रसन्नता से गाती हैं, कारण कि वे, कृष्ण की भावना से सिद्ध हो गई हैं।

नवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-सात्विक है,
दसवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-तामस है।
ग्यारहवां श्लोक गाने वाली गोपियाँ तथा उनका यूथ राजस-राजस है ॥ ५॥ ॥

कारिका—**सत्त्विकी तामसी चैव राजसी चेति विश्रुताः ।**
सपूर्वाश्च ततस्तिस्रः तामसी राजसी परा ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—पश्चात् अन्य पूर्वा १२ वें से १४ वें तक के श्लोकों में राजस क्रम से गान करती हैं और १५ वें से १७ वें तक तामस क्रम से गाती हैं।

इस प्रकार के गान में १२ वां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ

राजस-तामस है, १३वां श्लोक गाने वाली गोपियां राजस-राजस हैं और १४ वां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-सात्विक है ॥६॥

कारिका—**पुनस्ता एव त्रिविधा अटतीत्यादिभिस्त्रिभिः ।**
राजसी तामसी चैव सात्त्विकीति विभेदतः ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—पुनः वे ही अन्य पूर्वा जो १५ वें श्लोक से १७ वें श्लोक तक तामस क्रम से गान करती हैं उनका प्रकार सुबोधिनी के आभास के अनुसार यह है कि—

पंद्रहवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ तामस-सात्विक है ।
सोलहवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ तामस-तामस है ।
सतरहवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ तामस राजस है ॥७॥

सुबोधिनी—आभास के अनुसार १५ वां श्लोक 'अटति' यह कहने वाली (गोपियां) देव निन्दक तामस-सात्विकी हैं, १६ वां श्लोक 'पति सुतान्वये' कहने वाली व्रज भक्त भगवान् की निन्दा करने वाली तामस-तामसी हैं, और १७ वां श्लोक 'रहसि संविद' गाने वाली गोपियां अपनी निन्दा करने वाली तामस-राजसी हैं,

कारिका से क्रमानुसार १५ वां श्लोक कहने वाली देवनिन्दक राजस-तामसी हैं, १६ वां श्लोक कहने वाली भगवन्निन्दक यहां भी तामस-तामसी हैं और १७ वां श्लोक कहने वाली अपनी निन्दा करने वाली हैं जैसा कि कारिका में कहा है कि 'राजसी-तामसी चैव सात्विकीति विभेदतः'

आभासानुसार कारिका क्रम यहां अविवक्षित है, कारिका में इस प्रकार कहने का कोई अन्य तात्पर्य होगा। यों समझ दोनों पक्षों की व्यवस्था करना चाहिए। (प० भ० निर्भयरामजी भट्ट के कारिकार्थ व्याख्या से)

लेखकार गो० वल्लभजी महाराज कहते हैं कि—

राजसीति—'अत्र सत्वादि क्रमो न विवक्षितः' इति ज्ञेयम्,

७ वीं कारिका में 'राजसीति'कहकर जो क्रम दिया है वह यहां विवक्षित नहीं है।

कारिका—**अनन्यपूर्वा द्विविधा राजसी सात्त्विकी तथा ।**
तमसा तामसी तत्र नास्तीत्येकोनविंशतिः ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—अन्य-पूर्वा गोपिकाओं ने १७ वें श्लोक में अपने कथन का उपसंहार कर लिया, अतः अब तामस क्रम से १८ वां श्लोक और १९ वां श्लोक अनन्य-

पूर्वा गाती हैं कारण कि, इनमें तामस-तामसी गोपियां तथा वैसा यूथ नहीं है, जिससे दो श्लोक कहे हैं—

श्रठारवां श्लोक गाने वाली (श्रनन्य पूर्वा) गोपियां तथा उनका यूथ तामस-सात्विक है।

उन्नीसवां श्लोक गाने वाली वे गोपियां तथा उनका यूथ तामस-राजस हैं।

श्रत: उन्नीस श्लोक गाने वाली सर्व गोपियां तथा उनके यूथ भी उन्नीस प्रकार के हैं ॥८॥

कारिका—**श्रथवा प्रार्थनाद्यायाः सप्तान्ते द्विविधा पुनः ।**
चतुर्थ्यस्तु समास्तत्र तत एकोनविंशतिः ॥ ९ ॥

कारिकार्थ—उपरोक्त प्रकार से श्रन्य पूर्वा गोपियों ने दश श्लोक गाए हैं, जिनमें नव श्लोक सगुणों ने गाए हैं श्रौर एक चतुर्थ श्लोक गुणातीता ने गाया है, श्रनन्य पूर्वा ने ९ गाए हैं उनमें ८ सगुणों ने श्रौर एक श्रष्टम श्लोक गुणातीता ने गाया है। इस प्रकार की गणना से विषमता देखने में श्राती है क्योंकि श्रन्य-पूर्व गोपियों ने दस गाए श्रौर श्रनन्य पूर्वा ने नव गाए हैं इस विषमता को मिटाने के लिए ९ वीं कारिका में दूसरा पक्ष कहते हैं।

प्रारम्भ में जो प्रार्थना के (१, २, ३, ५, ६, ७, ८) सात श्लोक कहे हैं श्रौर श्रन्त में श्राए हुए दो श्लोक (१३ व १४) मिलाकर नव श्लोक श्रनन्यपूर्वा श्रर्थात् कुमारिकाश्रों ने गाए हैं, तथा श्रन्य-पूर्वा श्रर्थात् विवाहिताश्रों ने (९, १०, ११, १२, १५ १६, १७, १८, १९) ये नव गाए हैं, शेष चतुर्थ श्लोक का गान दोनों ने किया है, इस प्रकार की गणना से विषमता मिट जाती है ॥९॥

कारिका—**तत्तद्वाक्यानुसारेण तासां भावो निरूप्यते ।**
श्रन्यथाऽनेकता स्त्रोत्रे प्रकारैर्नोपयुज्यते ॥ १० ॥

कारिकार्थ—प्रत्येक गोपी के भाव पृथक् पृथक् हैं, श्रत: जिसके भाव जैसे थे, उसने श्रपने-२ श्रधिकार के श्रनुसार वाक्य कहे हैं, यदि यह प्रकार न हो तो स्तुति में जो 'तव' श्रौर 'कुहक' श्रादि शब्द कहे गए है उनका कोई स्वारस्य नहीं रहता है।

इनके अधिकार के कारण ही, 'कितव' 'कुहक' जैसे शब्दों को भी भगवान् ने अपनी स्तुती समझी और भगवान् को इससे परम संतोष हुआ। उन्होंने भी यह स्तुति भगवान् के आने के (प्रकट हो जाने के) लिए हीं की है। यह स्तुति अन्य सामान्य स्तुतियों के समान नहीं है किन्तु भाव भरित है अतः उपालम्भ[1] आदि देने से; इसमें अनेकता भी आई है, यह प्रकार तो भाव भरित स्तुति में ही होता है, अपने अधिकार के कारण, जैसे शब्द गोपियों ने स्तुति में कहे हैं, वैसे ब्रह्मादि भी नहीं कह सकते हैं ॥१०॥

॥ कारिका सम्पूर्ण ॥

आभास—तत्र प्रथमं राजस्यः काश्चन गोप्य आहुः जयतीति ।

आभासार्थ—गोपियां जब इस प्रकार गुणगान का निश्चय कर गान प्रारम्भ करने लगीं, तब उनमें से, प्रथम श्लोक कोई राजसी गोपियां गाने लगीं—

श्रीगोप्य ऊचुः ।

श्लोक—जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचन्वते ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—वे गोपियां (सात्विक-राजसी) कहने लगी कि आपके जन्म से व्रज का अधिक उत्कर्ष[2] हुआ है क्योंकि (आपके जन्म के कारण) लक्ष्मी भी यहां निरंतर विराजती है (व्रज का ही आश्रय ले रही है) हे प्यारे! आपके लिए ही जिन्होंने प्राण धारण कर रखे हैं वे आपको दिशाओं में (सर्वत्र) ढूंढ रहे हैं, उनको देखो ॥ १ ॥

सुबोधिनी—मङ्गलार्थोऽत्र जयशब्दः । यथा फलं साधयेत्स्तोत्रम्, तथा निर्विघ्नार्थः । अन्यथा क्रियामादौ न प्रयुंज्यात् । त्वदवतारेण व्रजः । सर्वोऽपि कृतार्थः वयमेव परमकृतार्था एवेति । यथा वयमपि कृतार्था भवामः, तथा यत्नः कर्तव्य इति वक्तुं व्रजस्य तवावतारेण सर्वोत्कर्षो जात इत्याहुः । ते जन्मना व्रजः अधिकं जयतीति । सर्वोत्कर्षेण स्थितिः जयः, अधिकजयो वैकुण्ठादप्युत्कर्षः । न हि वैकुण्ठे भगवानेवंविधां लीलां करोति । यद्यपि मथुरायां जन्म जातम्, तथापि तेन जन्मना न मथुरा सर्वोत्कर्षेण स्थिता, किन्तु व्रज एव । ननु भगवज्जन्मनः सर्वोत्कर्षहेतुत्वं न लोके प्रसिद्धम्, अनन्यत्वेनैकत्वात्, अतस्तादृश उत्कर्षहेतुर्वक्तव्यः,

---

१—उलाहना, २—महत्व

यो लोके प्रसिद्ध इति चेत्, तत्राह **श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र** हीति। अत्र व्रज इन्दिरा सर्वदा श्रयते। हीनभावेनाश्रयं कुरुते। वैकुण्ठे तु सैव नियता भार्येति न तस्याः सर्वदा श्रयणं कर्तव्यं भवति। इह तु तादृश्यो वयमनेका इति तस्याः स्वास्थ्याभावात् कदा वा ममावसरो भविष्यतीति निरन्तरं सेवते। अतो लक्ष्मीस्थित्या लोका उत्कर्ष मन्यन्ते। सा पुनर्लक्ष्मीः गोकुलाश्रया जाता। हि युक्तश्चायमर्थः। पतिव्रता हि सा। यत्र पतिः स्वयमन्याधीनतया तिष्ठति, भक्तेषु कृपां ख्यापयितुम्, तदुक्तमुलूखलप्रकरणे, तत्र तद्भार्या सुतरामेवाश्रयत इति किमाश्चर्यम्। तव जन्मना व्रजस्य सर्वोत्कर्षः सर्वजनीनः। अतस्तव रमणे न कापि न्यूनता, न वा लक्ष्म्या मनसि विषादः, अङ्गीकृतत्वात्। अतः कारणादर्थमागतेन त्वया दृश्यतामिदं गोकुलमेकदा द्रष्टव्यम्। वाक्यार्थो वा कर्माग्रे वक्ष्यमाणः। तावकास्त्वयि धृतासवः दिक्षु त्वां विचिन्वत इति दृश्यताम्। एतादृशोऽर्थोऽनुचित इति अनुचितप्रदर्शनेन बोधयन्ति। लोका हि ब्रह्मादयः त्वमवतीर्णो व्रजे वर्तस इति निश्चित्य समायान्ति। व्रजस्थाः पुनरस्मदादयः दिक्षु विचिन्वन्ति। इयं महत्यनौचिती। ननु व्रजस्थानां भक्तिर्नास्ति, अन्यथा विरहे म्रियेरन्, अतः अभक्ता न पश्यन्तीति युक्त इति चेत्, तत्राहुः **त्वयि धृतासव** इति। त्वदर्थमेव धृता असव, प्राणा यैः। यदैव त्वदनुपयोग ज्ञास्यन्ति, तदैव त्यक्ष्यन्तीति भावः। अत एव त्वाँ विचिन्वते, प्राणानाश्वासयितुम्। अल्पविलम्बेऽपि प्राणा गमिष्यन्तीति। अन्यथा व्रजे गच्छेयुः, प्रातस्त्वमेवायास्यतीति अन्वेषणं व्यर्थमेव स्यात्। दिक्षु त्वदीयाः त्वयि सतीति महद्दैन्यम्। अत एकवारं त्वदीयाः पश्येति प्रार्थना। एवमेकया दर्शनं प्रार्थितम्। दयितेति सम्बोधनात् भर्त्रदर्शनेन स्त्रीणां जीवनं न युक्तमिति निरूपितम्। यद्यपि भगवांश्चेत् पश्येत्, तदा न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत्। तथापि दैन्यं दृष्ट्वा आत्मानमपि प्रदर्शयेदिति तथा प्रार्थना ॥१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रथम श्लोक में आदि में क्रिया दी गई है, वह काव्य (छन्द) शास्त्र के सिद्धाँत के अनुकूल नहीं है, तो भी जो दी गई है, उसका रहस्य यह है, कि यह क्रिया 'जय' धातु की है। 'जय' शब्द मङ्गल करने वाला है। इस भाव से गोपियों ने दी है, कि हमारे इस स्तुति गान में कोई विघ्न नहीं होवे तथा जिस फल प्राप्ति (भगवान् के दर्शन) के लिए हम स्तुति करती हैं, वह फल सिद्ध होवे। यह भाव न होता, तो क्रिया पहले नहीं दी जाती। आपके प्राकट्य से समस्त व्रज कृतार्थ हो गया है, किन्तु हम ही अकृतार्थ रह गई हैं, अतः आप कृपा कर वैसा प्रयत्न कीजिए, जिससे हम भी कृतार्थ होवें। आपके अवतार लेने से व्रज का अधिक उत्कर्ष हुआ है, कारण कि, यद्यपि वैकुण्ठ का उत्कर्ष है, किन्तु इसका (व्रज का) उससे (वैकुण्ठ से) भी विशेष उत्कर्ष हम इसलिए कहती है कि भगवान् जैसी लीला यहां करते हैं, वैसी वहां (वैकुण्ठ में) भी नहीं करते है।

यद्यपि भगवान् का प्रकट दर्शन (प्राकट्य मथुरा में हुआ है, तो भी उसका (मथुरा का) सर्व प्रकार से उत्कर्ष न होकर, व्रज का ही अधिक उत्कर्ष हुआ है।

भगवान् का प्रकट होना किसी स्थल की सर्वश्रेष्ठता में हेतु नहीं बन पाता अतः लोक प्रसिद्ध हेतु नहीं है। क्योंकि भगवान् का प्राकट्य अनन्यत्रतया केवल व्रज में ही तो हुआ है और अतएव यह एक ही तो प्राकट्य है ऐसी स्थिति में ("जहां भगवान् का प्राकट्य होता है वह स्थल सर्वश्रेष्ठ है" इस नियम का लोक में अन्यत्र उदाहरण ही नहीं है, जिसकी समानता के तर्क पर व्रज की सर्वश्रेष्ठता का अनु-

मान संभव हो) अतः सर्वश्रेष्ठता को सिद्ध कर पायें, ऐसा कोई अन्य हेतु देना चाहिए जो लोकसिद्ध हो। अतः कहती है कि जो लक्ष्मी वैकुण्ठ में नियत भार्या होकर रहती थी और जिसको किसी का कभी भी वहां आश्रय लेना नहीं पड़ता था वह लक्ष्मी यहां (व्रज में) हीन भाव से अन्यों का आश्रय लेकर रहती है, कारण कि वहां तो एक वही थी, यहां तो वैसी (भार्याएं) हम बहुत ही हैं, जिससे उसके चित्त में सन्तोष नहीं है, क्योंकि मुझे सब अवसर मिलेगा यह चिन्ता उसको दुःख देती रहती है अतः निरन्तर यहां ही रह कर सेवा करती है। लोक में मनुष्य, जिस लक्ष्मी के पास आने के कारण अपनी बड़ाई समझते हैं, उस लक्ष्मी ने गोकुल का आश्रय लिया है। इस अर्थ को योग्य बताने के लिए, अर्थात् लक्ष्मी ने गोकुल को अपना निवास स्थान बना लिया है, इसलिए निश्चय-वाचक 'हि' शब्द श्लोक में दिया है। वहां किसलिए आकर निवास किया है? इस पर कहते हैं, कि वह पतिव्रता है, पतिव्रता वहां ही रहने में अपना सुख, सौभाग्य समझती है जहां उसका पति रहता है। जब पति, भक्तों पर प्रसिद्ध रीति से कृपा करने के लिए, उनके आधीन होकर जहां रहता हैं (यह भक्ताधीनता उलूखल प्रकरण में दिखाई है) वहां उसकी भार्या का निवास अतिशय ही योग्य है, अतः वह यहां आकर रही है इसमें क्या आश्चर्य है? आपके प्राकट्य से व्रज का सब से उत्कर्ष हुआ हैं, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है अतः यदि आप रमण करेंगे तो किसी प्रकार उसमें न्यूनता नहीं है और लक्ष्मीजी के मन में भी खेद न होगा, कारण कि प्रतिव्रता स्त्री पति के किए हुए कार्य से सहमत रहती है। वह जानती है, कि मेरे पति ने व्रज को अङ्गीकार किया है अर्थात् व्रजजन मेरे हैं, इस कारण से हमारे लिए पधारे हुए आपको यह गोकुल किसी समय देखना चाहिए, अर्थात् हमको दर्शन दो।

अथवा आगे कहा जाने वाला वाक्यार्थ "दृश्य तां-देखो" का कर्म है, इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि आप देखो, कि जो आपके भक्त (हम) आपको यहां न देखकर दिशाओं में ढूंढ रहे हैं यह अनुचित है, अतः हमको देखो। यदि भगवान् कह दें कि इसमें अनुचितता कैसे है, तो उसके उत्तर में कहती है अन्य लोक वासी ब्रह्मादिक यह जानकर कि आप गोकुल में विराजते हैं अतः आपके दर्शन के लिए यहां आते हैं और हम आपकी जो यहां रहने वाली हैं, वे दिशाओं में ढूंढती फिरे इससे विशेष अनुचितता क्या होगी? तुम इसको अनुचितता कहती हो, वह सत्य नहीं है, क्योंकि अभक्तों को दर्शन नहीं होते हैं, यदि कहो, कि व्रजस्थ भक्त हैं तो वह भी सत्य नहीं हैं, कारण कि यदि वे भक्त होते तो विरह में उनके प्राण निकल जाते। इसके उत्तर में कहती है कि आपका कहना सत्य हैं कि विरह में प्राण निकल जाने चाहिए, किन्तु ये प्राण आपके मिलने की आशा से धारण कर रखे हैं। जिस समय यह मालूम होगा कि वे प्राण आपके उपयोग में आने वाले नहीं हैं, उस समय वे स्वतः ही छूट जाएगा। प्राणों के आश्वासन के लिए आपको व्रज भक्त ढूँढ रहे हैं। अब यदि आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे तो प्राण चले जाएगे। अन्यथा यदि हम आपको न ढूँढकर व्रज में चली जावें, तो आप प्रातः काल होते ही पधारेंगे ही, और यों तो हमारा यह आपको ढूँढना व्यर्थ होता (परन्तु यह व्यर्थ नहीं है क्योंकि भक्तों के ढूँढने पर आप मिलेंगे ही इसी आशा से हमारे प्राण टिके हुए हैं और हम आपको ढूँढ रही हैं) हम आपकी हैं और आपके होते हुए भी इधर-उधर हम दिशाओं में ढूंढ रही हैं। यों करना गोपियों की महती दीनता है, अतः गोपियों कहती हैं कि आप एक बार, आपकी जो हम हैं, उनको देखो। यह प्रार्थना है। इस प्रकार एक ने दर्शन देने के लिए प्रार्थना की है। श्लोक में 'दयित' इस संबोधन देने से, यह भाव प्रकट

किया है,कि भर्ता का यदि दर्शन न होवे तो पत्नी का जीवन व्यर्थ है। अगर भगवान् हमको देखलें तो उससे किसी प्रकार का पुरुषार्थ सिद्ध न होगा फिर भी, देखेंगे तो हमारी दीनता देख अवश्य हमको भी अपने दर्शन कराएंगे ही। हमारी यही प्रार्थना है ॥ १ ॥

आभास——एवं स्वदैन्यानौचित्यादिनिरूपणेन तस्या राजसत्वं निरूपितम् । तामसी तु वधाभावं प्रार्थयितुमदर्शनस्य वधसाधकत्वमाह शरदुदाशय इति ।

आभासार्थ—प्रथम श्लोक में जिस गोपी ने अपनी दीनता और भगवान् के दर्शन न देने को अनुचित कहा है जिससे मालूम हो जाता है कि वह गोपी सात्त्विक-राजसी थी, अब 'शरदुदाशये' श्लोक में सात्त्विक तामसी गोपी कहती है कि आपका दर्शन न देना यह हमारे वध का साधक[1] है अतः प्रार्थना करती है कि, जैसे हमारा वध न हो वैसे करो अर्थात् दर्शन दो,—

श्लोक—**शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदर श्रीमुषा दृशा ।**
सुरतनाथ ते शुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वध ॥२॥

श्लोकार्थ—हे सुरतनाथ ! शरद ऋतु के समय वाले सरोवर में, सुंदर प्रकार से उत्पन्न कमल के उदर में स्थित शोभा को भी हरण करने वाली अपनी दृष्टि से जो हम आप की कुत्सित[2] दासियां अथवा धर्म दासियां हैं उनको मारते हैं हे वरद ! क्या यह वध नहीं है ॥२॥

सुबोधिनी—शरत्कालीनो योऽयमुदाशयः पुष्करिणी, तत्र साधु सम्यक् प्रकारेण जातं यत्सरसिजं कमलं, तदन्तर्वर्तिनी या श्रीः, तामपि मुष्णातीति तादृग्रूपया दृशा दृष्टया, हे वरद, यो निहन्ति तस्य किं वधो न, अपि तु वधदोषो भवत्येव। येनैव साधनेन परस्य प्राणा गच्छन्ति तत्सम्पादनसाधको घातकः दोषभाग्भवति । अनेन भगवद्दृष्टिः सर्वघातुका निरूपिता । 'आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आच्र्छे' दिति वाक्यात् । तथास्मानपि प्रायेण क्रूरदृष्टया पश्यसि। अन्यथा कथं प्राणबाधा स्यात्। रूपं त्वानन्दमयमिति तद्दृष्टौ तदेव जीवयेत्। अतस्तदभावात् केवलं घातयस्येव। किञ्च, न वयं वधार्हाः, यतो दासिकाः, कुत्सिता दास्यः। न हि स्त्रियः अप्रयोजिकाश्च हन्यन्ते। किञ्च, वयं शुल्कदासिकाः, त्वं च सुरतनाथः। सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन तव सम्बोधनानि यथाधिकारं नियतानि। यथा धर्ममार्गे, हे धर्मपालक, हे ब्रह्मण्य, हे यज्ञेश्वरेत्यादीनि। अर्थे, हे लक्ष्मीपते, सर्वसिद्धिदेत्यादीनि। तथा मोक्षे, हे मुकुन्द, हे योगेश्वर, हे ज्ञाननिधे इत्यादीनि धर्मार्थमोक्षार्थिभिरुच्यन्ते । एवमस्माभिरपि सुरतनाथेत्युच्यते। सुरतं सम्भोगः जगति यावा नस्ति तस्य भवान् नाथः। त्वदाज्ञाव्यतिरेकेण सुरतं जगति न प्रवर्तते। अतो ब्रह्मणा कामेन वा लोके सुरतप्रत्त्यर्थं वयं शुल्करूपा दासिका दत्ताः। शुल्कं मार्गनिर्वाहकं द्रव्यं प्रतिबन्धनिवर्तकम् । सुरतं चेत् भगवत्येव निरुद्धं तिष्ठेत्, तदा लोके रसो न भविष्यतीत्यस्मद्द्वारा त्वतः तल्लोके प्रसृतं भवत्विति वयमागताः। तत् कार्यं दूरत एव स्थितम्, प्रत्युतास्मान्मारयसि। एवं सति सर्वमेव कामशास्त्रं व्यर्थं स्यात्। तृतीयः पुरुषार्थश्च न भवेत् । अतः सर्वथा यदर्थं वयं प्रेषितास्तत्कर्तव्यम्। अथवा। यदा कदाचित्कर्तव्यम्, इदानीं

१—कारण, २—अधम

जीवयितव्या रूपप्राकट्येन । दृशो मारकत्वमुपपादयन्ति श्रीमुषेति । यस्तु चोरो भवति, स घातकोपि भवति । यथा यथा चौर्ये नैपुण्यम्, तथा तथा घातकत्वम् । तदर्थमाहुः **उदरश्रीमुषेति** तत्रापि ये दुर्गजाताः, ते अतिनिपुणाः । तत्रापि जलदुर्गजाः । तत्सरसिजम् । तत्रापि ते दुर्ग एव तिष्ठन्ति । तत्रापि ते साधुजाताः प्रभवः । तत्रापि प्रकाशवति काले शीताद्युपद्रवरहिते । एवं देशकालस्वरूपादिभिः अशक्यचौर्यादपि । पुरुषात् तदुदरवर्तिसर्वस्वनेता अन्तःस्थितप्राणान् साधारणगोपिकादीनां नेष्यतीति किमाश्चर्यम् । चौर्यं हि क्रियते बलिष्ठेनापकीर्त्यभावाय । तदत्र तु न भविस्यतीत्युक्तं **किं वधः न** इति । अथवा । अदृशा अदर्शनेन दर्शनमदत्वा निघ्नतः किं वधो न । सुरतार्थमागताः, तद्गतं दूरे, अन्तरा मरणमुपस्थितम् । तथा सति सुरतस्याप्रकटितत्वात् नाथत्वमपि न स्यात् । न हि योगी अश्वनिर्माणसमर्थोऽप्यश्वपतिरुच्यते । प्रकटयति चेत्, तदा तथा । किञ्च, अस्मद्वधे किमाश्चर्यम् । तवादर्शने लक्ष्मीरपि न तिष्ठेत् । तदाहुः **श्रीमुषेति** । उदरस्थिता श्रीश्चेद् बहिरानीता, तदैव म्रियते, अपुष्टत्वात् आमगर्भवत् । यद्यपि तस्याः जीवने कालद्रव्यदेशवस्तूनि बहून्वेव सन्ति, तथापि त्वददर्शने न जीवति, तथा वयमपि किञ्च । त्वं सर्वेषां वरान् प्रयच्छसि, अस्मांस्तु मारयिष्यसीति महदाश्चर्यम् । वरदाता हि प्रत्यक्षो भवति । अथवा । ते वयममूल्यदासिकाः, धर्मदासिकाः । अतो न हन्तव्याः । एवमनेकविधक्रौर्यभावनया काश्चिद्भगवन्तं उपालभन्ते । ।। २ ।।

व्याख्यार्थ—शरद् ऋतु के समय वाले सरोवर में सुन्दर प्रकार से उत्पन्न कमल के उदर में स्थित शोभा को भी हरण करने वाली आपकी यह दृष्टि है, जिससे आप हमको मारते हो। हे वरद् ! क्या यह वध नहीं है ? वास्तव में, वह वध ही है, इससे वध का दोष लगता ही है । जिस साधन से, दूसरे के प्राण जावें, उस साधन को तैयार करने वाला घातक[1] दोषी होता है, इससे बताया, कि भगवान् की यह दृष्टि सबको मारने वाली है, जैसे कहा भी है, कि 'आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आच्छेत्' भगवान् की दृष्टि, आयु, मन और बल को हरण कर लेती है, वैसे (ही) हमको भी अधिकतर क्रूर दृष्टि से देखते हैं, यदि आनन्द मय दृष्टि से देखते होते, तो प्राण बाधा कैसे होवे ? यह हम मानती हैं, कि आपका रूप आनन्दमय है और दृष्टि भी आनन्दमय ही है, किन्तु उस दृष्टि से देखो तो प्राण बाधा न होवे, प्राण बाधा होने से, हम समझती हैं, कि उस आनन्दमय दृष्टि के होते हुए भी हमको क्रूर दृष्टि से देख कर हमारा तो केवल घात ही करते हैं। एक तो हम स्त्रियों का वध और फिर वह भी निष्प्रयोजन ही ! ऐसा तो कोई भी नहीं करता । और हम वध के योग्य नहीं हैं, कारण कि कुदासियां[2] हैं, जिसमें भी हम मोल ली हुई दासियाँ हैं और आप सुरत नाथ हैं। आप सब प्रकार के पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाले हैं। इसलिए ही आपके सम्बोधन अधिकार के अनुसार नियत किए हुए हैं। जैसे कि धर्म मार्ग में, आपको हे धर्मपालक ! हे ब्रह्मण्य ! हे यज्ञेश्वर ! आदि देते हैं। अर्थ के संदर्भ में–हे लक्ष्मीपति ! हे सर्वसिद्धियों के दाता ! इत्यादि वैसे ही मोक्ष मार्ग में, हे मुकुन्द ! हे योगेश्वर ! हे ज्ञाननिधे ! आदि सम्बोधन देते हैं वैसे (ही) हम भी आपको इस काम मार्ग में, वैसा ही सम्बोधन देना उपयुक्त[3] समझती हैं इसलिए हमने आपको 'सुरतनाथ' कहा है । जगत् में, जितने भी भोग हैं, उनके नाथ आप हैं। आपकी आज्ञा के बिना जगत् में 'सुरत' भोग की

१—मारने वाला, २—अधम दासीयां, ३—योग्य

प्रवृत्ति ही नहीं होवे अतःब्रह्म ने वा कामदेव ने लोक में सुरत की प्रवृत्ति कराने के लिए हम शुल्क रूप दासियाँ आपको दी है । 'शुल्क का तात्पर्य यह है कि स्वरूपानन्दानुभव के मार्ग को प्रशस्त-प्रवृत्त करने में गोपिकाएँ शुल्क हैं । इनके कारण इस मार्ग की सारी रुकावटें दूर हो गई । सु+रत=सुन्दर अलौकिक शोभावहरत यह भगवद् भाव है संभोग नहीं । मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट न हो, यदि हो तो उस रुकावट को मिटाने वाला द्रव्य-शुल्क- है । यदि सुरत भगवान् में ही निरुद्ध[1] रहे तो लोक में रस नहीं होगा, इसलिए वह (सुरत) आपसे हमारे द्वारा[2] लोक में प्रवृत होगा[3] ! अतः हम आई हैं । जिस कार्य के लिए हम आई हैं, वह कार्य करना तो दूर रहा, प्रत्युत[4] हमको आप मारते हैं । यदि यों आप करेंगे, तो समग्र काम शास्त्र व्वर्थ हो जाएगा, जिससे पुरुषार्थों में, जो तीसरा पुरुषार्थ 'काम' को गिना जाता है, वह रहेगा ही नहीं, इस लिए जिस वास्ते हम भेजी गई हैं,वह कार्य सर्वथा करना ही चाहिए । यदि आपकी इच्छा अब करने की नहीं होवे, तो जब भी इच्छा हो तब करना, किन्तु करना आवश्यक है, और वह कार्य जब भी करो, परन्तु हमको जीवित रखने के लिए दर्शन दो, अर्थात् रूप को प्रकट कर, हमको जीवन दान दो ।

आपकी दृष्टि मारने वाली है: उसका 'श्रीमुषा' पद से समर्थन करती हैं, कि वह कमल की शोभा को चुराने वाली हैं । जो चोर होता हैं वह घातक भी होता है । चोर जितना भी चोरी करने में विशेष निपुण होता है वह मारने में भी वैसा ही चतुर होता है, इसलिए कहती है, कि 'उदर श्रीमुषा', जो चोर किले से चोरी कर सकता है, उसे अति चतुर कहते हैं, किन्तु उसमें भी, जल के बीच में बने हुए किले से चोरी कर आवे, वह उस अति चतुर से भी 'चतुरतम' होता है । यहां जल-दुर्ग[5] में रहने वाला कमल है, सूर्य के कारण विकसित भी है । शीतादि उपद्रव न होने से खिले हुए वैसे कमलों के उदर की शोभा को भी आपकी दृष्टि चुरा लेती है जिसका वहां से चुराना अशक्य है, तो भी जब चुरा लेती है, तो साधारण गोपीकादिकों के अन्तः स्थित प्राणों को चुरा लेगी उसमें क्या आश्चर्य है ? जो बलिष्ठ है, वह, (जो चाहिए) यों ही ले सकता है फिर चोरी क्यों करता है, उसके उत्तर में कहती हैं, कि चोरी इसलिए करता है, कि बल पूर्वक लेलूंगा, तो मेरी अपकीर्त्ति होगी । मेरी अपकीर्त्ति न होवे, इसलिए चोरी करता है । यदि आप यों समझते हो, तो वह बात यहां सिद्ध न होगी, क्योंकि यहां तो आप जो वध करते हो, वह तो प्रकट हो जाएगा । अथवा 'अदृशा' दर्शन न देने से भी, यदि हम मरी तो क्या वह वध नहीं है ? वह भी वध है, हम सुरत के लिए आई हैं, वह तो सिद्ध न हुआ, किन्तु मरण प्राप्त हुआ । यदि यों हुआ, तो सुरत का प्रकट होना बन्द हो जाएगा जिससे आपका नाथत्व भी नहीं रहेगा क्योंकि योगी में अश्व बनाने की सामर्थ्य हो किन्तु वह जब तक अश्व बनाकर तैयार नहीं करता है तब तक वह 'अश्वपति' नहीं कहलाएगा । और हमारे वध में तो क्या आश्चर्य है, किन्तु आप प्रकट न होओगे, तो शोभा (लक्ष्मी) भी नहीं रहेगी । इसको कहते हैं 'श्री मुषा' उदर में स्थित श्री[6] यदि बाहर आगई, तो वह उसी समय नष्ट हो जाएगी जैसे अपुष्ट[7] आम गर्भ नाश होता है, यद्यपि उसके (शोभा के) जीवन के लिए काल, द्रव्य, देश, वस्तु आदि अनेक पदार्थ हैं, तो भी आपके दर्शन के बिना वह भी नहीं जीएँगी वैसे ही हम भी नहीं जीएँगी ।

१—रुका हुआ, २—जरिये, ३—फैलेगा, ४—बल्कि, ५—किला
६—शोभा, ७—कच्चा,

यह तो अत्यन्त आश्चर्य है, कि आप सकल जनों को वर देते हैं और हमको मारते हैं, वरदाता तो प्रत्यक्ष होता है, अथवा हम आपकी बिना मोल की दासियाँ हैं तथा धर्म दासियाँ हैं, इसी से हम मारने योग्य नहीं हैं, अतः हमको मत मारो, इस प्रकार, अनेक विध क्रूर भावना से कितनी ही गोपीजन भगवान् को उलाहना देती हैं ॥ २ ॥

रत लौकिक होता है, इसे भोग कहते हैं । यह भोग तो प्रवृत्त ही है सृष्टि के आरम्भ से अद्यावधि। वहां भगवान् के आज्ञा की अपेक्षा नहीं है। सृष्टि के समान वह भी स्वतः चलता रहता है । अतः 'सुरत' का अर्थ है सम्यक् भोग अर्थात् अलौकिक शोभा वह सुन्दर रत=सुरत । यह गोपिकाओं में ही है और भगवदाज्ञा से ही । इसे अलौकिक कहा इसका अर्थ है स्वरूपानन्दरूपता । इस स्वरूपानन्द के दान में समर्थ नाथ केवल आप ही हो । यदि आप दान न करो तो भक्तों के हृदय में आनन्दाविर्भाव न होने से शून्यता ही रह जायेगी ।

कारिका—**अन्तःस्थितो रसः पुष्टो बहिश्चेन्न विनिर्गतः ।**
तदा पुर्णो नैव भवेदिनि वाग्निर्गमस्तथा ॥१॥२॥

कारिकार्थ—अन्तःकरण में रहा हुआ रस पुष्ट हो जाने पर, यदि बाहर न निकले, तो पूर्ण नहीं होता हैं, अर्थात् बाहर आ जाने से ही: पूर्णता को प्राप्त होता हैं, इसी प्रकार गोपीजनों के भीतर जो भाव[1] भर कर पुष्ट हो गया था वह भी वाणी द्वारा जब बाहर निकला तब पूर्ण हुआ है—

आभास—अन्याः पुनः कोमलाः बहुधा त्वया रक्षिता;, इदानीमपि पालयेत्याहुः विषजलाप्ययादिति ।

आभासार्थ—फिर दूसरी सात्विक-सात्विकी गोपीजन इस 'विषजला' श्लोक से कहती हैं, कि आपने हमारी बहुत प्रकार से रक्षा की है, अब भी हमारा पालन करो ।

श्लोक—**विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसात् वर्षमारुताद्वैद्युतानलात् ।**
वृषमयात्मजाद्विश्वतो भयादृशभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥

श्लोकार्थ—हे ऋषभ ! विष के जल पीने से हुई मृत्यु से, कालीय सुदर्शन आदि सर्पों से, तृणावर्त आदि राक्षसों से इंद्र द्वारा की हुई वर्षा तथा वायु से और बिजली तथा अग्नि से, व्योमासुर से एवं सर्व प्रकार के जो भी भय आए उन सबसे, आपने हमारी रक्षा की है (अतः अब भी पालन करो) ॥३॥

---

[1] —रस,

सुबोधिनी—विषजलं कालीयह्लदजलम्, तत्पीत्वा सर्व एव बालकाः गावश्च मृताः, ते पुनर्जीविताः । व्यालाः सर्पाः कालियसुदर्शनादयः, राक्षसाः तृणावर्तादयः, तेषामेकवद्भावः । तस्मादपि रक्षिताः वर्षमारुतादिन्द्रकृतात् । तत्रैव वैद्युतानि अनलो दवाग्निश्च, तयोरप्येकवद्भावः । वृषो योऽयं मयात्मजः व्योमासुरः, तस्मादपि रक्षिताः । न तासां भूतभविष्यद्विषयकपदार्थज्ञाननिर्बन्धोऽस्ति, सर्वज्ञत्वात् । किम्बहुना विश्वत एव भयात् । पालने हेतुः ऋषभेति । भर्ता हि पालयत्येव । अतः सर्वदा पालक इति इदानीमपि पालयेत्यर्थः । ते च मारका बाह्याः, इदानीन्तनस्त्वान्तर इति सर्वथा पालनीयाः ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—'विष जल' कालीय सर्प श्री यमुनाजी के जिस हृद[1] में आकर रहा था, उसका जल विष पूर्ण हो गया था उस विष वाले जल को पीने से, बालक और गाएं मर गई थीं उन सबको आपने जीवित किया । कालीय सुदर्शन आदि सर्प और तृणावर्त आदि राक्षसों से भी बचाया । इन्द्र द्वारा कीं हुई वर्षा, वायु और बिजली से तथा दावाग्नि से रक्षा की, एवं मय के पुत्र व्योमासुर के भय को मिटा दिया । गोपियां सर्वज्ञ हैं इसलिए उनको यह आग्रह नहीं है, कि जो लीलाएं हो गई हैं वा जो होने वाली हैं हम किसको कहें वे तो सारांश में कहती हैं, कि बहुत क्या कहें, आपने तो चारों तरफ के भय से हमारी रक्षा की है । आपने इस प्रकार हमारी रक्षा इसलिए की है, कि आप हमारे 'ऋषभ' भर्ता हैं, भर्ता पालता है ही, अतः (आप) सर्वदा पालक हैं जिससे अब भी पालन करो । पूर्व में तो मारने वाले बाहर के थे, अब तो भीतर के हैं, इसलिए आपको सर्वथा हमारा पालन करना चाहिए ॥ ३ ॥

आभास—अन्याः पुनः भगवतो महानुभावत्वं ज्ञात्वा तस्य स्वरूपं कीर्तयन्ति। ततश्च ज्ञानिभ्यो यथा मोक्षं प्रयच्छतिः तथास्मभ्यमपि अस्मदुचितं मोक्षं दास्यतीति, तं स्तुवन्ति न खल्विति ।

आभासार्थ—दूसरी गोपियां, जो गुणातीता हैं, वे भगवान् का महा प्रभाव जानकर, उनके स्वरूप को गाती हैं, भगवान् जैसे ज्ञानियों को मोक्ष देते हैं, वैसे ही हमको भी हमारे योग्य मोक्ष देंगे इललिए 'न खलु' श्लोक से उनकी स्तूति करती हैं—

श्लोक—**न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।**
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ।।४।।

श्लोकार्थ—हे सखे ! आप कोई यशोदा के पुत्र नहीं हें, आप तो सर्व प्राणियों के अंतर्यामी हैं, जगत् की रक्षा के लिए जब ब्रह्मा ने प्रार्थना की, तब यादवों के कुल मे आप उदय हुए ।।४।।

---

[1] —होज या कुण्ड,

सुबोधिनी—भगवतो नन्दसूनुत्वे सर्वे उपालम्भा युक्ता भवन्ति। तदेव नास्ति इति सर्वमयुक्तमुपालम्भनम्। खल्विति निश्चये। नात्र तिरोहितमिव। गोपिकायाः यशोदाया नन्दनः पुत्र इति न। तथा सति यथा तया स्वाधीनः कृत ज्ञातो वा, तथा गोपिकानामपि भवेत्। गोकुलस्वामिपुत्रत्वात्। तुल्यतायामेव हि विद्यायोनिसम्बन्धः। किञ्च, न केवलं भवान् वैकुण्ठाधिपतिः पुरुषोत्तमः, किन्तु अखिलदेहिनां सर्वेषामेवास्मदादीनामन्तरात्मानं अन्तःकरणं पष्यतीति। यद्यस्मद्धदये तादृशं तापं पश्येत्, तदा प्रसन्न एव भवेत्। अतो नास्मिन्वक्तव्यं किञ्चित्। किञ्च आगतश्चास्मदादीनां परिपालनार्थमेव। यदि जानीयात् एता नश्यन्तीति, तदा परिपालयेत्। रक्षणार्थं च प्रार्थित ऐव, न तु स्वेच्छया समागतः, तदाह **विखनसार्थित** इति। विखना ब्रह्मा, विशेषेण खनतीति सर्वथा वेदार्थविचारकः। अत एव वैखानसं मतं ब्रह्मणा कृतं भगवद्भजनप्रतिपादकम् तेनैव मार्गेव पूजां भगवान् गृह्णातीति वेङ्कटादौ तथैव पूजा। अतः सर्वेषां पूजामपि ग्रहीतुं ब्रह्मणा प्राथितो विश्वगुप्तये इति मुख्यं प्रयोजनम्। एवमन्तरात्मत्वात् सर्वेषामेव जीवानां भवान् सखा। तादृशः लोके सख्यं प्रकटयितुं सात्वतां यादवानां वैष्णवानां वा कुले उदेयिवान्, प्रादुर्भूतः। अत एतदर्थमेवागतः। पूर्वमपि सखा यथेच्छमेव प्रेरयसि, आगतस्य पुनर्विशेषो वक्तव्यः। स चात्मनिवेदनरूपो भवति। अतो वयं किं विज्ञापयामः। यथोचितमेव कर्तव्यमिति भावः ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ--निर्गुण गोपियां कहती है कि यदि भगवान् नन्द के पुत्र होंवे, तो उनको उपालम्भ देने भी योग्य हैं, वह तो है ही नहीं, अतः उपालम्भ देने सब प्रकार से, अयोग्य हैं, यह छिपी हुई बात नहीं है किन्तु निश्चय है, जिसको स्पष्ट शब्दों से श्लोक में कहती हैं, कि 'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्' निश्चय से आप यशोदाजी के पुत्र नहीं है, यदि मान लिया जाए, कि यशोदाजी ने उनको पुत्र मान कर अपने वश कर लिया है, तो गोपियां भी उनको वश कर सकती हैं, क्योंकि गोकुल के स्वामी नन्दजी का पुत्र है। जहां बराबरी होती है, वहां ही विद्या और योनि का सम्बन्ध होता है, और विशेष में आप केवल वैकुण्ठ के अधिपति पुरुषोत्तम नहीं हैं किन्तु सकल देहधारियों के (जिनमें हम भी आ गई हैं) अन्तः करणों के द्रष्टा हैं, अतः जब हमारे भीतर वैसे ताप देखेंगे तब प्रसन्न होंगे, इसलिए हमको इस विषय में कुछ कहना नहीं चाहिए। और पधारे तो हमारे जैसों के परिपालन के लिए ही हैं, जब जानोगे ये नष्ट होती हैं तो बचालोगे। रक्षा के लिए तो प्रार्थना की हुई है। आप अपनी इच्छा से तो पधारे नहीं हैं। सर्वथा वेद का विचार करने वाले ब्रह्माजी ने जगत् की रक्षा के लिए भक्तों की पूजा को ग्रहण करने के लिए पधारने की जब प्रार्थना की, तब आप पधारे हैं जिसमें भी विशेष विश्व की रक्षा के लिए पधारे हैं। ब्रह्माजी ने, भगवान् की पूजा भजन कैसे करना चहिए, यह समझाने के लिए वैखानस मत प्रकट किया है। उस मत के अनुसार की हुई पूजा को भगवान् स्वीकार करते हैं। वेङ्कटादि तीर्थ स्थलों में उसी प्रकार पूजा होती है। भगवान् सबके अन्तरात्मा होने से, सबके सखा हैं। लोक में सख्य प्रकट करने के लिए यादवों के अथवा वैष्णवों के कुल में प्रकट हुए हैं अतः इसलिए ही पधारे हैं। पहले भी सखा है ही, क्यं कि श्रुति कहती है, कि 'सयुजौ सखायौ' साथ रहने वाले दोनों ईश्वर और जीव आपस में मित्र हैं। जैसी इच्छा होती है वैसी (ही) प्रेरणा करते हैं। अब तो आए हैं, तो विशेष ही करना चाहिए, वह विशेषता 'आत्मनिवेदन' रूप होनी चाहिए अतः हम क्या प्रार्थना करें, जैसे योग्य समझो वैसे करना चाहिए यों भाव है ॥ ४ ॥

भगवान् का नन्दगृह में प्रादुर्भाव हुआ है यह पहले बता ही दिया, अतः यहां जो अब गोपिका उसका निषेध कर रही हैं उसका तात्पर्य यह है, कि जैसे मथुरा में वसुदेव से देवकी में आकर प्रादुर्भाव हुआ वैसे यहां नन्द से यशोदा में नहीं आए क्योंकि गर्भ में तो माया थी और तब तक भगवान् हृदय में रहे और प्राकट्य के समय माया से आवृत होकर प्रादुर्भूत हुवे। अतः लोलार्थ केवल नन्द के भी पुत्र हैं एवं केवल यशोदा के भी किन्तु नन्द-यशोदा के पुत्र भगवान् नहीं हैं।

आभास—अन्याः पुनः सात्विकसात्विक्यः राजसप्रधानाभ्यो विशिष्टाः, अप्रार्थितं च भगवान् न दास्यतीति भगवत्करस्य स्वशिरःसम्बन्धं प्रार्थयन्ति विरचिताभयमिति।

आभासार्थ—राजस प्रधान गोपियां से, ये दूसरी सात्विक-सात्विकी अनन्य पूर्वाएं उत्तम हैं, उन्होंने विचार किया, कि प्रार्थना करने के सिवाय भगवान् नहीं देंगे अतः इस (विरचिताभयं) श्लोक में प्रार्थना करती हैं, कि आप अपने कर कमल को हमारे शिर पर धरो—

श्लोक—विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते शरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—हे वृष्णिकुल में श्रेष्ठ! हे कान्त! संसार से डर कर जो आपके शरण आते उनको अभय देने वाला, सकल जीवों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला तथा श्री लक्ष्मीजी का पाणिगहण करने वाला जो आपका हस्त कमल है, वह हमारे शिर पर धरो ॥ ५ ॥

सुबोधिनि—हे स्वामिन्, हृदयं स्फुटति। अतः यथा सर्वाङ्गे आप्यायनं भवति, तथा शिरसि करसरोरुहं धेहि। शीतलं हि कमलं भवति। तत्रापि सरसि जातम्। तत्रापि कर एव सरःस्थानं सरसिजस्थानं च। अत उद्धारणादिना न रसालतापगमः। कान्तेति संबोधनम्। प्रथमतः शिरसि हस्तस्थापनेन स्वाधीनीकरणं द्योतितम्। किञ्च, न केवलं हस्तस्तापमेव दूरीकरोति, किन्तु कामदं च। अभिलषितं कामं प्रयच्छति। ननु भगवान् पुरुषोत्तमः, योगिध्येयः, कथं स्त्रीणां स्पर्शं करिस्यति इति चेत्, तत्राह **श्रीकरग्रह**मिति। श्रियाः करस्य ग्रहो ग्रहणं येन। अतो भगवान् गृहस्थ इति। यत्र लक्ष्म्या हस्तं गृह्णाति, तत्रास्मच्छिरोग्रहणे किं भविष्यतीति भावः। ननु लक्ष्मीर्विवाहितेति विधिवशात् तस्या हस्तग्रहणम्, भवतीनां ग्रहणे को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः **संसृतेर्भयात् शरणमीयुषां विरचिताभय**मिति। यथा विधिर्विवाहे, तथेव शरणागतपालनेऽपि। विवाहापेक्षया शरणागतरक्षा महती स साधारणधर्मः, अयमीश्वरधर्मं इति। नन्वयं निषिद्धः प्रकार इति कथं पालनमिति चेत्, तत्राहुः **हे वृष्णिधुर्ये**ति। वृष्णिर्हि यदुवंशोद्भवः बहुस्त्रीकः बहुवंशकर्ता। तद्वंशेऽपि भवान् धुर्यः श्रेष्ठः। तत्रापि स्त्रियः संसारभयात् समागताः। न हि संसारः स्वभावत एव दुष्टः, किन्त्वसह्यदुःखहेतुरिति। तथा वयमपि महत् दुःखं प्राप्नुम इति दृष्टादृष्टद्वारा भवांस्तन्निवर्तक इति। अनेनैव निर्भयतापि सूचिता। अतः कान्तसम्बोधनात् भवानेव भर्ता। अतः स्त्रीणां व्रतमनुस्मरन् वाञ्छितं कुर्वित्यर्थः ॥५॥

व्याख्यार्थ—हे स्वामी! हमारा हृदय वियोग की उष्णता से फटता है उससे बचाने के लिए आप अपने कर कमल को हमारे शिर पर धरो, जिससे हमारे सर्व अङ्ग में व्याप्त उष्णता मिटकर शीतलता का प्रसार होवे, कारण कि यों ही कमल शीतल होता है, फिर यदि वह सरोवर में उत्पन्न

हुआ होवे तो विशेष शीतल होता है, आपका कर, सरोवर का स्थान हैं और कमल का भी स्थान है अतः सदैव शीतल रहते हैं। अन्य कमलों की सरोवर से बाहर आने के कारण शीतलता कम हो जाती है किन्तु यह कमल तो सदैव कर रूप सरोवर में निरन्तर वास करता है, अतः अति शीतल रहता है। इसका मस्तक को स्पर्श होते ही, हमारे सर्व अङ्ग शीतलता से व्याप्त ही जाएगे, जिससे ताप मिट जाएगा। 'कान्त' यह भगवान् के संबोधन के रूप में कहा है। सिर पर हाथ धरने से पहले शरणागति का स्वीकार होगा और दूसरे फिर यह हस्तकमल केवल ताप ही दूर करता हो यह बात नहीं किन्तु कामनाओं को पूर्ण करने वाला भी है। जो कुछ अभिलषित है उसे देने में समर्थ हैं। भगवान् पुरुषोत्तम, योगियों से ध्येय हैं, वे स्त्रियों का स्पर्श कैसे करेंगे ? इस शङ्का का उत्तर देती हैं, कि योगिध्येय होते हुए भी वे गृहस्थ हैं, उन्होंने जब श्री लक्ष्मीजी का हस्त ग्रहण किया है, तो हमारे शिर पर कर कमल धरने में क्या होगा ? कुछ नहीं होगा। यदि कहो कि लक्ष्मी का हस्त, शास्त्र विधि के अनुसार विवाह में पत्नी का पाणी ग्रहण करने के कारण स्वपत्नी समझ कर किया है। आपका कौनसा सम्बन्ध हैः जो आपके शिर पर हस्त धरें ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि हम संसार के भय से आपके शरण आई हैं, अतः हमको निर्भय करो, जिस प्रकार विवाह में स्त्री के हाथ ग्रहण की शास्त्र विधि है, उसी प्रकार शरण में आए हुए के पालन करने की विधि हैः विवाह की अपेक्षा, शरणागत की रक्षा विशेष है, क्योंकि वह (विवाह-ग्रहस्थधर्म) साधारण धर्म है, किन्तु यह (शरणागत रक्षण) महान् धर्म होने से ईश्वर धर्म है।

शरणागत रक्षण धर्म महान् है, ईश्वर धर्म है, किन्तु जो प्रकार आप कह रही हो, वह प्रकार निषिद्ध है अर्थात् पुरुष होकर स्त्रियों के शिर पर कर धरना निषिद्ध है, वह निषिद्ध धर्म हम कैसे करें ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि आपका यह कहना आपके वंश की मर्यादा के अनुकूल नहीं है। आप वृष्णिधुर्य हो, 'वृष्णि' यदुवंश में (एक) राजा उत्पन्न हुआ है। उसके बहुत स्त्रियां थी और बहुत सन्तानें उसने उत्पन्न की थी। उस वंश में आप उत्पन्न हुए हैं। केवल इतना ही नहीं है किन्तु उस वंश में आप श्रेष्ठ हैं, अतः जो प्रकार हम कहती हैं वह बहुत स्त्री वाले, यदुवंश में श्रेष्ठ आपके लिए निषिद्ध नहीं है। उसमें भी जो स्त्रियां आपकी शरण में आई हैं वे संसार के भय से आई हैं। संसार स्वभाव से ही दुष्ट नहीं है, किन्तु असह्य दुःख के कारण ही। वैसे (ही) हम भी अत्यन्त दुःख पा रही हैं। इस दुःख का कारण दृष्ट है वा अदृष्ट है, उस कारण के मिटाने की शक्ति आप में ही है अतः आपही उसको मिटावोगे। इस प्रकार कहने से, गोपियो ने यह सूचित किया, कि इसलिए हम निर्भय हैं। हे कान्त ! यह संबोधन देकर बताया है, कि आप हमारे भर्ता[1] हैंः अतः आपका स्त्रियों की रक्षा करने में जो व्रत अर्थात् शास्त्रीय नियम[2] है उनको स्मरण करते हुए जो योग्य समझो वह करो ॥५॥

आभास—ततः तामसी किञ्चिद्वैलक्षण्येन धाष्ट्यर्ेन तमेवार्थं प्रार्थयति व्रजजनार्तिहन्निति।

आभासार्थ—पश्चात् तामसी कुछ विलक्षणता से धृष्टता[3] पूर्वक उसी ही अर्थ की प्रार्थना करती हैं अथात् दुःख की निवृत्ति और मनोरथ की पूर्ति की प्रार्थना 'व्रजजनार्त्तिहन्' श्लोक से करती हैं—

---

[1]—पोषण-पालन करने वाले, [2]—विधि, [3]—ढीठाई

श्लोक—**व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।**
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ।।६।।

श्लोकार्थ—हे व्रजजनों के आर्ति को हरण करने वाले ! हे स्त्रिओं के वीर ! हे मंदहास्य से अपने भक्तों के गर्व को तोड़ने वाले ! हे सखे ! अपनी सेविकाओं को भजिए, अपना सुन्दर मुख कमल दिखाइए ।।६।।

सुबोधिनी—हे भगवान्, एता वक्तुं न जानन्ति । मया तु निर्धारितमुच्यते । हे सखे इति अप्रतारणार्थं संबोधनम् । नः अस्मान् भजेति हितोपदेशः ननु कथमेवं धाष्टर्यं निषिद्धं च बोध्यते, तत्राहुः **भवत्किंकरी**रिति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति हि तव प्रतिज्ञा । अतो यथा किंकर्यो वयं भवन्तं भजामः, तथा भवानपि भजतु । किंकरीत्वं तव प्रतिज्ञा च प्रसिद्धेत्याहुः स्मेति । न केवलमस्मद्‌भजने तव सैवैका प्रतिज्ञा हेतुः, किन्तु अन्येऽपि हेतवः सन्ति । प्रथमं अवतारप्रयोजनम् । **व्रजजनार्तिहन्नि**ति । व्रजजनानां आर्तिं हन्तीति तथा । नातः परमन्या आर्तिरस्ति । सामान्यप्रयोजनमेतत् । विशेषप्रयोजनमाहुः **योषितां वीरे**ति । कृष्णो भगवान् । वीरैर्हि शूरा निराकरणीयाः, अन्यगतकामादयः । तत्र मुख्यः कामः । स च बहुविधः । अन्तर्बहिःपदार्थेन पूर्णेन पूरयित्वाश्रयाभावान्निवारणीयः । अत एव लोके दातारः कीर्तिमन्तो भवन्ति वीरेभ्यः । अतो भवान् महावीरः । अन्तःस्थितेनानन्देन अतिदरिद्राणां ब्रह्‌मणापि पूरयितुमशक्यानामिच्छापुरकः । अयं चार्थस्तव सर्वजनीनः । अतः योषितां वीरेति सम्बोधनम् । न हि कृष्णादन्यो जगति कश्चिदेवं सम्बोधनमर्हति, अपूर्णकामत्वात् । अतोऽवतारसामान्यविशेषप्रयोजनाभ्यां च नो भज । ननु सत्यम्, तथापि भवतीनामभिमानदोषनिवृत्त्यर्थं भजनं न क्रियते इति चेत्, तत्राह **निजजनस्मयध्वंसनस्मिते**ति । निजजनाः सेवकाः तेषां स्मयो गर्वः, तस्य ध्वंसनार्थं स्मितं यस्य । निजजनानां स्मयदूरीकरणार्थं परित्यागो नोपायः, किन्तु तदर्थं स्मितमेव कर्तव्यम् । स्मितं हि मन्दहासः । 'हासो जनोन्मादकरी च माया' । तस्या मन्दत्वं भक्तेष्वप्रवर्तनम् । नहि मायामोहव्यतिरेकेण कस्यचित्स्मयो भवति । अत एव हास्यसंकोच एव साधनम् । निजजनानामपि धर्म एव दुष्टः, न तु धर्मी । अन्यथा निजजनत्वमेव न स्यात् । इत्यलौकिकोपायः । लौकिकेऽपि तव हास्येन ता अपि आत्मानं तुल्यं मन्यन्ते । यदा पुनर्हास्ये संकोचः, तदैव तासां गर्वो निवर्तते । किञ्च, अभिमानो हि दोषः । स तावदेव तिष्ठति, यावत्तव स्मितयुक्तमाननं न पश्यति । नहि काचित्तादृशमप्याननं दृष्ट्वा स्वाभिमानं पालयितुं शक्ता । नन्वेतल्लोके अप्रसिद्धं साधनत्वेनेति कथं ज्ञातुं शक्यत इत्याशङ्क्याहुः **जलरुहाननं चारु दर्श**येति । जलरुहं कमलम्, तत्सदृशमाननममृतस्रावि । नह्यमृते पीते कस्यचिद्दोषस्तिष्ठतीति युक्तिः । साधनत्वे चेत्संदेहः, एकवारं प्रदर्श्य पश्येत्यर्थः । किञ्च, अभिमानो हि मनोधर्मः, तव आननं तु चारु मनोहरम् । नहि धर्मिणि हृते धर्मस्तिष्ठति । सख्युः सखिभजनं युक्तमेव ।।६।।

व्याख्यार्थ—वह तामसी व्रज भक्त कहती है, कि हे भगवान् ! ये बोलना नहीं जानती हैं, मैं तो निर्णय किए हुए सिद्धान्त को कहती हूँ । भगवान् को फिर, हे सखे ! सम्बोधन से कहती है, कि जो कुछ मैं कहती हूं, वह आपको ठगने के लिए नहीं कहती हूं, इसका आप विश्वास करो, आप मेरे

सखा हैं, सखा से वंचना[1] नहीं की जाती है। अतः आप हमको भजो, यह आप के लिए हित[2] का उपदेश है। यदि आप कहें कि यह कैसी धृष्टता है कि मैं तुमको भजु ? और स्वामी का सेवक को भजना निषिद्ध है। तो इसके लिए हमारा उत्तर है, कि यह कार्य न निषिद्ध है और न धृष्टतापूर्ण है, कारण, कि हम आपकी दासियां हैं, आपकी प्रतिज्ञा है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' 'जो मेरी शरण जिस भावना से आते हैं मैं भी उनका उसी भाव से भजन करता हूं' और वह प्रतिज्ञा डंके की चोट से सर्वत्र प्रसिद्ध है; अतः जैसे हम दासियां आपका भजन करती हैं, आप भी उसी प्रकार हमें भजो, हम किंकरी[3] हैं और आपकी (यह) प्रतिज्ञा, ये दोनों प्रसिद्ध हैं।

हमारे भजन करने में, आपकी केवल एक वह प्रतिज्ञा, ही हेतु नहीं है किन्तु दूसरे भी कारण हैं, १—हमारे भजन में प्रथम कारण आपका अवतार है, आप ने अवतार इसीलिए ही लिया है कि व्रजजनों की आर्ति[4] दूर हो। हम व्रजजन हैं और हमको जो यह आर्ति है इससे बढ़कर दूसरी कोई आर्त्ति नहीं है। यह प्रयोजन तो सामान्य है।

अब गोपीजन भगवान् के अवतार का विशेष प्रयोजन बताती हैं कि भगवान् योषित्-स्त्रियां के लिए वीर हैं, स्त्रियों को अपने आनन्द का दान करनेवाले सदानन्द एवं ऐश्वर्य आदि छह गुणों से युक्त हैं। वीर पुरुष—दानवीर पुरुष—दूसरों में रहे हुए काम[5] अभिलाषा आदि शूरों को दूर करते हैं (दान वीर अन्न या धन के उन-उन दान द्वारा अभिलाषा पूर्ण करके उसे निवृत्त कर देता है, युद्धवीर गर्व आदि को युद्ध से दूर करता है) काम बहुत प्रबल शूर है, और वह अनेक प्रकार का हैं। यह आनन्द के बारे में हैं अतः स्वरूपानन्द के दान से भीतर-बाहर अब कुछ आनन्द परिपूर्ण हो जाए तब भगवान् की दानवीरता सिद्ध होगी। सामान्य वीरों की अपेक्षा अतएव लोक में दानवीर की ही अधिक कीर्ति होती है। और फिर भगवान् तो महान् दानवीर हैं क्योंकि—जो ब्रह्मा भी नहीं कर सकते हैं वैसो अति दरिद्रों के मुख्य काम की इच्छा को आप ही अपने अन्तः[6] स्थिति आनन्द के दान से पूरण करते हैं इसीलिए आप महावीर हैं। इस बात को जानते ही हैं अतएव 'योषितां वीर' यह संबोधन किया गया है। कृष्ण (आप) के सिवाय किसी दूसरे को लोक में यह 'योषितां वीर' विशेषण नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि अन्य सब अपूर्ण काम हैं। आप एक ही पूर्ण काम हैं, अतः अन्यों की अशक्य कामनाओं की पूर्ति भी आप ही कर सकते हैं, इसीलिए अवतार के साधारण एवं विशेष दोनों प्रयोजन वश हमको भजो ही।

यदि आप कहो, कि तुम्हारा यह कहना सत्य है, किन्तु मैं तुम्हारा भजन इसलिए नहीं करता हूं, कि तुम्हारा अभिमान दोष मिट जाए, इसके उत्तर में, मेरा कहना है, कि हम आपकी सेविकाएँ हैं, अतः अभिमान दोष से उनका त्याग करना, कोई गर्व नाश करने का उपाय नहीं हैं, किन्तु उसका उपाय आपका मन्द हास्य है। आप केवल मन्द हास्य करदो, तो हमारा अभिमान नष्ट हो जावे, कारण कि आपका हास्य जनों में, उन्माद करने वाली 'माया' हैं। उस हास्य रूप माया के कारण ही हम लोगों में गर्व की उत्पत्ति हुई है अतः आप अब उसको मन्द करदो, तो हमारा गर्व नाश हो जावेगा।

---

[1] —ठगाई, [2] —लाभ, [3] —दासियाँ, [4] —दुःख, [5] —कामना, [6] —भीतर.

इसलिए ही आपकी मन्द मुस्कान ही गर्व तोड़ने का साधन[1] है।

आपके जो जन हैं, उनका धर्म ही दुष्ट है, स्वयं वे धर्मी तो दुष्ट नहीं है, यदि वे धर्मी ही दुष्ट हों तो वे निज जन ही न रहेंगे। यह अलौकिक उपाय अपने अहंकार को नाश करने के लिए कहा है।

लौकिक में भी, आपके हास्य[2] से वे (दासियां) भी अपने आप को, आपके समान समझती हैं। अतः जब उस हास्य का संकोच होगा, तब ही उनके गर्व का नाश होगा। मानाकि अभिमान भी दोष है, किन्तु वह तब तक रह सकता है, जब तक आपके मन्द मुस्कान वाले मुख का दर्शन न होगा। कोई भी वैसी नहीं है, जो स्मित वाला मुख देखकर, अभिमान की रक्षा कर सके। यदि आप कहो, कि तुम, इसको जो साधन कहती हो, वह साधन के ढंग से लोक में प्रसिद्ध नहीं है, तो उसको साधन कैसे समझा जाए, इसके उत्तर में कहती हैं, कि आपका मुख, कमल जैसा है, अतः उससे अमृत का स्रवण[3] हो रहा है उसका दर्शन कराओ। उसके दर्शन से, जो स्रवित अमृत का पान होगा, उस पान के अनन्तर. किसी प्रकार का दोष किसीमें भी न रहेगा, यह युक्ति है। यदि आपको, इसके साधन होने में संशय होए तो, एक बार दर्शन कराके अनुभव करलो, कि वह दोष नष्ट हुआ वा नहीं! अभिमान मन का धर्म है और आपका मुखारविन्द सुन्दर है जिससे वह मन का हरण कर लेता है, धर्मी (मन का) हरण हो जाने पर, उसका धर्म (अभिमान) रहेगा नहीं और फिर सखा को अपने सखा का भजन करना योग्य ही तो है ॥ ६ ॥

आभास—राजसी तु तत उत्तमा तमेवार्थं प्रकारान्तरेण प्रार्थयते प्रणतदेहिनामिति।

आभासार्थ—तामसी से राजसी उत्तम हैं, अतः वह उसी ही प्रकार की प्रार्थना अन्य ढंग से 'प्रणत देहिनां' श्लोक में करती है—

श्लोक—प्रणतदेहिनां पापकर्षणं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥

श्लोकार्थ—आपका चरण कमल, जो प्रणाम करने वाले प्राणियों के पापों का नाश करने वाला हैं, जो गौओं के पीछे फिरने वाला है, लक्ष्मी का निवास रूप है और जो कालीय नाग के फणों पर धरा हुआ है, उसको हमारे स्तनों पर रख कर, हमारे काम को शान्त करो ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—ते पदाम्बुजं नः कुचेषु कृणु कृणुष्व। छान्दसो लोपः। स्थापय। तस्य प्रयोजनं कृन्धि हृच्छयमिति। हृदये चौरवत् स्थितं कामं कृन्धि। कुचेष्विति समुदायाभिप्रायेण बहुवचनम्। विरहेण भिन्नान् वा मन्यन्ते। शिरसि हस्तदानेन निकटे समानयनमुक्तम्। ततो भजनेन सम्बन्ध

---

[1] —उपाय, [2] —माया, [3] —बहरहा

उक्तः । अनेन विपरीतरस उच्यते, बंधविशेषो वा तिर्यग्भेदः । एकवचनात् । तावता हि हृदयस्थितः कामो गच्छति । स्त्रीणां समूहे लीलाशयने परितः स्थितानां तथा सम्बन्धो भवतीति वा । ननु कर्कशेषु स्तनेषु कथं कोमलचरणस्थापनमिति चेत्, तत्राहुः **फणिफणार्पित**मिति । नहि कालिय फणात् क्रूरा अस्मत्स्तनाः । तत्र यथा चरणस्थापनं कृत्वा तदन्तर्गतो दोषो दूरीकृतः, एवमत्रापि कर्तव्यः । अम्बुजपदेन च प्रत्यक्षतस्तापहारकत्वम् । ननु तथापि स्त्रीणां वक्षसि चरणस्थापनमयुक्तमिति चेत्, तत्राहुः **श्रीनिकेतन**मिति । लक्ष्म्याः स्थानं तत् । लक्ष्मीः किल तत्र स्पर्शमर्हति,अन्यासु कः संदेह इति । ननु भवत्यो मूढाः, कथं भवतीनां हितं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः **तृणचरानुग**मिति । तृणचरा गावः, तेषामप्यनुगं पश्चाद्गच्छति तद्धितार्थम्, ते किं भगवता प्रेर्यमाणा इति तृणं परित्यज्यामृतं भक्षयन्ति । तेषां तृणमेवामृतम्, तथास्माकमपि काम एवामृतम् । नतावता परमकृपालोः कश्चनार्थः क्षीयते । ननु भवतीनां जितेन्द्रियत्वाद्यभावात् पापमस्ति, तदपगमे पश्चात्पदं स्थापयिष्यामीति चेत्, तत्राहुः **प्रणतदेहिनाँ पापकर्षण**मिति । वयं प्रकर्षेण नता नास्माभिः प्रकारान्तरेण निवर्तयितुं शक्यते, किन्तु तव चरणप्रसादादेव नम्राणां पापं गच्छति तत्रापि देहिनः । प्रकर्षेण नतत्वेन धर्ममार्गादिपरित्याग उक्तः । देहाभिमानस्य विद्यमानत्वात् न ज्ञानमपि । प्रणतानां हि नाप्यधोगतिः । अतस्तव पदमेव तेषां पापनाशकम्, चिन्तितम्, दृष्टम्, स्पृष्टम्, आलिंगितं वा ।। ७ ।।

व्याख्यार्थ—आपके चरण कमल को हमारे स्तनों पर स्थापन करो, कारण कि वह हमारे हृदय में चोर के समान छिप कर बैठे हुए काम को नाश करने वाला है, मूल श्लोक में 'कुचेषु' बहुवचन इसीलिए कहा है, कि न केवल मेरे जो मैं प्रार्थना कर रही हूं, किन्तु जितनी भी हम हैं उन सबके स्तनों पर चरण कमल धरो, जिससे सब के हृदय से काम का नाश हो जाए अथवा विरह वश गोपिकाएं अपने स्तनों को अपना मानने में उद्यत नहीं है (संयोग रस में तो उन स्तनों का भगवदर्थ उपयोग है, किन्तु विप्रयोग रस में भगवदुपयोग कुछ भी नहीं, तो फिर उन्हें अपना भी क्यों माना जाए ? प्रार्थना का आशय यह है, कि हम पर यदि चरणारविन्द धरना नहीं चाहते हो तो मत धरो, परन्तु इन पर, जहां हमें ममत्व नहीं, है (वहां) धरने में क्या आपत्ति है ? अतः उन पर चरण कमल के स्थापन से उनमें रहे काम को दूर करो) शिर पर हस्त कमल धरने की प्रार्थना करने का आशय निकट बुलाने का था । पश्चात् भजन करने की जो प्रार्थना की है, वह सम्बन्ध हो जाने के लिए की है । अब इस श्लोक में, विपरीत रस अथवा तिर्यक् बन्ध का कोई भेद है, जिसकी प्रार्थना की है । एक चरण कमल के स्पर्श करने की प्रार्थना से, अनुमान होता है, कि वैसा कोई बन्ध विशेष होगा, जिसमें स्तनों से एक चरण का स्पर्श होता होगा, जिससे काम की शान्ति होती होगी, अथवा भगवान् जब अनेक स्त्रियों से लीला करते हुए शयन करते होंगे, तब सब स्त्रियां चरण के पास स्थित होने से, चरण का सब के स्तनों से संबन्ध होकर, प्रत्येक के भावानुकूल रस की प्राप्ति होने से काम की शान्ति हो जाती होगी । यों भी आप मत कहना, कि आपके स्तन कठोर हैं उन पर अपना कोमल चरण कैसे धरूं ? आप यह निश्चय जानो, कि कालिय के फणों से, हमारे स्तन कठोर नहीं है, अतः जैसे उसके फणों पर चरण धर, उसके दोष नाश किए हैं, वैसे (ही) हमारे स्तनों को चरण स्पर्श कराके हमारे काम को नाश कीजिए । आपका चरण, कमल है अतः ताप नाशक है, अथवा कमल के समान भी हो, तो भी ताप नाशक ही है । इसलिए, अर्थात् ताप नाश के लिए अवश्य हमारे स्तनों को चरण स्पर्श कराने की कृपा करो । आप का

यह कहना हम कैसे मानें ? क्योंकि स्त्रियों की छाती पर पाद रखना पुरुष के लिए योग्य नहीं है, इसके उत्तर में कहती हैं, कि आप का चरण लक्ष्मीजी का स्थान है अर्थात् लक्ष्मीजी आपके चरणों का स्पर्श करती हैं, उसमें आप अयोग्यता नहीं देखते हैं, तो लक्ष्मी की अंश रूप हमको स्पर्श कराने में क्या अयोग्यता है ? किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है। लक्ष्मी चतुर है, आप मूढ हैं मूढों का हित कैसे किया जाए ? उसके उत्तर में कहती हैं कि गायें मूढ हैं, उनके हित के लिए जैसे उनके पीछे २ जाकर उनका हित करते हैं। वे क्या आपकी प्रेरणा से तृण को छोड़कर अमृत खाती हैं ? उनके लिए जैसे तृण ही अमृत है, वैसे ही हमारे लिए काम ही अमृत है। हमारा अमृत काम है और हम मूढ हैं, जिससे परम कृपालु के किसी भी अर्थ की हानि नहीं होती है। तुम्हारी सब बातें हमने मानी, किन्तु तुम जितेन्द्रिय नहीं हो अतः तुम में पाप रहा हुआ है, वह जब नष्ट होगा, तब मैं चरण धरूंगा, जिसके उत्तर में कहती हैं, कि आप शरण में आए हुए प्राणियों के पापों का नाश करनेवाले हैं, हम तो धर्म मार्ग आदि का त्याग कर, शरण में आकर प्रणाम करती हैं। हमारे पास आपको प्रणाम करने के सिवाय कोई साधन नहीं है, अतः आपके चरणों के प्रसाद से ही, हम नम्रों के पाप नष्ट होते हैं और फिर हम तो देह धारी हैं। प्रणत—अत्याधिक नम्र हैं अर्थात् धर्म मार्ग आदि सभी साधनों के त्याग पूर्वक शरणागत हुई हैं। देहाभिमान के बने रहने से ज्ञान भी तो हममें नहीं है। प्रणत जीवों की अधोगति भी नहीं होती (इस उभयतः पाश में अतः आप जब तक चरण स्पर्श न दें, तब तक पाप नाश नहीं हो सकता है अतः पाप नाश के लिए भी आप का मिलना आवश्यक है क्योंकि आपके चरणारविंद ही चिन्तन, दर्शन, स्पर्श वा आलिंगन से पाप के नाशक होते हैं ।।७।।

आभास—इममेवार्थं ततोऽप्युत्तमा प्रकारान्तरेण प्रार्थयते **मधुरया गिरेति ।**

आभासार्थ—उसी ही आशय वाली प्रार्थना, अन्य प्रकार से, उससे भी उत्तम अर्थात् गुणातीत गोपी 'मधुरया' श्लोक से करती हैं।

श्लोक—**मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमननोज्ञया पुष्करेक्षण ।**
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतोरधरसीधुनाप्याययस्व नः ।। ८ ।।

श्लोकार्थ—हे कमल नयन ! हे वीर ! आपकी सुन्दर वाक्य वाली, ज्ञानियों के मन को आनन्द देने वाली, तथा मधुर वाणी से मोहित हुई हैं, जो आपकी दासी हम, उनको अधरामृत पिलाकर जीवनदान दीजिए ।। ८ ।।

कारिका—**हस्तेन च स्वरूपेण पदा चोपकृतिर्मता ।**
मुखेन चोपकारो हि कर्तव्य इति ता जगुः ।। १ ।।

कारिकार्थ—गोपिओं ने ऊपर के ५, ६, ७ श्लोक में, हस्त, स्वरूप तथा चरण से उपकार की प्रार्थना की थी। इस ८ वें श्लोक में प्रार्थना करती हैं, कि आपके

मुखारविन्द में अधरामृत है, अतः अब उस (मुख) से आपको हमारा उपकार करना चाहिए, इस प्रकार की प्रार्थना करने लगीं ॥ १ ॥

कारिका—**पूर्वोक्तमपि सर्वं हि यावत्स्पष्टं न भाषते ।**
तावत्सरसतां याति न कदाचिदिति स्थितिः ॥ २ ॥

कारिकार्थ—जो कुछ पहले कहा गया है वह रस भरित तब होगा, जब भगवान् मुख से स्पष्ट कहेंगे, जब तक स्पष्ट नहीं कहते हैं, तब तक उनमें सरसता नहीं होती है, यह रस की मर्यादा[1] है ।

तात्पर्य यह है, कि रस शास्त्रानुसार भगवान् को रस उत्पन्न करने के लिए बोलना ही चाहिए इसलिए मुख की (वाणी की) प्रार्थना की है ॥ २ ॥

सुबोधिनी—हे स्वामिन्, मधुरया गिरा मुह्यतीरिमा गोपीराप्याययस्व । मोहो हि मरणपूर्वावस्थारूपः । तासामाप्यायने हेतुः **विधिकरी**रिति । आज्ञाकारिणीः सेवाकारिणीर्वा । असामर्थ्यं तु तव नास्तीत्याहुः **हे वीरे**ति । शौर्यं हि आर्तानामार्तिनिराकरणार्थम् । **इमा** इति प्रदर्शनेन क्षणमात्रविलम्बेन मरिष्यन्ति इति सूचितम् । ननु वाङ्मात्रेण कथं मोहनिवृत्तिरिति चेत्, तत्राहुः **मधुरये**ति । मोहो हि मायारूपः । स भवत्स्वरूपेणैव निवर्तते सच्चिदानन्दरूपेण । तत्र तव वाणी आनन्दरूपेत्याह **मधुरये**ति । मध्वसाधारणो रसः । तद्युक्ता मधुरा । वल्गु मनोहरं वाक्यं यत्र । वाक्यस्य मनोहरत्वं सत्यप्रियप्रतिपादकत्वेन । अतः सद्रूपता निरूपिता । बुधानां मनोज्ञा आह्लादकारिणी । अनेन ज्ञानरूपा निरूपिता । ते हि ज्ञानेनैव रता भवन्ति । मुखे नयने वर्तेते इति तयोरपि व्यापारं कृत्वैव वक्तव्यमित्याहुः **पुष्करेक्षणे**ति । कमलवत् परतापापहारके ईक्षणे यस्य । किञ्च, अधरसीधुना अधरामृतेन च आप्याययस्व । वक्तव्याः द्रष्टव्याः पाययितव्या इति । मूर्छितानां हि मूर्छानिवारणार्थं महामन्त्राः पठ्यन्ते कमलादीनि च शीतलद्रव्याणि स्थाप्यन्ते । सर्वथा असाध्ये अमृतमपि पाय्यते । अतिगोप्यान् वा रसान् पाययन्ति । इयं तु मूर्छा नाल्पेन निवारयितुं शक्येति **वीरे**ति सम्बोधनम् । अनेनान्तिमावस्था प्रदर्शिता । पूर्वाप्रार्थिताश्चार्थाः स्मारकत्वेनाधिकमूर्छाहेतवो जाताः ॥८॥

व्याख्यार्थ—हे स्वामी ! आपकी मधुर वाणी से, मूर्च्छित इन गोपियों को जीवन दान दो । 'मूर्च्छा' मरने की पूर्व[2] अवस्था[3] है, गोपियों को जीवदान आपको देना ही चाहिए कारण, कि वे आपकी आज्ञाकारिणी वा सेवा करने वाली दासियां हैं । यों भी नहीं है कि आपमें जीवन दान देने की सामर्थ्य नहीं है, वह तो आप में है ही क्योंकि आप 'वीर' हैं । वीरों में जो शौर्य[4] है, वह दुःखियों के दुःख को मिटाने के लिए ही होता है । 'इमा' शब्द कहने से यह संकेत किया है, कि यदि आप जीवदान में क्षण मात्र भी विलम्ब करोगे, तो ये मर जायेंगी अतः देर मत करो ।

---

[1] १—नीति वा नियम, [2] २—पहली, [3] ३—दशा, हालत, [4] ४—पराक्रम-वीरता

केवल वाणी से, मोह की निवृत्ति कैसे होगी, यों आप का कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि मोह जो है वह माया का रूप है, अतः आप के सच्चिदानन्द स्वरूप के दर्शन से ही वह चला जाता है, तो आप की आनन्द रूप वाणी से तो वह निवृत्त होगा ही। यों कहकर अब वाणी के गुणों का वर्णन करती हैं, आपकी वाणी असाधारण रस वाली है, तथा सत्य एवं प्रिय का प्रतिपादन करने वाली होने से मनोहर है, जिससे वाणी की सत् रूपता का वर्णन हुआ। ज्ञानियों के मन को आनन्द देने वाली होने से, ज्ञान रूपा है। वे ज्ञानी इसी कारण से वाणी में ही रत[1] हैं। इसके सिवाय आपके मुख पर जो नेत्र हैं वे कमल की भांति अन्य के ताप को मिटाने वाले हैं अतः नेत्रों के व्यापार पूर्वक ही हमें वचनां का अमृत पिलाओ इसलिए 'पुष्करेक्षण' कहा। और अधरामृत से हमें तृप्त भी करो। अर्थात् हमारे सामने आकर हमसे बोलो, हमारी ओर देखो और हमें अधरामृत का पान कराओ। जो मूच्छित हो जाते हैं, उनकी मूर्च्छा दूर करने के लिए (१) बड़े-बड़े मंत्र पढ़े जाते हैं (२) कमल या ऐसे शीतल पदार्थ उन पर रखे जाते हैं (३) असाध्य हो तो अमृत भी पिलाना पड़ता है, ऐसी-ऐसी रसौषधियां जिनका रहस्य चिकित्सक जल्दी किसी को बताते नहीं! ऐसी ही यह गोपियों की भी मूर्च्छा है जो सामान्य या अल्प उपचारों से दूर नहीं होती! इसके लिए तो किसी 'वीर' की अपेक्षा है और वह तो आप (कृष्ण) स्वयं ही हैं (क्योंकि सारे उपाय भगवान् के पास हैं यथा (१) भगवान् का सामने आकर बोलना महामंत्र का काम करेगा (२) गोपीजनों पर दृष्टिपात कमल जैसे शीतलता का काम करेगा उनके लिए (३) अधर रस तो अमृत हे ही, जिसके बीना असाध्य मूर्च्छा दूर नहीं होगी) यह अन्तिम अवस्था है, क्योंकि इससे पहले जो कुछ कहा, उनका भी स्मरण हो आता है, अतः और गहराई मूर्च्छा[2] में आ जाती है ॥८॥

आभास—एवं पदार्थचतुष्टयं संप्रार्थ्य तददाने स्वयमेव हेतुमाशङ्क्य परिहरन्ति तव कथेति।

आभासार्थ—इस प्रकार गोपियाँ ने ऊपर के श्लोक में ४ पदार्थों के देने की प्रार्थना की थी, जब वे भगवान् ने नहीं दिए, तब उन्होंने मन में समझा, कि कदाचित् भगवान् ने हमको अयोग्य (अभक्त) समझ कर नहीं दिए हैं, जिस कारण से, भगवान् की दृष्टि में हम अयोग्य देखने में आई हैं, उस कारण का परिहार कर दिखाना चाहिए, यह विचार कर अनन्यपूर्वा राजस-सात्विकि कुमारिका 'तव कथा' इस श्लोक में सिद्ध करती हैं, कि हम अभक्त नहीं हैं—

श्लोक—**तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।**
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ—आपका कथा रूप पियूष[3] संसार से तप्तों का जीवन है, शब्द के अर्थ के रस को जानने वालों ने उसकी स्तुति की है, पाप नाशक है, श्रवण से हो मङ्गल

---

[1] —रमण करते, [2] —मोह, [3] —अमृत

कारक है, श्री से युक्त है, सर्वत्र फैला हुआ है तथा उदार जन पृथ्वी पर उसका गुण गाते हैं ॥ ९ ॥

सुबोधिनी—ननु सर्वमिदं प्रार्थितं भक्तेभ्यो देयम्, नत्वभक्तेभ्यः। अभक्तत्वं च विरहेऽपि जीवनादवसीयते। भगवांस्तु सर्वनिरपेक्षः। न तस्य भवज्जीवनेन कार्यम्। लक्ष्मीसदृश्यो यस्य कोटिशो दास्यः। 'अतस्त्वयि धृतासव' इत्यप्यसंगतम्। तस्माद्वयर्थमेव प्रार्थनमित्याशङ्क्य परिहरति। नेदं जीवनमस्मत्कृतिसाध्यम्, किन्तु तव कथा विरहेण प्राणानां गमने प्रतिबन्धं करोति। कथायाः पुनः यथा तव सामर्थ्यं तथा। सापि षड्गुणात्मिका मोक्षदायिनी परमानन्दरूपा च, तदाहुः। तव कथा अमृतमिव। अमृतं भगवद्रसात्मकम्। सर्वेषां मरणादिनिवर्तकं यद्रूपं तदमृतशब्देनोच्यते। अतो मोक्षदातृत्वं परमानन्दरूपता च सिद्धा। इदानीं षड्गुणान्निरूपयन्ति **तप्तजीवन**मित्यादिषड्भिः पदैः। तप्ता ये संसारे तेषां जीवनं यस्मात्। अमृतं हि तापनिवर्तकं प्रसिद्धमेव। वैराग्यं च भगवतो ज्ञानं वा सर्वतापनिवर्तकम्। यत्संस्कारयोग्यं तत् ज्ञानेन नश्यति। यदयोग्यं तत्परित्यागेन। अत एव स्मार्तैः संस्काराशक्तैः परित्याग एव बोध्यते। अतो ज्ञानं वैराग्यं च तापनाशके भवतः। आपाततस्तापनाशकत्वं जलादावपि वर्तत इति तदर्थमाह **कविभिरीडित**मिति। कविभिः सर्वैरेव शब्दार्थरसिकैः ज्ञानिभिरीडितं ज्ञानं वैराग्यं वा। आपाततः स्त्रीषु तथात्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहुः **कल्मषापह**मिति। कल्मषं पापमपहन्तीति। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्ये'त्यपि क्वचित्पाठः। अलौकिकसाधकं च वीर्यं महत् तद्धर्मरूपमेव भवति। धर्म्यं च पुनः कल्मषनिवर्तकं भवति। पूर्वोक्तधर्मविशिष्टं च। कथायाश्च तथात्वं सर्वत्र प्रसिद्धम्। प्रायश्चित्तादीनामपि आपाततस्तथात्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **श्रवणमङ्गल**मिति। तद्गोमयादिलेपनात्मकमुपवासात्मकं च स्वरूपतोप्यमङ्गलम्। घोरात्मकत्वात् श्रवणेप्यमङ्गलम्। इदं तूदारचरितम्, श्रुतमेवानन्दं जनयतीत्यनुभवसिद्धत्वात् श्रवणमङ्गलम्। तेन कीर्तितुल्यता निरूपिता। पुत्रजन्मादिश्रवणस्यापि किञ्चिद्धर्मसाम्यात् श्रवणमङ्गलत्वमाशङ्क्य तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **श्रीम**दिति। तद्धनव्ययसाधकम्, न तु धनसाधकम्। कथामृतं तु लक्ष्म्या अप्यपेक्षितत्वात् तद्युक्तं भवति। तेन श्रोतुर्वक्तुश्च तत्सिद्धिः। राज्यप्राप्तिश्रवणं तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **आतत**मिति। आ सर्वतः ततं व्याप्तम्। राज्यादिकं तु परिच्छिन्नम्। भगवत ऐश्वर्यं तु न तथा। अन्तर्बहिः सर्वेषां सर्वथा व्याप्तमिति। कथामृतं च पुनः सर्वलोकान् व्याप्य तिष्ठति, स्वसामर्थ्यं सर्वत्रैव सम्पादयति। तस्मात् स्वरूपतो धर्मतश्च भवत्सदृशी भवत्कथेति तया कृत्वा जीवनम्, न तु स्वतः। अनेनोत्कर्षोऽप्युक्तः। त्वं कदाचिन्मारयस्यपि, कथामृतं तस्मिन्नपि काले जीवयतीति। भगवान् स्वतन्त्रः, कथामृतं परतन्त्रमित्येतावान् विशेषः। त्वं च अवतारे ब्रह्मादिभिः प्रार्थित आगच्छसि, आगतोऽपि तिरोभवसि। कथा तु समागता न तिरोभवति। अत एव तादृशं कथामृतं ये भुवि गृणन्ति, त एव भूरिदाः बह्वर्थदातारः। **य** इति प्रसिद्धाः व्यासादयः। भूरिदाश्च ते अजनाश्च। ते केवलं भगवद्रूपाः। जननादिदोषरहिता वा। परं विरलममृतं केवलं मरणोपस्थितौ तन्निवतकमेवेति, न तु संभूयैकत्र रसजनकम्। रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेषः। अन्यथा कथार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्। परं विरहे मरणनिर्वतकत्वेन तदुपयोग इति भगवत्त्वेन स्तूयते। अतस्तैर्भगवत्कथाकथकैः बहु दत्तमिति तद्वशात् जीवनम्। एतत्सात्त्विक्याः ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ—गोपी प्रथम मन से कल्पित, वह कारण कहती है, यदि भगवान् कहें कि यह सब जो आपने मांगा है, वह तो भक्तों को देना योग्य है, न कि अभक्तों को देना चाहिए, आप विरहावस्था में जीवन धारण कर रही हैं अतः अभक्त होने से, उनके लेने के योग्य नहीं है । आपका जीवन रहे, इसकी भगवान् को कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्व निरपेक्ष[1] हैं । भगवान् के पास लक्ष्मी जैसी अनेक दासियां हैं । अतः आपका यह 'त्वयि धृतासवः' आदि कहना व्यर्थ ही हैं, इसलिए की हुई प्रार्थना निरर्थक ही है । इस प्रकार भगवान् के दृष्टिकोण का निराकरण करती है, कि हम विरह होते हुए भी जीवित हैं जिससे हम अभक्त और अयोग्य हो सकती थी किन्तु यह जीवन धारण करना हमारे प्रयत्न से नहीं है । विरह से हमारे प्राण तो कभी के निकल जाते, किन्तु आपकी कथा उनके जाने में रुकावट है, कारण, कि जैसी आपकी सामर्थ्य है, वैसी ही कथा की भी सामर्थ्य है । वह भी आपके समान ऐश्वर्य आदि छ गुणो वाली, मोक्ष देने वाली और परमानन्द दायिनी है । मूल श्लोक में दिए हुए 'कथामृतं' पद ने इसका समर्थन किया है । 'कथा' अमृत के समान है किञ्च यह अमृत भगवद् रस रूप है, जिससे सदैव के लिए जन्म मरण के चक्कर से जीव छट जाता है अतः मोक्ष दातृत्व तथा परमानन्दरूपता प्राप्ति कराने वाला यह भगवद् रस रूप कथामृत है ।

जैसे आप में ऐश्वर्य आदि छ गुण हैं वैसे कथा में भी है जिसके लिए छ (६) विशेषण पद दिए हैं ।

१—तप्त जीवनं—आप का कथा रूप प्रियूष संसार से तप्त जीवों के ताप को नाश कर उनको जीवन देता है । अमृत, ताप को नाश करता है यह तो प्रसिद्ध ही है । सर्व प्रकार के ताप को भगवान् का वैराग्य अथवा भगवान् का ज्ञान नाश करता है । जो संस्कार करने योग्य है, वह ताप ज्ञान से नाश होता है और जो उसके (संस्कार के) योग्य नहीं है वह परित्याग[2] से नाश होता है । इसलिए ही संस्कार करने में अशक्त स्मार्त परित्याग का ही उपदेश देते हैं । अतः ज्ञान और वैराग्य, ताप के नाश करने वाले हैं ।

ज्ञान और वैराग्य ताप नाश करने वाले हैं इसमें क्या विशेषता हुई ? ताप को तो जल भी नाश करता है यह प्रत्यक्ष प्रसिद्ध ही है । इस पर कहती हैं, कि जल विरह के ताप को नाश करता है यह किसी विद्वान ने नहीं कहा है, किन्तु कथामृत के श्रवण से उत्पन्न, ज्ञान तथा वैराग्य, ताप नाशक है, यह शब्द एवं अर्थ के रस को जानने वाले कवियों ने माना है ।

कवियों ने तो स्त्रियों के लिए भी कहा है, कि वे ताप नाशक हैं, तो फिर कथामृत में कौनसी अधिकता रही ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि स्त्रियों द्वारा लौकिक ताप के नाश का आभास कुछ समय होता भी है, किन्तु कथामृत में न केवल विरह ताप को समूल नष्ट करने की शक्ति है, किञ्च पापों को भी नाश करने का पूर्ण बल है । अतः स्त्रियां कथामृत की समानता कभी भी नहीं कर सकती हैं । यह तीसरा विशेषण (कल्मषापहम्) कथा के गुण (धर्म) का वर्णन करता है। छ गुण—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णा भग इतीरना' इस श्लोक में ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छ गुण कहे हैं । छ गुण बताने वाला श्लोक

---

[1] —सर्व प्रकार की अपेक्षा (आवश्यकताओं) से रहित,

[2] —वैराग्य,

दूसरे प्रकार से भी पढा जाता है जिसमें 'धर्म' के स्थान पर 'वीर्य' शब्द है। धर्म तथा वीर्य शब्द का तात्पर्य एक ही है, कारण कि अलौकिकता की सिद्धि वीर्य[१] से ही होती है अतः वीर्य धर्म का ही रूप है। धर्म पाप का नाश करने वाला है और अलौकिक को भी सिद्ध करता है। कथा पाप नाश करती है तथा अलौकिक भी सिद्ध करती है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है।

प्रायश्चित आदि भी पापों के नाशक हैं, यह भी प्रसिद्ध है तो इसके उत्तर में कहती है, कि कथा तो केवल श्रवण करने से ही मङ्गल करती है। उसमें कुछ भी वैसा नहीं है जिससे घोरता[२] व ग्लानि उत्पन्न होवे, किन्तु प्रायश्चित करने में, जो प्रथम क्रियाऐं की जाती हैं, वे ही घोर तथा ग्लानि वाली हैं। जैसे शरीर पर गोमय का लेप करना, उपवास करना आदि सर्व अमङ्गल जैसे देखने में आते हैं, वे क्रियाए घोर होने से, श्रवण समय भी मन में आनन्द उत्पन्न नहीं करती हैं, यह अनुभव से ही सिद्ध है। अतः कहा है, कि 'श्रवण मङ्गलम्'। इस चतुर्थ विशेषण से कीर्ति रूप गुण का वर्णन कर बताया है, कि भगवान् तथा उनकी कथा का यश गुण समान ही है।

पुत्र जन्म आदि कार्य भी, श्रवण से आनन्द देने वाले हैं। कुछ धर्म की समानता भी है, अतः ये भी कथा जैसे ही हैं। इसका निराकरण करती हुई कहती हैं, कि कथा 'श्रीमत्' लक्ष्मी वाली है। कथा से श्रोता तथा वक्ता को उसकी सिद्धि प्राप्ति होती है और लक्ष्मी भी कथा रूप अमृत की अपेक्षा करती है, उससे (कथा श्रवण से) लक्ष्मी भी कीर्त्ति प्राप्त करना चाहती है।

राज्य प्राप्ति भी, आनन्द और यश वाली है, अर्थात् जिसको राज्य मिलता है, वह प्रसन्न होता है तथा उसका यश भी होता है। इसके उत्तर में कहती हैं, कि 'कथामृत' चारो तरफ फैला हुवा रहता है, अर्थात् सब लोक उसको सुनते तथा पान करते हैं अतः वह भीतर, बाहर अपना सामर्थ्य संपादन करता है। राज्यादि तो परिच्छिन्न[३] हैं, कथामृत अपरिच्छिन्न होने से उसका आनन्द और कीर्ति भी अनन्त है इस विशेषण से बताया है कि जैसे भगवान् का ऐश्वर्य गुण अपरिमित है वैसा ही कथा का ऐश्वर्य गुण भी सीमा रहित है।

इसी कारण से आपकी कथा भी स्वरूप तथा धर्म से आपके समान ही है, उससे ही हमारा जीवन रहा हुआ है, न कि स्वतः[४] रहा है। आप तो कभी मारते भी हो, किन्तु मरने के समय भी, कथामृत मृत्यु से बचा लेता है। जिससे कथामृत आपसे भी विशेष हो सकता है। किञ्च आप स्वतन्त्र हैं, कथामृत पराधीन है यही आप में और कथा में अन्तर है।

ब्रह्मादि प्रार्थना करते हैं तब उनकी प्रार्थना से अवतार लेकर, आप आते हैं आए हुए भी छिप जाते हैं, कथा आई, तो फिर तिरोहित नहीं होती है। अतएव[५] वैसा कथामृत जो प्रसिद्ध व्यासादि महर्षि भूमि पर कहते हैं, वे ही बहुत अर्थ देने वाले हैं। वे व्यासादि, केवल बहुत अर्थ देने-वाले नहीं है किन्तु जन्म रहित भगवद्रूप ही हैं, अथवा उनके जन्म मरण[६] दोष नष्ट हो गए हैं।

१—पराक्रम, २—भयंकरता अर्थात् डर, ३—सीमावाले, ४—अपने आप,
५—इसी कारण से, ६—इस प्रकार अर्थ करने के समय 'भूरिदाजनाः' साथ पढना चाहिए जिसे अजन शब्द बन सके।

कथामृत के स्वरूप तथा भगवत्स्वरूप में क्या भेद है ? उसको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं, जैसे एक वस्तु होते हुए भी जल और बर्फ में भेद है: जल प्रवाही है और बर्फ घन है। इसी प्रकार कथा प्रवाही रस स्वरूप है और आप घन स्वरूप हो। कथा रस, विरह में मरण आने पर उसको निवृत्त कर देता है, किन्तु एक स्थान पर इकट्ठा होकर रस जनक नही है। आप रस पिण्ड होने से एक स्थान पर रसदान दे सकते हैं, यह ही आप और कथा में भेद है। यह भेद नहीं हो तो, केवल कथा के लिए ही प्रयत्न किया जाता किन्तु इसी भेद के कारण आपके मिलने के लिए प्रयत्न किया जाता है। विरह के कारण आने वाली मृत्यु को रोकने के लिए कथा का उपयोग किया जाता है, अतः उसकी स्तुति, भगवत्स्वरूप से की जाती है। इसीलिए कहा जाता है, कि भगवान् की कथा कहने वालों ने बहुत दिया जिससे जीवन टिक रहा है यह राजस-सात्विकी व्रज भक्त का कथन है ॥६॥

गो० वल्लभलालजी लेख में कहते हैं कि—भगवान् की कृपा से जब जीव में भगवत् धर्म रूप ज्ञान प्रवेश करता है तब वह ताप नाश हो जाता है इसी भांति कथा रूप अमृत रस जब कर्ण द्वारा हृदय में जाता है तब भी जीव का ताप नाश हो जाता है,

संसार के विषय के नाश हो जाने के पश्चात् ताप की निवृत्ति होती है, विषय भी दो प्रकार के हैं—एक संस्कार के योग्य, दूसरे संस्कार के योग्य नहीं है। जो संस्कार के योग्य हैं उनसे उत्पन्न ताप ज्ञान से नाश हो जाता है। जब तक भगवत्कृपा से भगवत् ज्ञान का अन्तः करण में प्रवेश नहीं हुवा है, तब तक भगवान् से वह अन्य है, वैसी प्रतीति होती है जिससे उस प्रकार के सम्बन्ध द्वारा जीव को ताप होता है,

जब संस्कारों (सत्कर्म, सत्सङ्ग आदि साधनों) द्वारा भगवत्कृपा से भगवत् ज्ञान प्राप्त होता है, तब सर्वत्र भगवद् दृष्टि से सर्व ब्रह्म रूप है, वैसा निश्चित ज्ञान हो जाने से, अन्य प्रतीति से जो ताप होता था, वह नष्ट हो जाता है।

जो स्त्री आदि वस्तु हैं, जिनके सङ्ग से ज्ञान भी नष्ट हो जाता है वह संस्कार के योग्य नहीं है, अतः उनसे उत्पन्न वैराग्य धारण कर, उनका जब परित्याग किया जाता है, तब ताप नष्ट होता है।

आभास—तामस्याः वचनमाह प्रहसितमिति ।

आभासार्थ—'प्रहसितं' इस श्लोक में राजस-तामसी के वचन कहते हैं।

श्लोक—प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति ही ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे प्रिय ! आपका प्रकृष्ट हंसना, प्रेमसहित देखना ध्यान मङ्गल, वेणुवादन करते हुए चलना, हृदय को स्पर्श करने वाली एकान्त की वाणी, ये सब

हे कपटी ! हमारे मन को क्षोभ[1] करते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—यद्यपि कथया स्थातुं शक्यते, यदि त्वदीयैर्धर्मैः क्षोभो नोत्पादितः स्यात् । यथा भगवति षड्गुणाः सन्ति, तथा षट् व्यामोहका अपि गुणाः सन्ति । अन्यथा कथयैव चरितार्थता स्यात् । तदर्थं भगवान् मायया कुहकलीलामपि करोतीति स्वस्वभावदोषात् भगवति तथा स्फूर्तिरिति । यथा ज्वरितस्य अन्ने विरसताप्रतीतिः । अत आह । तव प्रहसितादिकं नो मनः क्षोभयतीति । प्रकर्षेण हसितम् । स्वभावत एव खिन्ना तां त्यक्त्वा अन्यया सह स्थित इति । ततश्चेत् समागत्य प्रकर्षेण हसति, सुतरां क्षोभं प्राप्नोति । प्रियेति सम्बोधनात् तव सम्बन्धोऽपि स्मृतः क्षोभजनको जायते । अत एव यासां न सम्बन्धः, तासां न क्षोभः । किञ्च, तव यत्प्रेमवीक्षितं प्रेम्णा वीक्षितं तदपि क्षोभयति । स्मृतं सत् । अन्यविषयकं वा विश्वासजनकत्वाद्वा अन्तः कपटरूपमिति क्षोभजनकम् । अन्यथा कार्ये विसंवादो न स्यात् । मनस उत्तोलकं वा । आशाजनकम् । आशया च श्रमः । तव विहरणमपि क्षोभजनकम् विहरणं यच्चलनं वेणुवादनादिना । रसो भगवदीय आकाराद्बहिः स्थाप्यत इति विशेषेण हरणं यस्मादिति त्रिभङ्गललितादिकं भवति । तत्पूर्वमस्माभिर्ध्यातमिति ध्यानं एव मङ्गलं त्वल्लक्षणं शुभफलं प्रयच्छतीति । तदपीदानीं क्षोभजनकम्, तिरोहितत्वात् । न इति सर्वत्र सम्बन्धः । अन्यन्माययापि करोतीति मुख्यतया अत्रोक्तिः । एवं रूपसम्बन्धे चतुष्टयं क्षोभकमुक्तम् । नामसम्बन्धि द्वयमाह **रहसि संविद** इति । **या हृदिस्पृश** इति । रहसि एकान्ते संविदो ज्ञानरूपाः भगवद्वाचः । ज्ञानान्येव वा शास्त्रजनितानि वन्धाद्यभिज्ञारूपाणि । तत्रापि या वाचो हृदिस्पृशः हृदयगामिन्यो भवन्ति । अस्मदनुगुणा एव बन्धसंविदो वा । न तु केवलं नायकानुगुणाः । अत एवमेते सुखहेतवोपि, भवान् वञ्चयति चेत्, तदा क्षोभं जनयन्ति । अयमर्थः सर्वानुभवसिद्ध इत्याह हीति ॥१०॥

व्याख्यार्थ--यद्यपि कथा के सहारे हम जी सकती थी, परन्तु फिर आपके गुण-धर्मों से अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न होता है । जैसे भगवान् में ६ गुण हैं, वैसे ही, ६ मोह उत्पन्न करने वाले भो गुण हैं । अन्यथा कथा से काम चल सकता था । इसलिए भगवान् माया द्वारा कपट लीला भी करते हैं, तो अपने स्वभाव के कारण, भगवान् में भी दोष दिखाई पड़ने लगते हैं । जिस प्रकार, ज्वर पीड़ित[2] को अन्न में कड़वास आदि की प्रतीति होती है, जो वास्तविक अन्न में नहीं है, उसी प्रकार गोपियों को भी अपने दोषों से, भगवान् में दोष की प्रतीति होती है, जो वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो भगवान् में नहीं है । इसी कारण से कहती हैं कि आपका विशेष हँसना आदि हमारे मन में क्षोभ उत्पन्न करता है ।

अपने तामस स्वभाव के कारण खिन्न गोपी को छोड़कर अन्य गोपो के साथ भगवान् का जाना और फिर सामने आकर हँसना, यह सब नितान्त क्षोभ उत्पन्न करता है । हे प्रिये ! इस संबोधन देने का तात्पर्य कहते हैं, कि यह सम्बोधन देकर गोपी बताना चाहती है, कि आपका सम्बन्ध जब याद आता है, तब वह भी क्षोभ उत्पन्न करता है, अतः जिनका आप से सम्बन्ध नहीं है, उनको क्षोभ भी नहीं है ।

---

[1]–घबराहट, [2]–बुखार वाले

आपका प्रेम से देखना जब याद आता है तब वह भी क्षोभ उत्पन्न करता है। अन्य गोपी को आपने प्रेम से देखा उसकी जब स्मृति होती है, तो भी क्षोभ होता है। अथवा आप कपट रूप से (केवल ऊपर ऊपर से) प्रेम दिखाकर विश्वास उत्पन्न कराते हैं, इस बात की स्मृति होती है तब भी क्षोभ होता है यह जो न हो तो फिर कुछ भी विसंवाद कार्य में नहीं होता। अथवा यदि हमारे मन की परीक्षा के लिए आप यों करते हैं, तो भी हमारे मन में क्षोभ होता है, कारण कि हमारा प्रेम नवीन वा बनावटी नहीं है, किन्तु सहज एवं प्रसिद्ध है तो भी उसकी परीक्षा की जाए तो उससे भी क्षोभ उत्पन्न होता है।

आपका प्रेम से देखना आशा को उत्पन्न करता है, आशा से श्रम होता है और श्रम करने से क्षोभ होता है।

आप जब वेणुनाद आदि करते हुए चलते हैं, जिससे आपका स्वरूप त्रिभङ्ग ललित आदि बन जाता है वह विहरण[1] भीतर रहे हुए रस को बाहर निकाल लेता है, अतः वह भी क्षोभ जनक है।

उस त्रिभङ्गललित स्वरूप का जब हम पहले ध्यान करती थी, तब ध्यान करने से हमारा मङ्गल होता था, अर्थात् उससे शुभ फल की प्राप्ति होती थी, किन्तु अब वह भी क्षोभ उन्पन्न करता है, क्योंकि आप तिरोहित हो गए हैं।

मूल श्लोक में, जो 'ते' पद है उसका सम्बन्ध चारों 'प्रहसिनं', 'प्रेम वीक्षिनं' 'विहरणं' और 'ध्यान मङ्गलं' से है, किन्तु मुख्यतया 'विहरणं' और 'ध्यान मङ्गलं पद से है, कारण, कि 'प्रहसितं' तथा 'प्रेमवीक्षितं' ये माया से की हुई लीला में भी होते हैं। ये चार, रूप के सम्बन्ध से क्षोभ जनक होते हैं।

भगवान् के चार रूपों को क्षोभ जनक बताकर दो प्रकार से नाम भी क्षोभ जनक बनते हैं यह 'रहसि संविद' से दिखलाया जा रहा है। एकान्त में ज्ञानरूप भगवान् की वाणी अथवा बन्ध इत्यादि का व्यावहारिक ज्ञान जो शास्त्रीय ज्ञान से उत्पन्न होता है और फिर वह वाणी, जो हृदय में पैठती हो और फिर वह बन्ध आदि का ज्ञान जो हमारे लिए उपयोगी है न कि केवल नायक के लिए। यों ये दोनों सुख देने वाले पदार्थ भी यदि भगवान् ठगाई करें तो क्षोभ ही उत्पन्न करते हैं। यह सभी कोई मान एवं जान सकता है इसलिए 'हि' देकर बात की प्रसिद्धि दिखलाई ।।१०।।

आभास—राजस्या वचनमाह चलसोति।

आभासार्थ—राजस-राजसी के वचन 'चलसि' इस श्लोक में कहते हैं।

---

[1] १—चलना,

श्लोक—चलसि यद्व्रजाच्चारयन्पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—हे नाथ ! आप पशुओं को चराते हुए व्रज से वन में जाते हैं, और वहां कमल से भी कोमल आपके चरण, ककर, घास और दर्भ के कोनों से जब दुःख पाते हैं तब हे कान्त ! हमारा मन दुःखी होता है ॥ ११ ॥

सुबोधिनी—अस्माकं तु स्नेहवशात् त्वद्विषयिकासमीचीनेऽपि खेदबुद्धिर्जायते, तव तु नास्मद्विषयिणी सत्यखेदेपि जायत इति न्यायविरोधमिवाह । यत् व्रजात्पशून् चारयन् चलसि । तत्र चलने नलिनापेक्षयापि सुन्दरं कोमलं, हे नाथ, ते पदं मार्गस्थितैः शिलतृणाङ्कुरैः,शिलाः पाषाणाः तृणानि, अङ्कुराः दर्भादीनाम्, तामसानि सात्विकानि राजसानि । अथवा शिलारूपं यत्तृणं शिल–तृणं कठिनतृणम, तस्याङ्कुरैः अतिपरुषतीक्ष्णैः सीदतीति क्लेशं प्राप्नोतीति,वस्तुतो न प्राप्नोत्येव, तथापि हे कान्त भर्तः मनः कलिलतां गच्छति । **व्रजा**दिति प्रातरारभ्य खेदः सूचितः । चलनादेव च खेदः । अतः प्रथमतस्तदेवोक्तम् । वस्तुतस्तु तव पदे अस्मत्स्थानं विहाय न गच्छतः, तथापि भवानेव तथा चालयति । किञ्च, व्रजस्थिता गावः अरण्ये नीयन्ते, तासां चारणं न मार्गगमनेन भवति । **अतः** अमार्गेऽपि गन्तव्यम् । भूम्यादीनां अनुग्रहार्थं न पादुकाग्रहणम्, पाल्यानां चर्म च न परिधेयम् । अतो नलिनसुन्दरं पदमेव शिलतृणाङ्कुरैः सीदति । जले एव स्थातुं योग्यम्, जलपूर्णे वा । नलिनादपि सुन्दरं चेत्, लक्ष्म्यामस्मासु वा स्थातुं योग्यम् । नाथेति सम्बोधनात् बहव एवात्रार्थे नियोज्याः सन्ति, तथापि स्वयमेव गच्छसीति । वने हि त्रिविधा भूमिः, पर्वतरूपा अरण्यरूपा कच्छरूपा च । तत्र क्रमेणैकमेकत्र भवति, सर्वं वा सर्वत्र । अवसादः अशक्त्या एकत्र स्थितिः । तदा चिन्ता भवति । स्वयं गत्वा स्वहृदये स्थापनीयमिति । मनःकान्तेति च । तेन मनः स्थापितमपि न तिष्ठतीति ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—आपमें हमारा वैसा स्नेह है, जिससे आप स्वस्थ हैं, तो भी मन में यों होता है, कि प्यारे को कष्ट हुआ है और इससे मन दुःखी होता है । किन्तु यदि हम सचमुच दुःखी होवे तो भी आपको उस विषय की चिन्ता नहीं होती है । यह तो अन्याय जैसा है । इस श्लोक में गोपी इस अन्याय का वर्णन करती है–जब पशुओं को चराते हुए व्रज से जाते हैं, तब हे नाथ ! वहां चलते चलते कमल से भी कोमल, आपके चरण, मार्ग में पड़े हुए कठिन तृणों के बहुत तीखे अङ्कुरों से, अथवा कंकर, तृण दर्भ आदि के अङ्कुरों के कोनों से दुःख पाते हैं, इन तीनों में कंकर तामस, तृण सात्विक और दर्भ राजस है, वास्तव में दुःख नहीं पाते हैं, तो भी हमारी वैसी भावना होने से, हे कान्त ! मन दुःख पा रहा है । अब नहीं, किन्तु व्रज से पधारने के समय से, इस प्रकार का विचार करते हुए मन में खेद बुद्धि उत्पन्न हो रही है । चरणों के चलने से ही खेद हुआ है, अतः प्रथम उसका वर्णन किया है । वास्तव में तो आपके चरण, जो हमारे हृदय में रहते हैं, वे इस स्थान को छोड़कर कहीं नहीं जाते हैं, तो भी आप ही उनको इस प्रकार चलाते हैं । आप व्रज में स्थित गौओं को वन में चराने के लिए ले जाते हैं, उनका चराना केवल सीधे रास्ते पर नहीं होता है, किन्तु जहां भी जावें, सर्वत्र साफ रास्ता नहीं होता है, जहां कंकर आदि होते हैं वहां भी जाना पड़ता है । आपको गौ चारण लीला से भूमि पर भी अनुग्रह

करना है, वह तब हो, जब आप नंगे पैर पधारो, जिससे भूमि आपके चरणों को स्पर्श कर, आनन्द प्राप्त करे। इसलिए आप पादुका[१] धारण नहीं करते हो, अथवा चर्म पादुका न पहनने का यह भी कारण है, कि जिनका पालन करते हो उनका चर्म धारण नहीं करना चाहिए, जिससे आपके चरण नंगे हैं और वे चरण कमल से भी कोमल हैं फलतः कंकर, तृण और दर्भों के अंकुरों से दुःख पा रहे हैं। ये चरण कमल, जल में अथवा जल पूर्ण सरोवर में रहने योग्य हैं अथवा कमल से भी सुन्दर हैं तो लक्ष्मीजी में वा हमारे हृदय सरोवर में स्थित होने योग्य हैं। गोपी भगवान् को "नाथ !" संबोधन देकर यह सूचित करती है, कि नाथ के पास काम करने वाले बहुत सेवक होते हैं आपके पास भी बहुत हैं उनको इससे उस कार्य में लगाना चाहिए था, किन्तु यों न कर आप स्वयं (अकेले) ही गौओं को चराने के लिए जा रहे हैं।

हे नाथ। वन की भूमि एक प्रकार की सरल नहीं होती है, किन्तु तीन प्रकार की होती है, १–पर्वत रूप, २–अरण्य रूप और ३–कच्छ रूप है। वहां क्रम से एक में एक होता है जैसे पर्वत रूप भूमि में कंकर, अरण्य रूप भूमि में तृण और कच्छ रूप[२] भूमि में दर्भ आदि होते हैं, अथवा सर्व (कंकर, तृण और दर्भ) सर्वत्र होते हैं। अचानक कहीं भगवान् कंकर व अंकुर आदि के चुभ जाने से चलने में असमर्थ होकर एक स्थान पर ठहर जाते हैं, गोपी कहती हैं कि तब हमको चिन्ता होती है और यों मन में विचार आता है कि स्वयं जाकर अपने हृदय में स्थापना कर लेवें, 'मनः कान्त' में मनः' और 'कान्त' पद को साथ लेकर उसका भाव बताते हैं, गोपी कहती है, कि हमारे मन के आप कान्त हैं, इसलिए आपने मन की रक्षा की, अर्थात् मन को यहां स्थापित अथवा स्थिर कर दिया है, तो भी, मन चाहता है, कि जहां आपको चरणों में पीड़ा होती हैं वहां चलूं ।। ११ ।।

आभास—एवं सप्तविधा अनन्यपूर्वा निरूपिताः। चतस्रश्च ताः। अतः परं क्रमेण षट् ता एव निरूप्यन्ते। तत्र प्रथमं राजसतामस्या वचनम्। ता हि बहिर्गत्वा द्रष्टुमशक्ताः। अतो यदा संध्यायां भगवानायाति तदा भगवन्तं दृष्ट्वा मनसि कामो भवति। ततो बन्धप्रार्थना अधरामृतप्रार्थना च रजसा सत्वेन च भविष्यतः। अनन्यपूर्वाणां तु नित्य एव कामः। दिनपरिक्षये इति।

आभासार्थ–अब तक के ११ श्लोकों में से पहले के चार श्लोक अन्यपूर्वा[३] गोपियों ने कहे हैं, १–पहला श्लोक सात्विक-राजस गोपी ने कहा है, २–दूसरा श्लोक सात्विक-तामसी ने कहा है, ३–तीसरा श्लोक सात्विक-सात्विकी ने कहा है, और ४–चौथा श्लोक गुणातीता ने कहा है, पश्चात् ५ से ११ तक सात श्लोक अनन्य पूर्वाओं[४] ने कहे हैं, ५ वाँ श्लोक सात्विक-सात्विकी ने कहा है, ६ ठा श्लोक सात्विक-तामसी ने कहा है, ७ वां श्लोक सात्विक-राजसी ने कहा है, ८ वां श्लोक निर्गुणा ने कहा है, ९ वाँ श्लोक राजस-सात्विकी ने कहा है, १० वां श्लोक राजस-तामसी ने कहा है, ११ वां श्लोक राजस-राजसी ने कहा है.

---

[१]—पगरखी, [२]—नदी के तट वाली, [३]—विवाहित,
[४]—जिन्होंने विवाह नहीं किया है, कुमारिकाऐं

अब १२ वें श्लोक से क्रम पूर्वक वे अन्य पूर्वा कहती हैं, उनमें से यह श्लोक प्रथम राजस–तामसी ने कहा है, अन्य पूर्वाएं विवाहित हैं अतः व्रज से बाहर वन में जाने में असमर्थ हैं, जिससे सन्ध्या के समय जब भगवान् पधारते हैं तब प्रभु के दर्शन से उनके मन में काम उत्पन्न होता है, पश्चात् रजोगुण के उदय होने से, बन्ध की प्रार्थना करती हैं और सतोगुण के उदय होने से अधरामृत की प्रार्थना करती हैं ।

अनन्य पूर्वा (कुमारिकाओं) को तो रात्रि दिवस भगवान् के पास रहकर रमण होता ही है, जिससे उन को तो नित्य काम है; अतः उनको भगवान् काम दान नहीं करते हैं केवल व्रज में पधारते समय, अन्य पूर्वाओं को काम का दान करते हैं, जिसका वर्णन 'दिन परिक्षये' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! सन्ध्या के समय काले केशों से आच्छादित[1] और गोरज से भरा हुआ मुख कमल पुनः पुनः दिखाकर आप हमारे मन में काम को उत्पन्न करते हैं ॥ १२ ॥

सुबोधिनी—दिनपरिक्षये संध्याकाले । क्षयोक्त्या दिने द्वेष्यत्वं ज्ञाप्यते । रजोगुणस्यायं समयः, कामस्य च कालः । नीलकुन्तला भ्रमरा इव रसबोधकाः । ये हि मुखकमललावण्यामृतं पिबन्ति, ते उद्बोधका भवन्ति । अतस्तैरावृतं वनरुहवत् कमलवत् आननं बिभ्रत्, हे वीर, नः मनसि स्मरं यच्छसि । (सन्ध्यायां नीलवर्णैरावृतत्वे तत्प्रभाव्याप्तत्वं भवतीति तदुक्त्या वनरुहोक्त्या च कुवलयाभत्वं ज्ञाप्यते । तथा च प्रियामुखेन्दुदर्शनेनोत्तरोत्तरमधिकविकासवत्वगितः पूर्वमताद्दशत्वं च ज्ञाप्यते । तेन प्रियस्य सर्वास्वासक्तिः सूचिता भवति । अत एव जलपदं विहाय वनपदमुक्तम् । तेन वने यावस्था तां ज्ञापयितु तान् धर्मान् बिभ्रदेवाननं दर्शयतीति ध्वन्यते ।) धनेन गोभिः रजस्वलम् । मुहुश्च प्रदर्शयन् । मध्येमार्गं गच्छन् उभयतः स्थिता गोपीः पर्यायेण पश्यति । अतो मुहुः प्रदर्शनम् । अग्रे गच्छन् पुनः पुनर्व्यावृत्य पश्यतीति वा तथा । ताद्दग्दर्शनं स्वापेक्षाज्ञापकमिति स्मरजनकम् । निरन्तरदर्शनेन तत्रैव रसास्वादनमिति न स्मरोत्पत्त्यवसरः स्यात् । अतो वारंवारं प्रदर्शनं स्मराग्नेः संधुक्षणमिव भवति । ताद्दशं कृत्वा तत्पूरणार्थं तन्निराकरणार्थं वा युद्धमवश्यं कर्तव्यम् । तत्सूचयन्ति **वीरेति** । धनेन रजस्वलं च **श्रम**सूचकं भवति । श्रमनिवृत्तिश्चास्माभिरेव । **वनरुह**मिति । वन एवैतत्सर्वथा भोग्यम् । अतोऽत्रैव समागमनम् । अनेन गृहे रतिं दास्यामीति पक्षो व्यावर्तितः । **बिभ्र**दिति बलात्कारेण तामेवावस्था स्थापयति । यदि मुखसंमार्जनं कृत्वा समागच्छेत्, तदा प्रसन्नमुखदर्शनात् ज्ञानं वा भवेत् । धनसम्बन्धि रज इति काम एव, न तु क्रोधः । यथा पात्रं धृत्वा तत्स्थितमन्नं भोगार्थं दीयते, तथा मुखं धृत्वा तत्रत्यो रसः कामात्मा मनसि स्थाप्यत इति मुखधारणस्य हेतुत्वम् । अतो भोगार्थं दत्त इति भोगः करणीयः । अयं काम आगन्तुक इति नास्यान्येन पूरणं भवति ।१२।

---

[1] —ढका हुआ,

व्याख्यार्थ--गोपी ने मूल में 'दिनपरिक्षये' शब्द में क्षय शब्द देकर दिन से अपना द्वेष प्रकट किया है। यह सन्ध्या का समय रजोगुण तथा तमोगुण दोनों का मिश्रित समय है। रजोगुण के कारण, यह समय गोदोहन आदि प्रवृत्ति कराता है, जिससे गोपियों का चित्त उसमें व्यग्र[1] रहता है और तमोगुण के कारण काम को उत्पन्न करने वाला है, अतः यह समय रजो-तमोगुण वाला होने से, उस समय की लीला का वर्णन करने वाली गोपी भी 'राजस-तामसी' है।

जैसे भ्रमर, रस को प्रकट करने वाले होते हैं, वैसे ही भगवान् के काले केश भी, रस को जगाने वाले हैं। जो मुख कमल के लावण्यामृत का पान करते हैं, वे रस को जगाने वाले होते हैं। आप भी, रस को जगाने वाले केशों से आवृत मुख कमल को धारण करते हैं. अतः हे वीर! आप हमारे मन में काम को देते हैं अर्थात् हमारे मन में काम को जगाते हैं। श्री प्रभुचरण स्वतन्त्र लेख में आज्ञा करते हैं—गोपी भगवान् के मुखारविन्द की उसी अवस्था का वर्णन करती है, जो अवस्था वन में थी, उस अवस्था में, मुख में दो प्रकार की आभा थी, एक काले केशों से आच्छादित होने से, मुखारविन्द पर उन काले केशों की प्रभा हो रही थी। दूसरी प्रभा रात्रि के कमल जैसी थी, क्योंकि जैसे चन्द्र दर्शन से रात्रि का कमल खिलता है वैसे ही भगवान् का मुख कमल रात्रि के समय प्रियाओं के मुखचन्द्र से अधिकाधिक विकसित होने लगा है। जिससे समझा जाता है, कि पहले वैसा विकसित नहीं था। उससे यह भाव भी प्रकट होता है, कि प्रिय की समस्त गोपियों में आसक्ति थी, अतः जलरूह न कहकर वनरूह कहा है। कमल जल में उत्पन्न होता है यह न कहकर 'वनरूह' कहा उसका आशय यह है कि भगवान् के मुख कमल का विकास वन में गोपियों के मुखचन्द्र के दर्शन से हुआ है।

जब आप पधारते समय मार्ग से जाते हैं, तब मार्ग के दोनों ओर खड़ी हुई, गोपियों को क्रम पूर्वक बार-बार देखते हैं, जिससे वे केशों से आवृत तथा गोरज से भरे हुए मुख कमल का बहुत बार दर्शन करती हैं अथवा भगवान् जाते समय फिर पीछे देखते हैं, जिससे भी बहुत बार दर्शन हो जाते हैं, इस प्रकार जो भगवान् बार बार देखते हैं, जिससे गोपियां जान जाती हैं कि भगवान् को भी हमसे मिलने की इच्छा है, वैसा ज्ञान गोपियों में काम बढ़ाता है, यदि भगवान्, इस प्रकार ठहर ठहर कर मुख दर्शन न करावें और निरन्तर दृष्टि से दृष्टि मिलाते रहते, तो वहां ही रस का आस्वादन[2] हो जाता था, जिससे काम को जगने का अवसर न मिलता था. अतः बार बार देखना कामाग्नि को प्रज्वलित करने में वायु के कार्य के समान है। इस प्रकार कामाग्नि को पूर्ण रीति से पूर्ण प्रज्वलित करने के अनन्तर, उसकी पूर्ति के लिए अथवा उसका निराकरण करने के लिए भगवान् को वैसा युद्ध अवश्य करना पड़ेगा, जिसकी सूचना देने के लिए भगवान् को 'हे वीर' विशेषण देती हैं।

गौओं के रज से मुखारविन्द भरा हुआ होना यह सूचित करता है कि भगवान् ने बहुत श्रम किया है। उस श्रम की निवृत्ति हमसे ही होगी। और फिर आपका श्रीमुख तो 'वनरुह' वन में ही खिलनेवाला कमल है। अतः इसका आस्वाद वन में ही संभव है यही तो कारण है कि अभी भी

१—व्याकुल २—भोग,

आप वन में ही पधारे हो। गोपी जनों का भगवान् के श्रीमुख को 'वनरूह' कहना घर में ही रतिदान के अनपेक्षित आश्वासन का खण्डन है।

'बिभ्रत्' पद से यह ध्वनित होता है, कि भगवान् अपने मुख को दृढात् काले केशों एवं गोरज से ढके रखना चाहते हैं, अन्यथा श्रीमुख धोकर पधारें, तो वैसे प्रसन्नमुख के दर्शन से ज्ञान उत्पन्न हो जाए (अर्थात् काम न उत्पन्न होने पाए और श्रीमुख भक्तिरूप होने के कारण केवल स्नेह रस ही उत्पन्न हो किन्तु) गोधन की रज काम की द्योतक है क्रोध की नहीं। अतः जैसे पात्र में रखकर अन्न भोजन के लिए दिया जाता है वैसे ही श्रीमुख में रहा हुआ रस काम आप मन में भर रहे हो। और इसका प्रयोजन तो भोग ही है सो वह करना ही चाहिए।

यह हमारा कामभाव आपका दिया हुआ है सो आपसे ही इसकी पूर्ति सभव है अतः आपके भोग बिना यह किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं होता ॥१२॥

आभास—तत उत्तमा अनन्यपूर्वावत्स्तनयोश्चरणधारणं प्रार्थयन्ति प्रणतेति।

आभासार्थ—राजस-तामसी गोपीजन के कहने के अनन्तर राजस-राजसी अन्यपूर्वा गोपी भी भगवान् को उसी प्रकार 'प्रणत कामदं' श्लोक से अपने वक्षस्थल पर चरणारविन्द को पधराने के लिए प्रार्थना करती है, जैसे कि 'प्रणत देहिनां' श्लोक में अनन्य पूर्वा कुमारिका ने प्रार्थना की थी—

श्लोक—**प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।**
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—हे रमण! हे मन की पीड़ा को मिटाने वाले, ब्रह्माजी से पूजित, पृथ्वी के मण्डन[1] शरणागतों के मनोरथों को पूर्ण करने वाला, आपदा में ध्यान करने योग्य, कल्याण रूप जो आपका चरण कमल है, उसको हमारे स्तनों पर पधराओ ॥ १३ ॥

सुबोधिनी—अत एव पौनरुक्त्यम्। परं पूर्वापेक्षयात्र चरणमाहात्म्यमधिकम्। गुणाधायकमेतत्। पूर्वं तु दोषनिवर्तकम्। हे रमण रतिकर्तः। नः स्तनेषु चरणपङ्कजमर्पय। प्रयोजनमाहुः **आधिहन्** इति। **आर्तिहन्** इति वा। हृदहतापः चिन्ता च निवारणीया। दृष्टोपकारेणैव तापो गमिष्यति। अस्माभिर्हृदये स्थापितं न बहिः समायाति। अतस्त्वया बहिः स्थापनीयम्। चरणपङ्कजस्यापि भगवत इव षड्गुणानाह। तत्र प्रथममैश्वर्यम् **प्रणतकामदमिति**। प्रकर्षेण ये नता अनन्यशरणाः तेषां कामदमभिलषितार्थदातृ। ईश्वर एव तथाविधो भवति। तत्रत्यः कामः

---

[1] १—अलंकार, जेवर

स्तब्धर्ग्रहीतुं न शक्यत इति प्रणतत्वमुक्तम्। पद्मजार्चितमिति। धर्मरूपता निरूपिता। ब्रह्मप्रार्थनयैवात्रागतमिति। कीर्तिरूपतामाह **धरणिमण्डनमिति** धरण्या मण्डनमलङ्करणरूपं श्रीरूपं वा। आपदि ध्येयं श्रीरूपं कीर्तिरूपं वा। पङ्कजसाम्यात् स्वरूपोत्कर्ष उक्तः। शन्तम कल्याणतमम्। ज्ञानरूपम्। आर्तिहन्निति सम्बोधनात् ते चरणपङ्कजमिति सम्बन्धानुरूपणाद् वैराग्ययुक्तं च। रमणेतीष्टप्रापकः। आर्तिहन्नित्यनिष्टनिवारकः अथवा। यल्लोके पञ्चविधमुपकारं करोति, तदस्मास्वेकमेव करोत्विति प्रार्थ्यते। प्रणतासु कामं ददाति। तत्पूर्वमुक्तं 'मनसि नः स्मरं वीर यच्छसी'ति। प्रकर्षेण नम्रेषु वा कामं द्यति खण्डयति। पद्मजेन पद्मजया वा अर्चितम्। ऐश्वर्यार्थं कामार्थं वा पद्मजैः अर्चितम्। तत्तुल्यं वा। अन्यथा तानि चरणपङ्कजजन्म कथं प्राप्नुयुः धरण्यपि स्त्री अनलङ्कृता न भुज्यत इति तस्यां पदस्थापनम्। भगवदपेक्षयापि चरणो महान्। आपदि ध्यानमात्रेणैवापदं दूरीकरोतीति। यथैतेषां सर्वोपकारकर्तृं, तथास्माकमपि करोत्विति प्रार्थना। अनेन सर्वं एव सुरतबन्धा आक्षिप्ताः ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—७ वें श्लोक में और इस श्लोक में चरण कमल को स्तनों पर धराने की प्रार्थना की है, फिर भी इस प्रार्थना में पुनरुक्ति[1] दोष नहीं है, कारण कि पहले की अपेक्षा यहां चरण का माहात्म्य अधिक है, पहले दोष मिटाने वाला था और यहां गुणों को देने वाला है।

हे रमण! हे रति का दान करने वाले! हमारे स्तनों पर चरण कमल को पधराओ, क्योंकि वह हृदय के ताप एवं चिन्ता को मिटाने वाला है। वे दोनों आपको मिटाने चाहिए, आपका चरण, कमल है तथा कमल ताप को मिटाता ही है, यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध यह उपकार* आप करेंगे तो हमारा ताप नाश हो जाएगा। यदि आप कहो, कि हमारे चरण तो आपके पास है, तो उसका उत्तर देती है, कि हमारे पास है, किन्तु हृदय के भीतर हैं, वे बाहर नहीं आ सकते हैं जो ताप को नाश करें, अतः आप अब चरणों को बाहर छाती पर पधराओ, तो ताप मिटे। जैसे आप मे ऐश्वर्य आदि छः गुण हैं वैसे ही आपके चरण भी छः गुण वाले है, उनका स्पष्टीकरण करती है।

१—ऐश्वर्य गुण बताता हैं, 'प्रणत कामदं' पद क्योंकि शरणागतों के अभिलषित अर्थों का देने वाला है। शरणागतों की कामनाओं को ईश्वर ही पूर्ण करते हैं, ईश्वर के पास दान के लिए जो काम रहता है, वह अभिमानी को भगवान् नहीं देते हैं, इसलिए कहा है, कि चरण कमल भी प्रणतों को काम देने वाला है, अतः चरण कमल में भी प्रभु के समान 'ऐश्वर्य' गुण है।

२—वीर्य (धर्म) गुण बताता है—'पद्मजार्चितं' पद क्योंकि भगवान् के चरण की पूजा, ब्रह्माजी धर्म भावना से करते हैं, उनकी प्रार्थना से ही यहां पधारे हैं।

३—'यश' गुण बताता है 'धरणि मण्डन' पद क्योंकि भगवान् का चरण कमल पृथ्वी का आभूषण है, जिससे कीर्ति गुण दिखाया है।

---

* स्तनों पर चरण कमल का पधराना, जो शरण नहीं आए हैं

---

[1] —दोबारा वही बात कहना

४—'श्री' गुण* बताता है 'ध्येय मा पदि' पद क्योंकि आपदा में ध्यान करने योग्य है, जिस ध्यान करने से, आपदा निवृत्त होती है 'श्री की प्राप्ति होती है अतः श्री गुण है।

५—'ज्ञान' गुण बताता है 'शान्तम' पद क्योंकि चरण कमल भी भगवान् के समान कल्याण रूप है, अतः उसमें ज्ञान गुण है।

६—'वैराग्य' गुण बताता है, 'आर्त्तिहन्' पद क्योंकि इसका 'ते चरण पङ्कज' पद के साथ सम्बन्ध दिखाया है, जिससे यह दिखाया है, कि भगवान् से संबन्ध होने से ही 'चरण कमल' में वैराग्य है।

भगवान् को 'रमण' विशेषण देकर यह बताया है, कि वे इष्ट का दान करने वाले हैं, और 'आर्त्तिहन्' विशेषण से बताया है, कि वे अनिष्ट का नाश करने वाले हैं अतः उनका ही आश्रय करना चाहिए। अथवा लोक में आपके चरण पांच (पांच प्रकार के उपकार—१-लौकिक कामना का नाश, २—ऐश्वर्य का दान, ३—शरणागत की इच्छा पूर्ण करना, ४—शोभा करना, ५—दुःख मिटाना) प्रकार के उपकार करते हैं, किन्तु हमारा एक ही उपकार (आर्त्ति-हृदय के ताप को मिटाने का उपकार।) करे, इस प्रकार की प्रार्थना भगवान् से की है।

शरण आई हुई दासियों को आप काम का दान करते हैं यह १२ वें श्लोक में 'मनसि न स्मरं वीर यच्छसि' पंक्ति' से पहले ही कहा है, जिससे भोग की प्रार्थना तो हो गई है अतः इस श्लोक में 'प्रणत कामदं' पद का अर्थ अन्य प्रकार से करते हैं। आपका चरण कमल, जो अत्यन्त नम्र दीन भक्त है, उनके काम को नाश करता है, वह, ऐश्वर्य के लिए ब्रह्माजी से पूजित है और काम के लिए लक्ष्मीजी से पूजित है, अथवा 'पद्मजा' पद का अर्थ 'नख' भी है उनसे भी भगवान् का चरण कमल सेवित है, वा, वे नख अन्यों के नखों के समान पृथक् होने वाले नहीं हैं क्योंकि वे भी भगवान् के समान सच्चिदानन्द रूप हैं, यदि वे सच्चिदानन्द रूप नहीं होते, तो उनका जन्म भगवान् के चरण कमल से भी न होता। धरणी[1] स्त्री है, स्त्री, भोग योग्य तब होती है जब अलङ्कार धारण करती है, अतः उसको अलंकृत करने के लिए भगवान् ने उस पर अपना चरण धरा है, जिससे भगवान् का चरण पृथ्वी का अलङ्कार है।

भगवान् की अपेक्षा उनका चरण महान् है, क्योंकि आपदा में केवल ध्यान करने से उसको हटाता है। जैसे आपका चरण, शरणागत, ब्रह्मा, लक्ष्मी, पृथ्वी और ध्यान करने वाले इन समस्तों का उपकार करने वाला है, वैसे ही हमारे हृदय का ताप दूर कर, हमारा भी उपकार करे। गोपी कहती है कि यह हमारी प्रार्थना है, इस प्रकार के कथन से सुरत के सर्व बन्ध कहे गए हैं ।१३

आभास—तदनन्तरं तत उत्तमाः प्रार्थयन्ते सुरतेति।

---

* आचार्य श्री कहते हैं, कि इन दोनों 'धरणिमण्डनं' और 'ध्येयमापदि' से एक आशय लो, धरणिमण्डनं' से कीर्ति लो 'ध्येयमापदि' से श्री लो।

---

[1] —पृथ्वी

आभासार्थ—इसके पश्चात् उससे उत्तम राजस-सात्विकी गोपियां 'सुरत' इस श्लोक से प्रार्थना करती हैं—

श्लोक—**सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।**
इनररागविस्मारणं नृणां वितर बोर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! सुरत[1] को बढ़ाने वाला, शोक को मिटानेवाला, नाद पूर्ण बंसी से चुम्बित, अन्य प्रकार के रागों को भुलाने वाला, आपका अधरामृत है, वह हमको दान करो ॥१४॥

सुबोधिनी—अधरामृतं वितरेति । अत्राप्यधरामृतं गुणाधायकम् । एतस्य चतुर्गुणत्वमेव विवक्षितम् । ज्ञानवैराग्ययोरत्रानुपयोगात् । तस्यैश्वर्यमाह **सुरतवर्धन**मिति । गोपिकासु परिच्छिन्नः कामः अपरिच्छिन्नेन सह संयोगे क्लिष्टो भवति । यथा रसाः क्षुदुद्बोधका भवन्ति, तथायं रसः कामोद्बोधकः किञ्च, न केवलमयं काममेव पोषयति, किन्तु सर्वनिवान्तःकरणदोषान्निवारयति । अतः शोकनाशकत्वं ज्ञानवैराग्यरूपता च निरूपिता । ऐश्वर्यधर्मरूपता च । यशोरूपतामाह । स्वरितो नादयुक्तो यो वेणुः, तेन सुष्ठु चुम्बितमिति । यशो हि नादज्ञैः कीर्त्यते । वेणुश्च परमभक्त इति तेनापि चुम्बितमेव । न तु पीतम् । **इतररागविस्मारण**मिति श्रियो रूपम् । सा हि सर्वं विस्मारयतीति । स्वतः पुरुषार्थत्वेन प्रमेयबलमुक्तम् । पूर्वेण प्रमाणबलम् । शोकनाशनमिती फलबलम् । सुरतवर्धनमिति साधनबलम् । एवं चतुर्विधपुरुषार्थप्रदं स्वतः पुरुषार्थरूपम् । नृणामस्माकमधिकारिणां दुर्लभपुरुषार्थानां वा । यद्यपीदं देयं न भवति, तथापि वितरणगुणेन दातुं शक्यत इति वितरेत्युक्तम् । वीरेति सम्बोधनात् शौर्यं नान्यथा संभवतीति निरूपितम् ।१४।

व्याख्यार्थ—हे वीर, अधरामृत का दान दो । यह अधरामृत, जिसकी हम याचना कर रही हैं, वह गुण करने वाला है । आगे जो मांगा गया था, वह दोष दूर करनेवाला था, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है । इस अधरामृत में चार गुण हैं, क्योंकि यहां ज्ञान तथा वैराग्य का उपयोग[2] नहीं है । अब 'सुरत वर्धन' पद से ऐश्वर्य गुण सिद्ध करते हैं। यह आप (भगवान्) का अधरामृत 'सुरत' को बढ़ानेवाला है, गोपियों में जो काम है वह परिच्छिन्न[3] है और भगवान् में अपरिच्छिन्न[4] है अतः वह संयोग[5] के समय क्लिष्ट[6] होता है । अतः जैसे आयुर्वेद विद्या के अनुसार, रस औषधि भूख बढाती है, वैसे ही यह अधरामृत, गोपियों के काम की परिच्छिन्नता को मिटाकर, उसको असीम बना देगा, जिससे संयोग के समय में होनेवाली क्लिष्टता मिट जाएगी । अधरामृत का यह गुण, ऐश्वर्य प्रकट करता है, किञ्च वह न केवल काम को ही बढाने वाला है किन्तु सर्व दोषों को भी मिटाने वाला है ।

१—अलौकिक काम, २—आवश्यकता वा काम, ३—हदवाला, ४—अनन्त, ५—मिलाप, ६—तकलीफ वाला ।

'शोक नाशनं' पद से धर्म गुण सिद्ध करते हैं। यह अधरामृत, शोक को नाश करता है, जिससे ज्ञान और वैराग्य भी बता दिए. क्योंकि ज्ञान और वैराग्य से जो शोक नाश होता है, वह इससे हो जाता है, इसलिए वह धर्म रूप है। 'स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्' पद से कीर्ति गुण सिद्ध करते हैं। नादयुक्त वेणु ने उसका (अधरामृत का) केवल सुष्ठु चुम्बन किया है, पान नहीं। लोक में यश फैलाने वाले गायक ही होते हैं, वेणु परम भक्त है, इसलिए उसने भी चुम्बन किया है और गान द्वारा कीर्त्ति बढ़ाई है।

'इतर राग विस्मारणं' पद से 'श्री' गुण सिद्ध करते हैं, जैसे 'श्री' अन्य सर्व पदार्थों को भुला देती है, वैसे ही यह अधरामृत सब रागों* को भुला देता है, जिससे इसमें 'श्री' गुण का निश्चय होता है।

भगवान् का अधरामृत स्वयं पुरुषार्थ रूप होने से चतुर्विध पुरुषार्थों को देने वाला है।

स्वतः पुरुषार्थ रूप होने से अधरामृत में (प्रमेय) बल है। 'स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्' पद से बताया है, कि उसमें (अधरामृत में) प्रमाण बल है। 'शोकनाशनं' पद से सिद्ध किया है, कि उसमें फल बल भी है तथा 'सुरत वर्धनं' पद से जताया है, कि उसमें साधन बल भी है। इस प्रकार प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल चारों ही जिसमें हैं, उसकी प्राप्ति से सर्व प्रकार के मनोरथ स्वयं सिद्ध होंगे। अतः हम प्रार्थना करती हैं, कि, यद्यपि हम अनधिकारिणियां हैं और ये पुरुषार्थ दुर्लभ हैं—देने जैसे नहीं हैं—तो भी हमारी प्रार्थना स्वीकार कर उसका दान करो, कारण कि आप बांट रहे हैं अतः इसे बांटने के गुण से, हमको भी दे सकते हैं। इसलिए श्लोक में 'वितर' पद दिया है, जिसका भावार्थ है बांट दो, और आप वीर हैं बांट देने में ही वीरता है, जो नहीं बांटोगे तो शूर वीरता न रहेगी ॥१४॥

आभास—एवं त्रिविधा निरूप्य, पुनस्तामस्यः त्रिविधा निरूप्यन्ते। देवनिन्दिकाः सात्त्विकतामस्यः। भगवन्निन्दिकाः तामसतामस्यः। स्वनिन्दिका राजसतामस्य इति। **अटती**ति।

आभासार्थ—१२वां १३वां तथा १४वां श्लोक, राजसी गोपियों के तीन प्रकार के वचन कहे, अब तामसी गोपियां भी सात्त्विक, तामस और राजस हैं उनके वचन १५वें, १६वें और १७वें श्लोक में कहते हैं अब 'अटति' श्लोक में तामस-सात्विक गोपियों के वचन कहते हैं—

श्लोक—**अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटियुंगायते त्वामपश्यताम्।**
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—जब आप, दिन के समय, वन में पधारते हैं, तब आपके दर्शन बिना, हमारा एक क्षण युग के समान बीतता है, फिर जब आप लौटते हैं, तब आपके

---

* लौकिक पुत्रादि में जो स्नेह आदि हैं उनको

घूंघर वाले केशों से युक्त श्रीमुख का दर्शन करती हैं, उस समय प्रतीत[1] होता है कि आँखो में पलक बनाने वाले ब्रह्मा जड़ हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—भवान् अह्नि काननं यदटति, तत्र दिवसे त्रुटिः युगायते । तत्र निमित्तं **त्वामपश्यतामिति** । यदा पुनः, पश्यामः, तदा कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं ते उदीक्षतां नोस्माकं यः पक्ष्मकृद् ब्रह्मा स जडः । यथा देवानां पक्ष्म न करोति, अलौकिकद्रष्टृत्वात्, तदपेक्षयाप्यत्यलौकिकद्रष्टृत्वादस्माकमपि पक्ष्मकरणमनुचितम् । अतोनुचितकरणात् जडः । देवा हि बहु कालं जीवन्ति, तथा वयमपि । **त्रुटिर्युगायत** इति । त्रुटिशब्दोस्त्रियाम् । यदि सार्थकं गमनं भवेत्, तथापि न काचिच्चिन्ता । परमह्नि काननमेवाटति, न तु कानने कश्चन पुरुषार्थः । अस्माकं च न बहिर्गमनं संभवति । एवं देवत्वं भगवता संपादितम् । मूर्खो ब्रह्मा तादृशीनां पक्ष्मकृत् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—आप दिन में वन में फिरते हैं तब एक पलक गिरने का समय भी आपके देखे विना युग के समान हो जाता है, जब फिर[2] घूंघर वाले केशों से युक्त मुख का दर्शन करती हैं, उस समय हम समझती हैं, कि आंखों में पलक बनाने वाले ब्रह्मा जड़* है। देव अलौकिक देखते हैं इसलिए उनके नेत्रों में पलक नहीं बनाई है। हम तो उनसे भी अलौकिक वस्तु को देखने वाली हैं अतः हमारे नेत्रों पर पलकें बनाकर अपनी अयोग्यता प्रकट की है, अतः अयोग्य करने से भी जड़ हैं। यदि कहो, कि देव बहुत काल जीने वाले हैं इसलिए उनके आंखों में पलक नहीं लगाए हैं, तो उसके उत्तर में हम कहती हैं, कि हम भी बहुत समय जीने वाली हैं, जैसे कि श्लोक में कहा है 'त्रुटिर्युगायते' यह 'त्रुटि' शब्द स्त्रीलिंग का नहीं है, त्रुटि का अर्थ है 'पलक गिरने का समय' जब भगवान् को उतना समय भी नहीं देखती हैं, तो वह समय हमारे लिए युग के बराबर है, जिससे समझ लीजिए, कि हम कितना अधिक समय जीने वाली हैं अतः नयनों में पलक लगाने से उनका[3] जड़पन प्रकट ही है।

जो भगवान् का वन में जाना किसी प्रयोजन को सिद्ध करने वाला होता, तो कुछ चिन्ता नहीं होती, किन्तु दिन के समय, विना किसी पुरुषार्थ की सिद्धि के वन में फिरना, चिन्ता का कारण है, यदि कहो, कि आपको दर्शन की अभिलाषा है, तो वहां आकर दर्शन करो, इसके उत्तर में कहती हैं, कि हम घर से बाहर नहीं निकल सकती हैं, तो वन में कैसे आ सकेंगी ? भगवान् ने हमको इस प्रकार देव बनाया है और मूर्ख ब्रह्मा ने वसी स्त्रियों को भी पलक दे दिए हैं। इस श्लोक में देव की निन्दा हुई है, अतः यह श्लोक कहने वाली गोपियां 'तामस-सात्विक' हैं।। १५।।

आभास—तदपेक्षया हीना आहुः पतीति ।

आभासार्थ—उन गोपियों से हीन श्रेणी वाली 'तामस-तामसी' गोपियां कहती हैं।

---

* भगवान् के मुख के दर्शन से जो रस प्राप्त होता है उस रस को नहीं जानता है अतः पलकें बनाई हैं इसीलिए मूर्ख है ।

१—मालूम, २—लौटकर, ३—ब्रह्मा का

श्लोक—**पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।**
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

श्लोकार्थ—पति, पुत्र, वंश, भाई, बन्धु इन सब की आज्ञा अथवा संबन्ध का उल्लङ्घन कर, हे अच्युत ! हम आपके पास आई हैं, आप सब के मन की गति[1] को जानते हैं, आपके गीत से मोहित होकर अरण्य में आई हुई स्त्रियों को, हे कितव ! आपके सिवाय रात्रि के समय कौन त्याग करे ॥१६॥

सुबोधिनी—हे अच्युत, स्वतः कामनिवृत्तिभयरहित । पतिः, सुताः, अन्वयो वंशः, भ्रातरः, बान्धवाः संबन्धिनः, एते सर्वथा अविलङ्घ्याः, तानप्यतिविलङ्घ्य ते अन्ति समागताः । त्वं सर्वेषां गतिं जानासीति गतिवित् । सर्वैर्यावती गतिः संपाद्यते, तां भवानेन दास्यतीति । वयं वा गतिविदः । तेषां भजने भगवद्भजने च तारतम्यविदः किञ्च, तव उद्गीतेन च मोहिताः । अतो मोहयित्वा समानीय उभयभ्रंशार्थं अरण्ये निशि योषितः कस्त्यजेत् । सर्वदैव स्त्रियो न त्याज्याः । सुतरामरण्ये । सुतरां निशि । यदर्थं वा समाहूताः, तदप्यदत्वेत्यभिप्रायेण सम्बोधनम् । कितवानां वयं संबन्धिन्यः । अतोस्माकं तेषु न प्रवेशः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—हे अच्युत, लोक से सब को अपनी काम-निवृत्ति हो जाने का भय रहता है। क्योंकि संयोग के पश्चात् उनका काम समाप्त हो जाता है, किन्तु आप का काम समाप्त न होकर सदैव वैसा ही जागृत रहता है इसलिए आपका अच्युत नाम है जिससे आप काम की निवृत्ति के भय से रहित हैं।

पति, पुत्र, वंश, भाई और सम्बन्धी ये सब सर्व प्रकार उल्लङ्घन के योग्य नहीं है, तो भी उनका तिरस्कार कर, आपके पास आई हैं। आप गतिविद[2] हैं जिससे आप सभी की गति को जानते हैं, और सब जो करनी करते हैं उस प्रकार की बुद्धि आप ही की दी हुई है, वा जैसी बुद्धि आप देंगे उसके अनुसार उनकी करनी होगी। अथवा गोपियां कहती हैं, कि हम गति को जानती हैं, अर्थात् उनके[3] भजन और भगवान् के भजन में क्या तारतम्य[4] है जिसको हम जानती हैं। किञ्च[5] हम आपके नाद से मोहित हो गई हैं, इस प्रकार मोहित कर, वन में लाकर अब आप त्याग करेंगे, तो हम दोनों तरफ से भ्रष्ट हो जाएँगी, क्योंकि यहां बुलाकर, आप त्याग देते हैं, वहां, जिनका तिरस्कार कर, यहां आई हैं, वे कैसे रखेंगे ? अतः आप हमारा त्याग न करो, सर्वदा ही स्त्रियों का त्याग नहीं करना चाहिए, उसमें भी वन में और वह भी रात्रि में, वह भी त्याग कैसा ! जिसके लिए बुलाया, वह भी न देकर त्याग देना, तो प्रमाणित करता है कि आप कितव[6] हैं।

१—करनी, २—सबके मनकी करनी को जानने वाले हैं, ३—पति पुत्रादि के,
४—भेद वा फरक, ५—कुछ और, ६—ठग

यदि आप कहें, कि हम आपका त्याग इसलिए करते हैं, कि तुम गोपों की स्त्रियां हो, पर-स्त्री का तो त्याग ही करना चाहिए, इसके उत्तर में कहती हैं, कि हम गोपों की वास्तव में स्त्रियां नहीं हैं, उनसे केवल नाम मात्र विवाह सम्बन्ध हुवा है, अतः हमारा उनमें प्रवेश नहीं समझना चाहिए, अर्थात् उनसे स्त्री के समान भोग आदि कभी नहीं हुआ है, भगवान् की माया से मोहित होकर हमको अपनी पत्नियां समझ बैठे हैं, अतः हम सर्वदा आपकी ही हैं, इसलिए हमारा त्याग न कीजिए ॥१६॥

आभास—तत उत्तमाः आत्मानमेव निन्दन्ति रहसीति ।

आभासार्थ—अन्य-पूर्वा तामस-तामसी से उत्तम तामस-राजसी गोपियों 'रहसि संविदं' श्लोक में अपनी ही निन्दा करती हैं—

श्लोक—रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहं मुह्यते मनः ॥१७॥

श्लोकार्थ—काम को जगाने वाला, एकान्त में कहा हुआ आपका वाक्य, प्रेम पूर्वक ईक्षण और हास्य युक्त आपका मुख और लक्ष्मीजी का स्थान तथा विशाल आपका वक्षः स्थल, इनको अच्छी तरह देख. अत्यन्त इच्छा वाला, हमारा मन बार-बार मोहित हो जाता है ॥१७॥

सुबोधिनी—नो मनः अतिस्पृहं सत् मुह्यत इति । तत्र कारणत्रयं गुणत्रयसहितम् । **वाक्यं हास्यमुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः ।**

रहसि एकान्ते या संविद् ज्ञानं वा। पूर्ववत् हृच्छयस्य कामस्य उदयो येन तादृशम् । प्रहसितयुक्तमाननं प्रेमपूर्वकं वीक्षणं च यस्मिन् । श्रियो धाम बृहदुरः। भगवद्रूपस्य वा षडगुणत्वमुच्यते । रहसि संविदो यस्मादिति । एतादृशं त्वाम् । हृच्छयस्य उदयो यस्मात् । प्रहसितमाननं यस्य । प्रेमपूर्वकं वीक्षणं यस्य । बृहदुरः श्रीधाम च वीक्ष्य । प्रमाणादिबलरूपता भगवद्रूपे निरूपिता । वक्षसि च स्वस्थित्यर्थं यशः श्रीश्च निरूपिता । मुखदर्शनेनैव प्रहसितयुक्तत्वात् पूर्वस्थित्यभावः । ततः कामः । प्रेमवीक्षणेन च तस्य स्थिरीकरणम् । ततः स्वयोग्यता । ततो भोगचातुर्यं प्रथमविशेषणेन । एवं सर्वं भविष्यतीति अतिस्पृहायुक्तं मनः मुह्यते, केवलं मोहं प्राप्नोति, पदार्थालाभात् मुहुर्मूर्च्छा समायातीति जीवनमरणान्यतराभावात् धिग्जीवनमित्यर्थः ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—हमारे मन में आपके दर्शन आदि की बहुत लालसा है, जिससे वह मोह को प्राप्त होता है, अर्थात् मूर्च्छित हो जाता है, यों होने में तीन गुण वाले तीन कारण कहते हैं—

'वाक्यं हास्य मुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः'

१—वाक्य, २—हास्य तथा ३—वक्षस्थल ये तीन कारण हैं और उनके क्रमशः एक एक गुण

बताते हैं, १—'काम' यह 'वाक्य' गुण का है, अर्थात् वाक्य से काम बढता व जागृत होता है। 'आनन्द' यह 'हास्य' का गुण हैं: भगवान् के हास्य से आनन्द आता है। 'अधिकारिओं का बोध' यह वक्षस्थल का गुण है, वक्षस्थल में श्री का निवास है, जिससे बोध होता है कि अधिकारी ही इसको प्राप्त कर सकते हैं।

एकान्त में कहा हुआ वाक्य[1] अथवा उससे उत्पन्न[2] ज्ञान जिससे पहले के समान काम का उदय होता है, जिसमें प्रकृष्ट[3] हास्य और कटाक्ष युक्त ईक्षण[4] है, वैसा मुख, लक्ष्मी का स्थान, महान् वक्षस्थल[5] हमारे मन को मोहित करने में, ये तीन ही कारण हैं।

अथवा ४ विशेषणों से और २ गुण, बड़ी छाती और श्री का धाम, से भगवान् के छ गुण कहे हैं, जैसे कि—

(१) जिससे एकान्त में ही प्रेम की बातचीत होती है वैसे आपको,
(२) जिससे काम उदय होता हैं, वैसे आपको,
(३) जिसका प्रकृष्ट हास्य से युक्त मुख है वैसे आपको,
(४) जिसका कटाक्षों वाला ईक्षण[4] है वैसे आपको,
(५) जिसकी छाती बड़ी है वैसे आपको,
(६) जो श्री का धाम है वैसे आपको,

देखकर हम मोह को प्राप्त हो रही हैं।

उपरोक्त छ गुण भगवान् के बताए, जिससे भगवान् के रूप में प्रमाण, प्रमेय, साधन तथा फल रूपता भी कही है। जैसे कि 'रहसि संविदं' एकान्त में कहे हुए भगवान् के वाक्य और उससे उत्पन्न ज्ञान, प्रमाण रूप हैं। 'हृच्छयोदयं' काम की वृद्धि भी भगवान् के एकान्त में कहे शृङ्गारात्मक रसवर्द्धक वाक्य से होती है अतः यह प्रमेय रूप है। 'प्रहसिताननं' भगवान् के हास्य युक्त मुखारविन्द से सर्व प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं अतः यह साधन रूपता भी आप में है। 'प्रेम वीक्षणम्' भगवान् का कटाक्ष पूर्वक प्रेम से देखना ही फल है जिससे आप फल रूप भी हैं।

वक्षस्थल में अपनी स्थिति करने को इच्छा प्रकट करने से यश और श्री गुण भी भगवान् में सिद्ध किए गए हैं इस प्रकार, षड्गुणयुक्त भगवान् पुरुषार्थ रूप भी हैं।

भगवान् का मुखारविन्द प्रकृष्ट हास्य युक्त है, उसके दर्शन से, पहली मानवाली स्थिति अब नहीं रही है, अर्थात् मुख कमल के दर्शन मात्र से गोपियों में जो अहङ्कार उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हो गया, जिससे गोपियों ने हृच्छयोदयं' पद कहकर काम का वर्णन किया। प्रेमवीक्षणम् पद कहने से

१—जिसमें बहुत पद होवें जिनसे पूरा भाव समझ में आ जावे उन पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं, २—पैदा हुआ, ३—श्रेष्ठ, ४—अवलोकन या देखना, ५—छाती,

उस काम को अपने में स्थिर किया। 'बृहदुरः श्रियो धाम' पदों से अपनी वहां (छाती में) स्थिति करने की योग्यता कही है। प्रथम विशेषण 'रहसि संविदं' से बताया है, कि हम भोग करने में भी चतुर हैं।

इस प्रकार हमारे सर्व मनोरथ पूर्ण होंगे वैसी अतिशय स्पृहा होने से, मन मूर्च्छित होता है। केवल मूर्छा को प्राप्त होता है। जिसकी इच्छा है, वह मिलता नहीं है, अतः फिर मूर्छा आ जाती है, यों कहकर अन्त में कहती हैं, कि हम न अच्छी तरह से जीवन को धारण कर सकती हैं और न मरती हैं वैसे हमारे जीवन को धिक्कार है ॥१७॥

आभास—पुनरनन्यपूर्वा एतावत्कालं मनोरथाभिनिविष्टा किञ्चित्प्रार्थयते व्रजवनौकसामिति।

आभासार्थ—इतने समय किन्हीं मनोरथो में खोई हुई अनन्यपूर्वा पुनः इस 'व्रजवनौकसां' श्लोक में प्रार्थना करती हैं—

श्लोक— **व्रजवनौकसां व्यक्तिरंग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् :**
त्वज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—हे अंग ! आपका यह स्वरूप, जगत् का मङ्गल करने वाला है और व्रजवासियों के पापों का नाशक है, अपने जनों के हृदय रोग को नाश करने वाली जो स्वरूप रूप औषधि आपके पास है, वह औषधि आपमें ही इच्छा वाला है अन्तःकरण जिनका, वेसी जो हम हैं, उनको थोड़ी सी दो ॥ १८ ॥

सुबोधिनी—इयं ते व्यक्तिः व्रजवनौकसां वृजिनहन्त्री पापनाशिका। विश्वस्याप्यत्यर्थं मङ्गलरूपम्। दोषनिर्तकं विशेषाकारेणास्माकमेव। गुणाधायकं सर्वेषाम्। अत एतादृशं मनाक् त्यज। त्यागावश्यकत्वे हेतुः **त्वत्स्पृहात्मना**मिति। त्वय्येव स्पृहायुक्त आत्मा अन्तःकरणं यासाम्। किं त्यक्तव्यमित्याशङ्कायामाह **स्वजने**ति। स्वजनानां गोपिकानां हृद्रुजां हृदयरोगाणां यदेव निषूदनं भवति, नितरां सूदनं नाशनं यस्मात्। केषाञ्चित्पापनाशकः, केषाञ्चित्फलदाता, तादृशोस्माकं रोगनिवर्तको भवत्विति ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—आपका यह स्वरूप, व्रजवासियों के पापों का नाशक है और विश्व का भी बहुत मङ्गल करने वाला है। विशेष कर हमारे ही दोषों का नाशक है। सभी के लिए गुणकारी है, अतः वैसा आपका स्वरूप थोड़ा सा हममें स्थापन करो। अपने में स्वरूप स्थापन करने को आवश्यकता का हेतु कहती हैं, कि, हम गोपीजनों के अन्तः करण में आपके लिए इच्छा है, अतः हमारी प्रार्थना है, कि आपका स्वरूप हमारे अन्तःकरण में स्थापित करो।

गोपी ने कह भी दिया, कि स्वरूप स्थापन करो, किन्तु भगवान् हम से पूछें, कि मैं क्या स्थापन

करूं ? वैसी शङ्का के उत्तर में, गुप्त रूप से कहती हैं, कि जिससे गोपियों के हृद्रोग रूप काम का समूल नाश हो जावे, वह स्थापित करो । वह जैसे किसी के पापों का नाश करने वाला है, किसी को फल देता है, वैसे ही हमारे रोग को मिटाने वाला होवे ।। १८ ।।

आभास—काचिद्राजसतामसो सखेदमाह यत्त इति ।

आभासार्थ—कोई राजस-तामसी 'यत्ते' इस श्लोक में खेद के साथ कहती हैं—

श्लोक—**यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।**
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ।।

श्लोकार्थ—हे प्रिय ! आपके जिस सुकोमल सुन्दर चरण कमल को हमारे कठिन स्तनों पर (हम) डरती हुई धीरे-धीरे पधराती हैं, उस कोमल चरण से आप जब वन में फिरते हैं, तब वहां कंकड़ आदि से आपको कितनी पीड़ा होती होगी ? वैसा विचार आने से, जिन (गोपियों) का जीवन ही आप हैं, उनको बुद्धि भ्रमित हो जाती है ।।१९।।

सुबोधिनी—सुजातं यच्चरणाम्बुरुहं चरणकमलं भीताः सत्यः स्तनेषु शनैर्दधीमहि । शनैर्धारणे हेतुः **कर्कशेष्विति** । प्रियेति सम्बोधनात् स्नेहाद्धारणम् । सुजातमिति तथा महत् सम्यक्प्रकारोत्पन्नं शीतलं सुगन्धि तापनाशकं भवति । अतः स्तनेषु स्थापनम् । प्रियत्वात् धाष्ट्र्येन स्थापनम् । तेनैवातिकोमलेन अस्मान् त्यक्त्वा अस्मद्दोषेण इदानीमटवीमटसि । स्वयमदुःखेन स्थित्वा यद्यन्यस्मै दुःख दातुं शन्कुयात्, तर्हि प्रयच्छेत्, न तु स्वयमपि दुःखं प्राप्य । तत्रास्माकं संदेहः, किं व्यथते, न वेति । स्विदित्युत्प्रेक्षायाम् । किं न व्यथते, अपि तु व्यथत एव । कूर्पादिभिः शर्करादिभिः । कूर्पशब्देन विषमाः शर्करा उच्यन्ते । तर्हि व्यथत एव, कथमुत्प्रेक्ष्यते, तत्राह **भ्रमति** । धीरिति । बुद्धिः केवलं परिभ्रमति । यदि व्यथत इति निश्चयः स्यात्, तदा बुद्धिः शान्तैव भवेत् । पुनर्यदायाति तेन संदेहः । तत्र हेतुः **भवदायुषा**मिति । भवल्लीलार्थमेवायुर्येषाम् । पूर्वं तु खेदेन मनःपीडा निरूपिता, इदानीं तु मूर्च्छा निरूप्यत इत्यन्तस्थितिः । एवं सर्वासां मूर्च्छापर्यन्तं स्थितिर्ज्ञातव्या । पुनर्लीलाप्रवेशे प्रलापः, पुनः स्वरूपस्थितौ गानमिति । एवं साधनपरीक्षयोर्यावत्, तावत्तासां तापो निरूपितः ।। १९ ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणेऽष्टाविंशाध्यायविवरणम् ॥

व्याख्यार्थ—सुकोमल, शीतल, सुगन्धिवाले और तापनाशक होने से, आपके चरण कमल को हम डरती हुई, स्तनों पर धीरे धीरे पधराती हैं, क्योंकि हमारे स्तन कठोर हैं और आपके सुजात चरण कमल कोमल हैं । जो हमारे चरण कोमल हैं आपके स्तन कठोर हैं, तो पधराने का क्या कारण है ? इसके उतर में कहती हैं, कि आप हमारे प्यारे हैं, अतः स्नेह के कारण पधराती हैं । आप प्यारे हैं, इसलिए धृष्टता[1] से आपके चरण स्तनों पर स्थापन करती हैं ।

---

[1] १–ढीठपन से, अथवा प्यारे के प्रेम से उनके चरण स्तनों पर रखने में हमको लज्जा भी नहीं आती है,

हमारे दोष से हमको त्याग कर उसी ही अति कोमल चरण से अब आप वन में फिर रहे हैं ।

जो स्वयं को दुःखी न कर, अन्य को दुःख दिया जा सके. तो देने में विचार नहीं, किन्तु स्वयं दुःखी होकर अन्य को दुःख देना योग्य नहीं है। इस विषय में हमको संशय है, कि आपको वन में फिरते हुए दुःख होता है, वा नहीं होता है ? मूल में 'स्वत्' शब्द है उसका भावार्थ यह है कि हम कल्पना करती हैं, कि वन में आपको दुःख होता है, कारण कि वन में तीखी धारवाले कंकड़ होते हैं वे आपके चरणों में चुभते होंगे, जिससे आपको अवश्य कष्ट होता होगा। यदि आप कहो, कि तुम वैसी कल्पना कैसे करती हो ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि हमारी बुद्धि इस विषय के विचार में घूम रही है अर्थात् निश्चय नहीं होता है। यदि यह एक ही निश्चय हो जावे, कि पीड़ा होती है, तो बुद्धि शान्त हो जावे, किन्तु वह निश्चय नहीं होता है, कारण कि आपको यदि पीड़ा होती हो, तो आप फिर वन में नहीं पधारते। आप तो फिर पधारे हैं। जिससे संदेह होता है, कि आपको वहां पीड़ा नहीं होती है। हमको पीड़ा हो, या न हो, इसकी चिन्ता तुम क्यों करती हो ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि हमारा जीवन जब आपके साथ लीला कर, आनन्द लेने के लिए ही है, तब कैसे इसका विचार नहीं करें पहले तो खेद प्रकट कर, मन की पीड़ा बताई, अब यों कहने से मूर्छा की स्थिति कही हैं, जो अन्तिम स्थिति है। जिससे समझना चाहिए, कि इस प्रकार सर्व प्रकार की गोपियों की मूर्च्छा पर्यन्त स्थिति हुई है। जब विरहावस्था में भगवल्लीला में प्रवेश होता है, तब प्रलाप प्रश्न करती है, जिससे २७वें अध्याय में कहे हुए रसासक्ति, भगवान् जैसी क्रिया (लीला) का करना और गर्व का अभाव भी कह दिए हैं। जब भगवत्स्वरूप में स्थिति होती है तब २८वें अध्याय में कहा हुआ गीत गाती हैं :

इस प्रकार साधन और परीक्षा के अन्त तक गोपियों के ताप का निरूपण किया है। सारांश यह है, कि जिससे भगवान् की प्राप्ति के लिए, जो साधन भक्त करते हैं उनकी पराकाष्ठा[1] तथा भक्तों के स्नेह की परीक्षा के अन्त का भी वर्णन कर दिया है ॥१६॥

इति श्री मद्भागवत् महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध, २८वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीकार्थ,–तामस फल अवान्तर प्रकरण,– 'यश' धर्म निरूपक तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

---

[1] १—अंतिम सीमा ।

गोपी गीत

कहन लगी अहो कुंवर कान्ह व्रज प्रकटे जबतें ।
अवधिभूत इंदिरा अलंकृत होय रही तबतें ।।१।।
सब सो सब सुख बरषत शशि ज्यों बढत दिवारी।
तिनमें यह पुन गोपवधू पिय निपट तिहारो ।।२।।
नयन मूंदवो महा शस्त्र ले हांसी फांसी ।
मारत हो कित सुरतनाथ ! विन 'मोल' को दासो ।।३।।
विषजल हू ते व्याल अनल तें दामिनी झरतें ।
क्यों राखी, नहिं मरन दई, नागर नग धरतें ।।४।।
जब तुम यशुदा सुवन भये पिय अति इतराने ।
विश्व कुसल के काज विधना विनती कर आने ।।५।।
अहो मित्र ! अहो प्राणनाथ ! यह अचरज भारी ।
अपने जनकों मार करो किनकी रखवारी ।।६।।
जब पशु चारन चलत चरण कोमल धरत वन में ।
सिल तृण कंटक अटकत कसकत हमरे मन में ।।७।।
प्रणित मनोरथ करण चरणसरसीरुह पियके ।
कहा घट जेहे नाथ हरत दुख हमरे जियके ।।८।।
कहाँ हमारी प्रीति कहाँ तुह्मरी निठुराई ।
मणि पखान सो खचे दैव सो कछु न वस्याई ।।९।।
जब तुम कानन जात सहस्र युगसम बीतत छिन ।
दिन बीतत जिहि भांत हमहि जाने पिय तुम विन ।।१०।।
जब काननते आवत सुन्दर आनन देखें ।
तव यह विधना क्रूर करी धर नयन निमेखें।।११।।
फनी फनन पर अरपे, डरपे नाहिन नेक तब ।
छबीली छतिन पर धरत डरत क्यों कान्ह कुंवर अब ।।१२।।
अवर तुम्हारी कथा अमृत सब ताप सिरावे ।
अमरन अमरा तुच्छ करे ब्रह्मादिक गावे ।।१३।।
जानत हों पिय तुम जो डरत व्रजराज दुलारे ।
कोमल चरण सरोज उरोज कठोर हमारे ।।१४।।
सनै सनै पग धरिये हमको अधिक पियारे ।
कित अटवीमें अटत गडत तृणकूप अण्यारे ।।१५।।
यह विध प्रेम सुधानिधि मग्न ह्वे करत कलोलें ।
विह्वल ह्वे गई बाल लाल सों अलबल बोलें ।।१६।।

*** रसिक भक्त–श्री नंददासजी**

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

'चतुर्थो अध्याय'

स्कन्धानुसार एकोनत्रिंशो अध्याय

भगवान् का प्रकट होकर गोपियों को सान्त्वना देना

कारिका—**एकोनत्रिंशकेऽध्याये प्रसादं भगवत्कृतम् ।**
रोदनात् प्राप्य तुष्टास्ता निर्णयज्ञा इतीर्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—उन्तीसवें अध्याय में गोपियों के रोदन से भगवान् ने प्रसन्न होकर, उन पर कृपा की, जिससे वे (गोपियाँ) प्रसन्न हुईं और मन में रही शङ्का को मिटाने के लिए गोपियों ने प्रश्न कर, निर्णय जानना चाहा है, यह कथा इस अध्याय में वर्णन की हुई है ॥ १ ॥

कारिका—**नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित् ।**
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम् ॥ २ ॥

कारिकार्थ—हरि, साधनों की सम्पत्ति से किसी पर भी प्रसन्न नहीं होते हैं, भगवान् को प्रसन्न करने का साधन, भक्तों के लिए एक दीनता ही है ॥ २ ॥

कारिका—**सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः ।**
अतो निर्णयवाक्यानि भजनार्थं न्यरूपयत् ।। ३ ।।

कारिकार्थ—भगवान् प्रसन्न होकर सर्व दुःखों को सर्वथा नाश करते हैं, अतः भजन के लिए निर्णय के वाक्यों का वर्णन करते हैं ॥ ३ ॥

आभास—एवं पूर्वाध्यायान्ते तासां स्तुतिमुक्त्वा, ततः पूर्वाध्याये तासां प्रलापमुक्त्वा, उभयमप्युपसंहरन् तयोरसाधनतायां जातायां रोदनं कृतवत्य इत्याह इतीति ।

आभासार्थ—गोपियों ने भगवान् के अन्तर्हित होने पर, उनको प्राप्त करने के लिए २६ वें अध्याय में प्रयत्न रूप साधन किए जिसमें प्रत्येक चेतन जड़ादि से पूछने लगी, कि क्या आपने प्यारे को देखा ? जब उससे भगवान् का पता न मिला तब २७ वें अध्याय में उनको प्रसन्न करने के लिए स्तुति करने लगीं, जिससे भी भगवान् प्रकट न हुए, तब समझ गईं, कि साधनों से भक्ति मार्ग में भगवान् का मिलना असंभव ही है, अतः अपने को असमर्थ दीन समझ खूब रोने लगीं, जिसका 'इति गौप्यः' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।**
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इस प्रकार अर्थात् जैसे आगे वर्णन किया है उसी भांति गोपियाँ गाती तथा विचित्र प्रकार से विलाप करती हुई, श्रीकृष्ण के दर्शन की इच्छा वाली, वे उँचे स्वर से रोने लगीं ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वा एव गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च जाताः । अस्माभिरेकः प्रकार उक्तः । तास्तु चित्रधा विलापयुक्ता जाताः । यदा तयोरसाधनत्वं जातम्, तदा सर्वाः सम्भूय महद्रोदनं कृतवत्यः । रोदने निमित्तमाह **कृष्णदर्शनलालसा** इति । न तु स्वदेहरक्षार्थम् ।१।

व्याख्यार्थ—पहले कहे हुए प्रकार से सब गोपियां गाने तथा प्रलाप करने लगीं । गोपियां गान तथा प्रलाप बहुत प्रकार से करती थीं, किन्तु हमने यहां एकही कहा है । इनको करते हुए, जब भगवान् प्रकट न हुए तब गोपियों को ज्ञान हुआ, कि ये गान और प्रलाप दोनों, भगवान् की प्राप्ति कराने में असमर्थ हैं, तब सब मिलकर ऊंचे स्वर से रोदन करने लगीं । रोदन किस लिए किया ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि गोपियों को कृष्ण के दर्शन की बहुत चाह थी, इसके लिए रोदन किया, न कि अपनी देह की रक्षा के लिए रोई थीं ॥१॥

आभास—ततो भगवान् ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात इत्याह **तासामाविरभूदिति ।**

सुबोधिनी

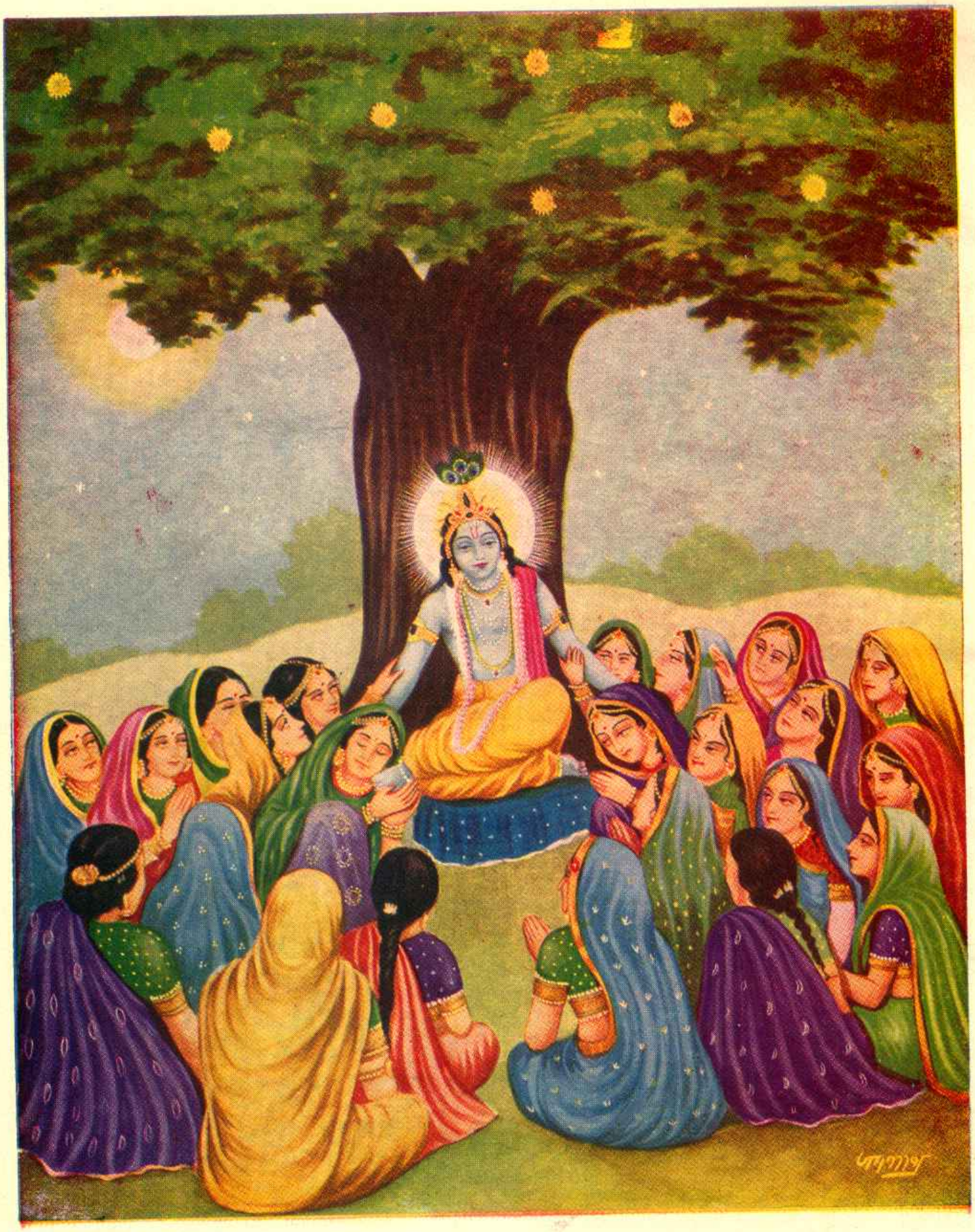

गोपियोंके बीचमें भगवान्‌का प्रकट होना

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ‡ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र होकर फिर कृष्ण ही हुए, जिसका वर्णन 'तासामाविरभूत' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तासामाविरभूत् शौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।**
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—'जब वे दीन होकर ऊँचे स्वर से रोने लगीं' तब मन्दहास्य सहित मुखारविन्द वाले, कामदेव के मन को मंथन करने वाले, वनमाला धारण किए हुए, पीताम्बरधारी, शूरवंश में उत्पन्न श्रीकृष्ण गोपियों के मध्य में प्रकट हुए ॥ २ ॥

सुबोधिनी—तासां मध्य एव भगवानाविर्भूत। मायाजवनिकां दूरीकृत्य भगवान् प्रकटो जातः। यतः शौरिः। शूरस्य पौत्रः। शौर्यमत्र प्रकटनीयमिति। सर्वेषां दुःखनिवारणार्थमेव यदुवंशेऽवतीर्ण इति। तदा तासां दोषनिवृत्त्यर्थं स्मयमानं मुखाम्बुजं यस्य। ईषद्धसन्मुखः। तासां वैक्लव्येन सन्तुष्टः। स्मितयुक्तं स्मयमानम्। स्मयमानाभ्यां वा सहितं मुखाम्बुजं यस्य। भक्तानां दोषः भक्ते-

---

‡आद्य ब्रह्मा के कल्प में भगवान् ही (१) चतुर्मुख ब्रह्मा बने तथा (२) तप किया (३) शब्द एवं अर्थ के रूप में "भगवान् ब्रह्मा का रूप लेकर नाम-रूप-क्रिया का धारण करते है" इस वाक्य के अनुसार तथा "जिसे शब्द ब्रह्म माना जाता है" इस वाक्य के अनुसार शब्दसृष्टि तथा अर्थ सृष्टि उत्पन्न करके, अन्तर्यामी रूप से उसमें प्रविष्ट होकर स्वयं भगवान् रजो रूप से सारे कार्य करते हैं। प्रकृत संदर्भ में भी पहले (१) राजस मान का रूप भगवान् लेते हैं (२) फिर ताप बनते हैं। पश्चात् (३) विविध गान प्रलाप एवं विविध लीलाओं के रूप में भगवान् ही हैं अतः उनका ब्रह्म होना कहा गया है।

विष्णु विक्षेप रहित शुद्ध सत्वात्मक रूप में जिसका जैसे पालन हो, करते हैं। प्रकृत संदर्भ में भी सखी के वचन सुनकर जब यह समझ में आया कि प्रिय हमारे अपराधों के कारण ही हमें छोड़ गये हैं तो चित्र विक्षेप दूर करके अपनी-अपनी जगह अपने-अपने भाव स्वजीवनार्थ प्रकट करने लगी मूलतः यह भाव भी भगवान् का विष्णु रूप था।

"क्योंकि वे रो दिए अतः रुद्र हुए" इस श्रुति के अनुसार रुद्र होना तो स्पष्ट ही है। देवताएं अपना धन अग्नि में रखकर संग्राम के लिए गए, उसे लेकर अग्नि भाग गया, तब बलात् उन देवताओं ने अपना छीनलिया, तब वह रो दिया यह कथा श्रुति में आती है। प्रकृत संदर्भ में भगवान् ने स्वीय भोग्य रस स्वामिनियों में स्थापित किया और स्वामिनियों ने मानवश उसे अपने में ही निरुद्ध कर लिया और तब मानके अपहरण होने पर दैन्य प्रकट हुआ और तब रुरुदुः सुस्वरं' हुआ। यों यह भगवान् की ही लीला थी सो भगवान् का रुद्र होना कहा जाता है।

रुद्र होने के बाद भी यदि भगवान् बाह्य रूप में प्रकट न हों तो देहादि की सीमा ही न रही अतः वाह्यरूप में आविर्भाव कृष्ण स्वरूप है।

भ्यो निर्गतः भक्तौ समायातीति ज्ञापनार्थम् । तदानीन्तनं रूपं वर्णयति **पीताम्बरधर** इति । पीताम्बरं हास्यसङ्कोचार्थं हस्ते धृत्वा तिष्ठति । अथवा । व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्मया सह रमणं कृत्वा तैनेव रूपेण प्रादुर्भूतः । **स्रग्वी** वनमालायुक्तश्च । मध्ये ब्रह्मादिपूजां च गृहीतवान् । लक्षम्या वा । अतो विलम्ब इत्यपि सूचितम् । अत एव प्रथम श्लोके पूर्वाध्याये 'श्रयत इन्दिरे' त्युक्तम् । इदानीं तु उपेक्षा कर्तुमयुक्तेति प्रादुर्भूतः । अत आगमनमुक्तमग्रे । (यद्वा । तत्र हेतुमाह विशेषणद्वयेन । इदानीमनाविर्भावे तु न रसो, न वा कीर्तिः । स्वयं त्वाच्छादनेन रसत्वसाधकपीताम्बरधरः कीर्तिमयस्रग्वाँश्च । अतः प्रकट इत्यर्थः । अन्यथा तु भक्तानां स्वरूपतिरोधाने उक्तोभयाभावः स्फुट इति भावः ।) ननु कन्दर्पेण कथं न वशीकृतः, स्वपृतना खिन्नेति, तत्राह । साक्षान्मन्मथस्यापि मन्मथः । आधिभौतिको मन्मथः देवतारूपः । तत आध्यात्मिकः सर्वं हृदयेषु साक्षान्मन्मथः । तस्याप्ययं मन्मथः आधिदेविकः । सर्वस्यापि सर्वत्वात् । अतः कन्दर्पोपि मुग्धः । कन्दर्पस्याप्यशक्यमोहः । कन्दर्परूपश्च । अतस्तासां दैन्ये प्रादुर्भूते तन्निवारणार्थं कामरूपमेव प्रकटीकृतवान् । अतस्तेन पूर्ववत् कामसम्पन्नाः ताः कृताः ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् शूर के पौत्र हैं, अतः यहां शूरवीरता* प्रकट दिखानी है, और समस्त जनों के दुःखों को नाश करने के लिए यदुवंश में प्रकट हुए हैं, इन सब कार्यों को करने के लिए आप माया के पड़दे को हटाकर गोपियों के बीच में ही प्रकट हो गए, उनकी (गोपियों की) दीनता से आप प्रसन्न हुए हैं, अतः उनके दोषों को निवृत्त करने के लिए उस समय आपका मुख कमल मन्द मुसकान वाला था अथवा मन्द मुसकराहट+ तथा मान वाला था, वैसे मन्द मुसकराहट वाले भगवान् के मुख कमल के दर्शन से गोपियों का तो दोष निवृत्त होगया, किन्तु भक्तों का दोष भक्तों में से निकलकर, भगवान् के मुख कमल में प्रवेश कर गया, जिससे ही भगवान् को मान* होगया ।

जिस समय आप प्रकट हुए, उस समय का भगवान् का स्वरूप किस प्रकार का था जिसका वर्णन करते हैं, 'पीताम्बर धरः' । आपने हास्य को कम करने के लिए पीताम्बर के छोर को हाथ में पकड़ कर मुख के आगे धर लिया था । अथवा व्यापी वैकुण्ठ में जो आपका स्वरूप है, उसी स्वरूप से इतना समय लक्ष्मी के साथ रमण कर, अब यहां प्रकट हो गए हैं । प्राकट्य के समय में, भगवान् के कण्ठ में वनमाला थी, जिससे भगवान् को विलम्ब हुआ, कारण कि मार्ग में ब्रह्मादिकों की पूजा को ग्रहण कर पधारे हैं अथवा श्री लक्ष्मीजी ने माला धराई, जिससे विलम्ब हुआ है, इसी कारण से ही २८ वें अध्याय के प्रथम श्लोक में 'श्रयत इन्दिरा' श्लोक में, लक्ष्मीजी का यहां आकर विराजना कहा

---

* दान वीरता, भगवान् गोपियों को सुरत दान करने में वीर हैं यह यहां प्रकट दिखाने के लिए आप प्रकट हुए हैं ।

+ श्री प्रभुचरण टिप्पणी में, 'स्मय', अर्थात् मन्द मुस्कराहट का भाव प्रकट करते हुए आज्ञा करते हैं कि, भगवान् इसीलिए मन्द मन्द हँसने लगे, कि वैसा अन्य कोई नहीं है, जिसके गोपीजन जैसे भक्त हों ।

* अब 'मान' होने का भाव बताते हैं, अर्थात् मान किसलिए किया ? कहते हैं, कि भगवान् ने यह निश्चय किया, कि गोपियाँ जब प्रार्थना करेंगी, तब दूसरे मेरे भक्त को भी यह रस दूँगा, नहीं तो मुक्ति दूँगा ।

है। जब वह यहां बिराज रही है, तब उसकी उपेक्षा[1] करनी योग्य नहीं है, इसीलिए आप अब लक्ष्मीजी के साथ रमण में जिन धर्मों को धारण करते हैं, उनको धारण कर प्रकटे हैं, जिससे लक्ष्मीजी भी प्रसन्न हो, यही कारण है, कि आगे श्लोक में भगवान् का आगमन कहा है। (श्री प्रभुचरण इस प्राकट्य वा आवागमन का भाव इस प्रकार समझाते हैं, कि यदि, भगवान् इस रूप से यहाँ अब प्रकट न होते, तो भक्तों द्वारा जो रस आपको ग्रहण करना था, उसकी प्राप्ति न होती, क्योंकि आपके विरह में कदाचित् उनके देह छूट जाते और उससे अपकीर्ति होती और न रस की प्राप्ति होती, अतः प्रकट होना आवश्यक समझ आप प्रकट हुए हैं, रस गुप्त ही रसदायी होता है, अतः उसकी गुप्तता के लिए आपने पीताम्बर धारण किया है, और कीर्त्ति रूप माला धारण की है।)

स्त्रियां कामदेव की सेना है, सेना दुःखी हो, तो वह विजय नहीं कर सकती है, अतः कामदेव को अपनी विजय करने के लिए भगवान् को अपने वश करना योग्य था, अर्थात् भगवान् को कामी बना लेना चाहिए था ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् स्वयं मन्मथ[2] के भी मन्मथ हैं जिससे उनको यह कामदेव वश करने में असमर्थ है। काम के तीन रूप हैं, एक आधिभौतिक काम जो देवरूप है, दूसरा काम जो सब के हृदय में व्यापक आध्यात्मिक काम है वह साक्षात् मन्मथ है, उसके भी मन को मथन करने वाले आधिदैविक काम आप हैं, कारण, कि सर्व के भी सर्व आप ही हैं अतः देव रूप आधिभौतिक काम, भगवान् को तो वश में न कर सके, किन्तु आधिदैविक काम रूप भगवान् के दर्शन कर स्वयं मोहित होगए। भगवान् ने गोपियों में दैन्य का प्राकट्य देखकर, उसको मिटाने के लिए आप आधिदैविक काम रूप से प्रकट हुए, अतः उस रूप से पहले की भांति गोपियों को कामयुक्त किया।

आभास—ततो यज्जातं तदाह तं विलोक्येति।

आभासार्थ—भगवान् के प्राकट्य के अनन्तर, जो कुछ हुआ उसका वर्णन श्री शुकदेवजी इस 'तं विलोक्य' श्लोक में करते हैं।

श्लोक — **तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।**
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—उस प्राण प्रिय को पधारे हुए देख सब स्त्रियाँ प्रीति से प्रफुल्लित दृष्टि वाली हो गई और एक साथ वैसे उठ खड़ी हुई, जैसे प्राण के आने पर कर चरणादिक इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—तमागतं विलोक्य युगपत् सर्वा उत्थिताः। पूर्वमाविर्भावमुक्त्वा अधुना यदागमनमुक्तम्, तद्विलोकेनसमये स्वामिनीभावानुवादरूपम्। पूर्वमन्तःस्थितोऽधुना बहिरागत इति वा ज्ञापनाय तथोक्तिः। ननु किमाश्चर्यं भगवत्यागते उत्थिता इति। तत्र न ह्येताः सजीवाः स्थिताः,

---

[1]—तिरस्कार, [2]—काम

किन्तु निर्जिवा इति वक्तुं दृष्टान्तमाह । **तन्वः** करचरणाद्यवयवाः । प्राणमागतमिवेति । प्रयत्ने हि एकमेवाङ्गं व्यापृतं भवति, प्राणे तु सर्वाणि सम्भूय । अतो बहुवचनं युगपदुत्थानार्थम् । उत्थानं पञ्चानां भाव्यम्, देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवानाम् । तत्र जीवस्यान्याधीनमुत्थानं । परं तस्मिन्नागते सर्वाण्युत्तिष्ठन्ति । स तु भगवति प्रविष्टः, भगवत्सङ्गे समागतः, भगवत्युत्थित एवोत्थितः । अन्तःकरणं तु उत्थितमित्यत्र हेतुमाह **प्रेष्ठ**मिति । अत्यन्तं प्रियो भगवान् । तं दृष्ट्वा उत्थितम् । भगवति या प्रीतिस्तया कृत्वा उत्फुल्ला दृक् यासाम् । अनेन प्रीत्या इन्द्रियाणामुत्थानम् । (एतासां विलोकनार्थमेवागमनमित्यागमनमात्रेण विलोकनमादौ सम्पन्नम् । उत्फुल्लता तु ततो भिन्ना । तस्याः पुष्पधर्मत्वेन तदुक्त्या दृशां कमलत्वं व्यज्यते । तत्र प्रीतेर्हेतुत्वोक्त्या इयदवधि तत्कार्याभावेनाधुनैव तत्प्राकट्यं ज्ञाप्यते रवेरिव । विरहे सर्वतिरोधानादेतत्तिरोधानमप्यासीत् । अत एवाबलात्वमुक्तम् । कार्यमात्रे स्वसामर्थ्याभावज्ञापनार्थम् । दृष्टान्तेनैव प्राणानामुत्थानम् । प्राणानां भगवान् प्राण इति । शरीरं तु पूर्वोक्ताभिलषितपदार्थत्वेन निरूपणात् उत्थितमित्यत्र तमिति हेतुः) ।।३।।

व्याख्यार्थ – भगवान् को आते हुए देख, सब गोपियां एकही समय में उठ खड़ी हो गईं, श्लोक १ व २ में भगवान् का गोपियों के बीच में प्रकट होना कहा, अब इस ३ रे श्लोक में जो भगवान् का आगमन कहा उसका स्पष्टीकरण करते हैं, कि स्वामिनियों को दर्शन के समय जैसा जैसा भाव उत्पन्न हुआ, उस उस भाव का श्री शुकदेवजी ने अनुवाद किया है, अर्थात् प्रथम जो प्रकट होना कहा उसका आशय यह है, कि भगवान् गोपियों के अन्तःकरण में प्रकट होकर, स्थित हुए तथा अब बाहर आए, इसलिए पहले प्रकट होना कहा है और अब आना कहा है।

भगवान् के पधारने पर खड़ी हो गई इसमें क्या आश्चर्य है ? यह तो साधारण विषय है, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि आश्चर्य का विषय इसलिए है, कि ये उस समय जब भगवान् पधारे तब निर्जीव थीं, और निर्जीव एक साथ खड़ी नहीं हो सकती थीं, इसलिए दृष्टान्त देकर समझाया है, कि जैसे हस्त चरण आदि अङ्ग, प्राण रहित हो तो उठ नहीं सकते हैं किन्तु जब प्राण आते हैं तो सब साथ में स्वयं चलने लगते हैं। प्रयत्न करने पर अर्थात् चलाने से एकाध अंग चलता है सब नहीं चलते परन्तु प्राण आने पर तो सभी अंग चलने लग जाते हैं इसी प्रकार गोपियां भी भगवान् के तिरोहित हो जाने से, निर्जीव हो गई थीं, कारण, कि जीव भगवान् के पास चला गया था, भगवान् के आने पर जीव भी उनके साथ आ गया, जिससे सजीव होकर, सब सशरीर साथ ही उठ खड़ी हो गईं, इसलिए बहुवचन दिया है। अन्तःकरण के उठने का कारण देते हैं, कि भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं, उस प्रिय को देखकर अन्तःकरण भी साथ में उठ खडा हो गया एवं इन्द्रियों के भी उठने का कारण कहते हैं, कि भगवान् में जो गोपियों की प्रीति थी जिससे भगवान् को आए हुए, देख नेत्र प्रफुल्लित हो गए, नेत्र से, सब इन्द्रियां समझनी चाहिए।

श्री प्रभुचरण यहां स्वतन्त्र लेख में आज्ञा करते हैं, कि भगवान् गोपियों को दर्शन देने के लिए पधारे थे, आते ही दर्शन तो हो गए, किन्तु नेत्रों का प्रफुल्लित होना तो, उससे भिन्न है। प्रफुल्लित होना यह पुष्पों का धर्म है, जिससे जाना जाता है. कि गोपियों के नेत्र कमल हैं, अब तक उनका कोई कार्य नहीं था, इसलिए वे प्रफुल्लित नहीं हुए थे, अब कार्य है, अतः उनका प्रफुल्लित होना आवश्यक है। प्रफुल्लित होने में, हेतु प्रीति है, अभी तक नेत्रों में प्रफुल्लता नहीं थी, सो अब

यहां आकर उसका प्राकट्य हुआ है। कमल खिलने पर, जैसे रवि के उदय का अनुमान किया जा सकता है, वैसे ही प्रीति के प्राकट्य का अनुमान अब होता है। विरह में तो सभी कुछ तिरोहित हो जाते हैं, यह भी तिरोहित हो गई थी। अतएव इन्हें 'अबला' कहा गया, अर्थात्, किसी भी कार्य के करने की सामर्थ्य ही इनमें नहीं रह गई थी।

श्लोक में 'प्राणमिवागतम्' दृष्टान्त से, यह बताया है कि भगवान् प्राणों के भी प्राण हैं, अतः उनके आने से प्राण उठ खड़े हो गए।

श्लोक में 'तं' पद का भाव बताते हैं, कि प्रथम जिनके दर्शन की इच्छा की थी, वे भगवान् शरीर धारण कर आगए तो शरीर भी उठ खड़े हो गए इसलिए 'तं' जिसकी इच्छा थी 'उसको' देखकर खड़ी हो गई, (ऐसा) कहा है ।।३।।

आभास—एवमुत्थितानां भगवता सह स्थितानां कार्यमाह काचिदिति पञ्चभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के साथ स्थित, गोपियों के जो उत्थित जीव सहित प्राण, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण थे, उन्होंने जो कार्य किए उनका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न पाँच श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—**काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।**
काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम् ।।४।।

श्लोकार्थ—किसी गोपी ने भगवान् का कर कमल हर्ष से अपनी अञ्जली में धारण कर लिया, किसी ने भगवान् की चन्दन से सुशोभित बाहु को अपने कन्धे पर धर लिया ।।४।।

श्लोक—**काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।**
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधात् ।।५।।

श्लोकार्थ—किसी गोपी ने अंजली में भगवान् से चबाया हुआ ताम्बूल लिया, काम ज्वर से पीड़ित किसी भगवान् के चरण कमल को अपने स्तनों पर धरा ।५।

श्लोक—**एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।**
घ्नन्तीवैक्षत् कटाक्षेपैः* संदष्टदशनच्छदा ।।६।।

---

* श्लोक ६—कटाक्षेः, इस पद में 'क्ष' का लोप कर दिया है, वास्तव में 'कटाक्षक्षेपैः' है, जिसका अर्थ होता है कटाक्षों को फेंकना अर्थात् मारना। 'क्ष' के लोप करने का कारण संस्कृत के व्याकरण का नियम है।

श्लोकार्थ—कोई एक भृकुटी चढा, प्रणय कोप के आवेश से विह्वल हो, होंठ काट, मानो कटाक्षों से मारती होवे वैसे **देखने** लगी ॥६॥

श्लोक—**अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।**
आपीतमपि नातृप्यत्सन्तस्तच्चरणं यथा ॥७॥

श्लोकार्थ—दूसरी (निर्गुण) गोपी निमिष रहित दोनों नेत्रों से भगवान् के मुख कमल के रस का पान करती हुई भी वैसे तृप्त नहीं हुई **जैसे** सन्त पुरुष भगवान् के **चरण** के ध्यान से तृप्त नहीं होते हैं ॥७॥

श्लोक—**तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदि कृत्य निमील्य च ।**
पुलकाङ्ग्युपगूह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥८॥

श्लोकार्थ—कोई गोपी नेत्र के छिद्र से भगवान् **को** हृदय में पधराकर, आँखे मूंद कर, पुलकित अङ्ग वाली हो, भगवान् का आलिङ्गन कर योगी के समान आनन्द में मग्न हो गई ॥८॥

सुबोधिनी—पूर्वमनेकविधा अपि भगवत्याविर्भूते सप्तविधा एव जाताः । एको भगवान् सर्वार्थे प्रकटीभूतः । तत्र या अग्रे स्थिताः, ता अपि निकटस्थिता एव पूर्वमुच्यन्ते । शुद्धसात्त्विक्यः शुद्धरजोयुक्ता रजःसात्त्विक्यश्च, निर्गुणाश्च, शिष्टाः सप्तविधा गण्यन्ते । काचिदत्र शौरेः कराम्बुजं मुदा अञ्जलिना अगृह्णात् । एक एव हस्तो भगवता प्रसारितः । पीताम्बरधर इति द्वितीयेन हास्यनिवारणार्थं पीताम्बरग्रहणात् । बहुमानेन ग्रहणमञ्जलिना भवति । **शौरेरिति** वीरत्वज्ञापनाय । **मुदेति** पूर्वोक्तक्लेशव्यावृत्त्यर्थम् । अन्या पुनस्ततोप्यन्तरङ्गा भविष्यामीति तद्बाहुमंसे दधार । यथालिङ्गितैव भवति । अग्रे एतस्या विनियोगो वक्तव्यः । 'भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु' इति । अत एव तदीयो धर्मोन्तःस्थितस्तस्या निरोधं साधयिष्यतीति चन्दनरूषितमित्युक्तम् । चन्दनेन रूषितं लिप्तम् । चन्दने हेतुः पूजा लक्ष्मीर्वा पूर्वोक्ता । तथा ताम्बूलेपि । एवं सामग्रीप्रकटनेन तासां देवोत्तमानां च कृत्यं प्रदर्शितम् । एता आरोढुकामाः, देवोत्तमास्तु पूजका इति । अतः काचित्ताम्बूलचर्वितमञ्जलिना अगृह्णात् । तस्याः ताम्बूलयोग्यतामाह **तन्वीति** । कोमलाङ्गी । एका पुनर्बहिःस्थिता साक्षात्सम्बन्धमलभमाना, उत्थातुं वा अशक्ता, उपविश्यैव तदङ्घ्रिकमलं स्तनयोरधात् । अनुत्थाने धारणे च हेतुः **सन्तप्तेति** । सा ह्यत्यन्तं विरहातुरा **एकेति** । अन्य पुनर्दूरस्था तामसी तमसा भ्रुकुटिमाबध्य कटाक्षेपैः घ्नन्तीव ऐक्षत् । अत्र सवर्णे वर्णलोपः । कटाक्षक्षेपैरित्यर्थः । प्रेम्णा सहितो **यः** संरम्भः क्रोधः तेन विह्वला । सम्यक् दष्टः दशनच्छदो यया । तादृशी च जाता । भ्रुकुटिबन्धनेन चित्तकौटिल्यम् । प्रेमसहितसंरम्भेण इन्द्रियवैक्लव्यम् । सन्दंशेन देहक्षोभः । घ्नन्तीवेति प्राणैर्बलस्फूर्तिः ज्ञानसाधनमपि तस्या विकृतम् । प्रान्तदृष्टिः कटाक्षः । तत्रापि आक्षेपभावः । यथा वाचावगुरणम्, तथा कटाक्षा एव आक्षेपरूपाः

निरन्तरं प्रवृत्ताः । तादृशभावस्य पूर्णत्वाय कालनियमनार्थं वा भ्रुकुटिभङ्गः । स्वभावनियमनार्थं च संरम्भः । लोभनाशार्थं दंशः । मोक्षाभावार्थं ज्ञानवक्रता । प्रमाणनिराकरणार्थं हननमिति । यतो लौकिकी भक्तिः पुष्टा भवति । एतदर्थमेषा निरूपिता ।

एवमतिपुष्टां निरूप्य अत्युत्तमां निरूपयति **अपरेति** । एषा हि भगवद्दर्शनेन गतदोषा, अतो ध्यानेन भगवन्तं हृदये स्थापयितुकामा नेत्राभ्यां नेत्रद्वारा भगवन्तं हृदि स्थापितवती । अत्र लावण्यामृतं पेयम्, मुखस्याम्बुजत्वोक्तेः । अनिमिषदृग्भ्यामिति पानकरणम् । द्रवद्द्रव्यस्यान्तर्निवेशनं पानम् । मध्ये रसविच्छेदो भविष्यतीति अनिमिषदृग्भ्यां पानम् । नेत्रयोरञ्जलित्व लावण्यामृतस्य विरलत्वात् । प्रीतिसेवनमत्राभिप्रेतम् । यद्यपि आसमन्ताद्धर्मसहितं सर्वमेवाभिनिविष्टं स्वाधीनं जातम् । यदैवेच्छति तदैव हृदये पश्यतीति तथापि नातृप्यत् अलंभावं न कृतवती । तत्र हेतुर्विषयसौन्दर्यम् । न तु प्रयोजनाभावः प्रतिबन्धकः । एतदर्थं दृष्टान्तमाह **सन्तः तच्चरणं यथे**ति । सन्तो हि जातकार्याः । तथापि चरणारविन्दे सहजो रसः । न तु किञ्चित् प्राप्तव्यं निवर्तनीयं वा ।

एका पुनर्दूरस्था अनया तुल्यशीला योगानुसारेण भगवन्तं गृहीतवतीत्याह **तं काचि**दिति । पूर्वं लौकिकी पश्चाद् भक्तिमार्गानुसारिणी निरूपिता । इयं योगानुसारिणी । अतोऽस्याः सर्वावयवे दृष्टिः । उभयोरेकीकरणम्, अन्यथा दृष्टिभेदः स्यात् । पूर्वस्यास्तु दर्शनमेव प्रयोजनम् । एषा विरलेति **काचि**दित्युक्तम् । **तं** पूर्वोक्तम् । 'न खलु गोपिकानन्दनो भवानि'ति यया निरूपितम् । नेत्ररन्ध्रेणेत्येकवचनं रूपप्रवेशार्थम् हृदि **कृत्येति** । हृदि कृत्वा । असमासेऽपि ल्यप् । हृदिकृत्येत्यलुक्समासो वा । ततोऽन्तःप्रविष्ठो बहिर्मा गच्छत्विति' निमीलनं कृतवती । न हि तस्या बुद्धौ भगवान् बहिरवशिष्टोऽस्ति । स्वकीयो वा भागस्तया गृहीत इति । चकारात् सर्वेन्द्रियनिवर्तनम् । ततोऽन्तरानन्दे पूर्णे पुलकाङ्गी जाता । केवलानन्देन पुलके गोपीत्वं न भविष्यतीति तदर्थं विशेषमाह **उपगूह्यास्त** इति । अयं रोमाञ्चः सात्त्विकभावे प्रविष्टः । अत एवान्तरुपगूह्यालिङ्गय आस्ते । तामेव स्थितिं धारितवती अवस्थान्तराभावाय । ननु तस्या उत्तरत्र कार्यम्, भगवता सह सम्भोगः कर्तव्यः, आलापाः गृहे च गन्तव्यमिति कथं तामेवावस्थां स्थापितवती, तत्राह **योगीवे**ति । योगी हि तयैवाग्रे सर्वं कार्यं साधयति, तथेयमपि, तयैवावस्थया सर्वं साधनीयमिति स्थिता । किञ्च । **आनन्दसम्प्लुता** । आनन्दे निमग्ना । अत एव बहिःसंवदेनरहिता । संवेदनायामेव सत्यां कार्यानुसन्धानम् । न हि पूर्णे आनन्दे कश्चन कामोस्ति ।। ८ ।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि गोपियाँ पहले अनेक* प्रकार की थी तो भी जिस समय भगवान् प्रकट हुए उस समय सात प्रकार की हो गई ।

---

* श्री प्रभुचरण टिप्पणी में इसका स्पष्टीकरण करते हैं—कि पहले गोपियों के अनेक प्रकार, इसलिए हुए थे, जो भगवान् के प्रकट होने से जो चित्त में विक्षेप हुवा था, जिससे वह विक्षेप प्रत्येक गोपी ने पूर्व अध्याय में वृक्षादि से पूछते हुए वचनों से बता दिया है, जिससे सिद्ध होता है, कि गोपियाँ सत्व आदि प्रकार से अनेक प्रकार की थीं, अब प्रभु षड् धर्म और सातवें धर्मी स्वरूप से प्रकट हुए जिससे गोपियाँ भी प्रकट स्वरूप में एक निष्ठा वाली होने से, तद्रूप हो गई अर्थात् धर्म और धर्मी रूप होने से सात प्रकार की हो गई हैं । स्वरूप रसात्मक होने से, उसके धर्म भी वैसे ही होने के कारण से भृकुटि बंधन आदि भाव भी गोपियों में बनते हैं, इस प्रकार के भाव बताए हैं—

एक ही भगवान् समस्त गोपियों को रसदान करने के लिये प्रकट हुए हैं; अतः गोपियों के यूथ में जो दूर स्थित थी, वह भी भगवान् के समीप हो गई है, क्योंकि, भगवान् ने समस्त गोपियों के रसदानार्थ प्रकट होने के कारण सर्वत्र (प्रत्येक गोपी के पास) ही प्रकट होकर सब को अपना सान्निध्य दिया था। गोपियों + के सात प्रकार हैं। भगवान् ने अपना एक हस्त गोपियों के निकट किया, तब किसी ने हर्ष (वियोग मिट जाने के कारण हर्ष हुआ) से उसको अपने दोनों हाथों से ले लिया, दोनों हाथों की अञ्जलि बनाकर हस्त को क्यों लिया? इसका भाव प्रकट करते हैं, कि इस प्रकार लेना बहुत आदर का सूचक है। भगवान् ने एक हाथ इसलिए आगे किया कि दूसरे हस्त से हास्य को रोकने के लिए पीताम्बर को धारण कर रखा था। भगवान् का शौरि नाम इसलिए कहा है, कि यहाँ भगवान् को अपनी वीरता प्रकट करनी है।

दूसरी ने विचारा, कि मैं इससे भी अन्तरङ्ग बनूँ, अतः भगवान् की चन्दन चर्चित भुजा को इस प्रकार अपने कन्धे पर धारण किया, जिससे यों देखने में आया, कि भगवान् ने इसका मानो आलिङ्गन किया है। भ्रमर गीत में 'भुज-मगरु सुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु' इस श्लोक में इस गोपी का अङ्गीकार हुआ है यह बताएँगे।

भगवान् के श्री हस्त का सुगन्ध रूप धर्म इसमें जो रहा हुआ है, वह इस गोपी का निरोध सिद्ध करेगा, इसलिए हस्त को 'चन्दन रूषितम्' विशेषण दिया है। यह चन्दन ब्रह्मादि देवों की पूजा अथवा लक्ष्मी की सेवा का है। ताम्बूल में भी यही भाव समझना चाहिए ॥ ४ ॥

भगवान् ने माला चन्दन आदि सामग्री सहित प्रकट होकर, गोपियों को देवों में उत्तम ब्रह्मादि द्वारा की हुई पूजा तथा लक्ष्मीजी के रमण का कार्य स्पष्ट दिखाया। देवोत्तमों का कार्य और गोपियों का कार्य पृथक् पृथक्[1] है, जैसे कि गोपियाँ आरोहण की इच्छा वाली हैं और देवोत्तम पूजा करने वाले हैं। अतः किसी ने अंजलि में चबाया हुआ ताम्बूल ग्रहण किया कारण कि वह कोमलाङ्गी होने से ताम्बूल लेने के योग्य थी। कोमल अङ्ग वाली की त्वचा[2] भी सूक्ष्म[3] होती है जिससे ताम्बूल चबाने से उसकी विशेष शोभा को देख प्रभु उस पर अति प्रसन्न होंगे।

दूसरी एक गोपी जो बाहर दूर खड़ी थी जिससे, भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध प्राप्त न कर सकी अथवा वियोग संतप्त होने से उठ नहीं सकती थी अतः वहां ही अपनी विरह की अत्यंत तपन को बुझाने के लिए उसने भगवान् के चरण कमल को अपने दोनों स्तनों पर पधराया ॥५॥

+ (१) शुद्ध सात्त्विक, (२) शुद्ध राजस, (३) राजस सात्त्विक (४) सात्त्विक राजस तथा (५) निर्गुण (६) शुद्ध तामस तथा (७) तामस के मिश्रण से चार प्रकार की अन्य गोपियां यों सात प्रकार की यहां गिनी गई हैं। गोपियों के सात प्रकार एक ऊपर दिखाया है वह है, जिसका वर्णन २८ वें अध्याय में हो गया है, और दूसरा इस २९ वें अध्याय में धर्म और धर्मी स्वरूप में एक रूप होने से, जो कहा गया है वह है। गोपियों वे ही हैं किन्तु भाव विशेष से दो प्रकार कहे हैं।

---

[1] जुदे जुदे,   [2] चमड़ी,   [3] महीन

फिर दूसरी जो दूर खड़ी थी वह तामसी थी, तमोगुण के कारण भृकुटी को चढ़ा कटाक्षों से मानों मार रही हो इस प्रकार देखने लगी। वह विह्वल हो गई थी, क्योंकि उसके अन्तःकरण में भगवान् के लिए प्रेम से उत्पन्न क्रोध था। जिससे वह घबरा गई थी, अतः उसने अपने होंठ को दान्तों से काट लिया था। भृकुटी चढ़ाने से उसके चित्त की कुटिलता[1] प्रकट होती है। प्रेम युक्त क्रोध से इन्द्रियों की घबराहट समझी जाती है, होंठ के काटने से देह में क्षोभ प्रतीत हो रहा है। कटाक्षों से मानों मार रही हो, जिससे जाना जाता है, कि उसके प्राणों में बल की स्फूर्ति हो गई है। उसका ज्ञान साधन भी विकार वाला हो गया है, जैसे कोई किसी को वाणी से धमकाता है वैसे ही यह कटाक्षों से निरंतर मार कर रही है, वह भाव पूर्ण हो जाए, उसके लिए काल का नियमन करना चाहिए, अतः इसने भृकुटी को भङ्ग[2] कर काल का नियमन किया है। स्वभाव को नियम में रखने के लिए क्रोध किया है, लोभ को नाश करने के लिए होंठ को काटा है, मोक्ष न मिले, इसलिए ज्ञान में विकार उत्पन्न किया है प्रमाण के निराकरण के लिए कटाक्ष मारे हैं, जिससे लौकिकी भक्ति पुष्ट होती है, इसके लिए अर्थात् इस भाव को दिखाने के लिए इस गोपी का यहां वर्णन किया है ॥६॥

श्री प्रभुचरण टिप्पणी में इस श्लोक में तामसी सखी के किए हुए कर्त्तव्य के भीतरी भावों को प्रकट कर समझाते हैं—

मान दो प्रकार के होते हैं (१) साधारण मान, जो प्रियतम के वचनों से अथवा विशेष काल होने से मिट जाता है, (२) गाढ मान होता है, जो मिटना अशक्य होता है, तामसी को साधारण मान तो प्रथम था, किन्तु अब उसने गाढ मान किया है, उसने यह निश्चय कर लिया है, कि शतधा भी प्यारे प्रयत्न करेंगे तो भी मैं मान नहीं छोड़ूंगी।

समय पाकर मेरा मान शिथिल न हो जाए इसलिए भृकुटि भंग से काल को अपने वश में कर लिया, प्यारे के वचनों से नायिका मान छोड़ देती है, क्योंकि नायिका का स्वभाव ही वैसा होता है, अतः क्रोधकर उस स्वभाव को वश कर लिया, जिससे मान सदा बना रहे, क्रोध के सिवाय स्वभाव का नियमन नहीं हो सकता है।

मान करने से, प्यारे से संगम होने में विलम्ब होगी, वह विलम्ब दुःख देगी। फिर भी जो मान किया जा रहा है उसका हेतु यह है, इस विचार का उदय ही नहीं। विचारोदय नहीं है इसका कारण यह है, कि वे विह्वल हो गई। यदि प्रथम प्यारे के हुए संगम के सुख की स्मृति से पुनः उस सुख का लोभ हो जाए और जिससे मान छट जाए, तो उसके लिए लोभ रूप होंठ को दान्तों से काट लिया है, वैसे करने से लोभ नहीं होगा। इस प्रकार मान त्याग का अत्याग्रह होते हुए भी यदि प्यारे में मान लीन हो जाए तो उसके लिए ज्ञान में कुटिलता करदी है, जिससे ज्ञान के अभाव में यों नहीं होगा। प्यारे में लीन तब हो जब यह ज्ञान उदय हो, कि प्यारा हृदय में स्थित है और मान भी अन्तःकरण में रहता है तब कदाचित् मान प्यारे में लीन हो जाए। भावार्थ यह है, कि

---

[1] —टेढापन, [2] —तिरछापन

मुक्ति तब होती है, जब निर्दोषता हो। धर्मी को मुक्ति भी निर्दोष होने पर होती है, भाव, दोष वाला है उस (दोष वाले भाव) से सम्बन्ध होने से, जब धर्मी की भी मुक्ति नहीं हो सकती है, तो धर्म (मान) की मुक्ति (लीनता) कैसे होगी ? भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन आदि तब हो सकता है, जब प्रमाण बल का निराकरण किया जाए अतः कटाक्षों से प्रमाण बल का हनन किया है, जिससे यह लौकिकी भक्ति है, अर्थात् यह भक्ति (स्नेह) लौकिक रीति का अनुगामी है।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अति कृपा पात्र तामसी का निरूपण कर श्री शुकदेवजी अति उत्तम अर्थात् निर्गुण का निरूपण करते हैं—

यह (निर्गुण गोपी) भगवान् के दर्शन से निर्दोष हो गई, अतः भगवान् को हृदय में स्थापन करने की इच्छा से नेत्रों द्वारा ध्यान से उन्हें हृदय में स्थापित करने लगी। किस प्रकार स्थापित किया, वह प्रकार[1] बताते हैं, भगवान् के मुख रूप कमल में रहा हुआ लावण्यामृत रस ❋ पान करने योग्य है, रस द्रव पदार्थ है वह बीच में ही ढुल कर बह न जाए इसलिए गोपी ने अपने नेत्र रूप अञ्जलि को निमिष रहित बनाकर उससे पान किया, जिससे वह मध्य में ढुला नहीं। यहां प्रेम से पान करना अभिप्रेत है। यद्यपि सम्पूर्ण धर्म सहित सभी कुछ भीतर स्थित हो गया है अर्थात् सभी कुछ गोपी के आधीन हो गया, जब भी चाहे तब, हृदय में दर्शन कर सकती है तो भी तृप्त न हुई, फिर भी इच्छा करती ही रही, कारण कि विषय के सौन्दर्य से प्रयोजन के अभाव ने भी इच्छा करने में रुकावट नहीं की, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे सन्तजनों को कुछ प्राप्त करने की वा त्याग की इच्छा वा आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि वे आप्त काम हो गए हैं तो भी भगवान् के चरणारविंद में जो सहज रस है, उसकी चाह उनको भी सदैव बनी रहती है, वैसे ही इस गोपी को भी मुखाम्बुज के लावण्यामृत रस के पान से तृप्ति न होने से चाह बनी रहती है ।।७।।

फिर एक दूसरी गोपी जो दूर खड़ी थी, वह भी निर्गुण गोपी के समान थी, किन्तु वह भक्ति मार्गीया थी वह योग का अनुसरण करने वाली है, जिससे योगानुसार भगवान् को हृदय में स्थापित करने लगी, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न प्रकार से करते हैं।

पहले छ श्लोकों में लौकिक भाव वाली गोपी का वर्णन किया, फिर सातवें श्लोक में भक्ति मार्ग पर चलने वाली गोपी का वर्णन किया, अब इस श्लोक में जिसका वर्णन है वह योग मार्ग का अनुसरण करने वाली है। अतः इस गोपी की भगवान् के अवयवों में दृष्टि है। इसने दोनों को एक कर दिया है, अन्यथा दृष्टिभेद हो जाता। पहले वाली गोपी का तो दर्शन में ही प्रयोजन है। जब कि यह, इसके जैसी गोपी, तो विरल है अतएव शुकदेवजी "काचित्" कहते हैं। मूल श्लोक में जो 'तं' पद दिया है उसका आशय है, कि जिसको इस गोपी ने गोपीगीत में 'न खलु गोपिका नन्दनो भवान्' कहकर वर्णन किया है, उस भगवान् को नेत्र रन्ध्र से हृदय में पधराकर, नेत्र मूंद लिए, जैसे वह बाहर नहीं जा सके। उसकी बुद्धि में तो यह भाव है, कि भगवान् बाहर हैं ही नहीं, समस्त को

❋ रस, द्रव द्रव्य है, उसका भीतर प्रवेश करना पान है।

---

[1] —तरीका, ढंग

मैंने हृदय में धारण कर लिया है। अथवा जो उसका भाग था वह उसने ले लिया, यह मेरा भाग बाहर न चला जाए इसलिए नेत्र मूंद लिए।

मूल श्लोक में 'च' आता है उसका तात्पर्य यह है, कि भगवान् को हृदय में बन्द करने के साथ अन्य सभी इन्द्रियों के कार्य बन्द हो गए, अर्थात् वे निवृत हो गई और फिर आन्तर आनन्द परिपूर्ण हो गया और वह रोमांचित हो गई। यह रोमांच केवल आनन्दानुभव के कारण नहीं था, अन्य था, तो आत्मानन्द (केवलानन्द) के कारण तो वह गोपी भी न बनी रह पाती, इसी को स्पष्ट करने के लिए आनन्दानुभव की विशेषता ":उपगूह्यास्ते" से दिखलाते हैं। यह रोमांच सात्विक भाव का ही एक प्रकार था, अतएव आन्तर आलिंगन में रत हो गई। इस स्थिति से अन्य कोई अतिरिक्त अवस्था अपेक्षित ही नहीं थी सो इसी स्थिति को दृढ़तर धारण कर बैठी।

यदि गोपी इस स्थिति में रह रही हो तो अन्य कार्य भगवान् के साथ सम्भोग, आलाप और घर जाना आदि कैसे सिद्ध होंगे ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि योगी के जैसे सिद्ध होते हैं, वैसे ही सिद्ध हो जाएंगे। जैसे योगी, उसी स्थिति में रहते हुए भी सर्व कार्य सिद्ध करते हैं, वैसे ही यह भी इसी स्थिति में रहते हुए भी सिद्ध करेगी और विशेष कहते हैं, कि 'आनन्दमग्न' है अतः बाहर का कोई ज्ञान नहीं है, ज्ञान होए, तो कार्य का ध्यान आवे, पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होने पर कोई काम उसके लिए शेष नहीं रहता है ।।८।।

यहां आशय यह है :

छट्ठे श्लोक में, तामस भाववाली गोपी का लौकिक रीति से स्नेह दिखलाया, कि गाढमान के कारण, वह आन्तर बाह्य सबका विचार छोड़कर केवल भगवान् के ऊपर खीज जता रही है कि क्यों इस तरह अन्तर्ध्यान होगए। जबकि सातवें श्लोक में निर्गुण भाववाली भक्तिमार्ग के अनुसार बहि:प्रकट मुखारविन्द को, स्नेह से निहारकर, इतनी मग्न होगई, कि भगवान् के अन्य अंगों पर उसकी दृष्टि ही नहीं गई। अब यहाँ इस आठवें श्लोक की गोपी योगियों की तरह, भगवान् के स्वरूप को लेकर मानों ध्यान-धारणा कर रही है। क्योंकि ध्यान में, प्रत्येक अंग का चिन्तन करके धारणा में उनको समुदित रूप में एक करके हृदय में स्थापित किया जाता है। अब प्रत्येक अंग के चिन्तन में, उन अंगों के परस्पर सम्बन्ध का चिन्तन न करें, तो वह उचित नहीं और यदि करें तो प्रकृत में भगवान् का स्वरूप रसात्मक होने के कारण भावात्मक है और विभिन्न स्वामिनियों के (यथा तामसी बिना कुछ विचारे विरहदायक मान में लगी हुई है जिससे कि, अनपेक्षित भी, स्वरूप विप्रयोगात्मक बन सकता है। ऐसे ही निर्गुणा मुखदर्शन के आन्तर अनुभव एवं बाह्य अनुभव के बीच झूल रही है अतः विप्रयोग, आन्तर संयोग एवं बाह्य संयोग आदि के भेद से भावों में भेद आता है) अतः एक-एक अंग के बारे में भी विभिन्न भाव संभव हैं। फलतः स्वरूप में भी भेद की संभावना है। वह भेद यहां आकर मिट जाता है, क्योंकि यह गोपी सभी भावों एवं सभी अवयवों का योग कर देती है–एकीकरण कर देती है, अन्यथा (क्योंकि भगवान् प्रत्येक के लिए प्रत्येक के भाव के अनुसार स्वरूप लेकर रसदान करते हैं इसलिए) प्रत्येक की दृष्टि-भाव के अनुसार स्वरूप में भी भेद हो जाएगा। वह इसकी योग प्रक्रिया के कारण नहीं होता, अर्थात्, भगवान् अनेक रूपों में भी स्वरूपतः एक ही हैं। ऐसा टिप्पणीजी को देखने से स्फुट होता है। (अनुवादक)

आभास—एवं विशेषाकारेण कृत्यमुक्त्वा सर्वासां सामान्याकारेण प्रयोजनमाह सर्वास्ता इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गोपियों का विशेष रूप से, किया हुआ कृत्य कहकर, अब सर्व गोपियों का सामान्य रूप से जो प्रयोजन है उसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'सर्वास्ताः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।**
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ—वे सब भगवान् के दर्शन से उत्पन्न, महान् उत्सव से आनन्द मग्न हो गईं, जैसे मनुष्य, प्राज्ञ को प्राप्त कर, दुःख का त्याग करते हैं वैसे ही इन्होंने भी भगवान् के दर्शन कर विरह से उत्पन्न हुए दुःख का त्याग किया ॥ ९ ॥

सुबोधिनी--यो हि बलिष्ठरजस्तमोभ्यां व्याप्तयोरपि फलसम्पादकः, तस्य क्षुद्रगुणक्षोभयुक्तानामासामुद्धारे कः प्रयास इति वक्तुं **केशवे**त्युक्तम् । तस्य योयमालोकः आलोकनं प्रकाशो वा अन्तर्बहिः । अत एव स एव परमोत्सवः । यथा लौकिकानां महाराज्यप्राप्तिः पुत्रोत्सवो वा । तेन निर्वृताः सर्वा एव जाताः । एवं तासामिष्टसिद्धिरुक्ता । अनिष्टनिवृत्तिमाह **जहुर्विरहज**मिति । नन्वेवं सति मुक्ता एव ता भवेयुः । नहि संसारे निवृत्ते भगवत्साक्षात्कारेण परमनिर्वृतौ सत्यां कश्चन पुरुषार्थोऽवशिष्यते । तत्राह **प्राज्ञं प्राप्ये**ति । प्राज्ञः सुषुप्तिसाक्षी । स्वाप्यये भगवदाविर्भावो निरूपितः । तत्र च जीवानां प्रवेशो वासनासहितानाम् । तं प्राप्य यथा जनाः अधिकारिणो मनुष्याः पुनरायान्ति, एवमत्राप्यागमिष्यन्तीति भावः । यतो जनाः जायमानाः । न तु उत्तमाधिकारिणः । स्वलम्बन्धख्यापनार्थमेव परं भगवान् प्रकटः ॥ ९ ।

व्याख्यार्थ—वह 'केशव' जो गहरे राजस एवं तामस रंगों से रंगे हुओं को फलदान करते हैं तो इन गोपियों के, जिनके—या जिनमें—गुणों का क्षोभ नितान्त क्षुद्र है, उनके उद्धार में कौन ऐसे विशेष प्रयास की अपेक्षा रखेंगे ! अथवा क्षुद्र गुणों का जिनमें क्षोभ है उनके उद्धार में कौन ऐसे विशेष प्रयास की अपेक्षा होगी ! इस ऐसे केशव का आन्तर एवं बाह्य प्रकाश या दर्शन ही परमोत्सव हुआ । जैसे लोक में किसी को महाराज्य की प्राप्ति अथवा चिर-प्रतीक्षित पुत्र की प्राप्ति परमोत्सव होती है । उस परमोत्सव से सभी आनन्दमग्न होगई । इस तरह उन्हें जो चाहिए था वह मिल गया—इष्ट प्राप्ति । अब अनिष्ट निवृत्ति अर्थात् जो नहीं चाहिए वह दूर चला जाए या नष्ट हो जाए इसका निरूपण "जहुर्विरहजम्" में करते हैं । दुःख निवृत्ति और सुख की प्राप्ति ही तो मोक्ष है और वह यदि यहां सम्पन्न हो जाती है तो इनका भी मोक्ष होना चाहिए, किन्तु नहीं हुआ, संसार छूट गया एवं भगवान् के साक्षात्कार से परमानन्द मिल गया फिर क्या बचा रह जाता है कि मोक्ष नहीं हुआ ? इसका उत्तर 'प्राज्ञं प्राप्य' में दिया गया । 'प्राज्ञं' सुषुप्ति के साक्षी का नाम है । स्वाप्यय (ब्रह्मसूत्र १-१-८) अर्थात् सुषुप्ति में भगवान् का आविर्भाव होना दिखलाया गया है । किन्तु स्वाप्यय में जीवों का प्राज्ञात्मा में प्रवेश वासना सहित होता है अतः वहां भगवान् को प्राप्त

करने पर भी संसारी जीव या मनुष्य फिर लौट आते हैं। इसी तरह यहां भी ये लौट आवेंगी यह आशय है। जन का अर्थ ही है—"जो होता रहे" वे मुक्ति के उत्तम अधिकारी नहीं है। परन्तु इनसे तो अपना सम्बन्ध जताने के लिए ही भगवान् प्रकट हुए हैं॥ ९॥

'केशव' का तात्पर्य लालु भट्टजी, "क+ईश+व=केशव अर्थात् क—ब्रह्मा, एवं ईश—शिव को, व—मोक्ष देने वाले" यों लेते हैं और तदनुरूप ही "बलिष्ठरजरजस्तमोभ्यां व्याप्तयोरपि फल संपादकः" का अर्थ भी ब्रह्मा एवं शिव ही करते हैं।

इनके या भगवान् के सभी गुण महान् ही हैं। किन्तु सामान्य संसारी जीव जैसे सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव करके भी पुनः लौट आता है अविद्यावासनावशात् एवं यहां अज्ञान नहीं है, किन्तु भगवान् के अन्तर्हित होने पर भी भगवान् इनके साथ ही थे यह इन गोपियों ने नहीं जाना सो इस क्षुद्र गुण के कारण दुःख हुआ और इस विरह दुःख की निवृत्ति या इस दुःख से उद्धार केशव भगवान् ने किया। यहां दुःख दूर हुआ एवं आनन्द की प्राप्ति हुई तो भी मोक्ष नहीं होता क्योंकि यह प्राप्ति सुषुप्ति में प्राज्ञ प्राप्ति जैसी है' जहां मुक्ति नहीं होती किन्तु केवल आनन्दानुभव हो जाता है। वही यहां भी होगा क्योंकि न तो ये गोपियां सामान्य अज्ञानी लौकिक जीव हैं और न प्रसिद्ध मुक्ति मार्ग की अधिकारी। इन्हें तो केवल अपने प्रियतम के बाह्य संगम की अभिलाषा है और यह मनोरथ इनका भगवान् को पूरा करना ही पड़ेगा अतः प्राज्ञ का उदाहरण दिया गया, जहां आनन्द है किन्तु मुक्ति नहीं। किन्तु इतना अन्तर भी है कि प्राज्ञ के आनन्दानुभव करने वाले लौकिक जीवों की तरह इन्हें लौकिक वासना नहीं है। दृष्टान्त भी तो कुछ समानता एवं कुछ असमानताओं के रहते हुए दिया जाता है।

आभास—एवं तासां कृत्यमुक्त्वा ताभिर्भगवत्कृत्यमाह ताभिरिति।

आभासार्थ—इस प्रकार गोपियों ने जो कृत्य भगवान् के लिए किया उसका वर्णन कर, अब भगवान् गोपियों के लिए जो कृत्य करते हैं, उसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'ताभिर्विधूत' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।**
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥ १०॥

श्लोकार्थ—हे तात! शोक रहित उन गोपियों से आवृत, अच्युत भगवान् अधिक सुशोभित हुए, जैसे पुरुष शक्तियों से शोभता है॥ १०॥

सुबोधिनी—तासां सम्बन्धे प्राकृतीनां भगवतोऽन्यथात्वं शङ्क्यते, तन्निवर्त्यते। अन्यथा स्वार्थमेव भगवत्तिरोधानं स्यात्। 'स नैव व्यरमत्, तस्मादेकाकी न रमत' इति श्रुतेः। लोकोपि केवलं भगवन्तं पश्यन् न निर्वृतो भवति, किन्तु सर्वशक्तियुक्तं परम्। 'पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्नेति' वाक्यात्। पूर्ववत्। ता दुःखिताश्चेत्, तदोत्तमता न भवतीत्याह **विधूतशोकाभिरिति**। **ताः** पूर्वोक्ताः। गुणास्तासामुक्ता एव। सर्वथा प्रपन्ना इति। मध्ये शोकः समजनि।

तस्मिन्निवृत्तो यथापूर्वमेव ताः। भगवांश्च षड्गुणैश्वर्ययुक्तः। तथापि प्राकृत इव यदि परिच्छिन्नकामः स्यात्, तथापि वैलक्षण्यात् न रोचेत। भगवाँस्तु पूर्णकाम इत्याह **अच्युत** इति। अतः ताभिर्वृतः अधिकं व्यरोचत सहजापेक्षया। उक्तार्थविश्वासेन हि श्रोता वक्तारं पुष्णातीव पितेव पुत्रं स्वार्थम्। अत एवाग्रेऽतिगुप्तार्थकथनेन वक्ता श्रोतारं सुखयति। अन्यथानधिकारिणं मत्वा न वदेदलौकिकमर्थम्। प्रकृते चास्मिन्नर्थे राज्ञो विश्वासं दृष्ट्वातिसन्तोषेण स्नेहेन च पितृत्वेन सम्बोधयति **ताते**ति। नन्वेवं सति भगवत्कान्तेः तारतम्यात् सहजत्वं न स्यात्। अत आह **पुरुषः शक्तिभिर्यथे**ति। यथायं प्राकृतोपि पुरुषः सर्वसामर्थ्येषु लीनेषु लोकप्रतीत्या न रोचत इव, स चेत् क्रियाज्ञानादिशक्तीराविष्करोति, तदाधिको रोचते, तथा अयमपि भगवान् रोचमान एव प्रकटासु शक्तिषु गोपिकासु सर्वप्रतीत्या भावुकानामप्यन्तःकरणेन अधिकं व्यरोचत। अतिसौन्दर्यं प्राप्तवान्। ततो भगवान् परमानन्दयुक्तः स एव। 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—जो गोपियां प्राकृत होती, तो उनके सम्बन्ध से भगवान् भी प्राकृत बन जाते जिससे भगवान् की अलौकिक शोभा छिप जाती, किन्तु यों नहीं है, अर्थात् गोपियां प्राकृत नहीं थी, अतः उनके सम्बन्ध से भगवान् की अलौकिक शोभा भी तिरोहित नहीं हुई है। यदि गोपियां प्राकृत होती तो भगवान् उनसे सम्बन्ध ही न करते अथवा भगवान् का तिरोहित होना, प्राकृत गोपियों के सम्बन्ध से अलौकिक शोभा के नष्ट होने के भय से, मानना पड़ेगा। परन्तु इस प्रकार मानना भी श्री शुकदेवजी के 'भगवान् गोपियों के साथ अधिक शोभा पाने लगे' इन वचनों के विरुद्ध होंगे, श्री शुकदेवजी ने ये वचन कहकर सिद्ध किया है, कि गोपियां प्राकृत नहीं हैं। इसलिए 'स नैव व्यरमत्' 'तस्मादेकाकी न रमते' इन श्रुतियों की सफलता तब होती है, जब भगवान् गोपियों को निर्दोष समझ उनके साथ रमण करते हैं।

भगवान् गोपियों को प्राकृत समझ "उनके सम्बन्ध से मैं भी प्राकृत बन जाऊंगा" इस भय रूप स्वार्थ सिद्धि के लिए तिरोहित नहीं हुए थे, किन्तु उनको विशेष आनन्द देने के लिए अन्तर्ध्यान हुए थे।

लोक भी केवल* भगवान् को देखकर प्रसन्न नहीं होते हैं किन्तु सर्व शक्तियों के साथ भगवान् के दर्शन से आनन्द मग्न होते हैं।

शास्त्र में कहा है, कि 'पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुख दुःखि नोर्न' पुरुष सुखी हो, स्त्री दुःखी हो, तो उनका समागम आनन्द वाला नहीं होता है, तथा यदि स्त्री सुखी हो और पुरुष दुःखी हो, तो भी उनका समागम आनन्द वाला नहीं होता है, अर्थात् समागम आनन्ददाता तब बनता है, जब दोनों शोक रहित होवें, अतः कहा है, कि 'विधूत शोकाभिः' जिन गोपियों का शोक अर्थात् दुःख मिट गया है, वैसी गोपियों से समागम करने से, भगवान् अधिक शोभा पाने लगे। उनके (गोपियों के) गुण तो पहले कहे हुए ही हैं, कि सर्वथा शरण आई हुई हैं, मध्य में शोक हुआ था, उसके नष्ट हो जाने से, वे पहले जैसी हो गईं। भगवान् तो ऐश्वर्य आदि षड्गुणों से युक्त ही हैं, तो भी यदि प्राकृत की भांति परिच्छिन्न काम वाले बनें तो, गोपियों से वैलक्षण्य‡ होने से शोभा को नहीं पावे।

---

* शक्तियों के सिवाय एकाकी 'अकेले'

‡ गोपियां अप्राकृत आप प्राकृत काम वाले यह विलक्षणता 'अन्य प्रकार'

श्लोक में, श्री शुकदेवजी ने भगवान् का 'अच्युत' नाम देकर यह बताया है, कि प्रभु पूर्णकाम अतः गोपीजनों से आवृत[1] स्वाभाविक स्वरूप को अपेक्षा से भी, विशेष शोभित होने लगे।

श्लोक में 'तात' यह सम्बोधन दिया है जिसका आशय यह है कि, जिस प्रकार पिता अपने स्वार्थ* के लिए पुत्र का पोषण करता है और श्रोता भी अपनी स्वार्थ‡ सिद्धि के लिए वक्ता में विश्वास प्रकट कर पोषण करता है। जब वक्ता श्रोता के विश्वास से प्रसन्न होता है, तब उसको अधिकारी समझ, अति गुप्त अर्थ भी बताकर, श्रोता को आनन्दित करता है, नहीं तो अनधिकारी समझ अलौकिक अर्थ न बतावे।

श्री शुकदेवजी इस प्रसंग में राजा का विश्वास देखकर अति संतोष तथा स्नेह से पिता के समान 'तात' यह संबोधन देते हैं।

यदि, भगवान् गोपियों से अधिक शोभा पा रहे हैं यह माना जाय, तो उसमें तारतम्य[2] होने से, भगवान् का सहजपन न रहेगा और भगवान् विकारी बन जाएंगे, इस शंका के मिटाने के लिए शुकदेवजी ने श्लोक में 'पुरुषः शक्तिभिर्यथा' कहा है। लोक में भी शक्तिहीन पुरुष की शोभा नहीं होती है। जब वह भी अपनी ज्ञान आदि शक्तियों को प्रकट कर दिखाता है तब शोभा पाता है और अन्यों को ज्ञान आदि से आनन्द देता है, उसी भांति भगवान् भी जब अपनी गोपिका रूप शक्तिओं को प्रकट करते हैं, तब उनके साथ अधिक शोभा पाते हैं, जिससे सर्व आस्तिक जनों के तथा भावुक भक्तों के अन्तःकरण में तो विशेष शोभते हैं, जिससे सब समझने लगते हैं, कि यह भी भगवान् हैं और यह ही परमानन्द रूप हैं। इससे आनन्द की प्राप्ति होती है, जैसा कि भगवती श्रुति भी कहती है, कि 'एषह्येवानन्दयति' इति श्रुतिः' ये ही सबको आनन्दित करते हैं ॥१०॥

आभास—तासामानन्दजननार्थं यत् कृतवाँस्तदाह ताः समादायेति।

आभासार्थ—भगवान् ने गोपीजनों में आनन्द उत्पन्न करने के लिए जो कुछ किया, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी इस 'ताःसमादाय' श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः।
विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—उनको (गोपियों को) साथ में लेकर, कालिन्दी के तीर पर विराजमान होकर, आप विभु बन गए, वह तीर उस समय प्रफुल्लित कुंद और मंदार के पुष्पों से सुगन्धित वायु वाला तथा भ्रमरों वाला हुआ था ॥ ११ ॥

---

* बड़ा होगा कमा के खिलाएगा, श्राद्धादि क्रिया कर नरक से बचाएगा

‡ वक्ता गुप्त रहस्य भी प्रसन्न होकर बतावे,

---

[1] घिरे हुए, [2] भेद

सुबोधिनी— ताः सम्यक् आदाय समीचीने पुलिने निर्विश्योपविश्य विभुर्जातः । कालिन्दी कलिन्दकन्या । कलिं द्यतीति कलिन्दः । अतस्तस्याः पुलिने तासामन्योन्यं भगवता वा कलहो न भविष्यतीति ज्ञापितम् । पुलिनं वर्णयति क्रीडायोग्यत्वार्थं सार्धेन । सर्वत उपरि अधश्चेति । प्रथमतः सर्वतः सौभाग्यमाह । विकसन्ति कुन्दमन्दारपुष्पाणि तेषां सुरभ्यनिलः षट्पदा भ्रमराश्च यत्र । वायोस्त्रयो गुणाः स्पष्टाः । मकरन्दोपि पुष्पेष्वधिकः । तेन मत्ता भ्रमरा अपि नादसादकत्वेन गानादावुपयुज्यन्ते । विकासो वाय्वर्थं एव । कुन्दगन्धः शान्तः । मन्दारगन्धः पुष्टः । तेन गुप्तागुप्तकामयोरुद्बोधको निरूपितः । (अत्रन्तोक्त्या प्रभुनिवेशनसमये एव विकासारम्भो, न तु पूर्वमपीति ज्ञाप्यते । अन्यथा विकासितेति वदेत् । एवं सति यस्मिन् क्षणे यस्यार्थस्योपयोगः, तस्मिन्नेव क्षणे तत्कार्यं भवति, नान्यदेति लीलामात्रोपयोग्येवात्रत्यं सर्वमपि इति ज्ञापितं भवति । अन्यथा सार्धाध्यायत्रयोक्तलीलायाँ क्रियमाणायां भूयस्येव रात्रिरतीतेत्यधुनैव विकासे हेत्वन्तराभावात् स न भवेत् , अत एव न वदेदपि । एवं सत्येतादृक्कुन्दादिसम्बन्धित्वेनोक्तत्वादनिलादयोऽप्यधुनैव प्रवृत्ताः न पूर्वमपीति ज्ञेयम् ।) स्वतन्त्रतयापि सौरभ्यप्रतीत्यर्थं सुरभिरनिल उक्तः । वं परितो जलं, परितः सुगन्धः, परितः पुष्पाणि, परितो वायुः, परितो नाद इति निरूपितम् ।। ११ ।।

व्याख्यार्थ—उन गोपियों को भली भांति साथ लेकर, सुन्दर तीर पर प्रभु पधारे और वहां विराजमान होकर व्यापक बन गए अर्थात् प्रत्येक गोपी के पास हो गए ।

२९वें अध्याय में लीला करते हुए जब यमुनाजी के तीर पर पधारे तब वहां श्लोक में 'नद्याः पुलिनमाविश्य' नदी के तीर पर पधार कर कहा और अब 'कालिन्द्याः पुलिनं निर्विश्य' कालिन्दी के तीर पर पधार कर कहा है, जिसका स्पष्टीकरण यह है कि यहां कालिन्दी शब्द इस लिए दिया है कि यहां गोपियों का न तो आपस में कलह होगा और न भगवान् से ही, क्योंकि, यहां इस पुलिन में श्री यमुनाजी का कलह का नाशक धर्म प्रकट है, इसलिए श्री शुकदेवजी ने 'कालिन्दी' नाम दिया है, जिसका अर्थ है, 'कलिंद्यति कलिन्दः' कलह को नाश करने वाला कलिन्द' उसकी कन्या कालिन्दी उसका यह पुलिन है, अतः यहां कलह नहीं होगा । वहां यह धर्म प्रकट नहीं था, जिससे 'नदी' कहा है इसलिए गोपियों में मद 'अहङ्कार' उत्पन्न हुआ था ।

अब यह पुलिन क्रीड़ा के योग्य है, इसलिए चारों तरफ, ऊपर और नीचे, यों तीन प्रकार से वर्णन करते हैं ।

प्रथम श्री यमुनाजी के चारों ओर के सौभाग्य का वर्णन करते हैं, जहां कुन्द और मन्दार के पुष्प प्रफुल्लित हो रहे हैं । उनकी सुगन्धियुक्त वायु लग रही है और भ्रमर भी हैं । ऐसा यह श्री यमुनाजी का तट, वायु के शीत, मन्द और सुगन्धि इन स्पष्ट तीन गुणों वाला भी है । पुष्पों में मकरन्द[1] भी अधिक है, जिससे भ्रमर मत्त होकर गुञ्जार कर रहे हैं, अतः वे गान क्रिया में उपयोगी बन सकते हैं । फूल वायुको अपनी सुगन्धि देने के लिए प्रफुल्लित हो रहे हैं । कुन्द पुष्पों की गन्ध शान्त है और मन्दार पुष्पों की गन्ध पुष्ट है, इस प्रकार गन्धों का भेद कह कर यह बताया है,

---

[1] १—पुष्प रस

कि ये क्रमशः गुप्त तथा अगुप्त कामों को जगाने वाले हैं, अर्थात् कुन्द की शान्त गन्ध गुप्त काम को जगाती है और मन्दार की पुष्ट गन्ध अगुप्त (प्रकट) काम को जगाती है। (यहां 'विकसत्' में 'शत्' प्रत्यय का अर्थ यह होता है कि पुष्प उस समय विकसित हो रहे थे, अर्थात् जब प्रभु का निवेश हुआ, तभी पुष्पों में भी विकास आरभ हुआ इससे पूर्व नहीं। अन्यथा 'विकसित्' न कह कर 'विकसित' कहा होता। यों इससे यह प्रकट होता है, जिस क्षण में जिस वस्तु का उपयोग रहता है उसी क्षण में वह कार्य होता है, अन्य समय नहीं। यों सभी वस्तुएँ जो यहाँ हैं, वे लीला में उपयोगी ही हैं यह सिद्ध होता हे। अन्यथा साढे तीन अध्यायों की लीला के होते-होते काफी रात बीत चुकी होगी, अतः अब ही जाकर इन पुष्पों के खिलने का कोई हेतु नहीं है और न इनके वर्णन का कोई हेतु है। यों इन कुन्द आदि पुष्पों से टकराकर वायु भी अभी ही बहने लगी हैं इससे पूर्व नहीं बह रही थी यह फलित होता है।)

सुगन्धि, स्वतन्त्र प्रकार से भी जानने में आवे इसलिए मूल श्लोक में 'सुरभि' 'अनिल' पृथक् पद दिए है, इस प्रकार के वर्णन ने यह बताया है, कि चारों तरफ 'जल' चारों तरफ 'वायु' चारों तरफ पुष्प और चारों तरफ 'नाद' है।

आभास—उपर्युक्तमतामाह शरदिति।

आभासार्थ—श्री यमुनाजी का पुलिन ऊपर से भी उत्तम है, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'शरच्चन्द्रां' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**शरच्चन्द्रांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमःशिवम्।**
कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम्॥ १२॥

श्लोकार्थ—शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समुह से, रात्रि का अन्धकार मिट गया, जिससे रात्रि कल्याणमयी होगई, श्री यमुनाजी ने अपने तरंगो को हस्त बनाकर तीर पर कोमल वालुका को बिछाकर उसको सीधा बना दिया है॥ १२॥

सुबोधिनी—शरत्कालीना ये चन्द्रांशवः, तेषां ये सन्दोहाः समूहाः, तैर्ध्वस्तं दोषाया रात्र्यास्तमो यत्र। तेन अत्यन्तं शिवं कल्याणरूपम्। अन्धकारे गतेपि यदि भूताद्यभिनिविष्टं भवेत्, तथापि तदाप्यसमञ्जसमिति कल्याणरूपता निरूपिता। निर्विघ्नमग्रिमेष्टकार्यसम्पादकत्वज्ञापनाय च। परितश्च निकृष्टाः पदार्थाः नोपर्यधश्च। अधस्तस्य पुलिनस्य गुणानाह **कृष्णे**ति। सापि भगवत्सनाम्नी भूसंस्कारं कृतवती भगवद्रमणार्थम्। कृष्णाया हस्तरूपाः तरलास्तरङ्गाः तैः आचिताः कोमलवालुका यत्र। अन्यथा हस्तरूपताभावे समता न स्यात्। तेन शैत्यं कोमलत्वं समता चोक्ता। तादृशं पुलिनं निर्विश्य तत्र गत्वा वा स्थितः। उपवेशनमग्रे वक्ष्यति। भावेनैवोपवेशनम्॥ १२॥

व्याख्यार्थ—वह पुलिन कल्याण रूप हो गया है, क्योंकि शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समूह से रात्रि का अन्धकार मिट गया। अन्धकार मिटने से, उसके आश्रित भूत भी नाश हो गए,

जिससे कल्याण रूप तीर पर इष्ट कार्य निर्विघ्नता से सिद्ध होंगे, यह बता दिया है। श्री यमुनाजी के तीर के चारों तरफ तथा ऊपर एवं नीचे भी कोई निन्दित पदार्थ नहीं है। अनन्तर उनके (श्री यमुनाजी के) निम्न किनारे के भाग के गुणों का वर्णन करते हैं, वह (श्री यमुनाजी) भी भगवान् के समान 'कृष्ण' नाम वाली है, अतः उनने भगवान् के रमण के लिए पृथिवी का संस्कार[1] किया, वह संस्कार कैसे किया ? उसको बताते हैं, कि यमुनाजी ने अपने तरङ्गों को हस्त बनाकर, उनसे तीर पर, कोमल, शीत और एक सी रेत को बिछा दी। प्रभु वैसे तीर पर जाकर खड़े हो गए, भगवान् के बैठने का वर्णन आगे करेंगे अब तो भाव से ही बैठे हैं ॥१२॥

आभास—ततो गोपिकानां कृत्यमाह **तद्दर्शनाह्लादेति।**

आभासार्थ—अनन्तर श्री शुकदेवजी गोपियों के कार्य का वर्णन 'तद्दर्शना' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।**
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥

श्लोकार्थ—वैसे प्रभु के दर्शन से, उत्पन्न आनन्द द्वारा, गोपियों के हृदय के दुःख नाश हो गए, जैसे श्रुतियां मनोरथों के अन्त को प्राप्त हुई, उसी भांति गोपीजनों ने भी, अपने मनोरथ पूर्ण किए, उन्होंने अपनी आत्मा के बन्धु भगवान् के विराजमान होने के लिए, स्तनों के कुङ्कुम से अङ्कित अपने उत्तरीय वस्त्रों के आसन बनाए ॥१३॥

सुबोधिनी—शोके गतेपि कामस्तापात्मको वर्तत एव, सम्बन्धस्याजातत्वात्। यदा पुनस्तादृशस्थाने तदर्थं गतः, तदा तद्दर्शनेन तस्य तदवस्थामापन्नस्य दर्शनेन योऽयमाह्लादः भाव्यर्थनिश्चयात् तेन विधूताः हृद्रूजो यासाम्। एवं निवृत्ते दोषे तासां यज्जातं तदाह **मनोरथान्तं ययुरिति।** ताभिर्यथाकथञ्चित् सम्बन्धोऽभिलषितः। जातस्तु ततोऽनन्तगुणसामग्रीसहितः। अतो मनोरथस्याप्यन्तो यत्र तादृशं ययुः। नन्वनभिलषितं कथं प्राप्नुयुः, तत्राह **श्रुतयो यथेति।** श्रुतयो हि निरन्तरं भगवद्गुणवर्णनपराः। तेन धर्मेण, वाचः पूर्वरूपं यन्मनः, तस्यापि यदगम्यं भगवत्स्वरूपं, तत् प्राप्तवत्यः। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'ति भगवदानन्दो मनोरथान्तो भवति। तत्प्रतिपादिकाः श्रुतयो जाताः। सर्वे च मन्यन्ते। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इति, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादिवाक्यैः ब्रह्मणि श्रुतयः प्रमाणमित्यध्यवसीयते। 'सर्ववेदान्तप्रत्यय'मिति न्यायाच्च। अलौकिको वेदार्थः। अलौकिका वेदशब्दाः। लोके च न सङ्केतः। तथापि निरन्तरं भगवत्कार्यं कथयन्तीति लोकाः तच्छ्रवणेन शुद्धान्तःकरणाः स्वयमेवालौकिकविषये सामर्थ्यं मन्यन्ते। श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका

---

[1] —शुद्धि

भगवदिच्छया । नात्र लौकिकं साधनमपेक्षते, युक्ति वा । तथा एतासामपि मनोरथान्त प्राप्तिः । एवं परमपुरुषार्थदातुर्भगवतोऽन्यत्राभिनिवेशे आधारधर्मसम्बन्धात् स्वस्य कृतार्थता न भविष्यतीति पूजार्थमात्मनिवेदनार्थं च आसनं चक्रुरित्याह **स्वैरुत्तरीयै**रिति। तद्देशस्थानां स्त्रीवस्त्राणि त्रीणि भवन्ति । परिधानीयं, कुचपट्टिका, उपरिवस्त्रं च । सर्वाभिरेव स्वोपरिवस्त्राणि आसनार्थं दत्तानि । उपरिवस्त्राण्यपि द्विविधानि भवन्ति। सर्वदा परिधेयानि, भोगसमये च । तानि सूक्ष्माणि भवन्ति । तान्येव भगवते दत्तानीति ज्ञापयितुमाह **कुचकुङ्कुमाङ्कितै**रिति । शुष्काण्यपि कुङ्कुमानि क्रीडायामार्द्राणि भवन्ति । अतस्तेनाङ्कितानि उत्तरीयाणि, अचीक्लृपन् कल्पयामासुः । ननु स्वोपरिपरिधेयं कथमधः कल्पयाञ्चक्रुरित्याशङ्क्याह **आत्मबन्धव** इति । आत्मनः स एव बन्धुः, रक्षित आत्मा, तदर्थमेव देहः स्वात्मा च । अत उपर्याच्छादनमपि तदर्थमिति तस्यासनक्लृप्तिरुचिता ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि दशम श्लोक के अनुसार गोपियों का शोक निवृत्त हो गया है, किन्तु हृदय का रोग, जो तापात्मक काम है, उसकी निवृत्ति नहीं हुई है, क्योंकि अब तक भगवान् से सम्बन्ध नहीं हुआ है । किन्तु जब भगवान् वैसे स्थान में इनके (गोपियों के) लिए पधारे हैं, तब आप के वैसे स्वरूप के दर्शन से, यह निश्चय हुआ, कि अब हमारी भगवान् से सम्बन्ध की अभिलाषा पूर्ण होगी, जिससे उत्पन्न आनन्द से हृदय का तापात्मक काम भी निवृत्त हो गया । श्लोक में 'मनोरथान्त' कहा है, जिसका आशय है, कि गोपियों ने किसी न किसी प्रकार से, भगवान् से सम्बन्ध होने की अभिलाषा की थी, किन्तु भगवान् ने तो उनको अनन्त गुण और सामग्रियों सहित पूर्ण अभिलषित का दान किया, अतः मनोरथ के अन्त को प्राप्त हुई, अर्थात् इसके अनन्तर कोई मनोरथ शेष नहीं रहा । गोपियों ने जो नहीं चाहा था उसको भी कैसे प्राप्त किया ? इस शङ्का का उत्तर श्रुतियों के दृष्टान्त से देते हैं, श्रुतियां निरन्तर भगवान् के गुणगान में लगी रहती हैं । गोपियों ने भी, इसी गुणगान धर्म का सहारा लिया और उन्हें भगवान् मिल गए ! मन वाणी का पूर्वरूप है (क्योंकि मन में बात आने पर वाणी से उसकी अभिव्यक्ति होती है) परन्तु भगवान् तो वाणी तथा मन से भी अगम्य हैं, जैसा कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" अर्थात् मन सहित वाणी वहां जाकर लौट आती है यों भगवदानन्द को मनोरथान्त-जहां से आगे मनोरथ न दौड़ पाये-मान ना चाहिए । (उसे गोपियों ने गुणगान से प्राप्त कर लिया) । उस ब्रह्म का प्रतिपादन श्रुतियों ने किया और यह सब मानते भी हैं। उपनिषदों में वर्णित[1] उस पुरुष को पूछता हूँ, 'इस कारण से लोक और वेद में पुरुषोत्तम[2] नाम से प्रसिद्ध हूँ' 'सर्व वेद[3] जिसके पद का वर्णन करते हैं । इत्यादि वचनों से प्रमाणित होता है कि श्रुतियां ब्रह्म स्वरूप में प्रमाण हैं, 'सर्व वेदान्त[4] से ब्रह्म का ही ज्ञान होता है, क्योंकि विधि वाक्य समान ही हैं ।

वेद का अर्थ अलौकिक है, वेद के शब्द अलौकिक हैं, लोक में वेद के शब्दों का कोई संकेत नहीं है, तो भी वे सदा ही भगवान् के कार्य का वर्णन करते रहते हैं, जिसके श्रवण से लोगों के

१—तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, २—अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः, ३—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, ४—सर्ववेदान्त प्रत्ययम्,

अन्तःकरण शुद्ध होते हैं, शुद्ध अन्तःकरण होने से, लोक स्वयं ही अलौकिक विषय में वेद की सामर्थ्य मानते है और श्रुति भी उसका प्रतिपादन भगवान् की इच्छा से करती हैं। वेद के विषय में श्रुतियों को किसी लौकिक साधन वा युक्ति की अपेक्षा नहीं है,[1] वैसे गोपियों को भी मनोरथान्त की प्राप्ति हुई है।

श्लोक में श्री शुकदेवजी 'स्वैरुत्तरीयै' पद से यह बताया कि भगवान् के विराजने के लिए गोपियों ने अपने उत्तरीय वस्त्रों से आसन बनाए, इस पद का भाव यह है कि गोपियों के मन में यह शङ्का हुई, कि यदि परम पुरुषार्थ देने वाले भगवान् अन्यत्र विराजमान होंगे, तो उस अन्य आधार के सम्बन्ध होने से, हमारी अपनी कृतार्थता नहीं होगी, अतः भगवान् की पूजा के लिए तथा आत्म-समर्पण करने के लिए अपने उत्तरीय वस्त्रों से आसन बिछाए।

उस देश की स्त्रियों के वस्त्र तीन होते हैं, एक वस्त्र पहनने के लिए दूसरा वस्त्र स्तनों को कस कर बान्धने के लिए और तीसरा वस्त्र ऊपर डालने का होता है, सब गोपीजनों ने अपने ऊपर के वस्त्रों के आसन बनाए। ये ऊपर के वस्त्र भी दो प्रकार के होते हैं, एक सदा पहनने के लिए दूसरा भोग के समय पहनने के लिए होता है। भोग के समय वाले वस्त्र सूक्ष्म[2] होते हैं, वे ही भगवान् के विराजने के लिए आसन बनाए थे, वे वस्त्र स्तनों पर लगी कुङ्कुम के रंग से अंकित थे, यद्यपि कुङ्कुम शुष्क हो गए थे, किंतु क्रीड़ा करते हुए, वे आर्द्र हो गए जिससे वस्त्रों में उसके चिन्ह हो गए थे। अपने पहनने का ऊपर वाला वस्त्र नीचे क्यों बिछाया? इसके उत्तर में शुकदेवजी ने 'आत्मबन्धवे' पद दिया है जिसका आशय यह है, कि जिसके लिए अपने उत्तरीय वस्त्र दिए हैं, वह अपने ही बन्धु हैं, उनके लिए ही यह देह और आत्मा धारण कर रखी है, अतः यह उत्तरीय भी उनके लिए ही हैं इसलिए उत्तरीय से आसन बनाना योग्य ही है ।।१३।।

आभास—ततो भगवान् तासु सर्वत्र निविष्ट इति ख्यापयितुं तद्दत्तासन उपविष्ट इत्याह **तत्रोपविष्ट** इति।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् ने गोपियों में सर्वत्र प्रवेश किया, यह जताने के लिए गोपीजनों के उत्तरीय वस्त्रों से बने आसन पर विराजे, जिसका वर्णन 'तत्रोपविष्टः' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।**
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ।।१४।।

श्लोकार्थ—योगेश्वरों के हृदय में जिनके आसन का होना माना जाता है, वह भगवान् वह ईश्वर, तीनों लोकों की लक्ष्मी की शोभा को एकत्रित करके एवं गोपियो की परिषद् में उनके द्वारा की गई पूजा से सुशोभित होकर वहां उन वस्त्रों पर बिराजे ।।१४।।

---

[1]—श्रुतियों की भांति, [2]--महीन

सुबोधिनी—**भगवानिति** तेषां कार्यसाधकत्वम् । ननूत्तरीयवस्त्रापगमे सभायां रसाभासो भवेत्, अतः कथमुपविष्ट इति चेत्, तत्राह **स ईश्वर** इति । सः पूर्वं प्रार्थितः । ईश्वरः सर्वकरणसमर्थः । अतस्तासां दिव्यानि वस्त्राणि सम्पन्नानीति बोधितम् । येषां जलक्रीडायां न वाससामार्द्रता । अतः सर्वकरणसमर्थः तत्रोपविष्टः सः प्रार्थितः । (यद्वा । पूर्वं वरदानसमये वस्त्रेष्वपहृतेषु सर्वथा तदभावे यस्य रसाभासो न जातः, तस्य केवलमुत्तरीयाभावे कथमधुनापि स भवेदिति वक्तुं **स** इत्युक्तवान् । ननु तदानीमपि कथं न रसाभास इत्यत आह **ईश्वर** इति । कर्तुं सामर्थ्यवत्त्वात् । यदि स भवेत्, तदा तथा न कुर्यादेव । अकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासहेतुत्वेऽपि तद्दत्तमासनं त्यक्तुमशक्यमेव । अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासप्रकारेणापि रसमुत्पादयितुं शक्तः । अतस्तादृशे न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः ।) ननु भगवान् अपवित्रे भोगादिलेपयुक्ते कथमुपविष्ट इति चेत्, तत्राह **योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासन** इति । योगेश्वराणां हृदयं शुद्धम् । तत्राप्यन्तर्हृदयम् । तत्रापि कल्पितमेव भगवदासनम्, न तु क्लृप्तम् । मानसी मूर्तिस्तिष्ठति, न तु कदाचिदपि स्वयमुपविष्ट इति मुख्यमासनमेतदेव । अतश्चकास, परमशोभां प्राप्तवान् । पूर्ववद् गोपीनां परिषदं गतश्च जातः । परितो गोपिका उपविष्टा इत्यर्थः । सभापतिर्भगवान् । अतस्ताभिरर्चितः । ततो भगवान् तासामर्थे त्रैलोक्ये यावन्ति लक्ष्मीरूपाणि इन्द्रपदादीनि, तासां यदेकं पदं, यस्यांशविलासाः तत्तल्लक्ष्मीभोक्तारः, तादृशं वपुर्धृतवान् । अस्मिन्नर्थे देशकालादिभेदेन यावन्त उत्कृष्टा अर्था अपेक्ष्यन्ते, तान् प्रकटितवान्, तादृशवपुर्धारणेन ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—मूल श्लोक में 'भगवान्' और 'ईश्वर' दो नाम दिए हैं, उनका आशय यह है, भगवान् नाम इसलिए दिया है, कि गोपियों के कार्यों को सिद्ध करने वाले हैं, और 'ईश्वर' नाम देने से यह बताया है, कि आप कर्तुं, अकर्तुं तथा अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं । जिससे गोपियों के शरीर पर उत्तरीय वस्त्र न होने से सभा में रसाभास होना चाहिए वह न हुआ कारण कि समर्थ होने से उनको दिव्य वस्त्र पहना दिए, दिव्य वस्त्र जल क्रीडा के समय भी आर्द्र नहीं होते । यों सभी तरह के सामर्थ्य वाले वहां प्रार्थना करने पर बिराजे ।

भगवान् भोगादि लेप वाले अपवित्र वस्त्रों से बने आसन पर कैसे विराजे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि योगेश्वरों का हृदय शुद्ध है उसमें भी भीतर का हृदय और शुद्ध होता है । उस भीतर के शुद्ध हृदय में भी भगवान् के विराजने के लिए आसन की कल्पना मात्र की जाती है किन्तु आसन बनाया नहीं जाता है, अतः वहां योगेश्वरों के हृदय में प्रभु की मानसी मूर्ति केवल खड़ी रहती है, किन्तु कभी भी वहां स्वयं स्वरूप से विराजमान नहीं होते हैं । जिससे सिद्ध है कि भगवान् के विराजमान होने का यह ही मुख्य आसन* है । उस पर विराजमान होकर गोपियों की परिषद् में परम शोभा को प्राप्त हुए । आपके चारों तरफ गोपियाँ बैठ गईं । उस सभा के सभापति भगवान् बने, अतः गोपियों ने उनकी पूजा की । इसके बाद तीनों लोक में लक्ष्मीरूप जितने भी पद हैं, यथा इन्द्र का पद, उन सारे पदों को मिलाकर जो एक पद बनता हो कि जिसके अंशों का विलाश तत्तद् लक्ष्मी का भोग करनेवाले बनते हैं, ऐसा वपु धारण कर बिराजे । इसलिए देश काल आदि के प्रभेदों में जो भी कुछ उत्कृष्ट पदार्थ अपेक्षित हैं, उन्हें प्रकट करता हो ऐसा वपु भगवान् ने धारण किया ।। १४ ।।

---

* श्री प्रभुचरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं, कि, जो वस्तु लोक वेद में अपवित्र मानकर

ग्रहण करने योग्य नहीं होती है, वह भी गोपियों के सम्बन्ध से भगवान् के लिए योगेश्वरों के शुद्ध अन्तहृदय से भी अधिक उपयोगी हो जाती है, तो लोकवेद में जो उपादेय मानी जाती हो, ऐसी वस्तु यदि इन गोपियों से सम्बन्ध रखने वाली हो, तो उसकी उपयोगिता के बारे में क्या कहा जाय?

('रसाभास' पर श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि, जब गोपियों ने कात्यायनी व्रत कर वरदान लिया, उस समय उन्होंने अपने सर्व वस्त्र उतार दिए थे, तो भी रसाभास जब न हुआ तो अब केवल उत्तरोय वस्त्रों के उतारने से रसाभास कैसे होगा ? उस समय जो प्रभु थे वे ही अब भी हैं, इसलिए श्लोक में 'सः' (वह) कहा है। उस वक्त रसाभास क्यों न हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'ईश्वरः' हैं, ईश्वर होने से कर्तुं, अकर्तुं, और अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं अतः जब कर्तुं समर्थ हैं तो रसाभास होता तो यों करने ही नहीं देते, अर्थात् वस्त्र उतारने नहीं देते। अकर्तुं समर्थ होने से उत्तरीय वस्त्र से बने आसन को छोड़ नहीं सकते हैं, दूसरी तरह करने में समर्थ होने से 'रसाभास' होते हुए भी रस उत्पन्न कर सकते हैं, अतः वैसे सर्व समर्थ ईश्वर में कुछ भी असंभव अथवा अयोग्य नहीं है)

श्री प्रभुचरण ने टिप्पणी में 'अपने अन्तःकरण के दोष' का विवरण 'स्वकृतघ्नता' पद से किया है। परोक्ष में भी भजन करने के कारण प्रभु ने विप्रयोग रस का दान किया ही किन्तु इस रसदान का ज्ञान इन गोपीजनों को नहीं हुआ यही इनकी कृतघ्नता है। प्रभु में तो कोई दोष है ही नहीं, अतः आरोप करने पर ही वह दोष संभव है। अन्यत्र भासित होने वाली वस्तु का कहीं अन्यत्र आरोप होता है या फिर स्मृति में जो कोई बात आ जाए उसका आरोप हम दिखलाई देती वस्तु पर कर देते हैं। स्वामिनियों को प्रिय के अलावा और किसी धर्म की स्फूर्ति ही नहीं है अतः अपने में रहे हुए धर्म का ही आरोप यहां किया जा रहा है। यद्यपि यह भी रसमध्यपाती भाव है अतः दोष रूप नहीं है तथापि भगवान् में किसी भी दोष का न होना शास्त्र सिद्ध है इसलिए आरोप तो भ्रममूलक ही है परन्तु रसशास्त्र की रीति के अनुसार ही।

आभास—एवं प्रसन्नं भगवन्तं दृष्ट्वा स्वान्तःकरणदोषदूरीकरणार्थं स्वकृतघ्नतां पूर्वं भगवति कल्पितवत्य इति तन्निराकरणार्थं लोकदृष्ट्या भगवति कृतघ्नतालक्षणो दोषोऽस्ति न वेति निर्णयार्थं किञ्चित् प्रष्टुमुद्यता इत्याह **सभाजयित्वेति**।

आभासार्थ—गोपीजनों ने भगवान् का दर्शन कर, उनके स्वरूप से मन में समझा, कि अब भगवान् प्रसन्न हैं अतः वास्तव में जो भगवान् निर्दोष हैं उन्हें अपने अन्तःकरण के दोष के कारण हमने कृतघ्नी समझ लिया था, क्योंकि उनने हम शरणागतों का त्याग किया, जिससे भगवान् दोषी हैं वैसे भाव हमारे हो गए थे। अब भगवान् ने प्रसन्न होकर प्रकट दर्शन दे दिए हैं अतः हमारे लिए अपने अन्तःकरण के दोषों को दूर करने का यह उचित अवसर है। गोपियां यह निश्चय कर, लोक दृष्टि से भगवान् में कृतघ्नता दोष है अथवा नहीं, जिसके निर्णय के लिए कुछ पूछने को तैयार हो गईं, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'समाजयित्वा' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।**
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ।। १५ ।।

श्लोकार्थ—गोपियों ने हास्य एवं लीला सहित दर्शन से तथा विलास युक्त भृकुटी से, अनंग को उद्दीपन करने वाल भगवान् की स्तुती को और अङ्क में पधराए हुए चरणों का हस्तों से स्पर्श करतो हुई, अर्थात् उनको प्रेम पूर्वक चांपती हुई गोपियाँ स्तुति कर कुछ क्रोध से बोलने लगीं ।। १५ ।।

सुबोधिनी—प्रश्नार्थं प्रथमतः सभाजनं स्तोत्रं कृत्वा। ननु किमनेन विचारेण साम्प्रतम्, जातं फलं भुज्यतामिति चेत्, तत्राह **अनङ्गदीपन**मिति। अनङ्गं दीपयति निरन्तरमेव । अङ्गाभावं सम्पादयतीति च ध्वनिः। अतो नैकेन भोगेन कार्यनिष्पत्तिः । पुनस्तेनापि भोगेनाग्रे अधिक एव खेदः स्यात्। स चेत् स्वदोषेण, तदा दोषो दूरीकर्तव्यः । भगवद्धर्मेण चेत्, वाङ्निर्बन्धं कारयित्वा प्रार्थयित्वा वा फलानुभवः कर्तव्य इति भावः। अनङ्गदीपने साधनमाह **सहासे**ति। साधनाभावार्थं वा प्रार्थनीय इति साधनकीर्तनम्। हासपूर्वकं यल्लीलेक्षणं, तेन विभ्रमन्ती या भ्रूः तया अनङ्गं दीपयति। पञ्चात्र साधनानि। हासो लीला ईक्षणं विलासाः भ्रूश्चेति। पञ्च चेद्धेतवः कार्यमप्रतिहतं भवति। माया व्यामोहिका स्वरूपविस्मारणार्थम्। लीला स्वासक्ति साधयति। ईक्षणं तत्र ज्ञानजनकम्। अन्यथा ज्ञानान्तरेण तन्निराकरणं स्यात्। विलासाः पोषकाः। भ्रूर्यमः नियन्ता काल इति। यावत्प्रसाददाता वा तत्रैव। ततः प्रश्नार्थं उपढौकनं कुर्वन्ति **संस्पर्शनेने**ति। अङ्के कृतः स्थापितो यो भगवदङ्घ्रिः, तत्सम्बत्धिनौ यौ हस्तौ, तयोः सम्यक्स्पर्शनेन संल्लालयन्त्य इत्यर्थः। संस्पर्शनेन सहिताः। तत आभिमुख्यार्थं संस्तुत्य। एवं सर्वभावेन प्रपन्नानपि त्यजतीति भगवति दोषदृष्ट्या ईषत्कुपिताः। साधनैर्निवर्तितोऽपि दोषो न सम्यक् निवर्तते, यावद् भगवान्न निवर्तयतीति। अतो विवादमिव कुर्वन्त्यो बभाषिरे।१५।

व्याख्यार्थ—गोपियों को भगवान् से प्रश्न करने थे, इसलिए प्रथम भगवान् की स्तुति की।

भगवान् निर्दोष हैं किन्तु उनमें कृतघ्नता रूप दोष उत्पन्न हुआ है वा नहीं? इस प्रकार विचार करने की क्या आवश्यकता है? अब तो फल प्राप्त हो गया है उसका उपभोग करना चाहिए, यदि यों कहा जाए तो उसके उत्तर में 'अनङ्गदीपनं' पद दिया है। जिसका भावार्थ है, कि यह फल अनङ्ग (काम) को सदैव प्रज्वलित करता ही रहता है जिससे यह ध्वनि[1] निकलती है कि यह शरीर का भान[2] भुला देता है, अतः एक वार भोग करने से, कार्य की पूर्णता नहीं होती है। जिससे फिर वैसे एक भोग से आगे, अधिक खेद होगा। वह खेद, यदि अपने दोष से होवे, तो दूर करना चाहिए और यदि भगवान् के धर्म से हुआ हो, तो भगवान् से बोलचाल कर अथवा उन्हें प्रार्थना कर, यह निश्चय करा लेना कि पुनः खेद जनक लीला न करे, अनन्तर फल का अनुभव करना चाहिए। इतने समग्र कहने का यह ही भाव है।

१—भाव, २—सुधि,

भगवान् जिन साधनों से अनङ्ग[1] को प्रज्वलित[2] करते हैं, श्री शुकदेवजी उन साधनों का वर्णन करते हैं, अथवा तो अनंग को दीप्त करनेवाले साधन भगवान् को रखने नहीं चाहिए यह प्रार्थना करनी चाहिए। इस आशय से अनंगोद्दीपक साधनों का वर्णन है। (१) हास (२) लीला (३) ईक्षण (४) विलास एवं (५) भ्रू यों ये पांच अनंगवर्धन साधन हैं। हास्य पूर्वक जो लीलायुक्त ईक्षण, उस ईक्षण के कारण जो भ्रुकुटि का विलास, यह विलास ही अनंग को उद्दीप्त करता है। पाँच हेतुओं के जुटने पर कार्य निर्विघ्न संपन्न होता है। भगवान् का हास माया है, जिससे स्वरूप विस्मरण रूप मोह उत्पन्न होता है। भगवान् की लीला आपके स्वरूप में आसक्ति सिद्ध कराती है। ईक्षण वाँच्छित लीला के स्वरूप का ज्ञान प्रकट करता है। यदि ईक्षण वह ज्ञान प्रकट न करे, तो अन्य पदार्थों के ज्ञान होने से, आसक्ति का नाश हो जावे। विलास उस ज्ञान का पोषण करने वाले हैं। भगवान् की भ्रुकुटि यम[3] है, अतः जैसे यम नियम में रखनेवाला है वैसे यह भ्रुकुटि रूप यम भी भाव का नियामक है, जिससे भाव नाश नहीं होता है। अथवा (क्योंकि फलका नियमन भ्रुकुटि द्वारा होता है अतः) इस अनंगभाव के होने पर ही, अर्थात् देहानुसंधान के हटनेपर ही, भ्रुकुटि भगवान् की आदी कृपाओं का दान करती है, अर्थात स्वरूपानन्द का दान करती है।

गोपियों को भगवान् से प्रश्न करने हैं, अतः भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उन्हें दुलारती हैं, इसलिए मूल श्लोक में 'संस्पर्शनेन' पद दिया है। गोपियां प्रथम भगवान् के चरण गोद में पधरा के अनन्तर दोनों हस्तों से चरणों को इस प्रकार स्पर्श करने अथवा चांपने (दाबने) लगीं जिससे प्रभु को आनन्द प्राप्त हो। इसी भांति की क्रिया करती हुई गोपियां, भगवान् का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए स्तुति करने लगीं।

गोपियों को कुछ रीस भी चढ़ी क्योंकि गोपियों के मन में आया, कि, हम सर्व-भाव से जो शरण आई हुई हैं उनको भी छोड़ते हैं। इस प्रकार भगवान् में दोष दृष्टि हुई, जिससे थोड़ी कुपित हो गई।

गोपीजनों ने दोष निवारण के लिए जो संस्पर्शन आदि साधन किए, उनसे दोष नाश हुए, तो भी, जब तक भगवान् स्वयं दोषों को नाश न करेंगे तब तक जड़ सहित दोष नाश नहीं होगे, अतः भगवान् से विवाद सा करती हुई बोलने लगीं ।।१५।।

आभास—तासां प्रश्नमाह **भजत** इति।

आभासार्थ—श्री शुकदेवजी 'भजतोऽनु' श्लोक में गोपियों ने जो प्रश्न किए हैं, उनका वर्णन करते हैं।

श्लोक—गोप्य ऊचुः—भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ।।१६।।

१—काम, २—तेज वा धधकता हुआ, ३—काल रूप।

श्लोकार्थ—गोपियां कहने लगी, कि, कितने एक तो भजन करने वालों को स्वयं भी भजते हैं, कितने एक, भजन न करने वालों को उनके भजन की परवाह न कर भी भजते हैं, कितने एक, भजन करने वाले तथा भजन न करने वाले, दोनों को नहीं भजते हैं। इन तीन प्रकार के पक्षों का स्पष्ट वर्णन कीजिए ॥१६॥

सुबोधिनी—त्रयः पक्षाः सन्दिग्धाः, फलतः, स्वरूपश्च, भजनाभजनाभ्याम्। तत्रैके ये यथा भजन्ति, ते तथा तानपि भजन्ति। एके पुनरभजतोऽपि भजन्ति। अन्ये तु उभयानपि न भजन्ति। तेषां त्रयाणां उभयोरपि प्रतियोगिनोः फलं वक्तव्यम्। ये भजनानुसारेण मजन्ति, ते किं कृतघ्नाः, आहोस्वित् धूर्ताः आहोस्वित् समीचीना इति। केनचित् पादप्रक्षालनं कृतम्, सोऽपि चेत् करोति, तदा किं स्यात्। फलार्थकरणे फलं देयम्। तेनापि तदेव कर्तव्यमिति करणे तदेव कर्तव्यम्। निरपेक्षकरणे तु सन्देह एव। अभजतो भजने क्वचिद्दोषः स्यात्। यथा निष्कामे कामिनी। क्वचिदुपकारः, अपेक्षितश्चेदर्थः। क्वचित् स्नेहः। क्वचिद्धर्म इति। एकं फलं निर्धारितं वक्तव्यम्। यो वा न भजति पूर्वः, तस्य वा किं फलमिति। ये वा नोभयविधान् भजन्ति, तेषामुभयविधानां वा किं फलमिति। कृतस्य साधनस्य कुत्र वा उपयोगः। एतत् सर्वं ब्रूहि। साधु यथा भवति तथा। **भो** इति सम्बोधनं सावधानार्थम्। भजतः पुरुषाननु तदनुसारेण भजन्ति। एके पुनः भजनव्यतिरेकेणैव भजन्ति। इत्युभये भजनकर्तारः। अन्ये तु भजनरहित एव ॥१६॥

व्याख्यार्थ—लोक में, फल और स्वरूप तथा साधन से तीन पक्ष संदिग्ध हैं अर्थात् स्पष्ट नहीं हैं, पहला पक्ष, कुछ जो जैसे भजन करते हैं उनका स्पष्ट रीति से वैसे ही भजन करने वाले होते हैं। दूसरा पक्ष, कुछ जो भजन नहीं करते हैं उनके भजन की परवाह न कर उन्हें भी भजते हैं। तीसरा पक्ष, कुछ भजन करने वाले और भजन न करने वाले दोनों का भजन नहीं करते हैं। इन तीनों का एवं दूसरे और तीसरे में जो दो प्रतियोगी + हैं प्रथम उनका फल कहिए।

जो भजन करने वाले का वैसा ही भजन करते हैं वे कृतघ्न ❋ हैं? वा धूर्त ● हैं? अथवा श्रेष्ठ 卐 हैं?

योजनाकार लालुभट्टजीः—

+ दो प्रकार भजन के हैं तथा एक प्रकार अभजन का यों कुल तीन प्रकार हैं। (१) जैसे 'क' 'ख' का भजन करता हो वैसे ही 'ख' 'क' का भी भजन करता है (२) 'क' 'ख' का भजन नहीं करता परन्तु 'ख' 'क' का भजन करता है (३) 'क' 'ग' का भजन करता है परन्तु 'ख' 'ग' का भजन नहीं करता परन्तु 'ग' तो 'क' या 'ख' किसी का भी भजन नहीं करता है।

यहां (२) कल्प में 'क' प्रतियोगी है तथा (३) कल्प में भी 'क' प्रतियोगी है। इन तीनों कल्पों का एवं उक्त (२) एवं (३) कल्प के दो प्रतियोगी 'क' के लिए क्या फल है यह जानना है।

❋ भजन के उपकार को नहीं मानना एवं प्रत्युपकार में समर्थ होते हुए भी भजन का जो योग्य फल हो, उने न देकर केवल व्यवहार निभाने के लिए उसका भी उसी प्रकार से भजन कर देना, यहां कृतघ्नता की संभावना है।

● यदि कोई हमें धन की प्राप्ति के लिए भजता है तो उसे धन तो नहीं देता किन्तु बुरा न लगे एतदर्थ जैसे वह हमें भजता हो ऐसे ही हम यदि उसे भजे तो यह एक धूर्तता का ही शिष्ट प्रकार कहलायेगा।

卐 जो जैसा हमारा भजन करे उसे उसी तरह भजना इससे अधिक उचित एवं संभव क्या है अतः श्रेष्ठता की भी संभावना है।

प्रकाशकार पुरुषोत्तमजीः—

✳ भजन को देखकर भजन करना और जिसने पहले किया उसके उपकार को नहीं मानना, इस पर भी खुद के किए हुए को उसके किए हुए से अधिक मानना कृतघ्नता है।

● पहले जिसने भजन किया उसका उपकार तो माने परन्तु स्वयं आप (उसे देखकर कर रहे होने पर भी) अपने कार्य को पहले वाले के समान माने या उसका उत्कर्ष न माने यह धूर्तता है।

卐 पहले वाले ने फलाशा से किया या बिना किसी फल की आशा के इसका निर्णय न हो पाने से जैसे वह भजन करता हो कम से कम उतना या वैसा तो उसका भी भजन कर ही देना चाहिए, यह भाव श्रेष्ठता का है।)

कोई एक पुरुष, दूसरे के पैरों को इस आशा से धोता है, कि जिसके पैर मैं धोता हूँ वह मेरे भी पैर धोवे तो समीचीन पुरुष को वैसा ही करना चाहिए, यदि वह किसी आशा के बिना पैर धोता है, तो सामने वाला क्या करे इसमें सन्देह रहता है, अतः इस प्रथम पक्ष के सन्देह का निर्णय करना चाहिए।

जिसको भजन करने की इच्छा नहीं है, उसका यदि कोई भजन करना चाहे, तो कहीं दोष भी होता है। जैसे कोई निष्काम △ पुरुष है, उसके साथ कोई कामातुर कामिनी भोग की इच्छा करती है, तो वहां दोष होता है, कभी उससे उपकार ∡ भी हो जाता है, यदि उस अर्थ की अपेक्षा हो, तो कहीं स्नेह ○ और कहीं धर्म ⇌ भी होता है। एक निर्धारित फल कहना चाहिए। जो पहले भजन नहीं करता उसके लिए क्या फल है और जो भजने या न भजने वाले अर्थात् किसी को भी नहीं भजता उसके उदाहरण में भजने और न भजने वालों का क्या फल है, उनके किए हुए साधनों का उपयोग कहाँ होगा? यह आप बताओ और वह साधु रीति से यहां सम्बोधय में 'भो' पद सावधान करने के लिए दिया है। कितने ही भजन करने वालों के अनन्तर वैसे ही भजन करते हैं और फिर कई भजन नहीं करने वालों को भी भजते हैं, वे दोनों भजन करने वाले है इनके सिवाय दूसरे भजन रहित हैं ⊐ ॥१६॥

△ कश्यप ऋषि निष्काम थे उनको दिति ने सन्ध्या समय वश किया जिससे वहां दोष उत्पन्न हुआ है—भा० तृ० स्कन्ध

○ आग्निध्र को पितृलोक की इच्छा थी इसलिए ब्रह्माजी ने पूर्वचिति अप्सरा को आग्निध्र के

पास भेजा जिससे उसको नौ पुत्र उत्पन्न हुए। इस कार्य से ब्रह्मा का आग्निध्र पर उपकार हुआ, इस प्रकार कभी उपकार भी होता है।

⇌ उर्वशी चरित्र से, स्नेह देखने में आता है— भा० नवम स्कन्ध

∢ महाभारत में आए हुए सुदर्शनोपाख्यान से जाना जाता है, कि कभी इससे 'धर्म' भी होता है।

⊐ इस प्रकार अभजन करने वालों के भजन का एवं भजन करने वालों के अभजन का क्या फल है ? कौन कब कृतघ्न, धूर्त या समीचीन माना जाना चाहिए इसका खुलासा अपेक्षित है। यथा– उर्वशी अर्जुन के पास इच्छा से आई थी, किन्तु अर्जुन ने उसकी इच्छा पूर्ण नहीं की, जिससे उसने अर्जुन को शाप दिया और निन्दा भी की अतः अर्जुन कृतघ्न है।

जरा नारदजी के पास भोग की आशा से आई, किन्तु नारदजी ने उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं की, जिससे उसने नारदजी को शाप दिया अतः नारदजी धूर्त है।

वरूथिनी यद्यपि भजन की इच्छा से आई, किन्तु मार्कण्डेय को जितेन्द्रिय जान, उसने वह इच्छा छोड़ दी, जिससे मार्कण्डेय ने वरूथिनी का भजन नहीं किया, अतः मार्कण्डेय समीचीन है।

इस प्रकार जो भजन नहीं करते हैं उनमें भी कृतघ्न, धूर्त और समीचीन के विषय में संदेह देखने में आता है।

आभास—एतेषा भेदान् फलं चाह भगवान् **मिथो भजन्तीति** त्रिभिः।

आभासार्थ—'मिथो भजन्ति' से लेकर तीन श्लोकों में भगवान् इनके भेद और फलों का वर्णन करते हैं।

एक भजन करने वाले का जो भजन करता है, दूसरा न भजन करने वाले का भी भजन करता है, तीसरा किसी का भी भजन नहीं करता है, इन तीनों के।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।**
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥

श्लोकार्थ—भगवान् कहने लगे, कि हे सखियों ! जो आपस में एक दूसरे का भजन करते हैं, वहां कोई सुहृदपन वा धर्म नहीं है, क्योंकि वह भजन केवल स्वार्थ सिद्धि के लिए किया जाता है, दूसरा कोई कारण नहीं है ॥१७॥

सुबोधिनी—तत्राद्यपक्षस्य निर्धारमाह । ये मिथो भजन्ति, ते स्वार्थैकान्तोद्यमाः । स्वार्थ एव एकान्तः एकं फलमुद्यमस्य । ते हि ज्ञात्वैवान्योन्यं भजन्ते । तरतमभावेन च भजनमनुवर्तयन्ति । अतो न तेष्वन्योन्यं वञ्चनापि सम्भवति । अतः स्वार्थमेव लौकिकार्थमेव तेषामुद्यमः । ननु उभये ब्राह्मणाः, अतोऽन्योन्यभजनेन धर्मः स्नेहो वा भवेत्, कथं स्वार्थ एवेत्याशङ्क्याह **न तत्र सौहृद**मिति । क्षणेनैव द्वितीयस्याभजनं ज्ञात्वा क्रोधकरणात् । अतो न सौहार्दम् । नापि धर्मः । 'सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा नैषा पितृन् गच्छति नोत देवान् । इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्से'ति । गुरुसेवायामपि यदि दृष्टार्थतोभयोः, तदापि न धर्मः । शास्त्रानुसारी चेत्, मिथोभजनाभावः । विद्या तु फलरूपा । **सख्य** इति सम्बोधनादप्रतारणा । **य** प्रसिद्धास्ते वणिज इव । स्वार्थ एव तेषाँ प्रवृत्तिः । यद्यपि धर्मादयोपि स्वार्था एव, तथाप्यन्योन्यभजने न ते सिध्यन्ति । तथा सौहार्दमपि, यद्यन्यमपेक्षेत । तस्य साधनस्य विनियोगमाह **स्वार्थार्थ**मिति । अन्यार्थमपि प्रतीयमानं स्वार्थमेव । एवं सेवादिदानेष्वपि । दुःखनिवृत्तिस्तत्र फलम् । अत्रार्थे सर्वोपि लोकः प्रमाणमिति हिशब्दः । **अन्यथा** परोपकाराय न । अन्यस्य हृदये तत्प्रतीकारार्थं चिन्ताजननात् । अतः फलं स्वार्थसिद्धिः लौकिकी । नाममात्रणेव तेषां धर्मत्वम्, न तु वस्तुतः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—गोपियों ने जो तीन पक्ष ऊपर कहे हैं उनमें से पहले पक्ष का निर्णय करते हुए, भगवान् आज्ञा करते हैं, कि जो परस्पर भजन करते हैं अर्थात् भजन करने वाले का ही भजन करते हैं वे केवल अपने अर्थ को सिद्ध करके का ही उद्यम करते हैं अर्थात् इस प्रकार के उद्यम का फल केवल स्वार्थ की सिद्धि करना ही है । वे (भजन करने वाले) आपस के भावों को जानकर ही परस्पर भजन करते हैं । कम-ज्यादा भाव से एक दूसरे का भजन करते ही रहते हैं, अतः उनमें परस्पर कभी धोखा भी नहीं होता है जिससे जाना जाता है, कि उनका यह उद्यम अपने लौकिक वा स्वार्थ के लिए ही है । परस्पर भजन करने वाले दोनों ब्राह्मण हैं तो आपस में, भजन करने से, स्नेह वा धर्म ही होगा, आप कैसे कहते हो, कि स्वार्थ ही है ? जिसके उतर में कहते हैं, कि वहां मित्रता नहीं रहेगी, कारण कि जिस समय दूसरे ने भजन नहीं किया तो उस समय भजन करने वाले में क्रोध उत्पन्न होगा, और वह कहने लग जाएगा, कि अरे देखो तो सही, मैंने इतना भजन किया और उसने कुछ नहीं किया ! अतः वहां मैत्री न रहेगी, और न धर्म रहेगा । धर्म क्यों न रहेगा, उसके स्पष्टीकरण के लिए आपस्तंव के वचन का प्रमाण देते हैं । *ब्राह्मण इकट्ठे बैठकर जो भोजन करते हैं वह पिशाच भिक्षा है अतः वह न पितरों को पहुँचती है और न देवों को मिलती है, जैसे बिना बछड़े वाली जो गौ, दूसरी शाला में बान्धने पर कृश होकर, नष्ट हो जाती है, वैसे ही यह पिशाच भिक्षा भी लोक में क्षीण पुण्य होकर नष्ट हो जाती है' । अतः परस्पर भजन धर्म नहीं है‡ । यदि गुरु सेवा भी, वृत्ति[1] अथवा प्रतिष्ठा के लिए की जाती है, तो वह सेवा, धर्म नहीं है जब गुरु और शिष्य शास्त्र

१—आजीविका वा स्वार्थ

*'सम्भोजनी नाम पिशाच भिक्षा नैषा पितृन् गच्छति नोत देवान् । इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव' ॥ आपस्तम्ब

‡इस प्रकार यदि गुरु भी विद्या वा उपदेश स्वार्थ अथवा प्रतिष्ठा के लिए देते हैं तो वह भी धर्म नहीं है ।

के अनुसार परस्पर भजन करते हैं, तब वह धर्म है, जिससे शिष्य को जो विद्या प्राप्त होती है, वह फलीभूत होती है। श्लोक में भगवान् ने गोपियों को 'सख्यः' संबोधन देकर बताया है, कि मैं जो कह रहा हूं वह तुमको ठगने के लिए नहीं है, किन्तु सत्य निर्णय है। इसका भावार्थ यह है, कि जो परस्पर भजन करते हैं, वे वैश्यों जैसे लेन देन करने वाले हैं उनकी प्रवृत्ति स्वार्थ में ही है। यद्यपि धर्म आदि भी स्वार्थ ही हैं, तो भी परस्पर भजन से वे (धर्म आदि) सिद्ध नहीं होते हैं। उसी भांति मित्रता भी सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि जिससे अन्य की (फल की) अपेक्षा रहती है, उससे मित्रता की सिद्धी भी नहीं हो सकती है। उनके[1] साधन[2] का प्रयोग[3] भी स्वार्थ के लिए ही है, यद्यपि वह अन्य के लिए किया हुआ देखने में आता है, तो भी स्वार्थ ही है। इस प्रकार सेवा आदि दोनों में भी समझना चाहिए। वहां दुःख की निवृत्ति फल इस विषय में सर्व लोक प्रमाण है, इसलिए श्लोक में 'हि' शब्द दिया है।

श्लोक में 'अन्यथा' पद है, उसका आशय है, कि वह भजन परोपकार रूप धर्म भी नहीं है, कारण, कि दूसरे के हृदय में अर्थात् जिसका भजन किया जाता है, उसके हृदय में उस भजन का प्रतीकार[4] करने की चिन्ता रहती है, इस कारण से, इसका फल लौकिकी स्वार्थ सिद्धि है, यह[5] नाम मात्र ही धर्म कहा जाता है वास्तविक वह धर्म नहीं है।।१७।।

आभास—ये पुनः अभजतोऽपि भजन्ति, ते द्विविधा इत्याह **भजन्तीति**।

आभासार्थ—भगवान् 'भजन्त्य' इस श्लोक में कहते हैं कि जो भजन न करने वाले का भी भजन करते हैं वे दो प्रकार के हैं।

श्लोक—भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—जो भजन न करने वालों को भजते हैं वे दो प्रकार के हैं, एक दयावाले, दूसरे माता पिता, हे सुमध्यामाओ ! यहां किसी भी अपवाद से रहित धर्म और सौहार्द है ॥ १८ ॥

सुबोधिनी—ये अभजतोऽपि तृष्णींस्थितान् भजन्ति, तत्र निमित्तद्वयम्, लौकिकं वैदिकं वा, स्नेहो विधिश्च। तत्र सौहार्दं धर्मश्च फलं क्रमेणैव। यः पूर्वः तस्य सौहार्दे अवसरे कर्तव्य एवोपकारः। अन्यथा कृतघ्नः स्यात्। धर्मशेषश्चेत्, प्रायश्चित्तं विधेयम्। तदीय एव धर्मः तद्द्वारा तेषु गच्छतीति तत्र धर्मे यत्र कर्म प्रधानम्, यत्र वा देवता, तदुभयं न विवक्षितम्। प्रतियोगिनि भजनशङ्काभावात्। यत्र वा असमानता, गोः पङ्कोद्धारणवत्, तत्रापि तथा। यत्र पुनराधारे प्रत्युपकारः सम्भव-

---

[1] —परस्पर भजन करने वालों के, [2] —परस्पर भजन, [3] —करना,
[4] —बदला, [5] —परस्पर भजन

ति, तत्र प्रवृत्तौ, पूर्वस्याभजने, निरपवादो धर्मः, सौहृदं च फलम्। अधिकारिविशेषणं तु एकत्र करुणा, अपरत्र दैहिकः सम्बन्धः। तदाह **करुणाः पितराविति**। अन्यत्रापि दृश्यत इति तद्धर्मातिदेशमाह **यथेति**। ये संसारिणः क्रूराः, तेऽपि कदाचिद्दीनेषु भजनं कुर्वन्ति, स्निग्धा इव च भवन्ति। तेषां सङ्ग्रहार्थं **यथेति**। सम्बन्धस्तु जन्मान्तरीयोऽपि भवतीति उपमानोपमेययोरभेदादेकविधा एव। **निरपवाद** इति। एतदुपकारेण हि तस्यापवादः। तदभावान्निरपवाद एव। **अत्र** तादृशेऽर्थे। अनेन यत्र प्रत्युपकारसम्भावनापि न, तत्र धर्म इति सूचितम्। अत एव केचित् क्रियमाणमपि नाङ्गीकुर्वन्ति। सौहार्देऽपि धर्मोस्तीति चकारः। **सुमध्यमा** इति सम्बोधनमुक्तविश्वासाय। धर्मेणैव उत्तममध्यमता॥ १८॥

व्याख्यार्थ—जो लोक भजन न करने वालों और चुप रहने वालों का भी भजन करते हैं उसमें दो निमित्त हैं: एक लौकिक, दूसरा वैदिक, जिनमें लौकिक, स्नेह है, और वैदिक विधि है। वहां लौकिक निमित्त स्नेह का फल सौहार्द है और वैदिक निमित्त विधि का फल धर्म है। जो पहला स्नेह है जिसके फलरूप सौहार्द में अवसर आने पर उपकार करना ही चाहिए, अर्थात् भजन करने वाले की कुछ भी भलाई करनी योग्य है, जो नहीं करता है वह कृतघ्न है।

कोई एक मनुष्य धर्म के लिए जिसका भजन करता है उसे धर्म-शेष[1] कहा जाता है अतः भजन करने वाले में जो पाप आदि धर्म रहता है वह धर्म उस अंगरूप में चला जाता है अतः उस पापादि की निवृत्ति के लिए उसको प्रायश्चित करना आवश्यक है। जिस धर्म में कर्म वा देवता प्रधान है वह धर्म यहां नहीं कहा गया है क्योंकि कर्म अथवा देवता प्रधान धर्म के कर्ता का पाप देवता अथवा कर्म को नहीं जाता है क्योंकि प्रतियोगी में भजन करने की शङ्का ही नहीं होती है। गाय यदि कीचड़ में फंस गई होतो उसे निकालना भी धर्म है, परन्तु इस तरह का धर्म यहां विवक्षित नहीं, क्योंकि परस्पर भजन यहां संभव नहीं है गाय एवं पंकसे उसे निकालने वाला मनुष्य समान नहीं है।

जहाँ फिर, आधार पर प्रत्युपकार बन सकता है, वहाँ प्रवृत्ति में, प्रथम पुरुष भजन न करे, दूसरा भजन करे, तो उसका फल निरपवाद धर्म और स्नेह है।

जिस भजन में भजन करने वाले को धर्मरूप फल प्राप्त होता है, वहां भजन करने वाले में दया होती है, और जिस भजन में, भजन करने वाले को स्नेह सौहार्द फल मिलता है, वहां भजन करने वाले में देह सम्बन्ध होता है, यह बताने के लिए श्लोक में, 'करुणाः पितरौ' कहा है। श्लोक में 'यथा' शब्द का गूढ आशय है, कि इस शब्द से यह बताया है, कि दया तथा सम्बन्ध केवल दयालु और माता पिता में नहीं रहता है, किन्तु उनके सिवाय अन्यों में भी रहते हैं, जैसे क्रूर पुरुष भी कभी दीनों पर दया करते हैं, दयालु जैसे बन जाते हैं। इस प्रकार का देह सम्बन्ध जन्मान्तरीय भी हो सकता है। उपमान और उपमेय का भेद नहीं है, अतः यहां केवल 'करुणा' और 'पितरौ' का उदाहरण दिया है।

श्लोक में 'धर्म' के लिए 'निरपवाद' कहा है, यों कहने का भावार्थ है, कि जहाँ उपकार नहीं होता वहां तो धर्म निरपवाद है ही बल्कि जहाँ उपकार की संभावना भी नहीं है वहां भी 'धर्म' है इसलिए कितने एक कोई उपकार करना चाहें, तो वह स्वीकार नहीं करते हैं। श्लोक में 'च' शब्द

---

[1] —धर्म का अङ्ग

कहने का भावार्थ है, कि सौहार्द में भी 'धर्म' है। 'सुमध्यमा' संबोधन से गोपियों को अपने वचनों में विश्वास करने के लिए कहा है। क्योंकि धर्म से ही उत्तमता और मध्यमता होती है। १८ ॥

आभास—ये तु पुनः सर्वथैव न भजन्ति, भजनार्थं भजतः, सौहृदेन वा भजतः। धर्मार्थे तु न शङ्का। तानुभयविधानपि केचिन्न भजन्ति। अभजतो दीनान् धर्माधिकारिणश्च। तानपि न भजन्ति। तेषां स्वरूपमाह **भजतोऽपीति**।

आभासार्थ—सामने वाला मेरा भी भजन करे, इसलिए जो भजन करता है, वैसे भजन करने वाले को तथा जो भजन नहीं करता है, इन दोनों को जो नहीं भजते हैं, और जो दीन होने के कारण भजन नहीं कर सकते हैं एवं जो धर्म के अधिकारी हैं उन दोनों को भी नहीं, जो नहीं भजते हैं, उनके स्वरूप का 'भजतोऽपि' श्लोक में वर्णन करते हैं, धर्म से भजन करने वालों के लिए तो शङ्का ही नहीं है—

श्लोकार्थ—भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—जो भजन करने वालों को भी नहीं भजते हैं, वे भजन नहीं करने वालों का भजन कैसे करेंगे? इस प्रकार के लोग आत्माराम, आप्तकाम, कृतघ्न और गुरुद्रोही इनमें से कोई एक होते हैं ॥ १९ ॥

सुबोधिनी—केचिन्महापुरुषा भजतोऽपि न भजन्ति, अभजतः कुतो भजिष्यन्ति। ते पूर्वोक्तन्यायेन चतुर्विधाः। तन्मध्ये उभये समीचीनाः, उभये न। ये धर्माधिकारिणस्ते अधमाः। ये लौकिकनिमित्तास्ते उत्तमा इति। तान् गणयति साङ्कर्याभावाय। **आत्मारामा** इति। आत्मन्येव रमन्त इति। अन्येन भजनीयो देहादिर्नापेक्षित इति भजनमेव न मन्यन्ते। तेषां भजनार्थं च साधनत्वेन स्वदेहादिकमपि न मन्यन्ते। तथा अन्ये **आप्तकामाः**। आप्तः प्राप्तः कामो यैः। यो भुक्तवन्तं ब्रूयात्, त्वं भुङ्क्ष्व, मा भुङ्क्ष्वेति वा। एकत्राप्रवृत्तिः। अपरत्र सिद्धसाधनत्वेनानुवादः। उभयथापि वैयर्थ्यम्। प्रवर्तमानस्य धर्मः सेत्स्यति। अज्ञानं वा। उभये तु अधमा इत्याह। ये कृतं न जानन्ति तदुपकारम्, ते प्रत्युपकारसमर्था अपि उभयविधानपि न भजन्ति। तेषामज्ञानमेव हेतुरभजने। ज्ञात्वा चेदभजनम्, गुरुद्रोहः। यः कश्चित् स्वस्य पुरुषार्थसाधकः स गुरुः, स पूज्यः तस्यापदि स्वशक्तौ सत्यां तदुपेक्षायां तद्द्रोहः अनेनैव कृत इति गुरुद्रोहकर्ता भवति। एवं सर्वेषां गुणदोषा निरूपिताः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—जो महापुरुष, भजन करने वालों का भी भजन नहीं करते हैं तब भजन न करने वालों का भजन कैसे करेंगे? वे आगे कहे हुए न्याय के अनुसार चार प्रकार के हैं, उनमें दो समीचीन हैं और दो श्रेष्ठ नहीं अर्थात् अधम हैं।

अधम पुरुष के लक्षण कहते हैं कि, जो दया या धर्म से प्रेरित होकर भजन करते हैं उनका प्रतिभजन न करने वाले अधम है और जो लौकिक स्नेह के कारण भजन करते हैं, उनका भजन नहीं करते हैं, वे उत्तम हैं ।

इन चारों स्वभावों को परस्पर विभेदपूर्वक समझाने के लिए चारों तरह के व्यक्तियों की परिगणना करते हैं । अब प्रथम आत्माराम के लक्षण कहते हैं, जो आत्मा में ही रमण करते हैं, आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी उनकी दृष्टि में है ही नहीं, अतः कोई दूसरा जिस देह का भजन करे, उस देह की अपेक्षा ही नहीं करते हैं इसलिए देह के भजन को भजन ही नहीं मानते हैं। भजन करने वालों के भजन का साधन जो देहादिक है उनका अस्तित्व ही नहीं मानते हैं; जिनमें वैसे लक्षण हैं वे आत्माराम हैं ।

भजन न करने वाले दूसरे 'आप्तकाम' है । आप्तकाम उनको कहा जाता है, जिन्होंने अपनी कामनाएँ पूर्ण करली हैं अर्थात् जिनको अब किसी प्रकार की कामना अन्तःकरण में नहीं रही है, जैसे किसी भोजन किए हुए पुरुष को कोई कहता है कि 'भोजन करो' तो भी भोजन किए हुए पुरुष को भोजन करने में प्रवृत्ति नहीं होगी अथवा भोजन किए हुए पुरुष को कोई कहता है कि आप 'भोजन मत करो', तो यह कहना सिद्ध हुए साधन का अनुवाद मात्र है अर्थात् जिसने भोजन कर उदर भर लिया है उसको भोजन तो करना ही नहीं है अतः केवल नाम मात्र को कहना हुआ कि भोजन मत करो । दोनों प्रकार से कहना व्यर्थ है । किन्तु, कहने वाला यदि सौजन्य से कहता है तो धर्म की सिद्धि होगी अन्यथा उसका अज्ञान प्रकट होता है कि खाये हुवे को दोबारा खिलाना चाहता है । यों दो प्रकार से समीचीन अभजन के हुवे ।

अब दो प्रकार के असमीचीन-अधम अभजन के भी बताते है, जो व्यक्ति अन्य द्वारा किए गए उपकार को नहीं जानता या मानता वह कृतघ्न है । वह प्रत्युपकार करने में समर्थ होने पर भी किसी का उपकार नहीं करता चाहे कोई उसका कुछ उपकार करे या न करे । यह अज्ञानमूलक व्यवहार है । किन्तु, यदि जानकर भी भजन नहीं करता तो वह गुरुद्रोह सदृश है । जो हमारा कुछ भी उपकार करता है वह हमारे लिए गुरू ही है अर्थात् गुरू की तरह ही पूजनीय है । वह ऐसा व्यक्ति यदि कुछ आपत्ति में पड़े और हम समर्थ होते हुवे भी उसको उस आपत्ति से न छुड़ायें तो यह उसके प्रति हमारा द्रोह है । यह हमारा गुरुद्रोह सदृश व्यवहार कहलायेगा ।

इस तरह सारे गुण दोषों का विवेचन हो जाता हैं ।। १६ ।।

आभास—गोपिकानां हृदये भगवानेतन्मध्ये क इति जिज्ञासायां अभजनकर्तृत्वाद् भजनसामर्थ्यस्यापि विद्यमानत्वान्मिथोभजनपक्षः अभजनभजनपक्षश्च व्यावर्तितः । ननु द्वितीये पक्षे गोपिकानां भजने स्नेहाद् भजनमस्तु, अतो भगवान् निरूपकत्वेन नैषामन्तर्भूतः । ईश्वरश्च नैषामन्तर्भवतीति कथमेवं विचार इति चेत्, मैवम् । गोपिका भोग्या इत्यविवादम् । ताश्च भोग्यसमर्पकत्व एवोपक्षीणाः । अतो भगवत एव विचारः

कर्तव्यः । ईश्वरोऽपि फलार्थं सेव्यश्चेत्, न विचार्यः। व्यवहारे दृष्टार्थश्चेद्, दीयमानग्रहणाग्रहणाभ्यां विचार्य एव । पूर्वं गृहीतत्वात् नात्मारामता, नापि पूर्णकामता। प्रथमप्रवृत्त्या तृप्तावपि परित्यागो नोचितः । ततस्तृतीयपक्ष एवाभिनिवेश उचितः तदपि सर्वज्ञस्यानुचितम् । ईश्वराणां फलदातॄणां कदाचिदेवं भवतीति शङ्कायाः परिहारमाह **नाहं तु सख्य** इति ।

आभासार्थ—इन सारे प्रकारों में से भगवान् कौनसे प्रकार के हैं यह जिज्ञासा गोपिकाओं के हृदय में उठ रही है ।

(१) भगवान् ने तो गोपिकाओं का भजन किया ही नहीं है अतः परस्पर भजन का प्रथम पक्ष यहां लागू नहीं होता ।

(२) समर्थ होते हुए भी भगवान् ने भजन तो किया ही नहीं अतएव न भजनेवाले को भी भजने का द्वितीय पक्ष भी यहां भगवान् पर लागू नहीं होता ।

(३) भगवान् ईश्वर हैं अतः आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ अथवा गुरुद्रोही इन चारों में से भी कुछ नहीं हैं ।

यहां द्वितीय पक्ष में गोपिकाओं के भजन को स्नेह प्रेरित भजन मानने पर, भगवान् का, इन भजन करने या न करने वालों में समावेश है, कि नहीं, यह विचार ही व्यर्थ हो जाता है । क्योंकि भगवान् तो भजन के निरूपक हैं (अर्थात् विषय हैं—भजन करने या न करने वालों में नहीं) अतः यह विचार क्यों किया जा रहा है + ?

यह विचार इसलिए आवश्यक है क्योंकि गोपीजन भोग्य हैं निर्विवाद रूप से । अतएव भोग्य समर्पण करते ही इन गोपिकाओं का कार्य समाप्त हो जाता है । अब ऐसी स्थिति में भगवान्

(+ शंका के अनुसार यहां भगवान् किसी का भजन करते हैं, या नहीं, यह विचार व्यर्थ ही है, क्योंकि स्वयं गोपिकाओं का समावेश यहां दूसरे पक्ष में हो जाता है । क्योंकि (जैसे कि वहां (१) धर्म प्रेरित एवं (२) स्नेह प्रेरित भजन ये दो कल्प थे उनमें से दूसरे कल्प के अनुसार) गोपिकाओं ने भगवान् का, जो गोपिकाओं का भजन नहीं करते, तो भी, स्नेह से प्रेरित होकर भजन किया है । अतः भगवान् का, भजन करने या न करने वालों के रूप में, विचार करना व्यर्थ है । क्योंकि, वे तो गोपिकाएं जो भजन कर रही हैं, उस भजन के ऐसे निरूपक-विषय हैं, जिसके कारण गोपिकाओं का भजन दूसरे प्रकार का बनता है । यदि कहा जाए, कि इसीलिए भगवान् को तीसरे प्रकार के चार अवान्तर प्रकारों-आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ अथवा गुरुद्रोही में से किसी एक प्रकार का मानना चाहिए तो वह इसलिए संभव नहीं है क्योंकि भगवान् ईश्वर होने के कारण, आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ या गुरुद्रोही कुछ भी नहीं माने जा सकते हैं । अतः यह विचार व्यर्थ ही है, कि भगवान् उक्त तीन पक्षों में किस कोटी के हैं, क्योंकि स्वयं गोपिकाएं द्वितीय कोटी में इसलिए आ जाती हैं, क्योंकि भगवान् उनका प्रति भजन नहीं करते हैं, प्रत्युत गोपिकाओं के भजन को अपने आचरण से दूसरे प्रकार का बना देते हैं ।)

के भजन का विचार न करें तो किसका करें ? भगवान् ईश्वर हैं तो भी फल के लिए यदि उनकी सेवा की गई होती तो विचार की अपेक्षा न रहती। जब कि दृष्ट फल के लिए भी यदि भगवान् का भजन किया गया हो, तो जो कुछ हम उन्हें देते हैं उसे भगवान् स्वीकारते हैं या नहीं इसका विचार व्यवहार में करना ही पड़ेगा।

इससे पहले, गोपिकाओं ने जो कुछ समर्पण किया उसे भगवान् ने स्वीकारा है, अतः आत्माराम तो वे नहीं है और न पूर्णकाम। पहले जो कुछ समर्पण किया गया है, उसी से यदि तृप्त भी हो गए हों, तो परित्याग तो उचित नहीं था। इसलिए, यदि भगवान् को अकृतज्ञ मानें, परन्तु सर्वज्ञ[1] को अकृतज्ञ[2] मानना भी तो विरोधाभास है। ईश्वर होने के कारण, सर्वज्ञ होने पर भी, फलदान के अवसर पर कभी कभी अकृतज्ञ बनना पड़ता है, इस शंका का परिहार "नाहं तु सख्य" में करते हैं।

श्लोक—**नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।**
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे सखियों ! मैं तो भजन करने वालों का भी भजन इसलिए नहीं करता हूँ, कि उनके मन की वृत्ति मुझ में सदा बनी रहे, जैसे निर्धन को धन मिले और वह धन यदि चला जाए तो, उस निर्धन का मन धन की चिन्ता में रम जाता है, जिससे धन के सिवाय अन्य पदार्थों को वह भूल ही जाता है, केवल धन ही उसके प्रत्यङ्ग में व्याप्त हो जाता है ॥२०॥

सुबोधिनी—तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति। नापीश्वरभजनपक्षः शङ्कनीय इत्याह **सख्य** इति। गोपिकास्तु सख्यः। रसे तुल्याः। एकार्थाभिनिवेशाश्च। अहमिति भगवान्, न तु जीवः। तेन आत्मारामादिपक्षा व्यावर्तिताः। अहं राम एव, न त्वात्मारामः। ममात्मव्यतिरिक्तपदार्थाभावान्न व्यावर्त्यमस्ति। कामाभावादेव नाप्तकामत्वम्। अतो मम भिन्नैव व्यवस्था, न तु जीवतुल्यता। **नाहं तु सख्य** इति तामेव व्यवस्थामाह। भजतोऽपि जन्तून् अहं न भजामि। तत्रान्य एव हेतुः। **अमीषामनुवृत्तिवृत्तय** इति। अमीषां जीवानाम्। जन्तुपदेन प्राणिमात्रम्। भगवतो न केनाप्युपयोगः। भगवान् फलरूप इति सर्वेषामेवोपयोगः। तथा सति तेषां भजनमेव इष्टमिष्टसाधनं वा। तत्राहं चेत् साधनत्वेन प्रविशामि, तदा भजनमेव नाशयामि। अग्रे भजनस्य प्रतिबन्धात् पूर्वभजनस्य च वैयर्थ्यापादनात्। चतुर्धा हि भगवदुपयोगः। भगवान् भोग्यो, भोक्ता वा। भोग्यपक्षे कामनापूरकत्वेन, स्वातन्त्र्येण वा। भोक्तापि भक्त्या भक्तदत्तपदार्थस्वीकाराद्, विषयत्वेन भोगाद्वा। आद्ये भजनं नश्येत्। अल्पफलदानात्। स्वरूपतो महत्वेऽपि कालपरिच्छेदात्। द्वितीये तु तथात्वमतिभजनेन भवति। तद् गोपिकानां नास्तीति तत्सिद्ध्यर्थमभजनम्। अपेक्षाभावात्।

---

[1]—सब कुछ जानने वाला, [2]—किए हुए उपकार को न जानने वाला।

नाहं विषयन्यायेन भोक्ता । भक्त्यर्थं तु अभजनमेवेति सिद्धान्तसङ्ग्रहः । यथा अभजने अनुवृत्तिः सिध्यति, तथा प्रकारमाह **यथाधन** इति । पूर्वमधनः, पश्चाल्लब्धं धनं, तच्चेद्विनष्टं, तदा तच्चिन्तया व्याप्तः, निभृतः तदेकनिमग्नः सन्, अन्यन्न वेद । एतत्तु लोकप्रसिद्धम् । तथा गोपिकानामपि पूर्वमप्राप्तो भगवान् प्राप्तश्चेत्तिरोभवति, तदा निभृताः, तत्रैव मग्नचित्ताः न प्रपञ्चं स्मरिष्यन्ति । निभृतानां प्रयोजनं पूर्वमुक्तमेव ।।२०।।

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द पूर्वोक्त चारों प्रकारों से भगवान् को अलग करता है । ईश्वर गोपिकाओं का प्रति भजन करेंगे । इसकी संभावना 'सख्य' पद देकर मिटा दी । क्योंकि गोपिकायें तो सखियां हैं—रस में तुल्य हैं तथा उनका अभिनिवेश आग्रह एक ही पदार्थ में है । 'अहं' शब्द से बताया, कि मैं जीव नहीं हूं, अपितु भगवान् हूं । यों न तो भगवान् आत्माराम हैं न आप्तकाम, न अकृतज्ञ और न गुरुद्रोही । भगवान् तो राम हैं आत्माराम नहीं, क्योंकि, देह एवं आत्मा जिनमें अलग-अलग हों, वे देह रमण से हटकर आत्माराम बन सकते हैं, भगवान् में तो देह देही भाव है ही नहीं, अतः केवल राम हैं । जिसे कुछ कामनाएं हों और वे पूर्ण हो गई हों, तो वे आप्तकाम कहलाते हैं, भगवान् में तो काम है ही नहीं, उन्हें आप्तकाम भी नहीं कहा जा सकता । अतः भगवान् की बात ही और ढंग की बनेगी, जीव की तुलना या व्यवस्था भगवान् पर लागू नहीं हो सकती ।

उसी व्यवस्था को समझाते हैं, कि मैं—भगवान् भजन करने वालों का भी भजन नहीं करता, क्योंकि इससे प्राणि मात्र की चित्तवृत्ति मुझ में लगी रहती है । भगवान् के लिए किसी का भी कुछ भी उपयोग नहीं है, जबकि, भगवान् फलरूप हैं, अतः सभी को भगवान् का उपयोग तो है ही । अतः उन्हें, या तो भजन इष्ट है अथवा इष्ट साधन । अब यदि मैं ही वहां साधन के रूप में प्रवेश करूं, तो भजन ही नष्ट हो जाएगा और आगे चलकर यदि भजन में प्रतिबन्ध उत्पन्न होना ही है, तो पहले किए गए भजन की सार्थकता नहीं रह जाती ।

भगवान् का उपयोग चार प्रकार से संभव है : (१) भगवान् हमारी कामना पूर्ण करते हैं, अतः भोग्य के रूप में (२) स्वतंत्र रूप में भी, हम भगवान् को भोग्य बना सकते है ✳ (३) भगवान् का उपयोग भोक्ता के रूप में भी संभव है क्योंकि भक्त भक्ति सहित जो भी निवेदन करता है उसे भगवान् स्वीकारते हैं अतः भोक्ता हुए (४) सभी व्यक्ति या वस्तु भगवान् के लिए विषय हैं अतः भोग्य हैं और भगवान् उनके भोक्ता हैं । यों दो तरह भोग्य एवं दो तरह से भोक्ता के रूप में भगवान् का उपयोग हो सकता है ।

प्रथम पक्ष में भजन नष्ट हो सकता है, क्योंकि अल्प फल का दान है क्योंकि स्वरूपतः फल महान् है, तो भी काल में सीमित-परिच्छिन्न है ○ ।

द्वितीय पक्ष में, अति भजन द्वारा भगवान् को भोग्य बनाया जा सकता है परन्तु वह अति भजन गोपिकाओं ने नहीं किया और इसे कराने के लिए ही भगवान् प्रति भजन नहीं करते हैं ।

तृतीय पक्ष में भक्ति के लिए, तो प्रति भजन अपेक्षित ही नहीं है ● ।

चतुर्थ पक्ष में भी, विषय न्याय के अनुसार भगवान् भोक्ता नहीं बनते, क्योंकि भगवान् को कुछ भी अपेक्षित ही नहीं है ।

भजन न करने से, जैसे चित्त भगवान् में लगा रह सकता है उसका उदाहरण बताते हैं, 'यथाधन' से। पहले कोई निर्धन हो, फिर उसे धन मिले और फिर नष्ट हो जाए, तो वह व्यक्ति उस धन की चिन्ता में डूब जाता है और सारी सुध बुध खो बैठता है। यह लोक प्रसिद्ध है, इसी तरह, गोपिकाओं को भी भगवान् मिलें और मिलकर तिरोहित हो जाए, तो वे फिर ऐसी खो जाएगी भगवान् में, कि फिर कभी प्रपंच की सुध नहीं आएगी। इसका प्रयोजन तो पहले ही बता चुके हैं ।।२०।।

योजनाकार लालुभट्टजी—

ईश्वर भी तो फलदान आदि से प्रति भजन कर सकता है, अतः गोपियों की प्रति भजन की अपेक्षा उपयुक्त नहीं हैं, इस आशंका का समाधान यह है, कि गोपियों ने फल के उद्देश्य से तो भजन किया नहीं है, किन्तु पुष्टि की रीति से किया है अतः भगवान् ने भी फलदान नहीं किया। अन्य एक यह बात भी है, कि गोपिकाओं की भगवान् में ईश्वर होने की बुद्धि नहीं है, किन्तु सख्य बुद्धि से ही रमण किया है अतः प्रति भजन की अपेक्षा भी नहीं ठहरती।

✳ कभी संयोग तो कभी विप्रयोग यों अहर्निश भगवान् का भजन करते रहने से स्वतंत्रतया हम भगवान् को भोग्य बना लेते हैं। इस अहर्निश भजन को ही 'अति भजन' भी कहा गया है।

○ कामना पूर्ण होते ही भोग्य के भजन का कोई प्रयोजन नहीं रहता अतः भजन नाश होता है। स्वरूपतः भगवान् अनन्त हैं फिर भी कामना पूरक भोग्य के रूप में जो भी फलदान करेंगे वह कामना के स्वभाव वश सीमित काल में ही होगा।

● 'भक्ति के लिए' यानि निरन्तर भक्ति की सिद्धि के लिए भगवान् ने प्रति भजन नहीं किया, अतः जब निरन्तर भक्ति हो जाएगी, तब भगवान् भोक्ता बन जायेंगे, अर्थात् भक्ति पूर्वक दिए हुए पदार्थ के भोक्ता बन जायेंगे। अतः अभजन ठीक ही है और विषय न्याय से, तो अपेक्षा रहित होने के कारण भगवान् भोक्ता बनते ही नहीं, यह चतुर्थ पक्ष में कहा जाएगा।

आभास—एवं स्वस्याभजने हेतुमुक्त्वा प्रकृते तदभावमाह **एव**मिति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने गोपीजनों को अपने भजन न करने का मर्यादानुसार जो कारण था वह बताया, चलते प्रसंग में बताते हैं, कि मैं आपका भजन कर रहा हूँ जिसका स्पष्टीकरण "एवं मदर्थो" श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।**
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ।।२१।।

श्लोकार्थ—हे अबला गोपिकाओं इस प्रकार मेरे लिए लोक वेद और स्वजनों का त्याग करने वाली जो तुम हो, उनकी वृत्ति मुझ में लगी रहे, जिसके लिए परोक्ष भजन करता हुआ, मैं अन्तर्द्धान हो गया हूँ, इसीलिए प्रिया का प्रियतम से ईर्ष्या करना योग्य नहीं है ।।२१।।

सुबोधिनी—यदुक्तं ताभिररण्ये स्त्रियो रात्रौ कथं त्यक्तव्याः। तदर्थमेवमुच्यते। द्वयमत्र कर्तव्यम्। भजनानुव्यावृत्त्यर्थमभजनम्, रात्रौ रक्षार्थं भजनं च। तत् परोक्षभजनेन सिध्यतीति मया परोक्षं भजता तिरोहितम्। भजने हेतुमाह **एव**मिति। मदर्थमेव उज्झिता लोकवेदस्वा याभिः। वृथापरित्यागव्यावृत्त्यर्थं मोक्षार्थपरित्यागव्यावृत्त्यर्थं च **मदर्थमुज्झिते**त्युक्तम्। आद्ये त्यागोनिष्टहेतुः। द्वितीये न मम भारः। त्रयः पदार्थास्त्यक्तव्याः। लोको दुस्त्याज्यः। आर्यमार्गो वैदिकः। प्रकारस्तादृश इति। मयैव लोके तथैव प्रतीतिजननात्। पतिपुत्रादयो दुस्त्याज्याः। तत्रापि न मयि प्राप्ते, किन्तु मदर्थे मत्कामनायामेव। तदा मे विचिकीर्षितो भवतीति। 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'ति तादृश एव मम भाव इति त्रितयपरित्यागे मया भजनं कृतम्। (वस्तुतस्तु स्वपदं स्वात्मपरम्। अन्यथा पतिपुत्रादीनामपि लोकवेदमध्यपातात्तेनैव तत्प्राप्तेः स्वपदमनर्थकं स्यात्। तथा च स्वात्मत्वेन स्नेहविषयत्वाभाव एव तत्त्यागः। एतासां भगवदर्थत्वेन प्रीतिविषयत्वादात्मादीनामिति सारम्।) युक्तश्चायमर्थः। अनन्याः पालनीया इति। वःयुष्मान्। मय्यनुवृत्तय इत्येकं फलम्। **अबला** इति सम्बोधनात् न सतामिव प्रत्यक्षेण भवतीनां भजनं सिध्यतीति ज्ञापितम्। परोक्षं भजता अतिरोहितं वा। भजनं भोगो वा। भोक्त्रैव मया भोगं कुर्वता तिरोहितम्। भवती भिन्नं दृष्ट इत्यर्थः। अनेनाभजनपक्षो व्यावर्तितः। तस्मिन् सत्यसूया सम्भवति। अकृतज्ञत्वादिदोषारोपणेन मा मां असूयितुं नार्हथ। यतः प्रियम्। प्रिये दुष्टे स्वस्यापि तथात्वस्यावश्यकत्वात् त्यक्तुमशक्यत्वात्। किञ्च, प्रिया यूयम्। कृतज्ञत्वादयो हि धर्मा न प्रीतिविषये भवन्ति। औदासीन्यसामनाधिकरण्यात्।२१।

व्याख्यार्थ—भगवान् गोपी जनों के (अरण्य में रात्रि के समय स्त्रियों को कैसे त्यागते हैं ? वे रात्रि के समय रक्षा के योग्य हैं, न कि, त्यागने के योग्य हैं) इन शब्दों के उत्तर में यह श्लोक कह रहे हैं, तुमने जो कहा है, उसके लिए दो कर्तव्य हैं, एक तुम्हारा भजन मुझ में प्रतिक्षण बना रहे, जिसके लिए अभजन ही कर्तव्य है, और दूसरा रात्रि के समय, रक्षार्थ भजन कर्तव्य है, रात्रि के समय की रक्षा तथा मुझमें वृत्ति बनी रहे, ये दोनों परोक्ष भजन करने से सिद्ध होते हैं। इसलिए मैं परोक्ष भजन कर रहा हूँ, मेरे इस अन्तर्हित होकर भजन करने का ज्ञान तथा यों छिपकर परोक्ष भजन किसलिए कर रहा हूं उसका भी ज्ञान तुमकों नहीं है, यदि कहो, कि हमारा भजन आप क्यों करते हैं ? जिसके उत्तर में भगवान् कहते हैं, कि तुमने मेरे लिए लोक, वेद और आत्मा का भी त्याग कर दिया है, अतः मैं तुम्हारा भजन करता हूं, तुम्हारा यह परित्याग वृथा नहीं है तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए भी नहीं है, किन्तु विशेषतया मेरे लिए ही है। यदि यह त्याग वृथा होवे, तो उसका परिणाम अनिष्ट[1] होवे, और यदि यह त्याग मोक्ष के लिए किया गया है, तो मुझ पर भार नहीं, किन्तु त्याग उन दोनों प्रकार का नहीं है, मेरे लिए है, अतः मुझ पर भार है। गोपीजनों का यह तीन प्रकार का त्याग है, जो अति कष्ट साध्य है, कारण कि इस प्रकार का ज्ञान मैंने ही उत्पन्न किया है। लोक में आसक्ति, वेद धर्म में श्रद्धा से उनका पालन तथा देह पुत्रादि की रक्षा करना धर्म है, उसका भी मेरे लिए, मुझको प्राप्त करने के लिए त्याग किया है। इस प्रकार त्याग करने वाले भक्त ही, सबसे अधिक प्रिय हैं, उनके लिए, मैं लीला करता

---

[1] हानि करनेवाला,

हूँ। 'सर्व धर्मान् परित्यज्य' श्लोक के कहने का यह ही आशय है, अतः लोक, वेद और आत्मा तीनों का परित्याग करने वाले इन गोपीजनों का मैंने भजन किया। मूल श्लोक में 'हि' शब्द इसलिए है, कि यह अर्थ योग्य है, अर्थात् जो इस प्रकार सर्व त्याग कर एक भगवान् को ही चाहते हैं, वैसे अनन्य भक्त भजनादि से पालन के योग्य हैं। 'वः' पद का भावार्थ है, कि तुम लोगों (गोपियों) के चित्त की वृत्ति मुझ में लगी रहे, यह एक फल है, 'अबला' यह सम्बोधन देकर गोपियों को सावधान किया है, कि आपका जो भजन मैं कर रहा हूं, वह सत्पुरुषों के समान प्रत्यक्ष नहीं देखने में आएगा अथवा श्लोक में 'भजता तिरोहितम्' वहां 'भजता अतिरोहितम्' पदच्छेद कर अर्थ करो, मैं परोक्ष भजन करते हुए, तिरोहित नहीं हुआ हूं। किन्तु भजन का अर्थ यहां भोग है, मैं भोक्ता हूँ अतः भोग करते करते तिरोहित हुआ हूँ, वह तुमने देखा नहीं, यों कहकर भगवान् ने गोपियों को यह समझाया है, कि मैं तुम्हारा भजन कर रहा हूँ। यों भजन करते हुए भी, मुझ पर कृतघ्न आदि दोष क्रोध से लगा रही हो। यह मत लगाओ, कारण, कि मैं तुम्हें प्रिय हूँ, यदि प्रिय दोषी है, तो तुम्हारा भी वैसा होना आवश्यक है, समान में ही मैत्री रहती है। प्रिय का त्याग नहीं हो सकता है, तुम प्रियाएं हो, प्रीति के विषय में कृतज्ञत्व आदि धर्म नहीं देखे जाते हैं, प्रेम सम्बन्ध में, जैसे उदासीनता नहीं की जाती है, वैसे ही कृतज्ञता आदि की आवश्यकता नहीं है, वहां निरुपाधि प्रेम के सिवाय किसी प्रकार का अन्य धर्म नहीं है ॥२१॥

आभास—एवं तासां मनोमार्जनमुक्त्वा भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुं ताः स्तौति
न पारयेऽहमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गोपियों के मन का भ्रम मिटाकर, भक्ति मार्ग के विरोध को मिटाने के लिए (न पारयेऽहं) श्लोक में स्तुति करते हैं—

श्लोक—**न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।**
या माभजन् दुर्जरगेह शृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

श्लोकार्थ—तुम उपाधि रहित भजन कर मेरे साथ मिली हो, जिस उपकार का प्रतिकार[1] मैं ब्रह्मा की आयु से भी नहीं कर सकता हूं, तुम लोगों ने गृह की कठिन शृङ्खला को तोड़कर मेरा भजन किया है, जिसका प्रत्युपकार तुम्हारे से ही संभव है ॥२२॥

सुबोधिनी—निरवद्यसंयुजां निर्दुष्टभजनयुक्तानाम् । **स्वसाधुकृत्यं** स्वप्रत्युपकारकरणम् । **विबुधायुषा** ब्रह्मायुषा । मन्वन्तरपरिमितायुषा वा । विशेषेण बुधानां ज्ञानिनामनन्तायुषा वा । न पारये । भजनप्रत्युपकारयोर्वैसादृश्यात् । भवतीनां भजनं निष्कपटम् । अस्मद्भजनं

---

[1] १—बदला,

सकपटमिति । न ह्यल्पजलस्यापि तुल्यं बह्वपि मरुमरीचिकाजलं भवति । सत्यभजनं तु ब्रह्मणोऽशक्यमेव, जीववर्मत्वात् । तत्रापि विशेषमाह **या माभजन्निति** । दुर्जरा हि गेहश्रृङ्खला, या जीर्यतोऽपि न जीर्यत इति । तां **संवृश्चय** छित्त्वा । याः भवत्यः प्रसिद्धाः । **मा** मामभजन् । यैः पूर्वं बद्धाः स्थिताः स्वार्थं तेषामर्थमात्मानं च मय्येव समर्पितवत्यः । बहिःश्रृङ्खला त्यक्तुमपि शक्या । न तु सर्वत आवृते गृहं श्रृङ्खला । एवमलौकिककर्त्रीणां यद् भजनं तद् भवतीनामेव । साधुना । भावप्रधानो निर्देशः । साधुत्वेन प्रतियातु, प्रत्युपकृतं भवतु । साधवो हि महत् कर्म कृत्वा स्वयमेव तुष्यन्ति, न तु प्रत्युपकारमपेक्षन्ते । अतो मयि भजनं नास्ति । भजनस्य जीवधर्मत्वात् । अतोऽग्रेऽपि यदि स्वत एव सन्तुष्टाः, तदा भजत, नो चेत्, यथासुखं विधेयमिति भावः । न ह्यशक्यं कश्चित् कर्तुं शक्नोतीति ।।२२।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मण भट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षित विरचितायां दशमस्कन्धविवरणे एकोनत्रिंशाध्यायविवरणम् ।।

व्याख्यार्थ—निर्दोष भजन कर तुमने मुझे प्राप्त किया है, और इस उपकार का प्रत्युपकार मैं ब्रह्मा की आयु, वा मन्वन्तर की आयु अथवा अनन्त आयु वाले ज्ञानियों की आयु पा लूं तो भी नहीं कर सकूंगा, कारण कि तुम्हारे भजन और प्रत्युपकार में समानता नहीं है। तुम लोगों का भजन बिना कपट के है जब कि मेरा कपट वाला है। मरु मरीचिका का बहुत जल भी स्वल्प सत्य जल की समानता नहीं कर सकता है। भजन करना जीव का धर्म है, अतः ब्रह्म सत्य भजन नहीं कर सकता है। उस भजन में भी विशेषता बताते हैं कि गृह की शृङ्खला[1] जो पुरानी होने पर तोड़ने पर भी नहीं टूटती है, वैसी कठोर शृङ्खला को तोड़कर मेरा भजन तुमने किया है। प्रथम स्वार्थ के लिए जिनसे बद्ध हो बैठी थी उन सब को मुझमें विनियोग कर मेरे लिए भजन करने लगी, बाहर की जंजीर तोड़नी वा निकाल देनी सरल है, किन्तु गृह के चारों तरफ की शृङ्खला को तोड़ना महा कठिन है, उनको जिन्होंने तोड़ दिया है वैसी अलौकिक कार्य करने वालियों का भजन तुम्हारा ही है। अतः तुम्हारा यह भजन साधु पुरुषों जैसा हो, अर्थात् जैसे साधु पुरुष भजन कर उसका प्रत्युपकार नहीं मांगते हैं, भजन से ही स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं। वैसे ही तुम भी, भजन से प्रसन्न चित्त होकर अपने को कृत कृत्य समझो। यदि तुम चाहती हो, कि मैं भजन करूं वह नहीं होगा, कारण, कि मैंने कह दिया है, कि भजन करना जीव का धर्म है अतः जीव ही सत्य भजन कर सकता है। अतः तुम यदि आगे भी भजन करने से सत् पुरुषों की भांति प्रसन्न चित्त रह सको, तो भजन करो, नहीं तो जैसे तुम्हारा जी चाहै वैसे करो, जगत् में कोई भी जो अशक्य है, वह करने में समर्थ नहीं है ।।२२।।

इति श्री मद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) २६ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) 'तामस फल' अवान्तर प्रकरण, का "श्री" धर्म निरूपक चौथा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

---

[1]—जंजीर

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला का सारांश, भक्त शिरोमणि श्री नन्ददासजी कृत रास पंचाध्यायी के चतुर्थ अध्याय का अवलोकन कीजिए :—

यह विधि प्रेम सुधानिधि मग्न ह्वे करत कलोलें। बिव्हल ह्वे गई बाल लाल सों अलवल बोलें ॥१॥
तब तिनही में प्रकट भये नँदनंदनपिय यों। दृष्टि बंधकर दुरे बहुर प्रकटे नटवर ज्यों ॥२॥
पीतवसन वनमाल धरे मंजुल मुरली हथ। मंद मधुर मुसकाय निपट मन्मथके मन्मथ ॥३॥
पियहि निरख त्रिय वृंद उठी सब एक बेर यों। फिर आवे घट प्राण बहुरि इन्द्री उझकत ज्यों ॥४॥
महाक्षुधितकों जिमि भोजनसों प्रीत सुनी हे। ताही ते सतगुणी सहस्र किधों कोटि गुनी हे ॥५॥
कोउ चटपट सों कर लपटी कोउ उरवर लपटी। कोउ गरे लपटी कहत भले जु भले कान्हर कपटी ॥६॥
कोउ नागर नग धर की गहि रहि दोउ कर पटकी। जानो नव घन ते सटकी दामिनी दामिनी अटकी ॥७॥
दोर लपट गई ललित लाले सुख कहत न आवे। मीन उछर कें पुलिन परे पुनि पानी पावे ॥८॥
कोउ पिय भुज गहि लटक रही नव नार नवेली। मानो सुंदर शृङ्गार विटप लपटी छवि वेली ॥९॥
कोउ कोमल पदकमल कुचन पर राख रही यों। परम कृपन धन पाय छाती सों लाय रही ज्यों ॥१०॥
कोउ पिय रूप नयन भर उरमें धरधर आवत। मधुर मिष्ट जों वृष्ट दशों दिश अति छबि पावत ॥११॥
कोउ दशन दिये अधर बिंब गोविंद हि ताडत। कोउ एक नयन चकोर चारु मुखचंद निहारत ॥१२॥
बैठे पुनि तिहिं पुलिनमांझ आनंद भयो है। छबीली अपनी छालन छबिसों बिछाय दयो है ॥१३॥
एक एक हरिदेव सबे आसन पर बेसे। किये मनोरथ पूरन जिनके उपजे जेसे ॥१४॥
जो अनेक योगेश्वर हिय में ध्यान जु धरही। एकही बेर एक मूरत सबनकों सुख विस्तरही ॥१५॥
कहुँ कज्जल कहुँ कुंकुम कहुँ पीकलीक वर। जहां राजत नँदनंद कोटि कंदर्प दर्प हर ॥१६॥
योगीजन बन जाय यत्न कर कोटि जन्म पचि। अति निर्मल कर राखे हियमें आसन रचि रचि ॥१७॥
कछु छिन तहाँ नहिं जात नवलनागर सुन्दर हरि। युवतिन के आसन पर बैठे सुन्दर रुचि करि ॥१८॥
कोटि कोटि ब्रह्मांड यद्यपि इकली ठकुराई। व्रजदेविनकी सभा सांवरे अति छबि पाई ॥१९॥
ज्यों नवदल मंडल मधि कमल कर्णिका भ्राजे। यों सब त्रियनके सनमुख सुन्दर श्याम विराजे ॥२०॥
बूझन लागी नवलवाल नँदलाल पियहि तब। प्रीतिरीत की बात मन में मुसकात जात सब ॥२१॥
एक भजते को भजे एक विन भजते भज ही। कहो कान्ह ते कवन आहि जो दोहुन त्यजही ॥२२॥
यद्यपि जगत गुरु नागर नगधर नंद दुलारे। तदपि गोपिनके प्रेमविवश अपने मुख हारे ॥२३॥
तब बोले व्रजराज कुंवर हों रिणी तिहारो। अपने मन ते दूर करो यह दोष हमारो ॥२४॥
कोटि कल्प लग तुम प्रति अति उपकार करूँ जो। हे मन हरणी तरणी अवनि अरूणी न होऊ तो ॥२५॥
सकल विश्व आप वस कर मोहि माया सोहत हे। प्रेम मई तिहारी माया सो मोहि मोहत हे ॥२६॥
तुम जो करी सो कोउ न करे सुन नवल किशोरी। लोक वेदकी सुदृढ श्रृंखला तृण सम तोरी ॥२७॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

'पञ्चमो अध्याय'

स्कन्धानुसार त्रिंशतमो अध्याय

महा-रास

कारिका—**त्रिंशत्तमे हरिः प्रीतो लीलां कामकृतामपि ।
इन्द्रादिदुर्लभां चक्रे स्वानन्दार्थमितीर्यते ॥ १ ॥**

कारिकार्थ—प्रसन्न हरिने इस तीसवें अध्याय में जो, कामकृत लीला इन्द्र आदि देवों को भी दुर्लभ है, वह अपने आनन्द लेने के लिए प्रकट की है, इस कारण से यहां उसका वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

कारिका—**अस्याः सर्वोपकाराय फलश्रुतिरुदीर्यते ।
लौकिक्यपि यदा दृष्टिस्तदा सिद्धान्त ईर्यते ॥ २ ॥**

कारिकार्थ—अध्याय के अन्त में इस लीला के श्रवण से जिस फल की प्राप्ति होगी उसका वर्णन किया गया है, क्योंकि यह लीला सर्व प्रकार के मनुष्यों का

उपकार करने वाली है, जब इस लीला में लौकिकी दृष्टि हुई तो सिद्धान्त भी कहा गया ॥ २ ॥

कारिका—**रसात्मकस्तु यः कामः सोत्यन्तं गूढ एव हि ।**
अतः शास्त्रं प्रवृत्तं हि तृतीयं भारतं तथा ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—यहां जिस काम की लीला का वर्णन है वह काम 'रसात्मक' है और अत्यन्त गूढ है, अतः तीसरा काम शास्त्र भरत मुनि ने बनाकर प्रवृत किया है ॥ ३ ॥

कारिका—**अतोत्र भगवांश्चक्रे नृत्यं कारितवांस्तथा ।**
सर्वाङ्गेषु तु यो लीनः स यथा व्यक्ततां व्रजेत् ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—इस कारण से भगवान् ने सर्व अङ्गो में छिपे हुए गूढ रसात्मक काम को प्रकट करने के लिए स्वयं नृत्य किया और गोपियों से करवाया ॥ ४ ॥

कारिका—**जलं वायुश्च सामग्री श्रमात् शीताच्च जायते ।**
अत्रैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—नृत्य से श्रम तथा गरमी होती है जिनके निवारण के लिये जल तथा वायु की सामग्री प्रकट हुई, इस पृथ्वी लोक पर ही सब आधिदैविक उत्तम कामादि प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥

कारिका—**कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः ॥**

कारिकार्थ—वह प्रकट उत्तम आधिदैविक काम का उपभोग कृष्ण के सिवाय कोई अन्य नहीं कर सकता है ॥ ५½ ॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि यह काम लीला प्रकट नहीं करनी चाहिए, किन्तु प्रभु ने प्रकट होकर जिस लीला का प्राकट्य कर दिखाया है अतः उसको यहां (३० अध्याय में) वर्णन किया जाता है । इस अध्याय में काम लीला का वर्णन है वहां फल श्रुति क्यों कही गई है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए दूसरी कारिका में कारण बताया है कि यह लीला, सर्व प्रकार के ज्ञानी, भक्त और विषयी आदि मनुष्यों का उपकार करने वाली है अर्थात् इसके श्रवण से ज्ञानी तथा भक्तों का तो हृद्रोग नाश होगा ही किन्तु विषयी जनों की भी काम वासना नष्ट हो जाएगी, इसलिए प्रत्येक को निशङ्क होकर सुननी चाहिए, जिसके श्रवण से किसी प्रकार की भी हृदय में दुर्वासना उत्पन्न हो तो वह भी अवश्य नष्ट होगी ।

यदि किसी मनुष्य की बुद्धि लीला के श्रवण से भगवान् में विपरीत भावना वाली हो जाय तो प्रश्नोत्तर द्वारा सिद्धान्त समझा कर उसका निवारण किया है, तीसरी कारिका में काम का 'रसात्मक' स्वरूप समझाकर कहा है कि भगवान् सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा है अतः दोष बुद्धि वालों की बुद्धि को भी बदल कर इस प्रकार अलौकिक कर देते हैं, भरत मुनि कृत तथा वात्स्यायन मुनि कृत काम शास्त्र की सार्थकता के सिद्धयर्थ उसकी अलौकिक गूढता को प्रकट करने के लिए उसमें कहे हुए नृत्यादि कर और गोपियों से करा के गूढ़ रसात्मक काम को प्रकट किया है तदनन्तर स्वयं उस रस का गोपी पात्र द्वारा पान किया है क्योंकि आपके सिवाय उस उत्कृष्ट आधिदैविक रस का भोक्ता अन्य कोई नहीं है।

विशेष टिप्पणीजी का अवलोकन कीजिए।

आभास—एवं पूर्वाध्याये तासां सर्वभावेन प्रमाणेन प्रमेयेन दुःखं दूरीकृतवान्। तद् दुःखमज्ञानतश्चेत्, तदैव दूरीकृतं भवति। अन्यथा भगवतैव दुःखं दत्तं स्यात्। अतो भगवता त्यक्त्वा न गतमिति न भगवान् दुःखे हेतुः, किन्त्वज्ञानमेव। अतो भगवद्वाक्यादज्ञाने गते तन्मूलकं दुःखमपि गतमित्याह इत्थमिति।

आभासार्थ—इस प्रकार २९ अध्याय में भक्तों में सर्वात्म भाव सिद्ध कर, प्रमाण तथा प्रमेय से उनके दुःख दूर किए, वह दुःख यदि भगवान् ने दिया होता तो इस प्रकार दूर न होता किन्तु यह दुःख अज्ञान के कारण था इसलिए मिट गया। भगवान् तो गोपियों को त्याग कर नहीं गए थे, अतः भगवान् दुःख का कारण नहीं थे, अतः भगवद्वचनों से अज्ञान के नष्ट होने पर उससे उत्पन्न दुःख भी नाश हो गया, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्थं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।**
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥१॥

श्री शुकदेवजी कहते हैं कि—इस प्रकार भगवान् के श्री अंग के स्पर्श से पूर्ण मनोरथ वाली गोपियों ने, भगवान् के सु मधुर वाणी को सुनकर, विरह से उत्पन्न ताप का त्याग किया ॥१॥

सुबोधिनी—भगवतो वाचः श्रुत्वा विरहजं तापं जहुः। भ्रमादेवास्माकं विरहो जात इति। ननु वचनमात्रेण कथमज्ञाननिवृत्तिः, तत्राह **भगवत** इति। **गोप्य** इति विपरीतभावनानिवृत्त्यर्थम्। ननु ता वाचः कथं न मनसि सन्देहमुत्पादितवत्यः, तत्राह **सुपेशला** इति। अतिमनोहरा इति। मनसि विचिकित्सायामेव सन्देहः। शब्दस्वाभाव्यादेव मनसि सन्देहो न जातः। अतो विरहजं तापं जहुः, नास्माकं विरहो जात इति ज्ञातवत्यः। यथा स्वप्नादुत्थितः स्वाप्निकं दुःखं

न मन्यते । तस्य भगवत अङ्गैरुपचिता आशिषो यासाम् । भगवत्कार्यव्यतिरेकेणैव भगवदवयवैरेव सर्वमनोरथाः पूरिताः ॥१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के वचन सुनकर गोपियों ने विरह से उत्पन्न दुःख का त्याग किया कारण कि उन्होंने समझ लिया कि भगवान् तो कहीं गए नहीं थे हमारे पास ही थे अज्ञान से हमने समझ रखा था कि भगवान् हमको छोड गए हैं। केवल वचन से अज्ञान की निवृत्ति कैसे हो गई+? इस शङ्का के मिटाने के लिए कहते हैं, कि वचन बोलने वाला साधारण मनुष्य नहीं था किन्तु षड् ऐश्वर्य आदि गुण वाले प्रभु थे □। अतः मूल में 'भगवान्' नाम दिया है। वचन सुनने वाली भीं गोपियाँ थीं, अतः कहने वाले शर्व शक्तिमान् और सुनने वाली योग्य पात्र, इसलिए विपरीत भावना नष्ट हो गई। भगवान् के वचनों से मन में सन्देह क्यों उत्पन्न नहीं हुए ? जिसके उत्तर में कहा गया है कि वे वचन 'सुपेशलाः' अर्थात् अति मनोहर थे, मन में दो बातें हों तो संदेह होता है, शब्दों के अपने स्वभाव से ही संशय उत्पन्न नहीं हुवा। अतः विरह से उत्पन्न दुःख को गोपियों ने त्याग दिया अर्थात् गोपियाँ समझ गई कि हमको विरह था ही नहीं तो दुःख काहे का ? दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे स्वप्न से जागृत पुरुष जागृत अवस्था में स्वप्न के दुःख को दुःख नहीं मानता है वैसे गोपियों ने अज्ञान से उत्पन्न दुःख को दुःख ही न समझा। भगवान् के कुछ भी करने के सिवाय उनके अवयवों के स्पर्श मात्र से गोपियों के सर्व मनोरथों की पूर्ति हो गई ॥१॥

आभास—एवं दुःखाभावसुखयोः प्रतिबन्धकं रूपेण वाचा च निवार्य स्वकर्तव्यमारभते **तत्रारभतेति** ।

आभासार्थ—दुःख दूर होकर सुख मिलने में जो कुछ प्रतिबन्ध थे उन्हें भगवान् ने स्वरूपदर्शन तथा वाणी से मिटाकर अपना कर्तव्य प्रारम्भ किया, जिसका वर्णन 'तत्रारभत' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।**
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥

श्लोकार्थ—जिस रस को भगवान् चाहते हैं उसको चाहने वाली स्त्री रत्न गोपियां वहां प्रसन्न चित्त से परस्पर हाथ मिलाकर जोड़ी बन के खड़ी थी, उनसे मिलकर भगवान् ने रासक्रीडा के रमण का प्रारम्भ किया ॥२॥

+ विरह का न होना अनुभव विरुद्ध है (टिप्पणी)

□ आप्त वचन प्रमाण होता है तथा भगवान् आप्ततम हैं (टिप्पणी)

सुबोधिनी - **गोविन्द** इति । एतदर्थमेवेन्द्रो जातः । अतोऽसाधारणो भोगश्च तस्यावश्यक इति च । अनुव्रतैः स्त्रीरत्नैरन्वितः रासक्रीडामारभत । बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषो रासः । रसस्याभिव्यक्तिर्यस्मादिति । रसप्रादुर्भावार्थमेव हि नृत्यम् । रासे क्रीडा लीला स्वस्य । क्रीडायां मनसो रसस्योद्‌गमः । नृत्ये देहस्य । कामस्तु भोक्तृनिष्ठ इति स्वप्राधान्यम् । समाजेनापि रस उत्पद्यत इति एकवचनम् । तदा हीक्षुरसवद् भक्तिरसवद्वा कामरसोऽप्युत्पद्यते । गोपिकानां रसयोग्यतामाह **अनुव्रतै**रिति । अनुव्रतं यासाम् तासामपि रसोत्पादनमावश्यकमिति । यादृशो भगवतोऽभिप्रेतः, तादृश एवेति च । नन्वयं रसः अलौकिकः, न लौकिकेषूत्पद्यते, अतो व्यर्थ आरम्भः । न हि सिकतासमूहात् तैलमुत्पद्यत इति चेत्, तत्राह **स्त्रीरत्नै**रिति । स्वभावतः स्त्रियस्त्रिविधाः, लोकभेदेन । तत्रापि मानुषीषु जातिभेदाश्चत्वारः, पद्मिन्यादयः । वासनाभेदाश्चतुर्दश अश्वप्रकृत्यादयः । सर्वास्वेवैता रत्नभुताः । स्वासाधारणधर्मैस्तद्धर्मप्रकाशिकाः । अतः सर्वभावेन रसोत्पत्तियोग्यता । तैरन्वित इति । स्वयं नायकमणिः । तद्योग्या एते मणय इति । एकरसत्वाय च मेलनम् । अनेन रसप्रकटनार्थं शुल्कदासिका भगवते दत्ता इति यदुक्तम्, तदपि समर्थितम् । नन्वेते जीवाः, भगवानानन्दमयः, कथं वैषम्याद्रसोत्पत्तिरिति चेत्, तत्राह **प्रीतै**रिति । ता अपि भगवत्सदृश्यो जाताः । सर्वतः प्रीता इति । तासामभिनिवेशप्रकारमाह **अन्योन्याबद्धबाहुभि**रिति । ताः परस्परमासमन्तादुभयतः बद्धौ बाहू यासाम् । न तु भगवता सह ।। २ ।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में भगवान् का नाम 'गोविन्द' दिया है जिसका आशय यह है कि भगवान् भोग के लिए ही 'इन्द्र' बने हैं अतः उन्हें असाधारण भोग अवश्य करना है। अपनी (प्रभु की) इच्छानुसार कामना करने वाली स्त्री रत्नों से वेष्टित होकर भगवान् ने रास क्रीड़ा आरम्भ की। 'रास' और 'क्रीड़ा' दोनों के स्वरूप का वर्णन करते हैं। बहुत नर्तकियों[1] के साथ जो खास नाच किया जाता है उसको 'रास' कहते हैं। 'नाच' उसको कहा जाता है कि जिसके करने से 'रस' प्रकट हो अतः रस को जागृत करने के लिए ही 'नृत्य' किया गया है। 'रास' में स्वयं अपनी क्रीड़ा लीला हैं। क्रीड़ा में मन को आनन्द देनेवाला रस प्रकट होता है और नृत्य करने से देह का आनन्द + उद्‌भूत होता है। क्रीड़ा में नायिका की प्रधानता न दिखाकर नायक की प्रधानता दिखाई गई है, जिसका कारण यह है कि काम तो भोक्ता-नायक में रहता है इसलिए भोक्ता की प्रधानता है। यहां नायक भगवान् हैं वह भोक्ता हैं अतः उन्हें प्रधानता दी गई है। 'रास क्रीडाम्' यह एक वचन इसलिए दिया है कि समाज में जो रस उत्पन्न होता है वह रस एक ही है, इस विषय को दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे गन्नों के समूह से जो रस निकलता है वह 'रस' एक ही प्रकार का होता है। अनेक भक्तों के समाज में जो भक्ति रस उद्‌भूत होता है वह एक ही प्रकार का होने से एक ही गिना जाता है। इस प्रकार काम रस भी एक ही पैदा होता है। श्लोक में 'अनुव्रतैः' पद देकर यह बताया है कि गोपियां रस ग्रहण के योग्य हैं, अतः उनमें रस का उत्पादन करना आवश्यक है, भगवान् को जो रस अभिप्रेत है वह उनको भी ईप्सित[2] है।

+ यद्यपि रास तथा क्रीड़ा में भेद है तो भी भगवान् की भांति उनके सर्व पदार्थ तथा क्रिया सच्चिदानन्द रूप हैं जिससे सर्वत्र सर्व पदार्थ एवं क्रियाओं में 'रस' ही है।

---

[1] नवाचली, [2] चाहिए।

यदि कहो कि यह रस अलौकिक है जिससे लौकिक स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होगा इसलिए आपका यह कार्यारम्भ व्यर्थ है, क्योंकि बालू से तेल नहीं निकलता है, तो इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि ये साधारण स्त्रियाँ नहीं है बल्कि स्त्रियों में रत्न हैं। लोक के स्वभावानुसार स्त्रियां तीन प्रकार की होती हैं, उसमें भी मनुष्य जाति की स्त्रियों के पद्मिनी आदि चार भेद हैं, अश्व प्रकृति वाले वासना भेद से चौदह भेद हैं। इन सर्व प्रकार की स्त्रियों में से ये गोपियां स्त्री रत्न हैं, अपने असाधारण धर्मों से उन धर्मों को प्रकाश करने वाली हैं अतः उनमें सर्व भाव से रस की उत्पत्ति की योग्यता हैं। वैसी स्त्री रत्न गोपियों से आप युक्त हुए हैं। आप स्वयं नायक मणि हैं और ये सकल गोपियां भगवान् के योग्य मणियाँ हैं। एक ही रस के लिए परस्पर मिले हैं, इस प्रकार आपस में मिलने से उस कथन को भी सार्थक बनाया जो आगे कहा गया है कि काम ने रस प्रकट करने के लिए खरीदी हुई दासियां भगवान् को दी है।

यदि कहो कि ये गोपियाँ जीव हैं और भगवान् आनन्दमय हैं अतः दोनों में वैषम्य है अतः विषमता में रस की उत्पत्ति कैसे होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए श्लोक में कहा है कि 'प्रीतैः' ये गोपियाँ भी सर्वतः प्रेम युक्त होने से भगवान् के समान स्वरूप वाली—आनन्दमय होगई हैं। परस्पर आग्रह पूर्वक मिलन का प्रकार बताते हैं। उन्होंने परस्पर हाथों को जोड़कर अपनी जोड़ियां बना दी हैं ये जोड़ियां परस्पर गोपियों की बनी थी न कि भगवान् से मिलकर बनी थी।

आभास—भगवान् पुनः हस्तमण्डलाद्बहिःस्थितो यथा सम्बध्यते, तथा सन्निवेशमाह रासोत्सवः सम्प्रवृत्त इति ।

आभासार्थ—भगवान् उस मण्डल से बाहर स्थित होते भी उनसे संबन्धित हो रहे थे जिसका वर्णन 'रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।**
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥
यं मन्येरन्, नभास्तावद्विमानशतसङ्कुलम् ।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—गोपियों के मण्डल से मण्डित रासोत्सव प्रारम्भ हुआ, दो दो गोपीजनों के बीच प्रविष्ट योगेश्वर कृष्ण ने उनके गले में अपने हस्त डाले, जिससे प्रत्येक गोपियां समझने लगी कि कृष्ण मेरे पास है, उस समय उत्सुकता अपहृत चित्त वाली देवताओं एवं उनकी स्त्रियों के सैकड़ों विमानों से आकाश भर गया था ।३-४।

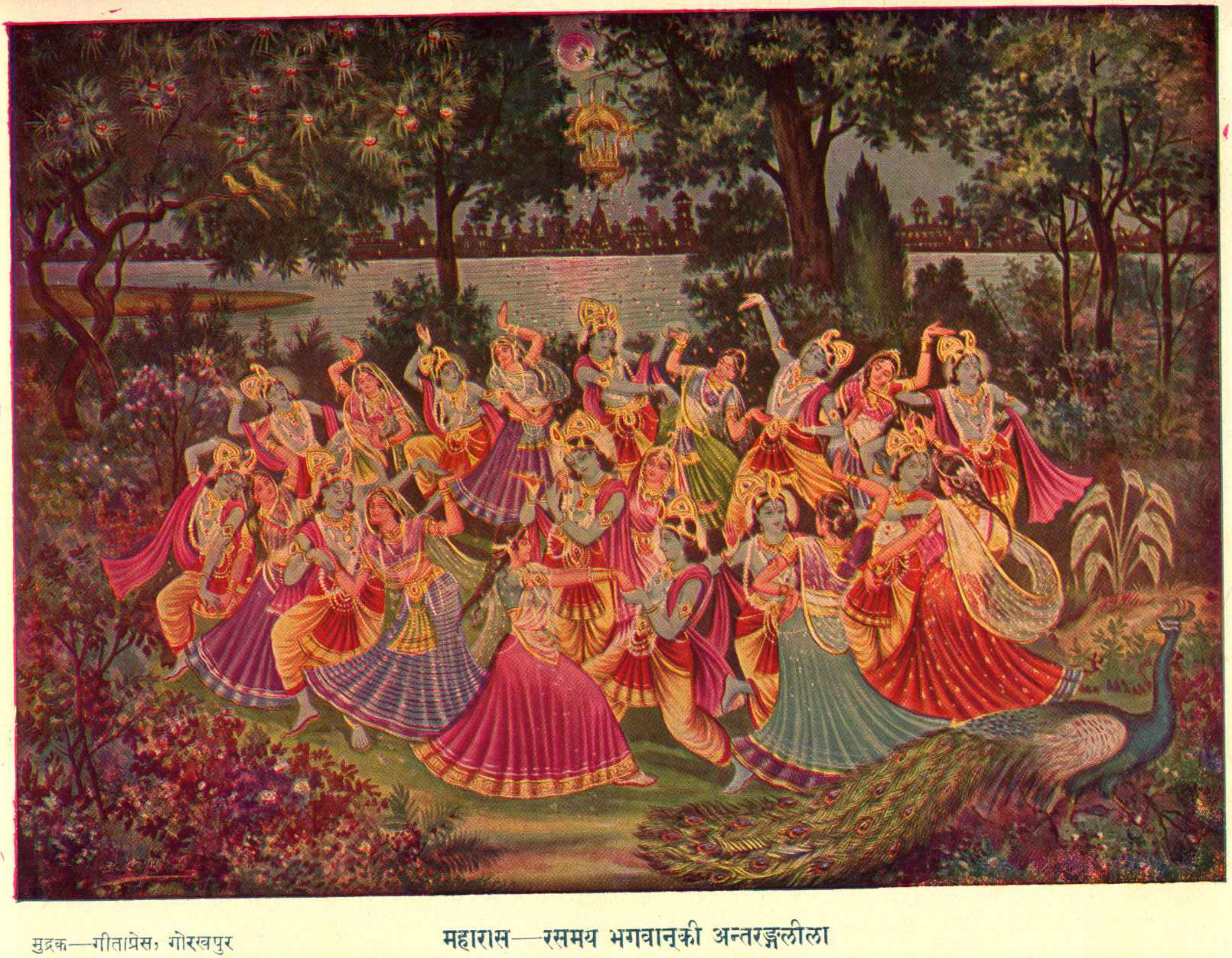

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

महारास—रसमय भगवान्‌की अन्तरङ्गलीला

सुबोधिनी—सर्वेषामेव गुणभावात् रसप्राधान्यात् रासोत्सव एव सम्यक् प्रवृत्तः। उत्सवो नाम मनसः सर्वविस्मारक आह्लादः। उत्सवत्वसम्पादनाय सजातीयानेकरसोत्पादनार्थं विशेषमाह **गोपीमण्डलमण्डित** इति। गोपीनां मण्डलैरनेकविधैर्मण्डितः। उत्सवोऽप्यनेकविधैर्ब्राह्मणादिमण्डलैर्मण्डितो भवति। अत्रापि तुल्यस्वभावाः रसार्थमेकीकृताः पृथङ्मण्डलभाजः। तैरपि मण्डितः। पोषकाश्च रसास्तत उत्पादिता इति उत्तरोत्तरमण्डलैः पूर्वपूर्वरसः पोष्यत इति नायं रसोन्यत्र भवितुमर्हति। सम्यक्प्रवृत्तिर्निरन्तरमाविर्भावः। ननु कालकर्मस्वभावानां प्रतिबन्धकत्वादनेकत्र जायमानो रसः कथमेकीभवति, तत्राह **योगेश्वरेणे**ति। स हि सर्वोपायवित्। सर्ववस्तुषु विद्यमानं भगवदैश्वर्यादिकं योग एवोद्घाटयतीति साधनेषु योगः प्रधानम्। तत्रैश्वर्ये सर्वत्रैव मूलभूतो रस उत्पादयितुं शक्यत इति सिद्धमेव। किञ्च। कृष्णोऽयमिति। स्वयमेव सदानन्दः। उद्गतोऽग्निः सर्वत्रैवाग्निं लीनं जनयितुं शक्नोति। तस्य भगवतस्तासु सन्निवेशप्रकारमाह **तासां मध्ये द्वयोर्द्वयो**रिति। मण्डलीकृता यावत्यो गोप्यः तासां द्वयं द्वयं भिन्नतया भावनीयम्। द्वित्वद्वयस्य नैकाधिकरणता भाव्या। अतो मण्डलमध्ये यत्र हस्तद्वयग्रन्थिः, तत्र भगवदुदरं यथा भवति, तथा भगवानुत्थितो जातः। तथोद्गतस्योभयत्र सम्बन्धमाह, द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन भगवता कण्ठे गृहीतानामिति। हस्तद्वयेन पार्श्वस्थितयोः कण्ठे ग्रहणम्। एवं षोडशगोपिकानामष्ट कृष्णा भवन्ति। अन्यथा रसाभासः स्यात्। कृष्णाद्वैविध्यप्रतीतेः। इममेवार्थमाह **स्वनिकटं स्त्रियः यं मन्येरन्नि**ति। स्वस्यैव निकटे, न त्वन्यासाम् स्वसम्मुखस्थितगोपिकाकण्ठालिङ्गितभगवद्दर्शनमपि भगवदिच्छया तासां न जायत इति। प्रयोजनार्थं हि रूपकरणम्। तदर्धसङ्ख्ययैव प्रयोजनं भवतीति न समसङ्ख्या मृग्या। 'यावतीर्गोपयोषित' इत्यग्रे समसङ्ख्यां भगवतो वक्ष्यति। यत्पुनः कैश्चिदुक्तं 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधव' इति, तत्रापि सविसर्गः पाठो ज्ञेयः। द्विवचने बहुवचनप्रयोगश्च। अन्यदेव वा तन्मण्डलम्, न भागवतोक्तम्। मध्ये वेणुनादस्योक्तत्वात्। अत्र तु रसार्थं नृत्यमिति। गानार्थमपेक्षायामपि देवैरेव तत्सिद्धिः। 'मध्ये मणीनां हैमाना'मित्यत्र तु दर्शनार्थमुक्तत्वात् गोपिकानां देवानां च दर्शनं तथैवेति नानुपपन्नं किञ्चित्। एवं रसार्थं सर्वसामग्र्यामुक्तायां स रसः प्रादुर्भूतः सर्वेषां भविष्यतीति देवादयः सर्वे अलौकिकज्ञानयुक्ता दर्शनार्थमागता इत्याह **नभस्ताव**दिति। तावन्नभो विमानशतसङ्कुलमासीत्। मण्डपे हि नृत्यं रसजनकम्। अन्यथोपरि वैचित्र्यं न स्यात्। तदर्थमपि विमानशतेन सङ्कुलम्। यथा रसोत्पादनार्थं स्त्रियः पुरुषाश्च सम्बद्धाः नानाबन्धयुक्ताः चित्रे स्थाप्यन्ते। तदर्थं भगवता ते चित्रप्रायाः स्थापिताः। अत एवाग्रे 'औत्सुक्यापहृतात्मना'मिति वक्ष्यति। स्वलीलार्थं सर्वं तथा प्रेरयतीति न औत्सुक्येनान्यथासिद्धिः। तासां रसग्रहणार्थमागमनम्, भगवदिच्छा तु चित्रार्थम्। विमानस्थितान् तत्सम्बन्धिनो वर्णयति **दिवौकसा**मिति। स्वर्ग एव स्थानं येषाम्। **सदाराणा**मिति तेषां भावान्तरव्युदासार्थम्। स्त्रीणामुपसर्जनत्वं तासां भावार्थम्। स्वर्गस्थिता रसाभिज्ञा रसयोग्याश्च भवन्तीति। नन्वीश्वरलीला न द्रष्टव्येति कथं तेषां दर्शनार्थं प्रवृत्तिः, तत्राह **औत्सुक्यापहृतात्मना**मिति। औत्सुक्येन विचाररहितलीलाक्षिप्तमनसा अपहृत आत्मा स्वरूपं बुद्धिर्वा येषाम्। अतः स्वधर्मादेव प्रवृत्ताः, न तु भगवद्धर्मं विचारितवन्तः ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—रामलीला में रस ही प्रधान है अन्य सर्व वस्तु अर्थात् मिलन आदि क्रियाएं गौण हैं, वैसा रस प्रधान रासोत्सव श्रेष्ठ प्रकार से प्रारम्भ हुआ। केवल रास न कहकर उसके साथ 'उत्सव' शब्द दिया है, जिसका तात्पर्य है कि वैसा रास हुआ कि जिससे अन्य सर्व विषयों को भुलाने

वाला आनन्द उत्पन्न हुआ । उत्सव को पूर्ण रीति से सम्पादन करने के लिए, सजातीय[1] अनेक रस उत्पन्न करने के कारण अनेक प्रकार के गोपियों के मण्डलों से रासोत्सव को मण्डित बनाया, जैसे उत्सव भी अनेक प्रकार के ब्राह्मणादि के मण्डलों से शोभित होते हैं, यहां भी समान स्वभाववाली अनेक गोपियां रस के लिए इकट्ठी की गई हैं जिन्होंने जुदे जुदे मण्डल बना लिए हैं, उन मण्डलों से यह रासोत्सव शोभायमान हो रहा है । रासोत्सव को पोषण करने वाले रस भी रासोत्सव से उत्पन्न किए गए हैं, इस प्रकार उत्तरोत्तर[2] क्षण में आने वाले मण्डलों से, पूर्व क्षण वाले मण्डल के रस का पोषण होता है वैसा रस दूसरे स्थान पर अर्थात् अन्य उत्सव में हो नहीं सकता है । रासोत्सव की प्रवृत्ति श्रेष्ठ हो रही है जिसका आशय है कि उसका सदैव आविर्भाव है अर्थात् रासोत्सब सदा ही होता रहता है । यहां काल, कर्म और स्वभाव ये तीन रुकावट करने वाले हैं अतः बहुत स्थलों पर उत्पन्न 'रस' एक कैसे हो सकेगा ? इस शङ्का का निवारण करने के लिए श्री शुकदेवजी ने भगवान् को योगेश्वर कहकर यह बता दिया है कि वह निश्चय ही समस्त उपायों को जानने वाले हैं । योग ही है जो समस्त वस्तुओं में मौजूद ऐश्वर्यादिक को प्रकट करता है अतः साधनों में 'योग' ही प्रधान है, योग में भी ऐश्वर्य द्वारा सर्वत्र ही मूलभूत रस उत्पन्न किया जा सकता है यह बात तो सिद्ध ही है । यह योगेश्वर कृष्ण स्वयं ही सदानन्द[3] स्वरूप हैं, प्रकट हुई अग्नि छिपी हुई आग को प्रकट करने में समर्थ होती है ।

भगवान् ने गोपियों के मध्य में स्थिति किस प्रकार की जिसका वर्णन करते हैं कि दो दो के मध्य आप विराजे थे । मण्डल हो के खड़ी हुई जितनी गोपियां थी उनमें दो दो जुदी हैं वैसी भावना करनी । दो की दो जोड़ियों में भगवान् एक हैं यों न समझना चाहिए* किन्तु एक जोड़ी में एक भगवान् हैं । वह किस प्रकार है जिसका स्पष्टीकरण करते हैं कि मण्डल के मध्य में जहां दो गोपियों के हस्त मिले हुए हैं वहां भगवान् इस प्रकार खड़े हो गए जैसे आप श्री का उदर दोनों के हस्तों को स्पर्श करता रहे, इस प्रकार प्रभु ने दो दो के गले में अपनी बाहु डाल दी जिससे १६ गोपियों में आठ कृष्ण होगए । अतः प्रत्येक गोपी अपने २ पास एक कृष्ण देखने लगी । यदि यों नहीं होता अर्थात् दो दो कृष्ण देखती तो रसाभास हो जाता था । इस भाव को प्रकट करने के लिए कहते हैं कि प्रत्येक गोपी समझने लगी कि कृष्ण मेरे पास ही है दूसरे के पास नहीं है । अपने सामने गोपियों से गलबाहु होकर खड़े हुए कृष्ण का दर्शन भी भगवान् की इच्छा से न कर सकी थी । भगवान् एक निश्चित प्रयोजन के लिए निश्चित स्वरूप धारण करते हैं, वह प्रयोजन अष्ट स्वरूप प्रकट करने से सिद्ध हो जाता है तो गोपियों की संख्या १६ के समान १६ कृष्ण ढूंडने की यहां कोई आवश्यकता नहीं है । श्री शुकदेवजी 'जितनी गोपियाँ उतने कृष्ण स्वरूप हैं' यह आगे कहेंगे ।

यह जो किन्होंने कहा है कि जितनी गोपियां थी उतने, १६, कृष्ण थे वह मण्डल दूसरा कोई होगा भागवत का नहीं है तथा वहां जो 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवः' पाठ दिया है वह प्राचीन नहीं

---

* अर्थात् चार गोपियों के बीच में एक हैं यों नहीं, किन्तु दो के बीच में यहां (○ △ △ ○ △ △ ○ △ △ ○) यह प्रकार है, न कि (○ △ △ △ △ ○ △ △ △ △) और न (○ △ ○ △ ○ △ ○) ये दो प्रकार ।

---

[1] —एक ही जाति के, [2] —क्रमशः एक के पीछे दूसरा, [3] —सदैव रस रूप

है उसमें फेर है शुद्ध पाठ "अंगना अंगना अन्तरे माधवः" यों है। तथा बहुवचन का अभिप्राय भी द्विवचन में ही है। उसके सिवाय वहां मण्डल के मध्य भगवान् वेणुनाद कर रहे हैं किन्तु भागवत में कही हुई लीला में यों नहीं है। यहां तो रस के लिए नृत्य किया गया है, गाने के लिए अपेक्षा मानने पर भी वह काम देवताओं से चलाया जा सकता है। "मध्ये मणीनां" इस ७ वें श्लोक में जो वर्णन श्रीशुकदेवजी ने किया है वह तो जैसे कि गोपियों एवं देवों को* दर्शन हुए उसका है न कि वस्तुस्थिति का। इस तरह सारी रस सामग्री के संपन्न होने पर वह रस भी प्रादुर्भूत होगा यह अलौकिक बात जानने वाले देवताओं ने समझ लिया अतः वे भी दर्शन के लिए दौड़ आए। यों आकाश सैकड़ों विमानों से भर गया।

मण्डप में नाचने से रस उत्पन्न होता है और मण्डप में ऊपर का भाग ही यदि आकर्षक न हो तो मण्डप ही क्या? और वह विचित्रता यहां देवताओं के आने से हुई, अतएव विमानों से आकाश भर दिया गया। मण्डप में जैसे रस उत्पन्न करने के लिए स्त्री पुरुषों के युगल नाना बन्धों में चित्रित किए जाते हैं, वैसे ही भगवान् ने उन देवों को चित्र प्रायः अवस्था में वहां स्थापित किया। अतएव आगे चलकर "औत्सुक्यापहृतात्मनाम्" कहा जाएगा। भगवान् अपनी लीला के लिए सभी में यथायोग प्रेरणा कर देते हैं अतः उत्सुक होने पर भी वे दौड़कर यहां नीचे नहीं आ पाए। वे उत्सुकतावश रसग्रहणार्थ आए थे परन्तु भगवान् की इच्छा उनके चित्र के रूप में उपयोग की थी। विमान में स्थित मिथुन रस के संबन्धी देवताओं का "दिवौकसां" में वर्णन है। देवताओं का स्थान स्वर्ग ही है। "सदाराणां" पद से देवपत्नियों की गौणता दिखलाई गई क्योंकि देवों में यहां भगवान् की लीला के दर्शन से अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव नहीं है। स्वर्ग में रहने वाले रस को जानते हैं और रस के योग्य भी हैं।

यह लीला साधारण मनुष्य की नहीं है किन्तु स्वयं ईश्वर की लीला है अतः वह नहीं देखनी चाहिए, तब देवों को देखने में प्रवृत्ति कैसे हुई? इस शङ्का का उत्तर श्री शुकदेवजी ने यह दिया है कि उत्सुकता के कारण लीला में मन आसक्त होने से देवों की बुद्धि वा आत्मा का अपहरण हो गया जिससे अपने धर्म से ही इसमें प्रवृत्त हुए हैं अर्थात् लीला देखने आए हैं, भगवान् के धर्म का विचार, बुद्धि के हरण हो जाने से नहीं कर सके थे, अतः आगए मूलतः यहां भी कारण तो भगवान् ही हैं (अनुवादक) ।। ३-४।।

योजनाः–देवताओं को गोपिकाओं के मण्डल के बीच में नाचते हुए एक ही स्वरूप के दर्शन हुए। मानों चारों ओर बिखरे हुए सोना के मोतियों के बीच में एक मरकतक-मणि रख दी गई हो। उन्हें केवल इतने ही दर्शन हुए और अन्य कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ा अर्थात् गोपिकाओं के साथ की अन्तरंग लीला के दर्शन देवों को नहीं हुए। जबकि गोपिकाओं में से प्रत्येक को भगवान् उसी के साथ हैं यह बोध हुआ।

प्रकाशः–"जिस उत्सुकता के कारण उन्हें भगवान् के दर्शन हो रहे हैं उसी उत्सुकता के कारण आत्मापहार कैसे संभव है?" इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं।

आभास—ततो नृत्यारम्भे यद भाव्यम्, तज्जातमित्याह तत इति।

आभासार्थ—नृत्य आरम्भ करने पर जो कुछ होना था वह हुआ जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'ततो दुन्दुभयो' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।**
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥५॥

श्लोकार्थ—अनन्तर दुन्दुभि बजने लगे, फूलों की वर्षा हुई स्त्रियों सहित गन्धर्व-पति भगवान् का निर्मल यश गाने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—आदौ दुन्दुभिवादनम् । 'परमा वा एषा वाग् या दुन्दुभा'विति श्रुतेः । ततः प्रथमतः पुष्पवृष्टिर्मङ्गलार्था । पुष्पाञ्जलिः प्रसिद्धः आगतो रसः तदधिष्ठाता वा पूज्यत इति । नाना-विधानां पुष्पाणां भिन्ना वृष्टय इति बहुवचनम् । ततो गानं साधारणं जातमित्याह **जगुर्गन्धर्वपतय** इति । भगवान् श्रोष्यतीति उत्तमैरेव गानम् । गन्धर्वपतयो विश्वावसुप्रभृतयः । ते ह्यधिकारिण इति नटानामिव तेषां दर्शनं न दोषाय । अन्यथा भगवद्धस्तस्थितेन्द्रादीनामपि दोषत्वं स्यात् । 'अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो बलीया'निति न्यायात् । तथापि तेषामन्यथाबुद्धिः सम्भाव्येतेति विशेषण-माह **सस्त्रीका** इति । वैषयिकदोषव्यावृत्त्यर्थमाह **अमलं तद्यश** इति । तद्धि मलनिवर्तकम् । अतो न तासां तेषां वा तत्कालोपयोगिपदार्थादतिरिक्तो भाव उत्पद्यते ॥५॥

व्याख्यार्थ—आदि में दुन्दुभि बजने लगे, 'दुन्दुभि' में जो यह वाणी है वह शुभ है, अतः प्रारम्भ में शुभ शब्द हुए, अनन्तर पहले पृथक् पृथक् अनेक प्रकार के पुष्पों की वृष्टि हुई । 'पुष्पवृष्टयः' श्लोक में बहुवचन देने का भाव यह ही है कि वर्षा में विविध पुष्प बरसाए गए । पुष्पों की वर्षा करने का कारण यह है कि शस्त्रानुसार देव को पुष्पांजलि दी जाती है, यह प्रसिद्ध ही है अतः यहां भी प्रकट होने पर रस अथवा रस के अधिष्ठाता को पुष्पांजलि देकर पूजा गया है । उसके बाद साधारण गान हुआ । वह गान भगवान् सुनेंगे अतः उसको उत्तम गायकों को ही करना चाहिए, वे उत्तम गान करने के अधिकारी, विश्वावसु प्रभृतिगन्धर्व पति ही हैं । वे भगवान् की लीला के दर्शन करे जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है जैसे नट नृत्य आदि सीखने वाली स्त्री का नृत्य देखे तो उसमें कोई दोष नहीं है । वैसे गान करने वाले लीला के दर्शन करे तो दोष नहीं है । यदि गान करने वाले गन्धर्व देवों को लीला के दर्शन करने में दोष होता है तो भगवान् के श्री हस्त में स्थित इन्द्रादि देवो + को भी दोष लगेगा । "अर्थ द्रव्य विरोधे अर्थो बलीयान्" □ इस न्याय से भी यह सिद्ध होता है कि गन्धर्व भगवान् की लीला के दर्शन करें तो कोई दोष नहीं है । तो भी यदि लीला देखने से उनकी विपरीत बुद्धि हो जाए तो ? इस शंका का निवारण करने के लिए श्री शुकदेवजी 'सस्त्रीका' विशेषण देकर बताते हैं कि वे अकेले नहीं थे जो उनकी बुद्धि विपरीत होवे किन्तु स्त्रियां भी साथ में है । स्त्रियों को साथ में लाने का आशय यह है कि जैसे हम लीला के दर्शन करते हैं ये वैसे भी दर्शन करे, जिससे हमारी भांति इनका भी भगवल्लीला में उपयोग हो । इस प्रकार का भाव भक्ति मार्गीय के सिवाय अन्य के मन में कभी नहीं स्फुरते हैं अतः वैसे भक्ति मार्गीय भक्तों के हृदय में विपरीत भावना का उदय हो नहीं सकता है । उनमें (स्त्री और पुरुषों में) परस्पर विषय सम्बन्धी दोष का आना असम्भव दिखाने के लिए श्री शुकदेवजी 'अमलं तद्यशः जगुः' कहते हैं ।

वे भगवान् का यह यश गाने लगे थे जिससे मल की निवृत्ति हो जावे, उस प्रकार के यश गान से देवों में अथवा देव स्त्रियों में उस समय में उपयोगि पदार्थ से अतिरिक्त कोई अन्य भाव उत्पन्न हो नहीं सकता है, अर्थात् दोनों में भगवद्भाव ही उद्भूत हो रहा है ॥५॥

+ टिप्पणीजी में प्रभुचरण:—भगवान् की एकान्त लीला मात्र में उपयोगी एवं क्रिया शक्ति वाले इन्द्र आदि दिक्पालों से भिन्न हैं, वे तो भगवान् के भुज दण्ड ही अवलम्बन करते हैं। भगवान् के भुजदण्ड रसरूप हैं अतः रसात्मिका क्रिया शक्ति इन लीला-इन्द्रों का प्रधान रूप है, अतः इनकी उपस्थिति दोषावह नहीं है, जैसे वैसे ही विश्वावसु प्रभृति की भगवान् की लीला में उपयोगी नट हैं। अतः इनकी भी उपस्थिति में दोष नहीं।

△ सभी क्रियाएं किसी न किसी साधन या द्रव्य से संपन्न होती हैं। कभी-कभी क्रिया में उपयोगी द्रव्य एवं स्वयं क्रिया में विरोध उठ जाता है, जैसे जलपान की क्रिया में उपयोगी पात्र टूटा हुआ या इतना गन्दा हो कि जल पिया ही न जा सके तो ऐसी स्थिति में हम जलपात्र का त्याग करते हैं न कि जलपान की क्रिया का। यहां पात्र द्रव्य है तथा पान अर्थ। स्पष्ट ही अर्थ बलवान होता है, द्रव्य की अपेक्षा। यहां अर्थ है भगवल्लीला तथा द्रव्य हैं विश्ववसु, इन्द्र आदि। अब यदि इनमें परस्पर विरोध होता तो इन इन्द्र आदि का ही त्याग होता न कि लीला का परन्तु इन्द्र आदि का त्याग नहीं हुआ अतः विरोध भी नहीं है। जैसे इन्द्र का अत्याग उसकी लीला में अविरोधिता का हेतु बनता है वैसे ही विश्वावसु का अत्याग भी अविरोध में हेतु है। (अनुवादक)

आभास—एवं बाह्यगीतवाद्यादिकमुक्त्वा नृत्यमध्ये रसोपयोगिवादित्राण्याह **वलयाना**मिति।

आभासार्थ—इस प्रकार बाह्य गीत और वाद्य आदि का वर्णन कर श्री शुकदेवजी 'वलयानां' इस श्लोक में नृत्य के मध्य जो वादित्र रस में उपयोगी हैं उनका वर्णन करते हैं।

श्लोक—**वलयानां नुपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।**
सप्रियाणामभूत् शब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥६॥

श्लोकार्थ—रास मण्डल में, श्रीकृष्ण सहित स्त्रियों के कंकण, नूपुर और किंकिणियों का भारी शब्द हुआ ॥६॥

सुबोधिनी—स्थानत्रये हि वादित्राण्यपेक्ष्यन्ते। नीचस्थाने भूमाविव मध्ये उपरि च। तथैव तालभेदाः। अतोऽत्रापि उपरि वलयानां शब्दः। अधो नूपुराणाम्। मध्ये किङ्किणीनाम्। अन्योन्याबद्धबाहव एव मध्ये मध्ये हस्तद्वयं योजयन्तीति वलयानां शब्दः। अथवाग्रे शब्दोत्पत्त्यर्थं प्रकारं वक्ष्यति 'पादन्यासै' रिति। **सप्रियाणां** कृष्णसहितानाम्। अत एव सर्वलास्यसम्पत्तिः सर्वासां भगवत्सम्बन्धार्थम्। चकारात् अन्येऽपि कूजितशब्दा मुखशब्दाश्चोक्ताः। सर्वः एकीभूय तुमुलो भूत्वा यथा दूरस्थानामवान्तरग्रहणं न भवति। तथा सति किं स्यात्, अत आह **रासमण्डल** इति। रसानां समूहमण्डले। यथानधिकारित्वेन शूद्रस्य वेदश्रवणे तदध्येतुर्मन्त्रस्य च शक्तिह्रासः, शूद्रे च

पापसम्भवः, तथैतद्भक्तातिरिक्तानामेतच्छ्रवणेऽप्यनधिकारादस्य रसस्यालौकिकत्वादेतच्छ्रवणे मण्डले सर्वेषां रसो गच्छेत् । श्रवणे सति तदन्वेषणपरत्वं स्यात् । तत्तेषामेवानिष्टकरमिति तदेव पापरूपम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—रास में तीन स्थानों पर नीचे, मध्य में और ऊपर वाद्यों के शब्द की आवश्यकता रहती है, इस प्रकार ताल के भी तीन निम्न, मध्य और उच्च भेद होते हैं, अतः यहां भी ऊपर कङ्कणों का शब्द, नीचे नूपुरों की ध्वनि तथा मध्य में किंकिणियों की धुनि हो रही है । वहां गोपियां परस्पर हाथ मिलाकर खड़ी थी, कभी कभी बीच में दो हाथों को मिलाती थी जिससे कङ्कणों का शब्द होता था, अथवा आगे शब्दोत्पत्ति का प्रकार 'पादन्यासै' (श्लोक ८) में कहेंगे । वे गोपीजन अकेली नहीं थी किन्तु उनके साथ श्रीकृष्ण भी थे, इस कारण से ही सभी प्रकार की सभी के पास लास्य की सम्पत्ति थी, कारण कि यदि सर्व के पास सर्व सम्पत्ति न होती तो भगवत्सम्बन्ध प्रत्येक के साथ कैसे होता ?

श्लोक में 'च' शब्द देने का भाव बताते हैं कि ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के सिवाय अन्य भी मधुर कूजित शब्द तथा मुख से शब्द होते थे । ये सभी प्रकार के शब्द मिलकर तुमुल ध्वनि होने लगी, जिससे जो दूर खड़े थे उनको पूरी तरह समझ में न आवे । यों होने का क्या भावार्थ है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'रासमण्डले' यह वाद्य आदि की ध्वनि रासमण्डल[1] वाले ही सुनें क्योंकि उसके सुनने के अधिकारी वे ही हैं । जैसे शूद्र वेद के श्रवण के अधिकारी नहीं है यदि वह सुने तो उसको पाप लगता है और सुनाने वाले तथा मन्त्र में जो शक्ति है वह उनकी चली जाती है, अर्थात् सुनाने वाले में जो विद्या का तेज है वह उससे लोप हो जाता है, तथा मन्त्र में जो सिद्धि देने की शक्ति है वह तिरोहित हो जाती है । इसी भांति भक्तों के सिवाय इस के श्रवण का किसी को अधिकार नहीं है कारण कि यह रस अलौकिक है अतः इसको अनाधिकारी सुनें तो मण्डल में से सबों का रस चला जावे, और सुनने वाले उसको ढूंढने लगे, वह ढूंढना उनके लिए अनिष्ट करने वाला है, वह ही उनके वास्ते पाप रूप है ॥ ६ ॥

आभास—एवं नृत्यमध्ये प्रविष्टो भगवान् गुणभावात् कदाचिन्न भासेतेत्याशङ्क्य सर्वजनीना भगवच्छोभा तदा जातेत्याह तत्रेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रास में प्रविष्ट भगवान् गौण हो जायेंगे, जिससे कदाचित् वे जानने में नहीं आवे वा न शोभें ? इस शङ्का निवारण के लिए श्री शुकदेवजी 'तत्राति' इस श्लोक में वर्णन करते हैं कि जब भगवान् रास के मध्य प्रविष्ट हुए उस समय भगवान् की शोभा सर्व जनों को जानने में आई, कोई रुकावट नहीं हुई ।

श्लोक—**तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।**
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ७ ॥

---

[1]—'रसानां समूहो रास' जहां रसों का समूह है वह रास है उस मण्डल में जो स्थित हैं ।

श्लोकार्थ—सुवर्ण की मणियों के मध्य जैसे महान् नीलम मणी शोभती है वैसे भगवान् देवकी पुत्र गोपियों के बीच शोभा पाने लगे ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—स्वभावशो भातोऽप्यतिशयेन शुशुभे । तदुक्तं 'शक्तिभिः सहितोऽधिकां शोभां प्राप्नोती'ति । कदाचित् स्वत एव शोभां प्रकटयेदिति तद्व्यावृत्यर्थं **ताभिरित्युक्तम्** । ननु सहजशोभायुक्तस्य कथं ताभिरतिशोभा, तत्राह **भगवा**मिति । यथा गुणैः । ननु गुणाः सर्वोत्तमाः, न तथैता इति चेत्, तत्राह **देवकीसुत** इति । भक्त्या यथा देवक्या अपि पुत्रो जातः । स्त्रीणामेवोपकारायाविर्भूतः । अतस्तास्वपि स्वसामर्थ्यमेव दत्वा शोभां प्राप्तवान् । सहजस्य कृत्रिमैः शोभा न भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **मध्ये मणी**नामिति । महामारकतो गरुडोद्गारी स मणिः सहजः । सुवर्णमणयः कृत्रिमाः । तथापि ते परितः क्लृप्ताः सहजमणिमप्यतिशोभयन्ति ॥७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् स्वभाव से ही शोभित हैं तो भी अब विशेष शोभा पाने लगे । यदि कहो कि यह अधिक शोभा स्वयं आपने ही बढाई है, तो उसके निवारण के लिए श्री शुकदेवजी ने मूल श्लोक में कहा है कि 'ताभिः अति शुशुभे' अर्थात् यह अधिक शोभा आपने नहीं प्रकट की है किन्तु आपकी शक्तियां जो गोपियां है उन्होंने प्रकट की है । जो सहज शोभा से युक्त हैं वह दूसरों से शोभित कैसे होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप भगवान् हैं, अतः जैसे गुणों से आपकी अधिक शोभा प्रकटती है वैसे ही इन शक्तियों से भी अधिक शोभा होती है । वे गुण तो सर्वोत्तम हैं जिससे शोभा को बढाते हैं ये तो वैसी नहीं है, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'देवकी सुतः' जैसे भक्ति से देवकी के भी पुत्र बने हैं, वैसे यहां भी भक्ति के कारण गोपियों के उपकार के लिए ही प्रकट हुए हैं अतः उनको भी अपनी सामर्थ्य दी है जिससे अधिक शोभा प्राप्त की है । यदि कहो कि जिसमें स्वाभाविक अपनी शक्ति से शोभा है उसमें कृत्रिम पदार्थों से शोभा न होगी, तो दृष्टान्त देकर इस शङ्का को मिटाते हैं, जैसे गरूड़ोद्गारी महा मरकतमणि में स्वाभाविक शोभा है तो भी सुवर्णकार से बनाई हुई सुवर्ण की मणियों के मध्य में जब वह आती है तब अधिक सुशोभित होती है वैसे भगवान् भी शक्तियों से अधिक सुशोभित होते हैं ॥ ७ ॥

आभास—एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा मुख्यं नृत्यमाह **पादन्यासैरि**ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रास क्रीड़ा की पूर्व पीठिका का वर्णन कर अब श्री शुकदेवजी 'पादन्यासैः' श्लोक से मुख्य नृत्य का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः**
भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाऽग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥८॥

श्लोकार्थ—सकल गोपियों के प्रत्येक चरण को एक ही समय साथ में रखने से, तथा हाथ को हिलाने से, स्तनों के वस्त्रों की चञ्चलता से, कपोलों पर चंचल कुण्डलों

की चमक से श्रीकृष्ण की गोपियां जिनके मुख पर स्वेद बिन्दु शोभा दे रहे हैं, जिनकी चोटी और नाड़े की ग्रन्थियां शिथिल हो रही हैं, वे भगवान् के गुणों को गाती हुई ज्यों मेघ मण्डल में बिजली शोभती है त्यों रास मण्डल में शोभा देने लगी ॥८॥

सुबोधिनी—पादन्यासाः सर्व एव चारीकरणरूपाः । भुजानां विधुतयश्च सर्वहस्तकभेदाः । एकेनावयवेन शिष्टावयवाः तथा संविधानयुक्ता इति ज्ञेयम् । मन्दहाससहिताः सर्व एव कटाक्षा उक्ताः । भ्रूभेदाश्च । तत्तद्रसे हृदयाविष्टे तथैव भवन्तीति । भज्यद् भङ्गयुक्तानि मध्यानि उपरिभागपरिवर्तनात्मकानि । रसाभिनिविष्टानां तासां सर्वावयवातिभ्रमणेन रस एकीभवतीति । परिवर्तनादिभिरेव वा चलेषु कुचेषु पटा इति सर्वाण्येव कम्पनान्युक्तानि । **कुण्डलैर्गण्डलोलै**रिति । सर्व एव शिरोभेदा उक्ताः । शिरोभेदेष्वेव वक्तव्येषु कुण्डलानां यच्चलननिरूपणम्, तद्विद्युतामिव शोभार्थम् । **गण्डलोलै**रिति सर्वा कान्तिस्तत्रोपक्षीणेति ज्ञापनार्थम् । गण्डे हि केवलो रसः । पेयो रसस्तत एव पीयत इति । विद्योतनं तस्यैवाभिव्यक्त्यर्थम् । ततोऽन्तः स्थितो रसः पुष्टोऽभित्यक्त इति ख्यापनार्थमाह **स्विद्यन्मुख्य** इति । स्विद्यत् स्वेदयुक्तानि मुखानि यासामिति । कबररशनासु च ग्रग्रन्थयो जाताः । रसेन सर्वावयवस्थेन एकीभूतेन देहः सूक्ष्मतामापन्नः । ग्रतः केशपाशे रशनायां च ग्रन्थिः शिथिलः, नन्वेवं कथं श्रमः, तत्राह **कृष्णवध्व** इति । सदानन्दस्य हि फलस्य ता उपभोक्त्र्यः। ग्रतः क्रियायां श्रमो भवत्येव । एतादृश्योऽप्यन्तःसन्तोषेण गायन्त्यो जाताः । एवं कायादिश्रमैरपि **ता विरेजुः**। ग्रतिशोभायुक्ता जाताः । ननु लोकानां दर्शनसापेक्षा शोभा, तास्तदा कथं सर्वैर्दृष्टा इति, तत्राह **तडित इव ता** इति । नहि तडित् बहुकालं दर्शनयोग्या भवति । मेघचक्रे शोभामेव परं सम्पादयति । तथा कृष्णसमूहे भगवता ग्राच्छादिताः । परितः कदाचिदेवोद्गताः केनचिदंशेन दृष्टा भवन्ति । ग्रतस्तासां शोभा न दोषावहा जाता, किन्तु विशिष्टैव जाता ॥८॥

व्याख्यार्थ—'पाद न्यास' नृत्य समय में चरणों का पृथ्वी पर रखना, इतना कहने से समझ लेना चाहिए कि, पृथ्वी पर पैर धरने के जितने प्रकार+हैं वे सब उस समय गोपीजनों ने किए थे। इसी भांति भुजाओं का हिलाना कहा है जिससे भी नाट्य शास्त्र में जो प्रकार हाथों के चलाने वा घुमाने के कहे हैं वे सब तरीके समझने चाहिए। एक ग्रवयव से शेष ग्रन्य ग्रवयव इस प्रकार जुड़े हुए हैं जैसे एक ग्रवयव कार्य करे तो ग्रन्य ग्रवयव भी स्वतः उस प्रकार ग्रपनी क्रिया कर रहे हैं, ग्रर्थात् गोपियां जब नृत्य के समय ग्रपने चरणों को जिस प्रकार घुमाती हैं उस समय ग्रन्य हस्त, नेत्र ग्रादि सर्व ग्रवयव भी नाट्य शास्त्र के संगीतानुसार ग्रपनी क्रिया स्वतः करते रहते हैं कारण कि सर्व ग्रलौकिक हैं। मन्दहास ग्रर्थात् स्मित सहित कटाक्ष ग्रौर भौंहों के भेद भी कहे हैं, जब उस प्रत्येक का रस हृदय में प्रविष्ट होता है तब उनकी भी सर्व क्रियाएं तदनुकूल स्वतः होती हैं।

+ नृत्य के समय पैर कैसे धरने जिसके लिए नाट्य शास्त्र में दो 'प्रकार' बताए हैं, धरने के समय एक पैर को फिराया जाय तो उसको 'चारी' कहते हैं, यदि दो पैरों को घुमाना पड़े तो उसको 'करण' कहते हैं।

जब गोपीजन नृत्य करती हुई अपनी कटि को मोड़ कर टेढ़ी करती हैं तब शरीर के ऊपर के भाग को चारों तरफ फेर सकती हैं, इस प्रकार सर्व अवयवों को बहुत घुमाने से रसाभिनिविष्ट गोपियों का अवयवों में रहा हुआ रस एक हो जाता है। अथवा गोपियों के शरीर के ऊपर के भाग के घूमने से स्तनों पर जो वस्त्र थे वे भी कम्पन के कारण स्तनों से उड़ जाते थे।

नृत्य करने के समय में वे शिर के फिराने की भी सर्व क्रियाएं करती थी, किन्तु मूल श्लोक में शिर के घुमाने को न कहकर 'कुण्डलैर्गण्डलोलैः' पद में कपोलों पर कुण्डलों के भ्रमण को कहा है जिसका भाव यह है कि यहां श्री शुकदेवजी को भगवान् के कपोलों की शोभा दिखानी है, भगवान् के कपोल श्याम हैं और कुण्डलों की चमक का तेज गौर है जब वे दोनों परस्पर मिलते हैं अर्थात् जब कुण्डलों का गौर तेज और भगवान् का श्याम स्वरूप मिलता है तब वहां मेघों में बिजली के समान शोभा होती है, जिससे कुण्डलों की शोभा से कपोलों की शोभा बढ़ जाती है, और अन्य सर्व शोभा कम हो जाती है। उस शोभा का कारण यह है कि कपोलों में सभी के लिए पान करने योग्य जो रस है वह प्रकट होता है। जिस रस का पान पिता आदि भी बिना संकोच करते हैं, कपोलों से जो रस प्राप्त होता है वह शुद्ध प्रेमात्मक रस है तथा अधर के रस के समान कामात्मक स्त्री पेय नहीं है।

गोपीजनों के मुख पर मुक्ता समान पसीने की बूंदे शोभा देने लगी, जिसका कारण बताते हैं कि अन्दर जो गुप्त रस स्थित था वह पुष्ट होकर प्रकट हुवा है। सर्व अवयवों में रहा हुवा रस उनमें से निकलकर जब एक स्थान पर इकट्ठा हो गया तब शरीर सूक्ष्म हो गया जिससे चोटी तथा नीवी की ग्रन्थियां ढीली पड़ गई।

रस क्रीड़ा करने से इतना श्रम क्यों वा कैसे हुआ?इस प्रश्न का उत्तर शुकदेवजी देते हैं कि'कृष्ण वध्वः', ये गोपीजन तो कृष्ण की पत्नियां हैं, जिससे वे सदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण के आनन्द रस का भोग करनेवाली हैं, अतः इस क्रिया में श्रम होता ही है, श्रम होते हुए भी अन्तःकरण में सन्तोष होने से गान करती रहती थी, इस पर कायादि से श्रमित होते हुए भी गोपियां अतिशय शोभा युक्त देखने में आती थी।

गोपियां सुशोभित हो रही थी, जब कोई मनुष्य देखकर कहे तो माना जाय जबकि इस लीला को तो किसी ने देखा नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए श्री शुकदेवजी ने श्लोक में कहा हैं कि 'तडित इव ताः' वे गोपियां बिजलो के समान हैं अर्थात् जैसे बिजली स्वल्प काल ही दिखती है किन्तु मेघों के चक्र में शोभा ही बढ़ाती है, वैसे कृष्ण रूप मेघ के समूह में भगवान् से अच्छादित होने से कभी ही देखने में आती है अतः उनकी शोभा दोष युक्त नहीं हुई बल्कि विशेष ही हुई है।८।

आभास—गाढनृत्यमुक्त्वा मध्यनृत्यमाह उच्चैर्जगुरिति।

आभासार्थ—ऊपर के ८ श्लोक में गाढ नृत्य कहने से नृत्य की मुख्यता कही, जिससे गान की गौणता हुई है, अब इस 'उच्चैर्जगुः' श्लोक से मध्य गान कह कर यह बताया है कि गान तथा नृत्य दोनों समान हैं।

श्लोक—**उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।**
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥९॥

श्लोकार्थ—जनता को आनन्द देने वाले सुरीले स्वर वाली तथा रति से ही प्रेम करने वाली, श्रीकृष्ण के स्पर्श से मोद युक्त गोपियां नृत्य करती हुई उच्च स्वर से गाने लगी जिससे यह जगत् व्याप्त हो गया ॥९॥

सुबोधिनी--नृत्यमाना नृत्यं कुर्वन्त्य एव उच्चैर्गानियुक्ता जाताः । अथवा आदावुच्चैर्जगुः । ततो नृत्यमाना नृत्यन्त्यो जाताः । उभयत्र हेतुमाह **रक्तकण्ठ्यो रतिप्रिया** इति । रक्तः रञ्जकस्वरेण युक्तः कण्ठो यासामस्तीति । रतिरेव प्रिया यासामिति । गानेन व्यामोहनं नृत्येन च तासां प्रसिद्धम् । ननु पूर्वनृत्येन जातश्रमाः कथमेवं कृतवत्य इत्यत आह **कृष्णाभिमर्शमुदिता** इति । भगवतः अभितोमर्शः प्रोञ्छनादिविशेषरूपः, तेन **मुदिताः** अन्तःपूर्णानन्दाः । इतरविस्मारणार्थं नादाधिक्यमाह **यद्गीतेनेदमावृतमिति** । यासां गीतेनेदं जगद् व्याप्तम् । अथवा । यदर्थमेतन्नृत्यादिकम्, तत् सफलं जातमित्याह **यद्गीतेनेति** । लोकैः क्रियमाणेन गीतेन एतत्प्रकाशकेन एतज्जगद् रसेन व्याप्तमित्यर्थः ॥९॥

व्याख्यार्थ–गोपियां नृत्य करती हुई जोर से गाने लगी,अथवा प्रथम ऊंचे स्वर से गाने लगी,पश्चात् नृत्य करने लगी, दोनों प्रकार में हेतु कहते हैं कि वे सुरीले स्वर वाली थी तथा रति भी उनको प्रिय थी, + अतः दोनों साथ भी किया हो अथवा पृथक् पृथक् भी किया हो । यह तो प्रसिद्ध ही है कि उनका गान तथा नृत्य दोनों व्यामोह करने वाले हैं । जब गोपियां प्रथम नृत्य से ही श्रमित हो गई थी तब फिर इस प्रकार नृत्य तथा गान दोनों कैसे किए ? इसके उत्तर में श्री शुकदेवजी कहते हैं कि 'कृष्णाभिमर्शमुदिता' श्रीकृष्ण ने हस्त से जो उनका प्रोञ्छन किया जिससे हस्त स्पर्श के कारण गोपियां प्रसन्न हुई अर्थात् अन्तःकरण में पूर्ण आनन्द युक्त हो गई जिससे उनका वह श्रम शान्त हो गया और पुनः नृत्य तथा गान करने में विशेष रुचि हुई जिससे ऊंचे स्वर से गाने लगी । जोर से इसलिए गाने लगी कि भगवान् दूसरी नायिकाओं का नाद भूल जावे । यह गान ऐसा किया जिससे यह जगत् व्याप्त हो गया, अथवा यह जो हमने नृत्यादिक जिस फल के लिए किया वह फल मिल गया, इसलिए श्लोक में 'यद्गीतेन आवृतम्' कहा है । यह रस भक्त कवियों के इसी रसका प्रकाशन करने वाले गीतों द्वारा लोक में भी व्याप्त हो गया है ।।९॥

+लेखः—गोपिकाओं को रति प्रिय है अतएव रतिकर्ता भगवान् के व्यामोहनार्थ नृत्य किया ।

आभास—लोके रसप्राकट्यार्थमेवैतत् कृतमिति । उत्पन्नस्य नादस्यामृतमयत्वाय भगवतापि नादः कृतः । स च मधुर एव कर्तव्यः । तेन च जगत् पूरणीयम् । ततोऽघटमानमेतदिति तदर्थमाह **काचिदिति** ।

आभासार्थ—लोक में रस को प्रकट करने के लिए ही यह सब किया गया है अतः (स्वामिनियों

द्वारा) उत्पन्न किए गए नाद को अमृत मय बनाने के लिए+भगवान् ने भी नाद किया। अब जब करना ही है तो वह नाद मधुर ○ ही करना पड़ेगा और फिर उस मधुर नाद से जगत को भर भी देना है, △ परन्तु यह संभव कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं "काचित्" से।

सप्रकाशटिप्पणीजी:—नाद के दो भेद होते हैं। (१) आहत एवं (२) अनाहत। अनाहत नाद प्राणघोष रूप होता है तथा आल्हादक भी नहीं होता। आत्मा, मन, देहस्थ वह्नि एवं वायु की क्रमिक प्रेरणा की प्रकिया से आहत नाद की अभिव्यक्ति होती है। प्रक्रिया की अन्तिम कड़ी वायु ब्रह्मग्रन्थी से नाभि में अभिव्यक्त होने पर अति सूक्ष्म ध्वनि, हृदय में सूक्ष्म, कण्ठ में अपुष्ट, मूर्धा में पुष्ट एवं मुख में कृत्रिम ध्वनि कहलाती है। किन्तु व्यवहार में हृदय में मन्द, कण्ठ में मध्य एवं मूर्धा में तार ध्वनि भी कहा जाता हैं। ये क्रमशः उत्तरोत्तर द्विगुणित होती जाती हैं। इस ध्वनि के बाईस भेदों को श्रुति कहा जाता है। इन्हीं रूपों में अभिव्यक्त नाद आल्हादक बनता है। वैसे तो यह नाद आसन्य प्राण का अंश ही है अतः लौकिक है और अतएव अमृत प्रचुर भी नहीं, फिर भी जब वह अंशी का रूप ले लेता है तो मूल रूप में आ जाने के कारण वह अपहतपाप्मा तथा पूर्ण होकर अमृत प्रचुर भी हो जाता है।

यहां "स्वामिनियों द्वारा उत्पन्न किए गए नाद अर्थात् गानकी अमृतमयता भगवान् के नाद से होती है" का प्रभु चरण ने यह तात्पर्य दिखलाया है। यह नाद न तो लौकिक है और न पूर्व सिद्ध। इस नाद की अलौकिकता इसके कार्य को देखने पर समझ में आती है। इसके दो अलौकिक कार्य हैं (१) भगवान् के अन्य भावों को दूर करना एवं गान करने वाली स्वामिनियों में भगवान् के भावों को केन्द्रित करना (२) स्वकेन्द्रित भगवान् के भाव के अनुरूप स्वयं स्वामिनियों के सारे भावों को भगवान् में केन्द्रित कर देना। इन दो कार्यों को उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक स्वामिनी ने गान किया और जब ये दो कार्य उत्पन्न होंगे तो रसानुभव तो होना ही है। इसके अलावा भगवान् के गान का कारण भी यही स्वामिनीगान है। यों इन दो कार्यों को उत्पन्न करने के कारण ही इसे 'अमृतमय' कहा गया है। यों दो कार्यों से कारण नाद की अलौकिकता का अनुमान होता है।

'अमृतमयत्व' की व्याख्या के अनुसार भगवान् के नाद की प्रधानता सिद्ध होती है अतः स्वामिनी के गान की अमृतमयता या प्रधानता नहीं रहेगी, यह शंका उठ सकती है अतः प्रभुचरण इसका समाधान करते हैं।

स्वरजाति विस्तार के उन्नयन (तारसप्तक तक ले जाने) में स्वामिनी की प्रधानता कही जाती है, जहां कि प्रभु का तो केवल साथ देना मात्र अपेक्षित है। यों उसके कारण इसका माधुर्य लक्षित होता है। अन्यथा प्रभु स्वयं यदि तारसप्तक तक प्रथम पहुँच जायें तो स्वामिनी का नाद अभिभूत होकर गान में रसाभास एवं व्यर्थता ला देगा। समान भी मानने पर दोनों के स्वर स्वतंत्र होकर एक दूसरे के पूरक न हों तो परस्पर अनुपयोगी बन सकते हैं। यदि स्वामिनी स्वयं नादस्वरूप को न जानती हों और केवल भगवन्नाद सुनकर उसका अनुकरण करें तो भी वही गति होगी। अतः भगवान् के विचारित क्रम के अनुसार स्वयं स्वामिनी ने स्वरोन्नयन किया। नायिका की प्रधानता तो इस रसका स्वभाव ही है अतः भगवान् में भी यहां पूर्ण रस का प्रादूर्भाव हुआ है, और यों वे स्वामिनी के अधीन हो गए हैं, यह दिखलाना ही इस सारी बात का आशय है (अर्थात् ऊंचे स्वर न लगाकर मधुरवाद ही प्रभु ने किया इस तथ्य का)।

यों नायिका-स्वामिनी के नाद की प्रधानता सिद्ध होती है अतः उसी के कार्य पूर्वोक्त दोनों भाव हैं ।

सप्रकाश एवं सलेख टिप्पणीजी:—अब प्रभु के गान का मुख्य कार्य क्या है, यह प्रभु चरण बताते है : अमृतमयता के लिए भगवान् ने जो नाद किया वह तो स्वामिनियों को रसानुभव कराने के लिए ही अतएव वह नाद मधुर ही करना पड़ा । अब मधुर नाद से जगत को कैसे व्याप्त किया –भर दिया– जा सकता है, अर्थात् भगवान् को तो साथ देने के लिए मधुर नाद ही करना है तो फिर कवियों को कैसे सुनायी देगा,और उनके न सुनने पर यह रस जगत् में व्याप्त कैसे हो पाएगा,यों यह असंभव बात हो गयी ! अन्य धर्म निवृत्त होने पर ही इससे जगत् व्याप्त हो सकता है । अतः जगत् को इससे व्याप्त करने के लिए इस स्वरूप के रस को जानकर निरूपण कर सकने वाली ये गोपिकाएं ही हैं । जैसे "तंत्वोपनिषदं पुरुषम्" कहा अर्थात् उपनिषद् में वर्णित ही ब्रह्मस्वरूप ज्ञातव्य है—यथार्थ है, उसी तरह इन स्वामिनियों ने जो रूप गुण या धर्म दिखलाए हैं, वे ही पुरूषोत्तम के ज्ञातव्य एवं यथार्थ रूप हैं । अतः इनका गान उपनिषद्-वाक्य रूप है । इनके वाक्यों को सुनने से जाना जा सकता है कि भगवान् में प्राकृत धर्म नहीं हैं और उन ऐसे भगवान् से संबन्ध होने पर श्रोताओं का भी अन्य विषयों में भटकना बन्द हो जाता है, (यह, कवियों से इस रस के जगत् में व्याप्त होने पर इस रस के कीर्तन के श्रोताओं को ज्ञान हो तथा अन्य विषयों में उनका भटकना बन्द हो एतदर्थ है) तब फिर भगवदानन्द का अनुभव होता है । यह सब प्रभु के गान का कार्य है । इस तरह इस रस से जगत् व्याप्त कर दिया जाएगा ।

श्लोक—**काचित समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।**
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधुसाध्विति ।।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ।। १० ।।

श्लोकार्थ—किसी गोपी ने भगवान् के नाद के साथ मेरे स्वर तथा जाति का मेल न होवे इस प्रकार स्वर को ऊपर ले गई जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर उसकी पूजा[1] की दूसरी ने उसी ध्रुव स्वर को ऊँचे ले नाद में मिला दिया, भगवान् ने उसका भी बहुत आदर किया ।। १० ।।

सुबोधिनी—मुकुन्देन समं अमिश्रिताः स्वरजातीः काचिदुन्निन्ये । काचित् सम्यग् भगवद्भावं प्राप्ता । भगवतो नादकरणे हेतुः **मुकुन्देने**ति । मोक्षदानार्थमेव उपनिषदि स्वनादं पूरितवान् । उभयोरेकता । नादे तुल्यता । मोक्षे कार्यद्वयम् । पूर्वसङ्घातान्निवर्तनं ब्रह्मप्रापणं च । तदर्थमितरनिवारणार्थमुपनिषदामुपयोगः । स्वराः षड्जादयः । तेषां जातिभेदाः यथा मयूरः षड्जं वदति । तथा अन्येऽपि पक्षिणः मनुष्या अन्येऽपि जीवाः षड्जं वदन्ति । तथापि तेषामवान्तरजातिरस्ति । ते चेद्यथाक्रमेण यथारसाभिव्यक्तिः यदभिप्रायेण सृष्टावुत्पादिताः तथैव योजिताश्चेत्, तदा स्वरजातयः अमिश्रिताः भवन्ति । तद्भगवता कर्तुं शक्यम्, नान्येन । तासां चेदुन्नयनम्, तदा युक्त एव सन्तोषः । तदाह **पूजिता तेन** भगवतेति । स्वस्य ब्रह्मत्वात् स्वविचारितानुपूर्वीति स्वस्य तथा गानं नाश्चर्यहेतुः । अन्ये तु तत्स्वरूपमेव न जानन्ति, कुतः पुनः करिष्यन्तीति तेनैव पूजिता ।

---

[1]—आदर के साथ धन्यवाद दी,

किञ्च, कार्यमपि उन्नयनेन जातमिति। **साधुसाध्विति**। प्रीयता प्रीतिं कुर्वता भगवता। स्वरूपतः फलतश्च साधुत्वाय द्विरुक्तिः। प्रीतिश्च तुल्यत्वात् सर्वथा कार्यानुगुणत्वात्। अन्या पुनः उन्नीतमेव यावद् भगवता पुनर्गृह्यते, तावत्तथैवोन्नयनं कृतवतीत्याह **तदेवेति**। तदेवोन्नीतं ध्रुव निश्चलं यथा भवति, तथा उन्निन्ये। तं नादं ध्रुवनादे योजितवति। ध्रुवनादः कारणनादः स्थायी स्वरः। 'यत्रोपविशते रागः स्वरः स्थायी स कथ्यते'। भगवन्नाद एव वा। भगवता तथैव गीतमिति। ध्रुवतालादिषु योजितवतीति केचित्। तन्न विचारक्षमम्। एवं ध्रुवयोजनायां भगवाँस्तस्यै बह्वेव सन्मानमदात्। चकारादभीष्टमपि। एवं तासामन्तःसामर्थ्यं जातमिति बहिःसामर्थ्यं किं वक्तव्यमिति भावः। **बह्विति** सर्वगोप्यधिकम्। ऐश्वर्यवीर्यरूपे चैते निरूपिते। अन्याश्चतस्त्रः क्रमेण बोद्धव्याः॥ १०॥

व्याख्यार्थ—जो गोपी श्रेष्ठ प्रकार से भगवद्भाव को प्राप्त हुई थी उसने समझ लिया था कि भगवान् की इच्छा इस स्वर जाति को ऊंचे करने की है अतः वह गोपी भगवान् के साथ शुद्ध स्वर के भेदों को ऊंचा करने लगी।

भगवान् ने नाद किस हेतु से किया है जिसको स्पष्ट समझाने के लिए मुकुन्द का नाम दिया है। भावार्थ यह है कि भगवान् ने मोक्ष दान देने के लिए ही उपनिषद् रूप गोपीजनों के नाद में अपना नाद भर दिया है। दोनों[1] में एकता हैं, दोनों नाद मोक्ष रूप कार्य करते हैं अतः दोनों नाद तुल्य हैं। मोक्ष में दो कार्य होते हैं, पूर्व देह[2] से छुटकारा और ब्रह्म की प्राप्ति करानी। भगवान् के सिवाय अन्य पदार्थों का निवारण कर के भगवान् की प्राप्ति करानी यह उपनिषदों का उपयोग है अर्थात् उपनिषद्रूप गोपिकाओं के नाद रूप वचनों की आवश्यकता है। सारांश यह है कि गोपीजनों के नाद से संघात की निवृत्ति हो जाती है और ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

गान में सात स्वर और उनके जाति भेद होते हैं—१–षड़ज्, २–ऋषभ, ३–गान्धार, ४–मध्यम, ५–पंचम, ६–धैवत और ७–निषाद् है, इनके १८ जातियां हैं उनमें से ७ शुद्ध हैं और ११ मिश्र हैं। ये सात पृथक् पृथक् जातियों के स्वरों के समान होते हैं जैसे मोर की केकावाणी का स्वर षड़ज् है, रस प्रकार अन्य भी पक्षी आदि बोलते हैं, किन्तु उनमें थोड़ा सा भेद रहता है, जिससे उनके अवान्तर भेद अन्य भी प्रतीत होते हैं।

इन स्वरों का ब्रह्मा ने रस उत्पन्न करने के लिए जिस क्रम से गाने का ढंग रचा है यदि उस तरीके से गाए जाय तो स्वर तथा उनकी जाति शुद्ध रहे, किन्तु इस प्रकार शुद्ध गाने की शक्ति भगवान् के सिवाय अन्य में नहीं है। गोपीजन इन स्वरों को यथाक्रम ऊंचे से गा सकी हैं इसलिए भगवान् उन पर प्रसन्न हुए हैं यह योग्य ही है। जिसकी सत्यता श्री शुकदेवजी ने 'पूजिता तेन' कह कर प्रकट की है। भगवान् ने उस गोपी का सन्मान किया, कारण कि भगवान् ने देखा कि मैं ब्रह्म हूं यदि मैं इस प्रकार गान करूं तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है किन्तु अन्य तो जिसके स्वरूप को भी नहीं जानते हैं वे कैसे कर सकेंगे? यदि उन्होंने किया है तो पूजा के योग्य है यों समझ विचार कर उसका पूजन किया। ऊंचे स्वर से गोपीजनों का कार्य भी सिद्ध हो गया इसलिए श्री शुकदेवजी ने 'प्रीयता साधु साध्विति' कहा है। वह स्वरोन्नयन अपने आपमें तथा अपने फल के विचार से यों दोनों

---

[1]—भगवान् के नाद और गोपीजनों के नाद में अभेद हैं (कोई भेद नहीं है) [2]—पंचभूतों से बनी देह

तरह श्रेष्ठ था अतः भगवान् ने भी प्रेमपूर्वक दो बार उसकी 'वाह-वाह' की। गोपियां तुल्य हैं और कार्य के लिए सर्व प्रकार योग्य हैं अतः गोपियों पर भगवान् का प्रेम हुआ है।

दूसरी गोपी जो पास में खड़ी थी उसने क्या किया कि जब तक भगवान् उस ऊँचे स्वर को स्वयं ग्रहण करे जिससे पहले उसने वहां से ही उस नाद स्वर को ऊंचे ले लिया अर्थात् वह स्वर ध्रुव स्थान पर स्थित हो वैसे उनको ऊंचा लेकर उसको ध्रुव नाद में मिला दिया। नाद का कारण जो स्थायी स्वर है उसको 'ध्रुवनाद' कहते हैं, जहां राग और स्वर जाकर ठहरता है उसको 'स्थायी' कहा जाता है अथवा भगवान् का नाद ही स्थायी स्वर है। भगवान् ने इस प्रकार गान किया। कोई कहते हैं कि गोपी ने अपना स्वर ध्रुव ताल आदि से मिला दिया, उनका यह कहना विचार में लाने लायक नहीं है। जब गोपी ने अपने ऊँचे स्वर को स्थायी स्वर वा उस भगवान् के नाद में मिला दिया, तब भगवान् ने उसको बहुत मान दिया और अभीष्ट[1] भी दिया, इस प्रकार गोपियों में जब अन्तः सामर्थ्य होगया तब बाहर के सामर्थ्य का क्या कहना है। बहुत मान दिया कहने का भाव यह है कि यह गोपी सर्व गोपियों से अधिक है, ये दोनों गोपियां ऐश्वर्य तथा वीर्य रूप हैं दूसरी चार क्रम से समझनी, भगवान् के छः धर्मों में से ऐश्वर्य और वीर्य ये दो धर्म इन दो गोपियों में स्थापित किए शेष ४ धर्म अन्य ४ गोपियों में स्थापित करेंगे वे आगे के श्लोकों में जानने ॥१०॥

आभास—कीर्तिहि भगवन्तमेवावलम्बते। अतः कायिकं व्यापारं द्वयोराह काचिदिति।

आभासार्थ—कीर्ति निश्चय से भगवान् का ही आश्रय लेती है अतः दो गोपियों का काया से की हुई क्रिया का वर्णन ११-१२ श्लोक में करते हैं, उनमें से एक कोई स्कन्ध पर हस्त रखती है जिसका इस ११ श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः।**
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥११॥

श्लोकार्थ—रास में रमण करने से श्रान्त कोई गोपी, जिसकी कंकण सम मल्लिका की माला शिथिल हो गई है उसने बाजु में स्थित गदाभृत भगवान् के कन्धे को बाहु से ग्रहण किया अर्थात् अपनी भुजा कन्धे पर धर दी ॥११॥

सुबोधिनी—रासेन परितः श्रान्ता स्वस्यैकस्मिन् पार्श्वे विद्यमानस्य स्कन्धं स्वबाहुना जग्राह, **गदाभृत** इति भगवतः स्थिरत्वाय। अधिकप्रयत्ने अन्यथा क्रियमाणे रासो भज्येत। परिश्रमो रसाधिक्यात्। अन्यथा रसार्थं प्रवृत्तिर्न स्यात्। मण्डलपरित्यागे मण्डलसिद्ध्यर्थं भगवतापि हस्तग्रहणं सम्भवति। अत एकस्मिन् पार्श्वे भगवानेव। पार्श्वभागे विद्यमानस्य भगवतः कण्ठग्रहणं वृक्षाधिरूढालिङ्गनं भवति। भगवता पूर्वं कण्ठे सा गृहीता, तयापि भगवान् गृहीत इति

---

[1] —जो चाहती थी

मित्रवत् स्थितिः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाह **श्लथद्वलयमल्लिकेति** । श्लथन्ती वलयाकारा मल्लिका यस्याः । कबरे वलयाकारेण मल्लिकामाला बद्धा । सा च शिथिला जातेति वैकल्यं प्रदर्शितम् । आप्तता च प्रदर्शिता ॥११॥

व्याख्यार्थ—रास से परिश्रान्त किसी एक गोपी ने अपने पार्श्व में एक और स्थित भगवान् का कन्धा अपनी बाहु से थाम लिया ।

भगवान् गदाधारी हैं अतः गोपी के कन्धा थामने पर भी अर्थात् कन्धे का सहारा लेने पर भी स्थिरता से मण्डल एवं नृत्य यथावत् बनाए रख सकते हैं (स्वभावतः) । अन्यथा कन्धे का सहारा लेने के कारण अधिक प्रयत्न करना पड़ता होता तो रास बन्द हो जाता ।

यह परिश्रम देहिक नहीं है किन्तु रस के वृद्धिगत होने के कारण हुआ है । यदि यह परिश्रम दैहिक होता तो गोपिका की रस के लिए प्रवृत्ति नहीं रह जाती + मण्डल छोड़कर भगवान् का कन्धा पकड़ने पर मण्डल टूट न जाए इसलिए अर्थात् मण्डल को बनाए रखने के लिए भगवान् को भी अन्य स्वामिनी का हाथ पकड़ना पड़ा हो यह संभव है । अतः एक और भगवान् ही रह जाते हैं (अर्थात् गोपी नहीं)। अपने पार्श्व भाग में खड़े हुए भगवान् के कण्ठ में हाथ डालकर जो गोपी आलिंगन कर रही है ऐसे आलिंगन को शास्त्र में 'वृक्षाधिरूढ़ालिंगन' कहा जाता है । भगवान् ने पहले गलबांही दी और बाद में गोपी ने भी वैसे ही किया तावता दोनों की केवल मित्रवत् स्थिति का बोध होता है, किन्तु वस्तुतः केवल इतना नहीं है यह "श्लथद्वलयमल्लिका" से दिखलाते हैं । गोपी ने अपने जुड़े में जो बेनी लगायी थी वह शिथिल हो गई, यों उसकी विकलता यहां दिखलाई गई है । ऐसे आप्तता भी यहां दिखलाई गई है ।

प्रकाशः—दैहिक परिश्रम होने पर भगवान् के कन्धे का सहारा लेने के बजाय बैठ जाना और अधिक उचित होता किन्तु रस ग्रहण की इच्छा से वैसे न करके कन्धे को थाम लिया ।

लेख, प्रकाश एवं योजना क्रमशः— (१) रसातिमाद में कभी-कभी जुड़े पर हाथ रखकर भी चुंबन किया जाता है और यों अंगुलियों के स्पर्श से बेनी के फूलों का शिथिल होना स्वाभाविक ही है यों रसदान के कारण आप्तता दिखलाई (२) यथा दृष्ट लीला का वर्णन के कारण शुकदेवजी अपनी आप्तता दिखला रहे हैं (३) आप्तमित्त को गलबांही दी जाती है अतः गोपी गलबांही से भगवान् की आप्तता दिखला रही है ।

श्लोक—**तत्रैकांसंगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।**
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—मण्डल में उसी समय किसी एक गोपी ने अपने कन्धे पर धरे हुए कमलों की सुगन्धि वाले और चन्दन से लिप्त बाहु की सुगन्ध ली,जिससे रोमांच खड़े होते ही उसने भगवान् के बाहु को चूम लिया ॥ १२ ॥

सुबोधिनी—अन्या पुनः स्वस्य एकांसगतं बाहुं उत्पलापेक्षया अधिकपरिमलयुक्तं चन्दनेनालिप्तं बाहुमाघ्राय अन्तःप्रविष्टामोदा पुर्णानन्दा सती हृष्टरोमा बाहुमेव चुचुम्ब । रूपस्पर्शौ पूर्वमेव स्थितौ । गन्धरसयोरप्यनुभवं कृतवतीति । हेत्याश्चर्ये । **तत्रे**ति । तस्मिन्नेव समये, तत्रैव भगवति वा । उभयपार्श्वस्थयोर्गोपिकयोस्तथा सति विनियोग उक्तो भवति । एकांसगतमिति वा । सैव तथा कृतवतीति केचित् । सदानन्दत्वात् सर्वत्रैव समरसता। उत्पलं हि रात्रिविकासि। तत् स्त्रीणां मनोज्ञम्। आघ्राणे चन्दनजसौरभमेव न हेतुः, किन्तु ततोऽपि विलक्षणं साधारणजनावेद्यं तदपेक्षयापि सौरभयुक्तत्वेनात्यलौकिकभाववतीनामेव वेद्यम् । सहजसौरभमित्यपि ज्ञापनायेदं विशेषणम् । चन्दनालेपः विवेकधैर्यनाशनार्थः । घ्राणेनान्तःप्रवेशनमस्या विशेषः । एषा श्रीरूपा ॥१२॥

व्याख्यार्थ—दूसरी गोपी ने अपने एक कन्धे पर धरे हुए, कमल से भी विशेष सुगन्धि वाली, और चन्दन से लिप्त भगवान् के बाहु को सूंघने से उसमें आमोद भर गया तथा पूर्ण आनन्द से युक्त होने से उसके रोमाञ्च खड़े हो गए जिससे उसने बाहु का ही चुम्बन किया। भगवत्स्वरूप का दर्शन तथा स्पर्श तो गोपियों को प्रथम ही था अब गन्ध और रस का भी अनुभव कर लिया। श्लोक में 'ह' आश्चर्य अर्थ में दिया है। श्लोक में 'तत्र' शब्द का अर्थ दो प्रकार से होता है। (१) उसी समय में और (२) 'भगवान् में'। इस प्रकार कहने से दोनों बाजुओं में स्थित+ गोपियों का विनियोग सिद्ध हुआ समझा जाता है।

श्लोक में 'एकांसगतं' पद का अर्थ दो तरह संभव है (१) एक कन्धे पर धरी हुई बाहु को, तथा (२) एक अन्य गोपी ने कन्धे पर धरी हुई बाहु को। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि पहले ११ श्लोक वाली गोपी से यह अन्य है वह कीर्ति रूप थी और यह श्री रूप है। अतः अन्य कोई जो कहते हैं कि इस श्लोक वाली गोपी भी वही है वह उनका कहना असंगत है।

रस तो अधर में रहता है तो गोपी ने बाहु का चुम्बन क्यों किया? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'सदानन्द' होने से भगवत्स्वरूप में सर्वत्र जो रस है वह समान है।

मूल में 'उत्पल' शब्द दिया है उसका भावार्थ यह है कि 'उत्पल' रात्रि में विकसित होता है अतः वह स्त्रियों के मन को हरण करने वाला है। गोपी के बाहु को सूंघने में चन्दन की सुगन्धि कारण नहीं थी, किन्तु जिसको साधारण जन नहीं जान सकते हैं उससे भी विशेष सुगन्ध, जिसको अतिशय अलौकिक भाव वाली ही पहचान सकती है वह हेतु है।

यह विशेषण इसलिए भी दिया है कि भगवान् के श्री अंग में स्वाभाविक सौरभ है। चन्दन का लेप तो विवेक और धैर्य के नाशार्थ किया गया है क्योंकि चन्दनादि के लेप से भगवान् में विशेष भाव बढ़ने से विवेक धैर्य नाश होने से गोपी को यह ध्यान न रहा कि अन्य सखियों के सामने बाहु का चुम्बन कैसे करूं?

बाहु सूंघने से वह घ्राण गोपी के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाती है यह इस गोपी में विशेषता है। यह गोपी श्री रूप है ॥१२॥

+गो० वल्लभलालजी लेख में इस विषय को समझाते हैं जिससे सब शङ्काएं मिट जाती हैं, यद्यपि भगवान् गोपियों के बाजू में स्थित थे किन्तु दोनों का विनियोग पृथक् पृथक् काल में हुआ है, अतः भगवान् पार्श्व में थे उससे कोई विरोध नहीं है, और यदि एक ही समय में दोनों का विनियोग है तो भी भगवान् के प्रभाव से एक दूसरे को किसी ने नहीं देखा जिससे भी दोनों का विनियोग सिद्ध है।

आभास—कयाचिद्भगवद्गृहीतताम्बूलं ज्ञानवद्गृहीतमित्याह **कस्याश्चिदिति**।

आभासार्थ—भगवान् ने, जो ताम्बूल ग्रहण किया वह चर्बित ताम्बूल किसी गोपी ने वैसे ग्रहण किया जैसे शिष्य प्रथम सेवा कर पुनः गुरू से ज्ञान ग्रहण करता है, अर्थात् जिस गोपी ने प्रथम भगवान् को ताम्बूल अर्पण कर सेवा की उस गोपी को भगवान् ने अनुग्रह कर ज्ञान रूप चर्वित ताम्बूल देकर ज्ञानवती अर्थात् ज्ञान रूपा बना दिया जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'कस्याश्चित्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्।**
गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—नृत्य से चलित कुण्डल की चमक से भूषित अपने कपोल को भगवान् के कपोल पर धर, बाजू में खड़ी हुई किसी गोपी को भगवान् ने अपना चबाया हुआ ताम्बूल मुख में दिया ॥१३॥

सुबोधिनी—कस्यैचित् ताम्बूलचर्वितमदादिति। स्वगण्डं भगवद्गण्डे सन्दधत्या इति तस्या अपेक्षा लाघवं च सूचितम्। सम्मुखत्वाभावेऽपि लाघवेनैव प्रादात्। अनेन तस्यै स्वविद्या दत्तेति ज्ञापितम्। तेनेयमेवोपदेष्ट्री भगवदसन्निधाने सर्वासां भविष्यति। तस्याः विद्यायोग्यतां वक्तुं लौकिकक्रियाज्ञानशक्तिमत्वमाह **नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितमिति**। नाट्येन विक्षिप्तस्य कुण्डलस्य त्विषा मण्डितं गण्डम्। नाट्ये क्रियाशक्तिः प्रतिष्ठिता। कुण्डले ज्ञानशक्तिः। क्रियाशक्त्या विक्षेपोऽत्यभ्यासः। योगात्मकत्वात् साधनानि वा। तस्य कान्तिरनुभवः। तेनालङ्कृता भक्तिः। भगवत्प्रेम्णा सम्बद्धा। यथा सा भगवति रता, एवं तस्यामपि भगवान् रतः। तत्रापि गण्डमिदं साध्यरूपा भक्तिरुच्यते। तां लक्ष्मीं प्रति मूलपर्यटनमिति। लक्ष्मीवन्तं प्रति पुनः पुनरावर्तत इति ज्ञानताम्बूलयोस्तुल्यता। **चर्वितमिति** साधनप्रयासाभावेन सिद्धदानम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—किस गोपी को भगवान् ने चर्बित ताम्बूल दिया, जिस गोपी को भगवान् की

---

* मूल श्लोक में अदात्ताम्बूलचर्वितम्' पाठ छपा है किन्तु श्री सुबोधिनीजी में 'प्रदात्' तथा 'अदात्' दोनों पाठ लिए हुए हैं, अतः गोलोकवासी प० गोविन्द भट्टजी ने मूल में 'प्रादात्' पाठ लिया है, लेखकार ने लेख में 'प्रदात्' और 'अदात्' दोनों दिए हैं—अनुवादक

आकाङ्क्षा[१] थी उसने अपना कपोल भगवान् के कपोल से लगाया, जिससे भगवान् ने सन्मुख न होते भी सरलता से उसको चर्वित ताम्बूल दे दिया, 'प्रादात्' शब्द का विशेष भाव यह है कि भगवान् ने ताम्बूल द्वारा अपनी विद्या का दान किया है। विद्या दान करने का आशय यह है कि जब गोपियां मेरे विरह में संतप्त हो तब यह गोपी उनको ज्ञानोपदेश देकर शान्ति कराने के साथ उनके जीवन की भी रक्षा करेगी तथा ब्रह्मविद्या+ के समान मेरी प्राप्ति भी कराएगी। अन्य को विद्यादान न कर इसको विद्यादान इसलिए किया है कि यह ज्ञान ग्रहण करने के योग्य है, क्योंकि इसमें लौकिक क्रिया और ज्ञान शक्ति दोनों है जिनको श्री शुकदेवजी 'नाट्यविक्षिप्त कुण्डलत्विषमण्डितम्' पद से सिद्ध करते हैं। नाट्य से उसका कुण्डल विक्षिप्त हो रहा था और अतएव कुण्डल की कान्ति से उस गोपिका के कपोल शोभित हो रहे थे।

यहां तीन बातें कही गई हैं।

(१) नृत्य से कुण्डल का विक्षिप्त होना।

(२) कुण्डल की कान्ति।

(३) उस काप्ति से कपोल की शोभा।

(१) नृत्य में क्रिया शक्ति प्रतिष्ठित है तथा कुण्डल में (यदि उसे सांख्यरूप माना जाए तो) ज्ञान शक्ति प्रतिष्ठित है। अतः "नृत्य से कुण्डल के विक्षिप्त होने" का तात्पर्य होगा : क्रिया शक्ति से ज्ञान शक्ति का खूब अभ्यास। परन्तु कुण्डल योगात्मक भी हो सकता है अतः तब अर्थ होगा : क्रिया शक्ति से योग साधन-शम दम आदि का खूब अभ्यास।

(२) "कुण्डल की कान्ति का अर्थ होगा : ज्ञान का प्रकाश अथवा योग के फल चित्त की एकाग्रता का अनुभव।

(३) "इस कान्ति से कपोल की शोभा" अथवा कपोल का श्रृङ्गार का तात्पर्य होगा : उक्त प्रकाश अथवा अनुभव के श्रृङ्गार में सजी हुई भक्ति (क्योंकि कपोल भक्तिरूप है)।

यों कुल मिलाकर संपूर्ण वाक्य, "नृत्य से विक्षिप्त हो रहे कुण्डल की कान्ति से शोभित, गोपी ने अपने कपोल को भगवान् के कपोल से जोड़ दिया" का तात्पर्य होगा : क्रिया शक्ति से अत्यधिक अभ्यास पूर्वक ज्ञान के; अथवा शमदम आदि के अत्यधिक अभ्यास पूर्वक साधित योग के, श्रृंगार से अलंकृत गोपिका की भगवद् भक्ति भगवान् के अपने ऊपर के स्नेह से मिल गई। अर्थात् जैसे भगवान् में गोपिका अनुरक्त है वेसे ही भगवान् गोपिका में अनुरक्त हो गए हैं। भक्ति में भी भगवान् का यह कपोल साध्यरूपा भक्ति है। उस चंचल कुण्डलों की कान्ति से युक्त कपोल की लक्ष्मी के शोभा के प्रति भगवान् के स्वामिनी प्रेम रूप कपोल ने (मूल ने) खूब पर्यटन किया। ज्ञान जैसे लक्ष्मीवान की ओर पुनःपुनः आवृत्त होता ही रहता है ऐसे ताम्बूल भी होता रहा अतः ज्ञान एवं ताम्बूल की समानता सिद्ध होती है। चर्वित ताम्बूल देकर भगवान् ने यह दिखलाया कि साधन प्रयास के बिना ही सिद्धदान किया गया है ॥१३॥

१—इच्छा, जरूरत

टिप्पणीजी:—सारे वेदान्त वाक्यों का निचोड ब्रह्म विद्या हैं ' उपनिषद् आदि सारी वाणियों के अधिपति रक्षात्मक भगवान् ने अपने भक्तों के स्नेह वश निचोड़ कर जो चर्वित ताम्बूल रखा था वह इसे दिया। देने का प्रयोजन यह था कि विरह दशा के असह्य होने पर ब्रह्मविद्या रूप इस चर्वित ताम्बूल को लेनेवाली यह गोपिका अपनी सखियों का जीवन निर्वाह कर पाएगी। ब्रह्मविद्या से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यहां भी यह स्वामिनी अपने प्रियतम को पाएगी।

आभास—अपरा पुनः वैराग्यात्मकं क्रियारूपमच्छिद्रं ज्ञाने सहायर्थं भगवद्धस्तं स्वहृदये स्थापितवतीत्याह नृत्यतीति।

आभासार्थ—भगवान् की दूसरी बगल में स्थित अन्य गोपी ने वैराग्य और क्रिया रूप तथा छिद्र रहित भगवान् के श्री हस्त को अपने हृदय पर धरा जिसका वर्णन 'नृत्यती' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—नृत्यती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—जिसके नूपर तथा मेखला से झनकार ध्वनि आ रही है वैसी भगवान् के पार्श्व में स्थित एक अन्य गोपी ने, नृत्य एवं गान से श्रमित होने से भगवान् के कल्याण स्वरूप हस्त कमल को अपने स्तनों पर धरा ॥१४॥

सुबोधिनी—सा नृत्यं गानं च कुर्वती स्थिता। तत्राभिनये यथान्यहस्तः स्थाप्यते, स्वहस्तो वा, तथा भगवद्धस्तमेव स्थापितवती। शाब्दं ज्ञानं तदर्थानुष्ठानं च तस्या वर्तत इति ज्ञापनार्थं नृत्यगानयोः कथनम्। कूजती नूपुरे मेखला च यस्याः। उपरि गानाभिनयनम्। पादयोर्नृत्यम्। अत एव नूपुरयोर्मेखलायाश्च शब्दः। स च भावोद्दीपकः अनेन तस्याः पूर्वस्थिता सर्वैव क्रियाशक्तिः सफलेति सूचितम्। एकस्मिन्नेव पार्श्वे विद्यमानस्य भगवतः श्रान्ता सती तत्तापहरणार्थं स्तनयोरधात्। तापहारकत्वमब्जस्य प्रसिद्धम्। श्रमो निर्वृतिसूचकः। स्वस्याः पूर्वक्रियापरित्यागः बाह्यत एवेति भगवत एकस्मिन् भागे स्थितिरुक्ता। भगवत्क्रियाशक्ते रक्षयत्वसूचनायाच्युतेति। अग्रे सम्बन्धस्यापि करिष्यमाणत्वात् तदविघातार्थं च। तस्य पुनः कामाद्युद्बोधकत्वेन तापानाशकत्वमाशङ्क्याह **शिव**मिति। तदेव कल्याणरूपम्, आनन्दरूपत्वाच्च भगवतः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—वह गोपी नृत्य तथा गान करती हुई स्थित थी, नाट्य क्रिया के समय छाती पर अपना वा दूसरे का हस्त रखा जाता है वैसे ही इसने भगवान् का हस्त कमल छाती पर धरा। नृत्य के अवसर कौनसे गीत को गाना चाहिए एवं गान के अनुरूप कैसे नाचा जाता है यह इस गोपी को बराबर मालूम है। ऊपर के अंग से गान का अभिनय करती थी और पैरों से तदनुकुल नृत्य क्रिया करती थी जिससे उसके नूपर तथा मेखला की झनकार ध्वनि हो रही थी। उसका यह नृत्य और गान तथा नूपर एवं मेखला की ध्वनि रस को उद्दीप्त करती थी, जिससे यह सूचित हुआ कि उसकी प्रथम की हुई सर्व ही क्रिया शक्ति सफल हो गई है।

नृत्य तथा गान करते हुए गोपी को श्रम हुआ अर्थात् रस के उद्दीप्त होने से मिलने की चाह बढ़ी जिससे विरह ताप हुआ, अतः पार्श्व में स्थित भगवान् के हस्त कमल को अपने छाती पर धरा, हस्त में कमल जैसी ताप हारक क्रिया शक्ति है जिससे ताप की शान्ति हुई। गोपी ने जो नृत्यादि क्रिया बन्द की वह केवल बाहर से थी अन्दर तो उसके करने की इच्छा थी इसलिए ही भगवान् एक बाजू में स्थित थे। यहाँ मूल श्लोक में भगवान् को 'अच्युत' कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि भगवान् की क्रिया शक्ति अक्षय है। आगे सम्बन्ध करना है और वह कदापि टूटे नहीं, भगवान् का श्री हस्त काम को उत्पन्न करने वाला है अतः वह ताप को शान्त कैसे करेंगे ? इस शङ्का के निवारणार्थ 'शिवम्' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि भगवान् आनन्द रूप हैं जिससे उनके सर्व अङ्ग आनन्द रूप होने से ताप को मिटाने में समर्थ हैं। यह गोपी वैराग्य रूपा है ॥१४॥

श्री प्रभुचरण टिप्पणीजी में आज्ञा करते हैं कि—भगवान् के हस्त कमल को छाती पर धरा जिससे इसमें (गोपी में) वैराग्य उत्पन्न हुआ और प्रथम दिए हुए ज्ञान के कार्य की सिद्धि के लिए अक्षय क्रिया शक्ति का संचार हुआ एवं फल सिद्धि हुई। यदि वैराग्य उत्पन्न न होता तो विरह ताप को सहन नहीं कर सकती थी। उसको न सहन करने पर अन्यों को आश्वासन कैसे देती ? अतः वैराग्य तथा क्रिया शक्ति से ज्ञान का उपयोग करने में समर्थ हुई, अन्यों को उपदेश दे सकी, और फल भी प्राप्त किया, इसलिए हस्त को छाती पर धरा जिससे अपने सर्व कार्य सफल किए।

धर्म से गोपियों में भेद है किन्तु धर्मी स्वरूप से भेद नहीं है कारण कि ऐश्वर्यादि षड् धर्म युक्त स्वरूप ही तो भगवान् है अतः यहां कुछ भी अयोग्य नहीं है, कि ज्ञानरूपा गोपी अन्य है और वैराग्य रूपा अन्य है तो दोनों के बारे में एक बात कैसे संभव है।

आभास—एवं षण्णां स्वरूपमुक्त्वा स्वरूपेण सर्वासां साधारणीं लीलामाह गोप्य इति।

आभासार्थ—इस प्रकार छ गोपियों के स्वरूपों का वर्णन कर अब समस्त गोपीजनों की भगवान् के साथ की हुई साधारण लीला का वर्णन 'गोप्यो लब्ध्वा' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।**
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥१५॥

श्लोकार्थ—गोपियों ने लक्ष्मीजी के अतीव वल्लभ अच्युत प्रभु को कान्त रूप में प्राप्त किया: भगवान् ने गोपियों के कण्ठ में अपनी भुजा धरली, इस प्रकार गलबाहीं बनकर गोपियां प्रभु का गुणगान करती हुई क्रीड़ा करने लगी ॥१५॥

सुबोधिनी—अच्युतः कान्तो भगवानेव भवति। अन्तर्बहिश्च नित्यानन्ददायी। अत एव सर्वस्त्रीणां मूलभूतायाः श्रिय एकान्ततो **वल्लभः** परमः प्रियः। तादृशं लब्ध्वा तमेव गायन्त्यो विजह्रिरे। ननु परमानन्दे प्राप्ते क्रियाया अपगम एवोचितः, न तु पुनः क्रिया, तत्कथं विहार

इति चेत्, तत्राह **तद्दोर्भ्यां गृहीतकण्ठ्य** इति। भगवत्क्रिययैव व्याप्ताः, न तु स्वक्रिया काचित्। कण्ठे क्रियायाः स्थापितत्वाद्गानं क्रिया च सम्भवतः। इयं क्रिया शक्तिरूपेति स्वातन्त्र्यं तासां निरूपितम् ।।१५।।

व्याख्यार्थ—एक भगवान् ही अच्युत कान्त हैं, प्रभु अन्दर और बाहर नित्य आनन्द देने वाले हैं, इस कारण से ही सर्व स्त्रियों की मूलभूत लक्ष्मीजी को एकान्तः प्रिय हैं परम प्रिय हैं। वैसे पति को प्राप्त कर गोपिकायें उनका ही गुणगान करती हुई क्रीड़ा करने लगी। जब परमानन्द प्राप्त होता है तब क्रिया का बन्द करना ही उचित है, नहीं कि फिर क्रिया करनी योग्य है तब विहार कैसे करने लगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि भगवान् ने स्वयं कण्ठ में अपनी भुजा डाल इनको स्वक्रिया शक्ति से युक्त कर दिया है अतः यह क्रिया भगवान् की क्रिया शक्ति है, नहीं कि गोपियों की वह क्रिया भी कण्ठ में स्थापित की है अतः गान एवं क्रिया दोनों होती है, इसलिए इनको स्वतन्त्रता है ।।१५।।

आभास—अतः परं राधादामोदरवदुभयोर्नृत्यमाह **कर्णो**ति।

आभासार्थ—इसके बाद भगवान् और गोपियों ने जो राधा दामोदर नृत्य के समान नृत्य किया, उसका वर्णन कर्णोत्पलालक' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्मवक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः।**
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेशस्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ।१६।

श्लोकार्थ—कर्ण में धरे हुए कमल तथा अलकों से सुशोभित कपोल एवं पसीने की बूंदो से जिनके मुखारविन्द की श्री वृद्धिगत[1] हो रही है, और अपने केशो में लगाई हुई माला के पुष्प जिनके गिर रहे हैं वैसी गोपियां, जिस रास गोष्ठी में भ्रमर गान कर रहे हैं, कङ्कण तथा नूपरो के शब्द रूप वाद्य बज रहे हैं उसमें भगवान् के समान नाचने लगी ।।१६।।

सुबोधिनी—रासार्थमेवैतदपि, परं प्रत्येकं रस उत्पद्यत इति गोष्ठीमात्रमुक्तम्। उभयोर्गाढनृत्ये विनियोगात्। भ्रमरो गायकः। वाद्यं तु पूर्ववदेव भविष्यति। तदाह **वलयनूपुरघोषवाद्यै**रिति। वलयानां नूपुराणां घोषशब्देन किङ्किणीनां शब्दा एव वाद्यशब्दाः। अत्यन्तं नृत्याभिनिवेशार्थं स्वकेशात् स्रस्ताः स्रजो यासामित्युक्तम्। (यद्वा। गायकास्तु भ्रमरा निरूपिताः, ते च मकरन्दार्थिनः। स च पुष्पेष्वेव तिष्ठति। तानि च वियुक्तानि तद्रहितानि च भवन्तीति स्वनृत्यानुरूपगानकरणादतिप्रसन्नास्तेभ्यः स्रज एव दत्तवत्यः। अन्यथा रसार्थं स्वकेशेषु शोभाहेतुत्वेन धृतानां तासामुपेक्षा न भवेत्। तेन भ्रमराणां गाननैपुण्यं प्रभुप्रियाणां च तदभिज्ञत्वं च ध्वन्यते।) नृत्यारम्भे तासां शोभामाह **कर्णो**ति। अन्यथा पूर्वोक्तनृत्येन श्रान्तानां पुनर्नृत्यमनुचितमेव स्यात्। न वा रसालम्। कर्णे उत्पलस्थापनं तस्य अपातने चातुर्यार्थम् ।

---

[1] —बढ़।

तत्सहिता अलकाः भ्रमरा इव रसपातारः । तेषां विटङ्कः अलङ्करणरूपं स्थानम् । एतादृशौ कपोलौ । तत्र यो धर्मः अन्तरुग्दतश्रमजलं नृत्याभिनिवेशाज्जातम् । तैः कृत्वा वक्त्रे श्रीरलौकिकी काचित् सम्पन्ना । यथ । मुक्ताभिर्मण्डितं भवति कपोलद्वयम् । अनेन मुखे श्रमो निवारितः । ताभिः सह भगवतो नृत्ये अनुभावकश्च भवति। स्वतो वा क्रीडानिवृत्तिरनेन सूचिता । **गोप्य** इति । भगवत एव तासामेतावत्त्वम्, न स्वत इति ज्ञापितम् । अतो **भगवता समम्**, यथा यथा भगवान् नृत्यति, तथा तथा ता अपि नृत्यन्तीति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—यह नृत्य+भी रस के समूह को उत्पन्न करने के लिए किया गया है, किन्तु इस नृत्य में प्रत्येक गोपी को रसदान मिला है, इसलिए यहां विहार वा क्रीड़ा न कहकर मूल श्लोक में 'गोष्ठी' पद दिया है, जिसका आशय है कि इस गाढ नृत्य में भगवान् और गोपी साथ में है, पूर्व किए हुए नृत्य में दो दो गोपिकाओं के बीच में कृष्ण एक ही थे इस नृत्य में भ्रमर गायक हैं, वाद्य तो पहले की भांति होगा, जिसका वर्णन 'वलय नूपर वाद्य शब्दैः' पङ्क्ति से किया है । कङ्कण और नूपरों के शब्द ही वाद्यों के शब्द हैं, इस प्रकार वादन एवं गायन करते हुए जो नृत्य हुआ उसमें अत्यन्त आसक्ति के कारण अपने [(गोपियों के) केशों से मालाएं गिरती जा रही है ।

(श्री प्रभुचरण यहां स्वतन्त्र लेख में आज्ञा करते हैं । गोपियां गाने के रस की जानकार थी इसलिए भ्रमरों की गान में निपुणता देखकर पुष्पों के मकरन्द रस को चाहने वाले भ्रमरों को रस पानार्थ पारितोषिक रूप में अपनी मालाएं अर्पित करने लगी, अन्यथा शोभा के लिए धारण की हुई मालाओं की उपेक्षा कभी भी नहीं करती ।)

नृत्य के समय गोपीजनों की शोभा का वर्णन करते हैं कि यदि गोपीजन इस प्रकार सुशोभित नहीं होती तो पहले किए हुए नृत्य से श्रमितों का पुनः नृत्य करना अनुचित ही होता । अथवा रस जनक न होवे, कान पर शोभार्थ कमल इस प्रकार धरा जैसे वह गिरे नहीं जिससे अपनी चतुराई प्रकट की है, कमल के ऊपर जो भ्रमर रूप अलकें लटक रही हैं वे मानो रस पान कर रही हैं । केशों को भी शोभा देने वाले अलङ्कार रूप कपोल हैं, जिन पर नृत्य के समय उनमें आसक्ति होने से नृत्य करते रहने के हठ से अन्तर में उत्पन्न श्रम जल स्वेद[1] रूप में कपोलो पर आके अलौकिक कोई शोभा दिखाने लगे, मानो मोतियों से दोनों कपोल सजाए गए हैं, जिससे श्रम की निवृत्ति हो गई है यों दीखता है । उनके साथ नृत्य करते समय यह रसानुभावक बन जाता है । स्वामिनी अपने सामर्थ्य से क्रीड़ा को निवृत्त नहीं कर सकती यह सूचित होता है ।

गोपीजनों ने जो इतना वैसा नृत्य किया है, वह भगवान् साथ में थे उनके प्रभाव से ही उनके तुल्य नृत्य कर सकी हैं, अर्थात् जैसे जैसे भगवान् नृत्य करते हैं वैसे वैसे वे भी नृत्य करती हैं ।।१६।।

+ १४ वें श्लोक में किए हुए नृत्य और इस नृत्य में भेद है अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है, विशेष टिप्पणीजी देखिए ।

---

[1] —पसीना,

लेखः – पहले समुदाय नृत्य था और अब प्रत्येक नृत्य है। प्रत्येक गोपी के साथ एक एक भगवान् ने नृत्य किया यही इसकी समुदाय नृत्य से पृथकता है।

आभास—एवं प्रादुर्भूते रसे अत्यन्तोद्गमनार्थं साक्षात्कामशास्त्रोक्ताश्चेष्टा निरूपयति **एवमिति**।

आभासार्थ—इस उपरोक्त प्रकार के विलासों से जो, रस प्रकट हुआ उसको विशेष अवस्था में पहुचाने के लिए अर्थात् अत्यन्त बढाने के लिए भगवान् काम शास्त्र में कही हुई सब चेष्टाएं करने लगे जिसका वर्णन 'एवं' परिष्वङ्ग' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।**
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे बालक अपने प्रति बिम्ब[1] के साथ खेलता है वैसे लक्ष्मी के पति भगवान् आलिङ्गन, हस्त स्पर्श, स्नेह युक्त कटाक्ष, स्वतन्त्र विलास और हास्य आदि चेष्टाओं को करते हुए गोपीजनों के साथ रमण करने लगे ॥१७॥

सुबोधिनी—आलिङ्गनादयस्तत्र निरूपिताः। एवमेव रसोद्गमनार्थं परिष्वङ्गः, आलिङ्गनम्। ततः कराभिमर्शः, तत्तदवयवेषु भगवद्धस्तस्पर्शः। ततः स्निग्धेक्षणं भावोद्गारि। तत उद्दामो विलासः, अमर्यादो भोगः। ततो हास्यानि पूर्णमनोरथानाम्। एवं परिष्वङ्गादिहासान्ताः सर्वासु। ननु प्राकृतीभिः कथं रेमे, तत्राह **रमेश** इति। रमाया ईशः। सर्वत्र तासु रमापि भगवदाज्ञया निविष्टा। ता अपि अधिष्ठानयोग्या इत्याह **व्रजसुन्दरीभि**रिति। नन्वात्मारामः कथमेताभी रेमे, लक्ष्मीस्तु ब्रह्मानन्द इति रमणमुचितमपि। एतास्वावेशोऽप्यनुचितः, ब्रह्मभावाभावादिति चेत्, तत्राह **यथार्भक** इति। बालको हि दर्पणजलादिकं पुरतः स्थापयित्वा, तत्र तत्रात्मानं पश्यन् रमते। तथा भगवानपि स्वसामर्थ्यं स्वरूपं वा तत्र स्थापयित्वा, ब्रह्म ब्रह्मानन्दं चाविर्भावयित्वा रेमे। नन्वेतदप्यनुचितम्, किमनेनेति चेत्, तत्राह **यथार्भकः**। यथा बाललीलां कृतवान्, तथैतदपि कृतवानित्यर्थः। (यद्वा। कदाचित्प्रकारसाम्येऽपि नैतद्रसानुभवो लक्ष्म्यां भवितुमर्हति, किन्त्वेतास्वेवेति ज्ञापयति पदद्वयेन, **रमेशो व्रजसुन्दरीभि**रिति। रमाया ईशः स्वामी भर्तेति यावत्। एतास्तु व्रजसम्बन्धिन्योऽन्यसम्बन्धिन्यः सुन्दर्यो, न तु विवाहिता इति। रमारमणदशायां एतादृग्रसानुभवो नोभयोरपि सम्भवति। रसस्वरूपस्यैव तादृशत्वादिति भावः। नन्वीश्वरे नेदमुचितमित्यत आह **यथार्भक** इति। 'सम्मुष्णन् नवनीतमन्तिकमणिस्तम्भे स्वबिम्बोद्गमं दृष्ट्वे'-त्यादिवाक्यनिरूपितमुग्धलीला वान्यथा निरूप्यते पूर्णज्ञानोऽपि तद्रसस्वरूपस्य तथात्वात्। तथेहापि 'रसो वै स' इति श्रुतेरिदं सर्वं रसमध्यपातित्वेन स्वरूपात्मकमेवेति तदुच्यत इति नानुपपत्तिः

---

[1] —परछाई,

काचित् । शङ्काया एवानुदयादिति भावः ।) एतेन यथा प्रभुस्तद्भवो वा, तथैता एतद्भावोपीति ज्ञापितं भवति । तथा प्रतिबिम्बस्वभावात् । अत्र रमणं बहूनामप्येकदा भवति द्वयोश्च । अग्रे तु प्रत्येकपर्यवसानं वक्ष्यति ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—कामशास्त्र में रस को बढ़ाने के लिए आलिंगन आदि क्रियाओं का निरूपण है, इसलिए प्रभु ने प्रथम आलिंगन ही किया । पश्चात् श्री हस्त से उन उन अवयवों का स्पर्श किया । भाव को उद्बुद्ध करनेवाले स्नेह युक्त कटाक्ष किए । पुनः उद्दाम विलास अमर्यादित भोग किया । मनोरथ पूर्ण होने पर हास परिहास का क्रम है आलिंगन से लेकर हास पर्यन्त की क्रिया सभी के साथ प्रत्येकतया की । प्राकृत स्त्रियों के साथ रमण कैसे संभव है ? उत्तरः क्योंकि भगवान् रमा के पति हैं अतः सर्वत्र उन गोपिकाओं में भगवान् की आज्ञा के अनुसार रमा ने भी प्रवेश किया । अतः स्वरूपानन्द के रसकी पात्रता उनमें आ गई यह "व्रज सुन्दरी" कह कर दिखलाया गया है । लक्ष्मी तो ब्रह्मानन्द का रूप है अतः भगवान् आत्माराम होने पर भी उससे रमण करते हैं जब कि इनमें तो ब्रह्मरूप न होने के कारण आवेश भी अनुचित है, इसका उत्तर देते हैं "यथार्भक" से । बच्चे जल या काच में अपने प्रतिबिंब को देखकर खेलते है ऐसे ही भगवान् भी उनमें अपना सामर्थ्य अथवा स्वरूप स्थापित करके, ब्रह्म और ब्रह्मानन्द को आविर्भूत करके रमण करने लगे । यदि कहो कि फिर भी यह है तो अनुचित ही तो उसका उत्तर भी "यथार्भक" से ही मिल जाता है । जैसे भगवान् ने बाललीला की वैसे ही यह लीला भी की । (अथवा–गुसांईजी के अनुसार–प्रकार समान होते हुए भी यह रस लक्ष्मी के अनुभव में नहीं आया किन्तु इन गोपिकाओं के अनुभव में ही आया । यह 'रमेश' और 'व्रजसुन्दरीभिः:' इन दो पदों से स्फुट होता है । रमा के तो भगवान् ईश स्वामी या पति ही हैं जब कि ये तो व्रज-अन्यों से विवाहित सुन्दरियां हैं, कम से कम नन्दनन्दन से तो विवाहित नहीं हैं । रमा के माथ रमण में यह रस न तो रमा और न रमेश ही अनुभव कर सकते हैं क्योंकि रस स्वरूप ही ऐसा है । यदि कहो कि ईश्वर के लिए इस स्तर पर आना उचित नहीं तो उसका उत्तर "यथार्भकः" से दिया गया है । "सम्मुष्णन् नवनीतमन्तिक मणिस्तम्भे स्वबिबोद्गं दृष्ट्वा" अर्थात् माखन नोरते हुए मणिमय खंभे में अपनी परछांई देखकर–यहां मुग्ध लीला का वर्णन पूर्ण ज्ञान स्वरूप से विपरीत भी उपलब्ध होता है क्योंकि रस-बाललीलारस-का स्वरूप ही ऐसा है । इसी तरह "रसो वै स" इस श्रुति के अनुसार सभी कुछ रस मध्यपाती होकर स्वरूपात्मक ही ठहरता है तो फिर अनुपपत्ति किस बात की ? शंका ही उदित नहीं हो सकती यह आशय है) इस तरह जैसे प्रभु अथवा प्रभु के भाव हैं वैसे ये और ईनके भाव भी हैं यह सिद्ध होता है; प्रतिबिंब का स्वभाव ही वैसा है । यहां बहुतों के साथ रमण एक ही साथ किया हुआ है और दो के साथ भी । आगे चलकर प्रत्येक में रमण पर्यवसित होगा ॥१७॥

लेखः—जैसा कि पहले कहा गया यहां नृत्य तो प्रत्येक के साथ ही है किन्तु रमण समुदाय के साथ है । परन्तु आगे चलकर रमण भी प्रत्येक के साथ किया जाएगा, यह वर्णित होगा ।

आभास—एवं सर्वभावेन भगवद्धर्मावेशे तासां देहादिविस्मरणपूर्वकं महारसाभिनवेशमाह तदङ्गे ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गोपियां भगवान् के स्वरूपानन्द तथा धर्मों के आवेश से जब देहादि

को भूलकर महारस में लबालब होगई तब जो फल उनको मिला, जिसका वर्णन 'तदङ्ग सङ्ग' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिका वा ।**
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् से अङ्गसङ्ग होने के कारण बढे हुए मद से व्याकुल इन्द्रियों वाली, तथा जिनकी मालाएँ एवं आभरण खसक गए हैं वैसी गोपियां अपने केश, वस्त्र तथा कंचुकिओं को अपने स्थान पर संभाल न सकीं ॥ १८ ॥

सुबोधिनी—तस्य भगवतः अङ्गसङ्गेन यः प्रकृष्टो मदः देहादिविस्मारको भाव उत्पन्नः । तेन आकुलानीन्द्रियाणि यासाम् । सर्वा इतिकर्तव्यतामूढा जाताः । ततः केशपाशं परिहितदुकूलं कुचपट्टिकां वा स्वयमञ्जसा सामस्त्येन प्रति सम्मुखतया विशेषेण वोढुमलं न जाताः । पुनरल्पेनैव तथाविधा जाता इत्यत्र हेतुमाह **व्रजस्त्रिय** इति । श्रमोऽपि जात इत्याह **विस्रनस्तमालाभरणा** इति । आकुलेन्द्रियत्वान्न विचारो लौकिकः । गोपिकात्वान्न पारमार्थिकः । श्रमान्न दैहिकः । अत आद्यन्तमध्येषु तासु युक्ता भगवतैव धृताः, न ताभिरित्यर्थः । यद्यप्यन्यप्रतीत्या ध्रियमाणा इव, तथापि न स्वतो धारणम् । **कुरूद्वहे**ति सम्बोधनमभ्रमाय विश्वासार्थं च ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—गोपियों में भगवान् के अङ्ग सङ्ग से वह भाव जागृत हुआ जिससे गोपियां अपने देह आदि को भूल गई । उससे ऐसी व्याकुल हुई जो अपना कर्तव्य करना भी भूलगई, जैसे केशपाश, शरीर पर पहने हुए वस्त्र और कंचुकिओं को खुद बराबर स्थान पर धारण करने में असमर्थ हो गई थी ।

फिर श्रीकृष्ण के अल्प स्पर्श से ही गोपियों की इन्द्रियां आकुल हो गई जिससे उनमें विवेक शक्ति न रह सकी कारण कि वे व्रज की स्त्रियां हैं । श्रम से मालाएँ तथा आभरण खिसक गए । इन्द्रियों की घबराहट से लौकिक विचार भी नहीं किया । गोपियां थी अतः परमार्थ का विचार भी वे न कर सकी तथा श्रम के कारण देह का ध्यान भी न रहा । वैसी स्थिति में भगवान् ने ही उनके चोटी, वस्त्र तथा कंचुकियों को यथास्थान धारण करा रखा था, गोपियों ने स्वयं नहीं । यद्यपि अन्यों को यही प्रतीत हो रहा था की गोपियों ने ही धारण किये हैं वास्तविकतया भगवान् ने ही झेल लिए थे ।

राजा परीक्षित् को 'कुरुद्वह' संबोधन देने का श्री शुकदेवजी का आशय यह है कि, हे परीक्षित् तूं कुरुकुल में श्रेष्ठ है अतः मेरे कहने में कोई भ्रम न करना मुझे विश्वास है कि तूं योग्य है इसलिए यह लीला तुझे सुनाई है ॥ १८ ॥

आभास—एवं समुदायलीलां निरूप्य तस्याः परिज्ञानं केषामपि **न** जातमिति वक्तुं देवस्त्रीणां चन्द्रस्य च विस्मयमाह कृष्णेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार समुदाय लीला का निरूपण कर अब 'कृष्ण विक्रीडितं' श्लोक में कहते हैं कि इसका ज्ञान किसी को भी नहीं हुआ यों कहने के लिए देवस्त्रियों के एवं चन्द्रमा के विस्मय का वर्णन करते हैं—

श्लोक—कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्यमुमुहुः खेचरस्त्रिहः ।
कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण की विशेष समुदाय की क्रीड़ा देखकर देवस्त्रियां कामातुर हो गई और चन्द्रमा नक्षत्र मण्डल सहित विस्मित हो गया ॥ १९ ॥

सुबोधिनी—नहि कस्याश्चित् पतिः परमानन्दो भवति। नहि निरानन्देनानन्दो दातुं शक्यते। 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः। एवकारेणेतरनिषेधश्च। तत्रापि विशेषेण क्रीडा। नहि जीवो विशेषक्रीडाँ जानाति। खेचराणां स्त्रिय इति तासां सर्वदर्शनार्थं भगवद्दत्तो वरो निरूपितः। स्त्रीणां च दर्शनं न दोषाय। तासां मोह एवोत्पन्नः। न तु परिज्ञानम्। रसो वा। लौकिकोऽपि चन्द्रो दृष्टवान् सोमात्मकत्वात् देहस्य। 'सोमःप्रथम'इति श्रुतेश्च। साधारण्यश्च स्त्रियः। तथापि तस्य दर्शनं तस्यैव हितकारि न भवतीति निरूपयितु माह **शशाङ्क** इति। स हि कलङ्की। आनन्दमयोऽपि। सगणो नक्षत्रसहितः। तेनोद्दीपनेऽपि न तस्यान्यासु चित्तसम्भवः। चकारात् सोऽपि मुमुहे। यथा पुनरेताः मोहनानन्तरं पुनःपुनर्दर्शने उद्बुद्धकामा जाताः। गत्वास्माभिरपि कामरूपतया क्रीडा कर्तव्येति कामार्दिता जाताः। तथा चन्द्रोऽपि भगवति निवेशनार्थं यत्नं कृतवान्। अतः कामार्दितो जातः। अनेनाग्रे निसर्गात् सुखमिति पक्षे उपपत्तिरुक्ता। अस्यैव चन्द्रस्य अंशास्ततो निवर्तिष्यन्त इति। अन्यथा 'सहस्रदर्शनान्मुक्ति'रित्येतत्सूत्रं विरुध्येत। सहस्रवर्णाभावात्। किञ्च, **सगणः** स्वस्त्रीसहितोऽपि विस्मितो जातः। विस्मयरस एवोत्पन्नः, नान्यो रस इति ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ—किसी का भी पति परमानन्दरूप नहीं हो सकता। अब जो स्वयं आनन्दरहित हो वह आनन्द का दान क्या कर सकेगा ? "एष ह्येवानन्दयाति" यहां श्रुति में 'एव' लगाकर परमानन्द परब्रह्म के सिवाय अन्य कोई आनन्द दे ही नहीं सकता यह सिद्ध किया गया। और वहां भी विशेष क्रीड़ा के द्वारा तो जीव आनन्द दे ही नहीं सकता क्योंकि वह एसी क्रीड़ा जानता ही नहीं है। नभोगामी देवताओं में भी जो स्त्रियां थीं वे देख पाई क्योंकि उन्हें सब कुछ देख पाने का भगवान् ने वरदान दिया। स्त्रियों का इस लीला को देख पाना दोषावह नहीं है। देखकर भी देवस्त्रियों में मोह उत्पन्न हुआ परिज्ञान अथवा रस नहीं। "सोमः प्रथमः विविदे" इस श्रुति वचन के अनुसार क्योंकि देह स्वयं सोमात्मक है अतः लौकिक चन्द्र भी देख पाया और साधारण स्त्रियां+ फिर भी उसका लीला दर्शन उसी के हित में नहीं होता यह दिखलाने के लिए "शशांकः" कहा[1]। उस चन्द्र में कलंक भी है।[2] वह आनन्दमय भी है।[3] चन्द्र अपने गण नक्षत्रों के सहित था, फिर भी उसका

+ यह पृष्ठ २८५ पर पढें।

१—यह लौकिक चन्द्रमा के बारे में है।

२—यह अलौकिक चन्द्रमा के बारे में है।

३—यह लौकिक चन्द्रमा के बारे में है।

चित्त अन्यों में नहीं लगा।[1] 'च' का आशय है कि वह चन्द्र भी मोहित होगया। जैसे ये मोहित होगया। जैसे ये मोहित होकर पुनः पुनः दर्शन करने के कारण अपने अन्दर काम को उद्बुद्ध कर बैठी अर्थात् हमें भी जाकर कामरूपतया क्रीड़ा करनी चाहिए यों सोचती हुई कामार्दित होगई, वैसे ही चन्द्र भी हो गया। (अलौकिक चन्द्र ने) भगवान् में निविष्ट होने का यत्न किया अतः कामार्दित आ। इससे आगे चलकर "निसर्ग से सुख होता है" इस पक्ष की उपपत्ति भी दिखला दी कि इसी चन्द्र के अंश वहां से निःसृत होंगे। अन्यथा 'सहस्रवण' से आनन्द का प्रतिपादक "सहस्रदर्शनान्मुक्तिः[2] "इस सूत्र का विरोध होगा क्योंकि (स्रवण ही न हो तो) सहस्रवण कैसा? इसके अलावा यद्यपि चन्द्र अपनी पत्नियों के सहित था तो भी केवल विस्मित हुआ न कि शृंगार रस में प्रवृत्त हुआ और न अन्य किसी रस में ॥१६॥

+ यहां दो तरह के अनुवाद की संभावना है। "लौकिक चन्द्र भी देख पाया" के संदर्भ में लें तो अर्थ होगा—"और साधारण स्त्रियां भी देख पायी" 'साधारण स्त्रियों' से तात्पर्य देवस्त्रियों में लेखकार वल्लभजी मानते हैं "खेचर स्त्रियोपि दृष्टवत्य इत्यर्थः"। योजनाकार ब्रह्मवैवर्त पुराण के आधार पर रास में भाग लिए बिना केवल दर्शनार्थ जो अन्य स्त्रियां रास में आई थी उनका देह सोमात्सक हैं नकि उन गोपिकाओं का जो रास में भाग ले रही है, यह अर्थ करते हैं। किन्हीं लोगों का कहना है कि ये वृद्धाये हैं, किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि "रजन्येषा घोर रूपा" तथा "मातरः पितरः पुत्राः" श्लोक की सुबोधिनी में सुस्पष्टतया "भवत्यो यदि बाला वृद्धा वा भवेयुः तदा स्थीयेतापि, भवत्यस्तु सुमध्यमाः" तथा "तरुणास्ते तरुण्यो वयमिति" यहां वृद्धा होने का निषेध मिलता है। यों "साधारण स्त्रियां देख पाई" यह एक अर्थ तथा दूसरा अर्थ "स्त्रियां साधारण हैं" यह भी हो सकता है अर्थात् एक जगह "दृष्टवत्यः" का अध्याहार है और दूसरी जगह "भवन्ति" का, किन्तु दूसरे के अनुसार किसी ने व्याख्या नहीं की है अतः अनुवाद अध्याहार रहित ही किया है (अनुवादक)

टिप्पणीजी—एक वाक्य में शब्दतः प्रतिपादित जिन २ धर्मों वाली वस्तु के समान जिस शब्दतः उक्त अथवा अनुक्त अथवा दोनों तरह की वस्तु का समुच्चय हो तो उस या उन वस्तुओं में भी उन सारे धर्मों का होना आवश्यक है। अतः चन्द्र का भी कामार्दित होना मूल में समुच्चयवाचक 'च' के आधार पर सिद्ध होता है। यों इस वाक्य में नही कहे गए अकलंक-अलौकिक चन्द्र का भी समुच्चय इसी 'च' के बल पर होगा यह सुबोधिनी में, "वह आनन्दमय भी है" से दिखलाया। इसके बाद लौकिक चन्द्र का निरुपण है। सुबोधिनी की " 'च' का आशय यह है कि वह चन्द्र भी मोहित हो गया" में लौकिक एवं अलौकिक दोनों चन्द्रों का वर्णन है। "भगवान् में निविष्ट होने का यत्न किया" में अलौकिक चन्द्र है। यदि इसे अलौकिक न माने तो इससे पहलेवाली पंक्ति "इसी तरह चन्द्र भी कामार्दित हुआ" से जो कुछ कहना था कहा जा चुका अतः पुनः कहने की आवश्यकता नहीं थी। उक्त व्याख्यान के समर्थन के लिए सुबोधिनी में "आगे चलकर निसर्ग से सुख होता है" इत्यादि ग्रन्थांश है। "एवं परिपवंग" श्लोक में रसशास्त्रोक्त

---

[1]—यहां दोनों चन्द्र हैं, [2]—मूल में 'सहस्र दर्शन' पाठ है किन्तु वह असंबद्ध प्रतीत होता है स्वयं सुबोधिनी एवं टिप्पणीजी के आधार पर। 'सह स्रवण' पाठका सुझाव श्री नागरदास शास्त्रीजी का है और यही उचित भी प्रतीत होता है।

रीति से रमण का वर्णन किया गया है अतः सहस्रवण आदि क्रियाएं भी प्राप्त ही हैं क्योंकि रमण इन्हीं सब रूपों में तो निष्पन्न होता है। परन्तु अखण्ड स्वरूप भगवान में स्वबुद्धया किसी भी रूप का प्रति पादन करना सहसा उचित नहीं और गोप्य होने के कारण भी प्रकट नहीं कहा जा सकता अतः इस प्रकार का सहारा लेकर प्रतिपादन किया गया है। सोम की रेतोरूपता श्रुति सिद्ध है अतः कुछ अंशों के निःसरण से कोई अनुपपत्ति नहीं आती। यहां यह शंका उठ सकती है कि स्वरूप को रसात्मक मानने से ही सारी उपपन्न हो सकती थी तो फिर इस चन्द्र प्रवेश की कल्पना से क्या लाभ ? इसका यह लाभ है कि यह चन्द्र रेतोरूप है और वह आध्यात्मिक रूप होने से स्वरूपान्तर्गत है अतः उस रूप से प्रवेश आवश्यक है। लीला का प्रयोजन प्रकार बोधन होने से वहीं रहने पर बोध नहीं हो पाता अन्यथा यह लीला दिन में भी तो की जा सकती थी परन्तु प्रकार बोधन के लिए रात्रि में ही की ॥१९॥

आभास—एवमाधिभौतिकानामाधिदैविकस्य च भगवदुत्पादितरसाभिनिवेशमुक्त्वा 'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुर्वि'ति प्रत्येकप्रार्थनया व्रतं कृतमिति प्रत्येकं रेम इत्याह कृत्वेति।

आभासार्थ—इस प्रकार स्वामिनियों के देहों में स्थिति आधिभौतिक चन्द्रात्मक भावों का तथा भगवद्भाव रूप अलौकिक चन्द्र का भगवान् ने अपने उत्पन्न किए हुए काम रस में प्रवेश कराया; यह बताकर अब साधन प्रकरण में जो गोपियो ने कात्यायनी से मांगा है कि 'हे देवि' ! नन्दगोप के पुत्र हमारे पति हों,'' जिसको सफल करने के लिए भगवान् ने वर दिया है उस वर को पूर्ण करने के लिए अब प्रत्येक गोपी से रमण करते हैं जिसका वर्णन 'कृत्वा तावन्त' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवाँस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥

श्लोकार्थ—जितनी गोपियां थी **भगवान्** ने भी उतने अपने स्वरूप प्रकट किए, वह भगवान् आत्माराम होते भी उनसे लीला करते हुए रमण करने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी—गोपजातीया योषितो यावत्यस्तावन्तमात्मानं कृत्वा तत्र तत्र मायोद्घाटनेन तथा तथा प्रकटो भवति। एतन्महासौरतम्, एवं करणे सामर्थ्यम्, यतः **स भगवा**निति। स इति तदर्थमेवावतीर्णः। अत्र तासां व्रतार्थं ताभिः सहैव रेमे। न त्वात्मारामता पूर्ववत्। इममर्थमाह **आत्मारामोऽपीति**। न त्वात्माराम एव चन्द्रप्रवेशाद् रमणं सम्भवति। अस्यामपि दशायामात्मारामत्वमेव। 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानि'रिति। तत्रापि आत्मरमण एव मुख्यतेत्याह लीलयेति। यथा महानपि लीलया विसदृशं करोति। स्वयं पदातिरिव मृगयायां गच्छति। यथा अन्या अपि अवतारलीलाः, तथैतामपि कृतवानित्यर्थः ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—गोप जाति की जितनी स्त्रियां थीं उतने अपने स्वरूप, वहां वहां माया का पर्दा

दूर कर प्रकट किए। यह महासौरत[1] है स्वयं भगवान् हैं अतः आप में यों करने की सामर्थ्य है। 'सः' वह कहने का आशय यह है कि जिसने रमण का वरदान दिया था वही स्वरूप उस कार्य को करने के लिए आए हैं। यहां उनके व्रत के फलदानार्थ उनके साथ रमण करने लगे। अपनी आत्मारामता पहले की भांति नहीं रखी है इसलिए मूल श्लोक में :आत्मारामोऽपि' पद दिया है। भावार्थ यह है स्वयं आत्माराम है तो भी आत्माराम ही ने रमण नहीं किया, यह रमण चन्द्रमा के प्रवेश से रमण हुआ है। यद्यपि चन्द्रमा के प्रवेश से रमण हुआ है, तो भी उस दशा में भी आत्मारामत्व ही है, अर्थात् आत्मारामत्व में कोई कमी नहीं हुई है। 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः' अर्थ 'उसमें अधिक प्रवेश हुआ तो भी उसकी हानि नहीं हुई', इस न्यायानुसार आत्माराम में अधिक चन्द्र ने प्रवेश किया तो भी आत्मारामत्व की कोई हानि नहीं हुई, अतः वहां भी मुख्यता से आत्मरमण ही है, इसलिए कहा है कि 'लीलया' लीला की तरह जैसे राजा महान् है किन्तु शिकार रूप खेल के समय पैदल चलते है सवारी साथ हो तो भी त्याग देते हैं। भगवान् ने जैसे अन्य अवतार लीलाएं की है वैसे यह भी की है ।।२०।।

आभास—ततस्तासां सुरतान्तो जात इत्याह **तासामिति**।

आभासार्थ—पश्चात् गोपियों के रमण का अन्त हुआ जिसका वर्णन 'तासामति' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।**
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—हे अंग! अति विहार करने से जब वे गोपियां थक गई, तब दयालु भगवान् ने अपने सुखकारी हस्त से उनके मुख पोंछे ॥ २१ ॥

सुबोधिनी—अतिविहारेणानेकबन्धैः सम्यक् श्रान्ता जाताः। ततोऽग्रिमलीलार्थं तासां वदनानि स्वहस्तेन प्रामृजत्। यतः **स** कृष्णः। तदर्थमेवावतीर्णः। सर्वत्रैव तथाविधं जातमिति ज्ञापयितुं बहुवचनम्। तथा करणे हेतुः **करुण** इति। करुणायुक्तः सा करुणा उदासीना न भवतीत्याह **प्रेम्णे**ति। मार्जने क्लेश एव निवर्तत इति ज्ञापयितुं **शन्तमेने**त्युक्तम्। अङ्गेति सम्बोधनमप्रतारणाय। एवं तासां दुःखनिवारणपूर्वकं परमानन्दं स्थापितवान् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—अति विहार से जो अनेक प्रकार के बन्ध करने पड़े जिससे (गोपियां) अत्यन्त श्रमित हो गई अनन्तर आगे जो लीला करनी है उसके लिए आपने उनके मुखों को अपने हस्त से पोंछा, क्योंकि वे कृष्ण हैं, उनके लिए ही प्रकट हुवे हैं। श्लोक में 'श्रान्तानां' बहुवचन देकर श्री शुकदेवजी ने यह बताया है कि सकल गोपियां थक गई थी अतः सबों के मुखों को भगवान् पोंछते हैं कारण कि आप दयालु हैं। प्रभु केवल दयालु नहीं है किन्तु प्रेम भाव वाले भी हैं अतः प्रेमपूर्वक

---

[1] १—बड़ा विशेष रमण,

अपने आनन्ददायी हस्त से पोंछा जिससे यह दिखाया कि पोंछने में किसी प्रकार का भी क्लेश किसी को भी नहीं हुआ। अङ्ग संबोधन देकर यह बताया कि इसमें कुछ भी प्रतारण[1] नहीं है इस प्रकार उनका दुःख निवारण कर उनमें परमानन्द स्थापित किया ।। २१ ।।

आभास—ततोऽतिमुदितानां कृत्यमाह **गोप्य** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार की लीला से गोपीजन अति आनन्दित होकर जो कुछ करने लगी उसका वर्णन 'गोप्यः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ।**
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदा ।२२।

श्लोकार्थ—झलकते सोने के कुण्डल व केशों की कान्ति से कपोलों की शोभा के कारण, तथा प्रभु के अमृत भरित हास्य पूर्वक निरीक्षण से गोपियों ने मान धारण किया और प्यारे के नख स्पर्श से आनन्द को प्राप्त कर भगवान् के किए हुए पुण्य कर्मों को गाने लगी ।।२२।।

सुबोधिनी—गोप्यो मानं दधत्यः तत्कृतानि जगुः । गाने हि रजोगुणाभिनिवेशो हेतुः । तदर्थं सहजमेकं भगवत्कृतं च हेतुद्वयमाह । तत्र प्रथमं सहजं निरूपयति । स्फुरद्यत् पुरटं सुवर्णं दाहोत्तीर्णमुज्ज्वलीकृतं च, तस्य ये कुण्डले कुन्तलाश्च, तेषां त्विषा सहिता या गण्डश्रीः । उज्ज्वला गण्डश्रीःपीता वा । उज्ज्वला नीला चेतरे । एवं कान्तित्रयं मूलभूतगुणकार्यरूपम् । तेनासां सर्वोत्कर्षयोग्यता । सुधितं सुधामिव प्राप्तं यद्धासपूर्वकं निरीक्षणम् । अत्राप्यन्तःस्थितो रागः निरीक्षणं हासश्चेति त्रितयमुक्तम् । भगवदीयमेतत् । अत उभाभ्यां सन्माननमभिमानं वा दधत्यः स्वहृदयकृतविपरीतबुद्ध्या जातदोषनिराकरणार्थं तत्कृतानि जगुः । तेषां न केवलं पापनिवर्तकत्वम्, किन्तु पुण्यरूपत्वमपीत्याह **पुण्यानी**ति । भगवता कृतानि पापनिवर्तकानि पुण्यजनकानि च । अतस्तासां दोषाभावः । अग्रिमलीलायां पुण्योपचयश्चोक्तः । पूर्वक्लेशविस्मरणार्थमानन्दाविर्भावमाह । तस्य भगवतः कररुहा नखाः, तेषां स्पर्शेन जातपीडया स्मृतसम्भोगाः प्रमुदिताः जाताः । अन्तःपूर्णानन्दा गानेनापि जाता इति अन्ते विशेषणम् ।। २२ ।।

व्याख्यार्थ—गोपियां मान धारण करती हुई भगवान् के कर्मों का गान करने लगी । गान करने का कारण यह था कि उस समय उनमें रजोगुण ने प्रवेश किया था । श्री शुकदेवजी रजोगुण के प्रवेश के दो कारण बताते हैं, एक सहज[2] और दूसरा भगवत्कृत[3] उनमें प्रथम सहज का वर्णन करते हैं । अग्नि में तपाकर शुद्ध किए हुए चमकीले सुवर्ण के दो कुण्डल, केश और उनके प्रकाशवाली जो कपोलों की त्रिविध[4] शोभा है वह रजोगुण के मूलभूत स्परूप के कार्य का रूप है, उससे इनकी योग्यता सर्व से उत्कृष्ट है ।

---

[1] --ठगी, [2]—अपने स्वभाव के कारण, [3]—भगवान् के कर्म से उत्पन्न, [4]—तीन प्रकार की (१–उज्वल, २–पीत और ३–उज्वल तथा नील)

गोपियों ने जो अमृत के समान, भगवान् के हास्य पूर्वक निरीक्षण का पान किया, जिससे यहां भी अन्तःस्थित प्रेम, निरीक्षण और हास यों तीनों प्राप्त हुए। ये तीन भगवत्कृत हैं, अतः इन दोनों हेतुओं से सन्मान अथवा अभिमान के कारण अपने हृदय में जो विपरीत बुद्धि हुई और जिससे जो दोष उत्पन्न हुए उनको मिटाने के लिए उनके (भगवान् के) किए हुए कर्मों[1] को गाने लगी। भगवान् के कर्म केवल दोषों[2] को मिटानेवाले नहीं है किन्तु पुण्य रूप भी हैं अर्थात् पुण्य प्रद भी हैं, इसलिए श्लोक में 'पुण्यानि' विशेषण दिया हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् ने जो कर्म अर्थात् लीलाएं की हैं वे पापों को मिटानेवाली और पुण्य जनक हैं अतः उनमें[3] दोष का अभाव है और आगे की लीला से पुण्य संचित[4] होंगे। श्री शुकदेवजी अन्त में 'कर रुह स्पर्श प्रमोदाः' पद से सूचित करते हैं कि गोपीजनों ने पूर्व क्लेश को भुला दिया जिसके दो कारण हैं १—नखों के स्पर्श से पीड़ा होते ही संभोग का स्मरण हो आया जिससे प्रमुदित[5] हो गई और २—दूसरा भगवान् के गुणों के गान से अन्तः करण आनन्द से पूर्ण हो गया जिससे और भी विशेष आनन्दित होने लगी ॥२२॥

आभास—ततस्ताभिस्तुल्याभिर्भगवान् जलक्रीडां कृतवानित्याह **ताभिर्युत** इति।

आभासार्थ—प्रभु ने लीला कर गोपियों को रस से परिपुष्ट करते हुए अपने समान निर्दोष पूर्ण गुण तथा आनन्द रूप बनाया, पश्चात् अपने समान उनसे आप जल क्रीडा करने लगे, जिसका वर्णन 'ताभिर्युतः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्गघृष्टस्रजः स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः।**
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ।२३।

श्लोकार्थ—जैसे कोई श्रमित हस्तिराज सेतुओं को तोड़ कर हथिनियों के साथ श्रम को मिटाने के लिए जल में प्रवेश करता हैं, वैसे उन सर्व गोपीजनों के साथ श्रम को दूर करने के लिए, अङ्गसङ्ग से मर्दन की हुई मालावाले तथा जिनके पीछे गन्धर्वोत्तम रूप भ्रमर जा रहे हैं वैसे श्रान्त प्रभु ने गोपियों के कुच कुङ्कुम से रञ्जित[6] हुए श्री यमुनाजी के जल में प्रवेश किया ॥२३॥

सुबोधिनी—ताभिः सर्वाभिरेव युतः। महारात्रसमये यमुनायां जलक्रीडार्थं प्रविष्टः। तत्र प्रयोजनं **श्रममपोहितु**मिति। तासां सर्वाङ्गश्रमं जलक्रीडयैव दूरीकुर्वन्। भगवतस्ताभिः सह गमने जायमानां शोभां वर्णयति **स्रजः गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत** इति। यमुनाया वा विशेषणानि। गन्धर्वाणां रक्षकाः गन्धर्वपाः गन्धर्वोत्तमाः। ते च ते अलयश्च तैरनुद्रुतः। सङ्गे शीघ्रं गतः वाः

१—गुणों को-लीलाओं को, २—पाप, ३—गोपियों में, ४—इकट्ठे, ५—आनन्द से युक्त, ६—रंगे हुए,

आविशत्। आमोदस्य निवारणार्थं च तथाकरणम्। सम्भोगेन श्रमोदके पद्मिनीनां कमलरूपो गन्धो भवति। तदुपरोधेन च द्रुतपदविन्यास इत्यनुद्रवणम्। ते च भ्रमरा भगवदीया एवेत्याह। अङ्गयोः सङ्गेन धृष्टा या स्रक् तस्यास्ते। यस्यां वा स्रक् तादृशी। स्वा चासौ कुचकुङ्कुमरञ्जिता च। भगवत एव माला। कालिन्दी च कुचकुङ्कुमै रञ्जिता। तत्र देहामोदः पुष्पामोदः कुङ्कुमामोदश्चेति। स्वकीयत्वेनासाधारण्यं च। आधिदैविकास्ते भ्रमरास्तद्गन्धभोक्तार इति विशेषणं **गन्धर्वपेति**। **श्रान्तः इभराडिवेति** अविचारे हेतुः। **श्रान्त** इति विशेषणं लीलया गमनार्थम्। प्रत्येकसम्भोगावधि भगवतोऽन्यो भावो निरूपित इति तदपगमात् श्रमलीलाप्याविष्कृता। **गजीभि**रित्यन्यश्रमो निवारितः। सेतवो बध्यन्ते जलरक्षार्थम्। ते सर्वे भिन्नाः तादृशगजेन भवन्ति। भगवतापि ब्रह्ममर्यादा आत्मारामत्वरूपा जीवानां च मर्यादा तथा सति निवृत्ता। कामरूपस्पर्शात् परदाराणामभिमर्षणाच्च। पूर्वं तासां भगवत्स्पर्श एव स्थितः, न तु भगवता ताः स्पृष्टा इति। कामाभावात्। देशकालमर्यादा च भग्ना। अतो हस्तिश्रेष्ठ इव जलक्रीडार्थं जलदेवतां दूरीकृत्य, स्वयं तत्र प्रविष्ट इत्यर्थः ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने उन सर्व गोपियों को साथ में ले कर अर्ध रात्रि[1] के समय जलक्रीडा करने के लिए श्री यमुनाजी के जल में प्रवेश किया, कारण की भगवान् की इच्छा थी कि गोपियों के सकल अङ्गों के श्रम को मिटाऊं। वह कार्य जल क्रीड़ा से हो सकता है, अतः जल में प्रवेश किया। जिस समय भगवान् गोपियों के साथ जल में प्रवेश करने के लिए पधार रहे थे उस समय की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, एक तो भगवान् की माला गोपियों के कुच कुङ्कुम से रंगी हुई थी जिससे भगवान् विशेष सुशोभित हो रहे थे और दूसरा उस माला की सुगन्धि पान करने के लिए आए हुए श्रेष्ठ गन्धर्वों के समान भ्रमर गान करते हुए भगवान् के पीछे जल्दी २ चल रहे थे जिससे भी शोभा बढ़ रही थी। इस प्रकार की शोभा के साथ भगवान् ने शीघ्र ही जल में प्रवेश किया, जल में शीघ्र अर्द्ध रात्रि के समय ही प्रवेश करने का कारण बताते हैं कि संभोग करने से जो श्रमोदक[2] होता है उसमें पद्मिनी रूप नायिकाओं का कमल रूप गन्ध रहता है वह गन्ध प्रातःकाल तक नहीं रहना चाहिए अतः रात्रि को ही जल में प्रवेश कर उस स्वेद को मिटा दिया जिससे दिन को वह गन्ध न रहा।

अथवा कालिन्दी गोपियों के कुच कुङ्कुम से रञ्जित हो गई थी, वह कुङ्कुम भगवान् की माला के सङ्ग से तीन प्रकार की सुगन्धि वाला हो गया था, १—भगवान् के श्री अङ्ग की गन्ध, २—पुष्पों की गन्ध और ३—कुंकुम की गन्ध, जिसमें भी विशेषता यह है कि माला भगवान् की है जिससे उसमें असाधारणत्व है ही।

श्री शुकदेवजी ने भ्रमरों को गन्धर्व श्रेष्ठ कहा जिसका कारण यह है कि ये भ्रमर आधिभौतिक साधारण भ्रमर नहीं है, किन्तु आधिदैविक हैं अतः भगवान् के माला की गन्ध लेने तथा अन्तरंगलीला के दर्शन के अधिकारी हैं।

भगवान् जब इस प्रकार की उच्छृङ्खल लीला करते है उस समय किसी प्रकार की भी मर्यादा

---

[1] १—रमण के दो प्रकार हैं— १—स्थल रमण, २—जल रमण, स्थल रमण, रात्रि के पूर्वार्द्ध में हो गया. श्रमनिवृत्ति के लिए जल रमण उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ। [2] २—श्रम से पसीना,

का ध्यान नहीं रखते हैं, यह बताने के लिए श्री शुकदेवजी ने 'श्रान्तः इभराड्' का दृष्टान्त दियाहै, जैसे श्रान्त गजराज हथनियों को लेकर जलरक्षार्थ बनाई हुई सेतुओं को तोड़कर श्रम निवारणार्थ जल में प्रवेश करता है, वैसे भगवान् भी अपनी ब्रह्मस्वरूप आत्माराम स्वरूप मर्यादा तथा जीवों की लौकिक मर्यादा तोड़कर, काम रूप को स्पर्श करते हैं जिससे परदाराभिमर्षण अमर्यादित क्रिया करते हैं। पहले (पूर्व अध्याय में) तो गोपियों ने ही भगवान् को स्पर्श किया था, किन्तु इस स्वतन्त्र लीला में भगवान् ने गोपियों का स्पर्श किया है, काम का अभाव होने से देश और काल की मर्यादा भी तोड़ी है अतः श्रेष्ठ हस्ती के समान जल क्रीड़ा के लिए जल के देवता को दूर कर स्वयं जल में प्रवेश किया ।।२३।।

पहले पूर्व अध्याय में भगवान् में काम का अभाव था इसलिए गोपियों ने भगवान् का स्पर्श किया, अब भगवान् ने अपने में काम उत्पन्न किया अतः भगवान् ने गोपियों का स्पर्श किया है।

इस अध्याय में की हुई उच्छृङ्खल लीला में भगवान् ने सर्व प्रकार की मर्यादा तोड़ी है जैसे-१-ब्रह्मस्वरूप मर्यादा, २-जीव मर्यादा, ३-देश मर्यादा और ४ लोक मर्यादा जिसका स्पष्टी करण लालूभट्टजी ने योजना में इस प्रकार किया है १—ब्रह्म स्वरूप में किसी प्रकार का विकार[1] नहीं होता है उस आत्माराम स्वरूप में शृङ्गार रसात्मक अनेक भाव विकार उत्पन्न कर ब्रह्ममर्यादा तोड़ी है, और जब रस पूर्ण पुष्ट न हुआ तब तक भगवान् ने व्रजस्त्रियों को अपने से पृथक् ही माना उनसे क्रीड़ा नहीं की आत्मारामत्व में ही स्थित थे, जब फिर शृङ्गार रस अतीव पुष्ट हुआ तब गोपियों में से ज्ञानांश की निवृत्ति हुई और आनंदांश प्रकट होकर आत्मत्व की स्फूर्ति न होने से केवल नायिका भाव जगा, इस प्रकार आत्मारामत्व मर्यादा तोड़ दी २-जीव मर्यादा, जीव में दासत्व धर्म रहता है वह भी यहां न रहने दिया, ३-देशमर्यादा-देश का अर्थ यहां स्वामिनियों के अवयव हैं, रस शास्त्रानुसार अवयवों के स्पर्श का जो नियम है उनको तोड़ स्वच्छन्दता से स्पर्श करने लगे। ४-काल मर्यादा-रस शास्त्र में लिखा है कि इस प्रहर में इस नायिका को उस प्रकार प्रसन्न करना यह भी नहीं किया, स्वच्छन्दता से इच्छानुसार काल में क्रिया की जिससे काल मर्यादा भी तोड़ दी।

आभास—तत्र जलक्रीडां च कृतवानित्याह **स** इति ।

आभासार्थ—जल में प्रवेश कर 'जलक्रीड़ा' करने लगे जिसका वर्णन 'सोऽम्भस्यलं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**सोऽम्भस्थलं युवतिभिः परिषिच्यमानः**
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ।।२४।।

१—फेरफार,

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! बहुत हास्य करती तरुण व्रजाङ्गनाएं जल में स्थित हो चारों तरफ जल उछाल उछाल कर भगवान् का अभिषेक करने लगी, तथा हास करती हुई प्रेम से प्रभु का ईक्षण करने लगी, उस समय विमानों में बैठे हुए देवगण पुष्पों की वर्षा के साथ आपकी स्तुति करने लगे, वैसे अपने में ही रतिवाले आत्माराम भगवान् ने, गजेन्द्र की लीला का स्वीकार कर, जल रमण किया ।।२४।।

सुबोधिनी—**स** पूर्वोक्तः स्त्रीसहितः । अम्भसि अलं युवतिभिः परिषिच्यमानो जातः । ततः प्रेम्णा ईक्षितश्च । प्रहसतीभिः कौतुकाभिनिविष्टाभिः इतस्ततः सिच्यमानः, यदभिमुखमेव व्रजति, तयैव सह रेमे इति । एवं सर्वाभिः । यथा स्वयं माहात्म्यज्ञानपूर्वकं निर्भरस्नेहेन निर्दोषभावेन वदति शुकः तथैव राजापि शृणोतीति ज्ञात्वा स्नेहेन स्वमध्यपातित्वं सूचयन् सम्बोधयति **अङ्गे**ति । अत एव तुभ्यमिमां लीलां वदामीति भावः । ननु देवैः कथं न निषिध्यते, तत्राह **कुसुमवर्षिभिर्वैमानिकैरीड्यमान** इति । सर्वे देवा अभिनन्दनमेव कुर्वन्ति, न तु निवारणमिति । अन्यथा लोके कामरसो न व्यक्तो भवेदिति । **युवत्य** इत्यविचारे । परिषेके वीररसो मा भवत्विति प्रेम्णैव ईक्षितः । **स्वयमिति** पदेन बलात्कारेणापि तथेति सूच्यते । तदापि स्यस्मिन्नेव रतिर्यस्य । परं स्वीकृता गजेन्द्रलीला येन । यथायथा जलेनोक्षणम्, तथातथा सुखमिति गजदृष्टान्तः । महासौरतं च ।।२४।।

व्याख्यार्थ—जिसका प्रथम वर्णन किया है वे भगवान् स्त्रियों सहित जब जल में विराजमान थे तब तरुण व्रजाङ्गनाओं ने आपका जल से अच्छी तरह अभिषेक किया अर्थात् खूब जल उछाल उछाल कर आपको भिगो दिया । अनन्तर प्रेम से देखने लगी और हंसती हुई विनोद युक्त हो गई। जब युवतियां जल छिड़क रही थी उस समय जो युवती सामने मिलती थी उससे ही रमण करते थे, इस प्रकार सब के साथ रमण किया ।

इस लीला का वर्णन जैसे श्री शुकदेवजी, माहात्म्य ज्ञान पूर्वक, अत्यन्त स्नेह तथा शुद्ध भाव से करते हैं वैसे राजा भी स्नेह एवं शुद्ध भाव से सुन रहा है यह जानकर, श्री शुकदेवजी अपने समान लीला सुनने के योग्य समझकर राजा को 'अङ्ग' संबोधन दिया है । इस संबोधन से बता दिया कि इसलिए ही तुझे यह लीला कह रहा हूं ।

वैसी लीला करने के लिए देवों ने भगवान् को क्यों नहीं रोका ? इसके उत्तर में श्री शुकदेवजी कहते हैं कि—देवगण तो विमान में बैठकर पुष्प वृष्टि के साथ स्तुति कर इस कार्य का अभिनन्दन करते हैं, वे रोकेंगे कैसे ? यदि देव उनको निषेध करे और भगवान् यह लीला न करे तो जगत् में काम रस की प्रसिद्धि कैसे हो ?

'युवती' शब्द देकर बताया कि युवावस्था में किसी प्रकार का विचार नहीं रहता है, इसलिए भगवान् पर खूब उछाल उछाल जल सिञ्चन किया, जल अभिषेक करने से भगवान् में वीर रस प्रकट न हो जावे, तदर्थ भगवान् को प्रेम दृष्टि से देखने लगी । श्लोक में 'स्वयं' और 'स्वरतिः' शब्द दिए हैं, उनका तात्पर्य है कि भगवान् ने अपनी इच्छा से बलात्कार से भी रमण किया तो भी

भगवान् की 'रति[1]' स्वयं में ही रुकी हुई थी परन्तु गजेन्द्र को लीला स्वीकारी है और इससे ज्यों ज्यों जल का सिञ्चन होता है त्यों त्यों रस की वृद्धि होती है और जिससे महा सौरत भी सिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

आभास—ततः पुष्पावचयक्रीडामाह तत इति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने श्री यमुनाजी के उपवन में पुष्पों को चुनते हुए फिरने की क्रीड़ा की, जिसका वर्णन 'ततश्च कृष्णोपवने' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।**
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥

श्लोकार्थ—पश्चात्, जैसे जिसका मद जल झर रहा हैं वैसा गजराज अपनी हथिनियों के साथ वन में क्रीड़ा करता हुआ घूमता है, वैसे भगवान् भी जल तथा स्थल के पुष्पों की सुगन्धित वाले वायु से सेवित श्री यमुनाजी के उपवन की सर्व दिशाओं में चारों तरफ फिर रहे हैं उस समय भगवान् चारों तरफ भ्रमर तथा व्रजयुवतियों के यूथ से घिरे हुए थे ॥२५॥

सुबोधिनी—जलक्रीडानन्तरं कृष्णायाः यमुनाया उपवने जलस्थलप्रसूनानां ये गन्धाः तत्सम्बन्धिना वायुना जुष्टाः दिक्तटाः सर्वदिग्भागा यस्मिन् वने तत्र पुनश्चचार । भृङ्गैः प्रमदागणैश्चावृतः । पुनर्भृङ्गाणां गमने हेतुं दृष्टान्तेनाह । यथा मदच्युत् मदस्रावी गण्डयोरन्यत्र च । **द्विरदो** हस्ती करेणुभिः सहितो भवति, भ्रमरैश्च सहितः । सहज एवान्तःस्थितो रस आविर्भूत इति भ्रमराणामनुद्रवणम् । **चचारेति** सर्वत्र नानाविधलीला निरूपिता । क्वचिल्लतानां भङ्गः, क्वचिद् वृक्षशाखानाम् । तथा मर्यादामार्गः लौकिकश्चान्यथाकृत इति । एषा त्रिविधा लीला अत्यलौकिकी । तत अविचारेण रमणमिति ।२५।

व्याख्यार्थ—जल क्रीड़ा सम्पूर्ण कर लेने के पश्चात् यमुना के जिस वन की सब दिशाएं जल तथा स्थल के पुष्पों की सुगन्धि वाले वायु से सेवित हो रही हैं, उस वन में भ्रमर तथा व्रज युवतिओं के साथ घिरे हुए भगवान् फिरने लगे । जब जल क्रीड़ा करने से सुगन्ध वाले पदार्थ कुङ्कुम तथा पुष्प मालाएं धुप गए, तब भ्रमर पुनः भगवान् के पास क्यों आने लगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मद का झरण करने वाले हाथी के पीछे भ्रमर तथा हस्तिनियां फिरती हैं, वैसे भगवान् के अन्तः करण में स्थित स्वाभाविक रस भी झरने लगा, जिससे ही भ्रमर पुनः भगवान् की तरफ दौड़ने लगे । 'चचार' पद जो श्लोक में आया है उसका भावार्थ है कि भगवान् ने सर्व स्थलों पर अनेक प्रकार की लीलाएं की है ।

---

[1] —वीर्य,

जैसे गजराज कहीं लताओं को तोड़ता है, और कहीं वृक्ष की शाखाओं को भङ्ग करता है, वैसे भगवान् ने भी मर्यादा मार्ग तथा लौकिक मार्ग को तोड़ डाला, यह जो तीन प्रकार की लीला की वह अलौकिक प्रकार से की है अर्थात् जिसमें मर्यादा तथा लोक का विचार ही नहीं किया गया है, सारांश की उच्छृङ्खला से यह लीला की है ।२५।।

आभास—एवं लीलामुक्त्वोपसंहरति **एवमिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार लीला का वर्णन कर अब 'एवं शशाङ्कांशु' श्लोक में उस विषय की समाप्ति करते हैं—

श्लोक—एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः ससत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्युपरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः ।।२६।।

श्लोकार्थ—सत्य काम गोपियों के साथी, अबलागणों से अनुरक्त भगवान् ने, अपने में सौरत को रोक कर, लौकिक चन्द्रमा के किरणों से सुशोभित रात्रिओं का, जो रात्रि रस के आश्रय वाली है तथा जो शरद् काव्य में कही हुई कथाओं को वर्णन करती हैं, उनका सेवन किया ।।२६।।

सुबोधिनी—शशाङ्कांशुभिः चन्द्रकिरणैः लौकिकैः या विराजिता निशाः ता एवं रेमे । पूर्वोक्तप्रकारस्तु सर्वदा लीलारूपः । स केनापि न विरुध्यते । नन्वेवं रमणे को हेतुरिति चेत्, तत्राह **ससत्यकाम** इति । सत्यः कामो यासां ताः सत्यकामाः । ताभिः सहित इति ससत्यकामः । **स** इति तथा प्रार्थितो वा । एवमपि क्रीडायां कामः सत्य एव स्थितः, न तु क्षीणः, असद्विषयको वा जातः । अनुरता अबलागणा यस्य । सर्वथा रतासु नित्यसम्बद्धासु स्वविवाहितासु न कापि शङ्का, सर्वथा प्रपन्नासु च । अग्रे मर्यादाभङ्गो रसपोषाय । तदुक्तं 'शास्त्राणां विषयस्तावद् यावद् मन्दरसा नराः । रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम' इति । तथापि तासु सत्य एव कामः स्थापितः । यो मोक्षपर्यवसायी । स कामो भगवन्तं प्रापयिष्यत्येव । एवं निशाः सिषेवे । तदनन्तरमात्मन्येव उपरुद्धं सौरतं यस्य तथा जातः । न तु तासु रतिं स्थापितवान् । तथा सति तासु स्वस्मात् पुत्रा भवेयुः । सर्वा एव निशा एवं नीताः । शरदपि नीता । काव्यकथा अपि नीताः । काव्योक्तप्रकारेण गीतगोविन्दोक्तन्यायेनापि रतिं कृतवान् । तत्र हेतुः **रसाश्रया** इति । कामरसस्तेष्वेव प्रसिद्धः । यावत् पुरुषो रसे गौणभावं न प्राप्नोति, तावन्न रसिको भवतीति । शरद्वर्णनायां वा यत् काव्यम्, तत्र याः कथाः, तासां रसाश्रया इति। निशा एता न लोकप्रसिद्धाः, किन्तु काव्योक्ता एव । तत्र हि नियतिकृत्यादिराहित्यं ह्लादैकता अनन्याधीनता, तथा अन्येऽपि गुणाः । तथा भगवल्लीलारात्रयो जाता इत्यर्थः ।।२६।।

व्याख्यार्थ—लौकिक चन्द्रमा की किरणों से शोभित हो रही रात्रि में भगवान् ने इस तरह विहार किया । लीला का जो प्रकार पहले कहा गया वह 'सर्वदा लीला रूप' है । इस प्रकार में कुछ भी और किसी से भी विरोध नहीं रहता । इस तरह के रमण में हेतु क्या है ? इसका उत्तर 'सस-

त्यकाम' से दिया गया है। जिन गोपियों का काम सत्य है ऐसी सत्यकामा गोपिकाओं के सहित होने से भगवान् 'ससत्यकाम' हुए। अथवा 'सत्यकाम' भगवान् का विशेषण मानें तो 'स' का तात्पर्य होगा "वह भगवान् जिनसे रमण की प्रार्थना की गई थी"। यों भी काम तो क्रीड़ा में सत्य ही ठहरता है, क्योंकि न तो वह क्षीण होता है और न असद्विषयक। इसका कारण यह है कि संपूर्ण अबलागण भगवान् में अनुरत हैं। (१) जो सर्वथा रत हैं (२) जिनका भगवान् से नित्य संबन्ध है (३) जो स्वविवाहित हैं, उनके बारे में तो अनुरत होने में शंका का स्थान ही नहीं और न जो (४) सर्वथा प्रपन्न हैं उनके बारे में। आगे चलकर जो मर्यादा भंग हैं वह तो प्रत्युत रस के पोषण के लिए (अतः काम को असद्-विषयक नहीं माना जा सकता) जैसा कि "शास्त्रों का क्षेत्र वहीं तक है जहां तक पुरुषों में रस मन्द रहता है, एक बार रतिचक्र के चल पड़ने पर तो, न शास्त्र और न क्रम किसी का कुछ भी विषय या क्षेत्र रह जाता है" में यही दिखलाया गया है। फिर भी उनमें सत्य ही काम स्थापित किया, जिसका पर्यवसान मोक्ष में होगा। इस काम से उन्हें भगवान् की प्राप्ति निश्चित हो जाएगी। इस तरह निशा का सेवन किया। इसके बाद अपने आप में ही सौरत को प्रभु ने उपरुद्ध कर लिया। उनमें रति की स्थापना नहीं की अन्यथा पुत्रोत्पत्ति इनमें होती। संपूर्ण निशा इस तरह बिताई कि शरद् भी बीत गई और काव्यकथा भी! काव्योक्त प्रकारों से भी रति की जैसा कि गीत गोविन्द में वर्णन मिलता है। इस सब में हेतु है "रसाश्रया"। कामरस इन्हीं में प्रसिद्ध है। जब तक पुरुष गौण नहीं बनता तब तक रसिक भी नहीं बन पाता। शरद् के वर्णन में जो काव्य हैं, उनमें जो कथा हैं, उन कथाओं की रसाश्रय ये रात्रिएं लोक में प्रसिद्ध नहीं किन्तु काव्य में प्रसिद्ध हैं। इन रात्रियों में नियति के नियमों का बन्धन नहीं, ये रात्रियां ह्लादकमयी हैं, ये रात्रियां अनन्याधीन हैं और भी सारे गुण इन्हीं रात्रियों में हैं! ऐसी भगवान् के लीलाओं की रात्रियां थी, यह अर्थ है ॥२६॥

लेख—पहले एक रात्रि में रमण कहा, अब इस श्लोक में सभी रात्रियों में रमण का अतिदेश करते हैं अर्थात् लौकिक रात्रि में अलौकिक रात्रि के स्थापन के प्रकार से सभी रात्रियों में भगवान् ने रमण-कामलीला किया। नृत्य से अन्तर्भाव को उद्बुद्ध करने का जो प्रकार है उसे 'आन्तर रमण' कहते हैं। जो भाव जिसमें वहां स्थापित किया गया वह गोपिका उस भाव का सर्वदा अनुभव करती रहेगी। अतएव ज्ञानात्मक ताम्बूलवाली गोपी का सभी को उपदेश देना, भगवान् की असन्निधि में, यह कार्य वहा दिखलाया है। इस लीला में गृहगमन या अन्य किसी भी क्रिया का विरोध उपस्थित नहीं होता (क्योंकि अनुभव बाह्य नहीं किन्तु आन्तर है, बाह्य लीलानुभव के साथ गृह गमन संभव नहीं परन्तु आन्तर में संभव है) अतएव "स्त्रीषु रेमेह्यहार्निशं" कहा। यह आन्तर लीलानुभव दिन में भी संभव है अतः अलौकिक रात्रि की अपेक्षा नहीं है। इस कामलीला में हेतु है "ससत्यकाम"। कुमारिकाओं ने तो "पति मे कुरु" में अपनी अभिलाषा व्यक्त की ही है। श्रुतिरूपाओं की भी "कामिनीभावमासाध" यही अभिलाषा प्रकट होती है अन्तर्गृहगताओं का काम तो स्पष्ट ही है। परन्तु तीनों के कामभाव सत्य हैं अतः पूर्ण करने के लिए इस तरह रमण किया। 'सत्यकामा' के पहले अर्थ में गोपिकाएं आती हैं और दूसरे अर्थ में भगवान्। सत्यकाम चाहे दोनों में से कोई भी हो, काम तो सर्वथा सत्य ही है। लोक दृष्टि में पर दारा होने के कारण भी काम की असद्-विषयता नहीं मानी जा सकती क्योंकि वे सभी भगवान् में अनुरत थी। श्रुतिरूपा का अनुरत होना तो प्रमाण का प्रमेय में अनुरत होने से स्पष्ट ही है, प्रमेय को छोड़कर प्रमाण अन्यत्र नहीं जा सकता।

कुमारिकाओं के व्रत का तो फल ही रमण है (और वे पर दारा भी नहीं)। यद्यपि भगवान् से उनका विवाह लोक प्रसिद्ध नहीं फिर भी "पतिं मे कुरु" की प्रार्थना एवं वरदान के आधार पर उनको भगवान् से विवाह मानना चाहिए, चाहे वह विवाह लोक समक्ष न हुआ हो। कुल मिलाकर इनके साथ तो रमण दोषावह हो ही नहीं सकता। (अन्तर्गृहगता तो लौकिक देह प्रयुक्त पतिपत्नी संबन्ध को छोड़कर भगवान् से जा मिली सो वहां भी असद्-विषयता नहीं मानी जा सकती, लोक-दृष्टि से)। यह तो प्रत्येक के बारे में विशेष हेतु है, वैसे भी (संत्यज्य सर्व विषयान् तव पादमूलं प्राप्ताः" के अनुसार) ये तीनों ही सर्वथा प्रपन्न है अतः इस दृष्टि से भी विचारने पर असद्-विषयता नहीं आती। जहां तक अमर्यादित रमण का प्रश्न है तो उसकी उपपत्ति मूल में ही दे दी है।

प्रकाश—(१) कुमारिका हैं (२) श्रुतिरूपा एवं अन्तर्गृहगता हैं (३) द्वारकालीला वाली हैं एवं (४) गोपगृह संबन्धिनी अन्य स्त्रियां हैं। कुमारिकाओं का सर्वथा अनुरत होना स्पष्ट ही है तथा श्रुति रूपा एवं अन्तर्गृहगताओं का भी प्रमाण प्रमेय की सहज अनुरति-नित्य अनुरति; एवं अपने में आ जाने से, नित्य संबन्ध के कारण स्पष्ट ही है।

योजना—यहां मोक्ष का अर्थ नित्यलीला प्रवेश है। ब्रह्मसूत्र भाष्य के तृतीयाध्याय में पुष्टि-मार्गियों की मुक्ति नित्यलीला प्रवेश है यह दिखलाया गया है।

आभास—एवमेतां लीलां श्रुत्वा राज्ञः सन्देह उत्पन्नः। तन्निवारणार्थं शङ्कते **संस्थापनायेति त्रिभिः।**

आभासार्थ—यह लीला सुनकर राजा को सन्देह हुआ, उसके निवारण के लिए श्री शुकदेवजी प्रथम उन शङ्काओं का वर्णन तीन श्लोको में करते हैं—

श्लोक—राजोवाच—**संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।**
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥

श्लोकार्थ—धर्म की स्थापना करने के लिए तथा अधर्म का नाश करने के लिए जगत् के ईश्वर भगवान् बलदेवजी के साथ प्रकट हुए हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—अवतारविरुद्धं लोकवेदविरुद्धं प्रमेयविरुद्धं चेति। तादृशकरणे अवश्यं हेतुर्वक्तव्यः। तदभावेऽपि लीलायाः सिद्धत्वात्। तत्र प्रथममवतारविरोधमाह। धर्मसंस्थापनाय भगवदवतारः। 'धर्मसंस्थापनाय चे'ति वाक्यात्। अधर्मनिवृत्तये च। तदुभयार्थमेव भगवदवतारः। दैत्यादिवधो भूभारहरणं च अधर्मनिवृत्तये। एतदर्थमेवावतारः, नान्यार्थमिति **हि**शब्द आह। **भगवा**निति तस्य साधनम्, अन्यथा पूर्णकामस्यावतारो न घटेतेति। लोकोपकारश्च एताभ्यामेव। **अंशेन** बलभद्रेण। आगत्य तथाकरणे हेतुः **जगदीश्वर** इति। स हि सर्वरक्षकः। अतः पालनार्थमेवं कृतवान् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने जो यह लीला की है वह अवतार के विरुद्ध, लोक और वेद से विरुद्ध, तथा प्रमेय के भी विरुद्ध है अतः इस प्रकार की लीला करने का अवश्य कोई हेतु होना चाहिए वह हेतु कृपाकर कहिए। इस प्रकार यदि लीला न कर दूसरे प्रकार करते तो भी भगवान् की लीला सिद्ध हो सकती थी। अब प्रथम यह लीला अवतार विरुद्ध क्यों है वह बताते हैं कि 'धर्म संस्थापनाय' इस वाक्य से भगवान् ने अवतार धर्म की स्थापना के लिए धारण किया है।

दैत्य आदि का वध कर भूमि का भार उतारना जिससे अधर्म की निवृत्ति हो, इन दोनों कार्यों के वास्ते भगवान् का अवतार है। श्लोक में 'हि' शब्द देकर यह बताया है कि इनके सिवाय दूसरे कार्य के लिए भगवान् का अवतार नहीं है। उन दोनों के साधन परमेश्वर के 'भग' हैं भग में धर्म भी आ जाता है, इसीलिए यहां भगवान् भी कहा है, यदि धर्म रक्षा और अधर्म नाश का कार्य न हो, तो भगवान् जो कि पूर्ण काम हैं उनको अवतार लेने की क्या आवश्यकता है। इन दोनों कार्यों के सिद्ध हो जाने से लोकोपकार+भी होता है।

आप जगदीश्वर है अतः जगत् की रक्षा करने के लिए अपने साथ बलभद्रजी को भी लाए हैं क्योंकि वह ही सर्व की रक्षा करने वाला है अर्थात् बलभद्र स्वरूप से रक्षा कार्य करते हैं अतः उनको भी ले आए हैं। जगत् की पालना करने के लिए यों किया है ॥२७॥

आभास—किमतो यद्येवम्, एवमेतदित्याह **स कथमिति।**

आभासार्थ—आप बलदेवजी को भी जगत् पालनार्थ ले आए उससे क्या हुआ ? इस शङ्का पर परीक्षित इस 'स कथं' श्लोक में कहता है—

श्लोक—**स कथं धर्मसेतूनां कर्ता वक्ताभिरक्षिता।**
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! धर्म की मर्यादाओं के कर्ता, वक्ता और रक्षा करने वाले उन भगवान् ने पर स्त्री से सङ्ग करने जैसा अधर्म रूप कार्य कैसे किया ? ॥२८॥

सुबोधिनी—धर्ममर्यादापालकानां निर्माता। स्वयं वक्ता च। उपघातेऽभिरक्षिता च। तादृशः **प्रतीपं** प्रतिकूलमाचरत्। धर्मो नष्टः, अधर्मः स्थापितः। अधर्मः कृतः उक्तः रक्षितश्च। अतः प्रतीपाचरणमयुक्तम्। तत्र हेतुर्वक्तव्य इति **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनम्। ये पञ्चपदार्था उक्ताः, तेषां स्वरूपमेकत्रैवेति तन्निर्दिशति **परदाराभिमर्शनमिति** ॥२८॥

व्याख्यार्थ—धर्म की मर्यादा के रक्षक मनुआदिकों का कर्ता तथा स्वयं[1] वक्ता, एवं जब भी

+अधर्म के नाश, धर्म की स्थापना से, लोक, धर्म ज्ञान प्राप्त कर उस पर आचरण करने से मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं, अतः लोकोपकार भी हुआ।

[1]—आप भगवान् कहने वाले अर्थात् उपदेश देने वाले,

जहां भी धर्म का नाश होवे वहां प्रकट हो सर्व प्रकार रक्षा करने वाले, वैसे भगवान् ने यह विपरीत कार्य कैसे किया ? धर्म का नाश एवं अधर्म की स्थापना । अधर्म किया, कहा और उसकी रक्षा की । अतः जो यह उल्टा कार्य किया है वह अयोग्य है । ऐसे विपरीत कार्य करने का क्या कारण है, वह कहिए, क्योंकि आप इस तत्व को जानने वाले हैं । इसी आशय को प्रकट करने के लिए परीक्षित् ने श्री शुकदेवजी को 'ब्रह्मन्' संबोधन दिया है । परीक्षित् ने जो पांच पदार्थ कहे उन पांचों का समावेश एक में ही दिखाते हैं कि 'परदारा भिमर्शनम्' पर स्त्री सङ्ग एक ही ऐसा है जिसमें वे उपरोक्त पांच आ जाते हैं ॥२८॥

आभास—ननु कामात् करणमिति चेत्, तत्राह **आप्तकाम** इति ।

आभासार्थ—यदि कोई इसका उत्तर यह दे दे कि भगवान् ने यह लीला काम से की है तो यह उत्तर भी ठीक नहीं है क्योंकि भगवान् तो पूर्ण काम हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं

श्लोक—आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे सुव्रत[1] ! मुझे यह बताइए कि पूर्ण काम यदुपति ने वैसा निन्दनीय कार्य किस अभिप्राय से किया ? मेरे इस संशय को निवृत्त कीजिए ॥२९॥

सुबोधिनी—स्वत एवाप्ताः कामा येन । यदुपतिरिति विद्यमानायामपि कामनायामनेकस्त्रीप्राप्तिः । तादृशोऽपि भूत्वा जुगुप्सितं लोकनिन्दितं कृतवान् । तत्र करणे कोऽभिप्रायः । परस्परविरुद्धार्थत्वादुभयोर्ग्रहणं न सम्भवति । नैकतापि विरुद्धानाम् । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेऽपि प्रयोजनं वक्तव्यम् । नैतत् कर्म लोकहितम्, नापि स्वहितम् । स्वस्य पूर्णत्वात् । लोकस्य मर्यादैव हितकारिणी । तथा गोपिकानामपि । अन्तर्यामिण ईश्वरस्य न किञ्चिदसाध्यम् । अत एवं सति किमभिप्राय एतत् कृतवान् । कः अभिप्रायो यस्येति । एतं नोऽस्माकं सर्वषामेव संशयं छिन्धि । किञ्च, सुव्रत हे सदाचारलक्षणव्रतयुक्त । यदीदमसङ्गतमिव स्यात्, त्वया नोक्तं स्यात् । यदि वा अधर्मः स्यात्, तव रुचिर्न स्यात् । प्रतीयते च विपरीतम्, अतो निर्णयो वक्तव्य इत्यर्थः ।।२९॥

व्याख्यार्थ—जिसने स्वतः ही सर्व कामनाएं पूर्ण की है जिससे आप आप्तकाम हैं । तथा यादवों के पति होने से भी यदि कामनाएं हो तो अनेक स्त्रियां विवाहार्थ उनको मिल सकती हैं वैसा होके भी लोक में निन्दित कार्य किया, उस निन्दित कार्य करने में भगवान् का क्या अभिप्राय था ? धर्म तथा अधर्म परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले हैं अतः दोनों का ग्रहण बन नहीं सकता है, जो परस्पर विरुद्ध कार्य हैं उनकी आपस में एकता नहीं हो सकती है । यदि कहो कि भगवान् परस्पर विरुद्ध सर्व धर्मों का आश्रय है अर्थात् परस्पर विरुद्ध धर्म आप में रहते हैं इसलिए यह शङ्का व्यर्थ है तो भी उसका प्रयोजन कहिए । यह कर्म लोक का हितकर नहीं है और न आपका हित करने वाला

---

[1] १—श्रेष्ठ आचरण वाले !

है क्योंकि आप पूर्ण काम हैं और लोगों की हित करने वाली मर्यादा ही है। वैसे गोपियों का हित भी मर्यादा पालन में है। जो ईश्वर है तथा अन्तर्यामी भी हैं उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है अर्थात् वह सब कुछ स्वयं सिद्ध कर सकते हैं वैसी अवस्था में इस कार्य करने का आशय क्या है? किस प्रयोजय के लिए वैसा निन्दित कार्य किया? इस हमारे तथा सर्व का संशय नष्ट करिए और विशेष यह भी है कि आप सदाचार जिस व्रत के लक्षण हैं वैसे व्रत धारी हैं, अतः यदि यह कार्य असङ्गत[1] होता तो आप कहते नहीं, यदि अधर्म होता तो भी आपकी इसके कहने में रुचि नहीं होती, लेकिन देखने में तो विपरीत आता है तो भी आपने उसका कथन किया है इसलिए इसमें कोई रहस्य अवश्य है अतः आप निर्णय कर बताइए तो क्या है? ॥२९॥

आभास—प्रथमतः अवतारविरुद्धं कृतवानिति यदुक्तम् तत्रोत्तरमाह **धर्मव्यतिक्रम** इति।

आभासार्थ—यह कार्य अवतार विरुद्ध है, जिसका उत्तर 'धर्मव्यतिक्रमो श्लोक में देते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।**
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥

श्लोकार्थ—ऐश्वर्य धर्म धारण करनेवाले जो समर्थ ईश्वर हैं उनमें धर्म का उल्लङ्घन तथा साहस के कार्य करना देखा गया है वैसे तेजस्वियों में वैसे अधर्म आदि कार्य दोष उत्पन्न नहीं करते हैं जैसे अग्नि सर्व का भोग करती है तो भी अग्नि पवित्र निर्दोष ही रहती है ॥३०॥

सुबोधिनी—किमेतदीश्वराणां चरित्रं न भवतीत्युच्यते। आहोस्विदन्यार्थमागतोऽन्यत् करोतीति। नहि किञ्चिद् घटनार्थमागतः किञ्चिन्न विघटयति। न ह्यन्यार्थमप्यागतः स्वधर्मं परित्यजति। प्रकाशनार्थमागतो दीपः गृहेण स्पृष्टश्चेत् दहत्येव। अत ईश्वरधर्मोऽयम्। अन्यथा ईश्वर एव न भवेत्। नहि वणिजामिव प्रभोर्नियमोऽस्ति सर्वकर्मसु। ईश्वरधर्माश्चैते इति तान् गणयति **धर्मव्यतिक्रमः साहस**मित्यादयः। **धर्मव्यतिक्रमो** विद्यमानोल्लङ्घनम्। **साहस**मविद्यमानकरणम्। एतदुभयमीश्वरे दृष्टम्। 'नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम'। चकारादीश्वरसेवकानामपि, वीर्यादिमतां वा। एतदेव वा साहसम्, सहसा क्रियमाणत्वात्, नन्वेवं सति तत्कर्मफलं कथं न भवेदित्याशङ्क्याह **तेजीयसा**मिति। अतितेजस्विनामेतन्नाधर्मजनकम्। विधिनिषेधवाक्यानां नियोज्यविषयत्वात्। यथा लोके, तथा वेदेऽपि। अतितेजस्विनां सर्वकर्मदहनसमर्थानां न दोषजनकं भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह **वह्नेः सर्वभुज** इति। नहि सर्वान् दहन् वह्निर्वधभाग् भवति। सर्वं भक्षयन् अभक्ष्यभक्षको वा। तथा सर्वं पिबन् सर्वत्र प्रविशन् सर्वसम्बद्धः तत्तत्कारी भवति। मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामेवात्मभूमौ कर्मबीजं धर्माधर्माङ्कुरतामारभते, न तु तत्वज्ञाननिदाघनिष्पीतसलिलतयोषरायाम् ॥३०॥

---

[1] —अयोग्य,

व्याख्यार्थ—तुम्हारे कहने का यह तात्पर्य है कि इस प्रकार के चरित्र ईश्वरों के नहीं होने चाहिए। अथवा एक कार्य के लिए जो आता है वह दूसरा कार्य कैसे करता है वह भी न करना चाहिए। आपकी इस शङ्का का उत्तर यह है कि, वैसा कोई नियम नहीं है कि कोई एक कार्य के लिए आए दूसरे का नाश न करे। दूसरे कार्य के लिए आया हुआ भी अपना धर्म नहीं छोड़ता है, जैसे दीपक दूसरे कार्य के लिए अर्थात् प्रकाश करने के लिए आता है किन्तु अपने दाह के कार्य रूप स्वरूप का त्याग नहीं करता है यदि कोई वस्तु गृह आदि स्वयं उसका स्पर्श करता है तो उसको जलाता ही है। इस प्रकार यद्यपि भगवान् धर्म की मर्यादा रखने के लिए प्रकटे हैं तो भी जो प्रेम से आपका स्पर्श करता है अर्थात् आपका प्रेम पूर्वक भजन करता है तो उसमें भजनानन्द सिद्ध कर उसके लौकिक स्वरूप को नष्ट कर देते हैं क्योंकि यह ईश्वर धर्म है, यदि यो नहीं करे तो ईश्वर* ही न रहे।

व्यापारियों के समान प्रभु का सर्व कर्मों में कोई नियम नहीं है। धर्म का उल्लङ्घन और साहस इत्यादि ईश्वर के धर्म हैं। धर्म का उल्लङ्घन अर्थात् जो विद्यमान नियम हैं उनका उल्लङ्घन करना, और साहस, अर्थात् जो विद्यमान नहीं है उनको कर दिखाना, ये दोनों कार्य ईश्वर में देखे जाते हैं, जो कार्य आंखों से देखा गया है उसमें किसी प्रकार की असंभावना नहीं है। श्लोक में 'च' देने का आशय है कि ईश्वर के सेवक तथा पराक्रम वालों में भी इस प्रकार 'धर्म व्यतिक्रम और साहस' देखा जाता है। जो जल्दी में बिना विचार के किया जाता है उसको साहस कहा जाता है, यदि यों है तो उनको वैसे कर्मों का फल क्यों नहीं मिलता है? इस शङ्का के निवारण के लिए शुकदेवजी श्लोक के उत्तरार्द्ध में—'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्व भुजो यथा'--कहते हैं कि, जो तेजस्वी हैं उनको अधर्म स्पर्श नहीं कर सकता है। जैसे अग्नि सबको भस्म करती है तो भी उसको जलाने का दोष नहीं लगता है। जिसका स्पष्टीकरण करते हैं कि शास्त्रों के विधि और निषेध के वाक्य उनसे सम्बन्ध रखते हैं जो वेद के नियमों के आधीन हैं। जो अति तेजस्वी हैं अर्थात् जिन पर वेद के नियम लागू नहीं होते हैं उनके लिए मर्यादा का उल्लङ्घन तथा साहस से किए हुए कर्म अधर्म जनक नहीं है। जब अति तेजस्वियों के लिए यों है तो जो भगवान् वेद के भी नियामक हैं और जो भगवान् अति तेजस्वियों को भी तेज तथा ज्ञान आप देने वाले हैं वैसे को विधि निषेध स्पर्श कैसे कर सकेंगे अर्थात् उनको किसी प्रकार भी अधर्म नहीं लगता है। कारण कि जो कर्म रूप बीज बोया जाता है उसके जो धर्म अथवा अधर्म रूप अङ्कुर निकलते हैं वे उस भूमि में निकलते हैं जो भूमि अज्ञान रूप जल से सिञ्चित की हुई होती है, परन्तु तत्वज्ञान रूप उष्णता ने जल पीकर जिस भूमि को शुष्क ऊषर भूमि बना दिया है उसमें डाला हुआ कर्म रूप बीज भस्म हो जाता है जिससे उस भूमि में धर्म अथवा अधर्म रूप अङ्कुर फूटते ही नहीं है, सारांश यह है कि भगवान् को धर्म वा अधर्म स्पर्श नहीं करते हैं ॥३०॥

आभास—ननु 'तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्य'मिति न्यायाद् 'यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वे लोकः क्षेमाय कल्पत' इति विरोधाच्च कथमेतत् कर्तुं शक्यत इति चेत्, तत्राह **नैतत् समाचरेदिति।**

---

*(भगवान् का प्राकट्य मनुष्यों के कल्याण (मोक्ष) के लिए है, अतः भगवान् ने इस लीला द्वारा गोपियों को वह आनन्द दिया है जो ज्ञानमार्गीय मोक्ष से भी विशेष है इसलिए इसमें कुछ भी अयोग्य वा अधर्म नहीं है किन्तु ईश्वरत्व का प्रकाश है—

आभासार्थ—'अति तेजस्वी पुरुषों को भी यह परस्त्री गमन रूप कार्य यशदाना नहीं है' इस कथन के अनुसार तथा जिन अति तेजस्वी पुरुषों के आचरणों को देखकर अन्य पुरुष भी उनका अनुकरण कर कल्याण प्राप्त करते हैं इन वचनों से विरोध होने के कारण भगवान् ने वैसा कार्य करने का साहस कैसे किया ? जिसका उत्तर शुकदेवजी 'नैतद् समाचरेत्' श्लोक में देते है

टिप्पणीजी—यहां इस श्लोक में "तेजस्वियों के लिए भी इस तरह के आचरण कीर्तिकर नहीं होते" इसका समाधान नहीं हैं, वह तो ३४ वें श्लोक में जाकर मिलता है, फिर भी यहां इस आक्षेप को देने का प्रयोजन यही है कि श्लोक के उत्तरार्ध में "इस तरह के आचरण से अन्य व्यक्तियों का विनाश हो जाता है" यह उल्लेख आया है । इस संदर्भ में ईश्वरों का तो नाश नहीं होता चाहे वे कुछ भी करें ! यह एक कीर्ति ही तो है अर्थात् अपकीर्ति नहीं । अतः यहां भी अपकीर्ति का समाधान हो जाता है इसलिए "तेजीयक्षामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं" यहां भी दिया गया है । वैसे इसका समाधान "अन्तरंग भक्त ही इस लीला को जान पाते हैं" से आगे दिया जाएगा ।

श्लोक—**नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।**
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—जो ईश्वर[1] नहीं है उसको ईश्वर के किए हुए कर्म कदाचित् मन से भी न करने चाहिए, जैसे रूद्र के सिवाय कोई अन्य पुरुष यदि समुद्र से उत्पन्न विष का पान करे तो नाश हो जाय वैसे यदि ईश्वर के सिवाय अन्य कोई पुरुष ईश्वर जैसे कर्म को मूर्खता से करे तो वह नाश हो जाता हैं ।।३१।।

सुबोधिनी—एतदीश्वरकृतमनीश्वरो न समाचरेत्। ऐश्वर्यसमानाधिकरणमेवैतत् नानिष्टं करोति। अतः **जातु** कदाचिदपि औत्सुक्यादपि न समाचरेत् । किं बहुना मनसापि । ऐश्वर्यतुल्यमेव तेषां तत्कर्म । यथैश्वर्यकामनायामपि अनीश्वरो वधमर्हति । यथा महाराज्यानधिकारी तदिच्छां कुर्वन् । अतो मनसापि न समाचरेत्। विपरीते बाधकमाह **विनश्यतीति**। मौढ्यादैश्वर्यसहभावं तस्य कर्मणः अज्ञात्वा केवलं तत् कर्म आचरन् तेनैव कर्मणा नष्टो भवति । नन्वेकमेव कर्म कथं धर्मान्तरसहितं न नाशकम्, इतरथा नाशकमिति चेत्, तत्राह । **अरुद्रः** रुद्रव्यतिरिक्तः रुद्रसमानपराक्रमरहितः अब्धिजं विषं कालकूट**माचरन्** आसमन्ताद् भक्षयन् विनश्यति तथेत्यर्थः, निन्दितं कर्मापि कालकूटवन्नाशकम्। तदीश्वरस्यैव शोभाकरम्, येन नीलकण्ठो भवति । तथैव गोपीजनवल्लभ इति !।३१।।

व्याख्यार्थ—ईश्वर की इन कृतियों का आचरण अनीश्वर को नहीं करना चाहिए । ऐश्वर्य के रहने पर ही ऐसा आचरण अनिष्टकारक नहीं होता । अतः उत्सुकतावश भी कभी ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए । और तो और मन में भी ऐसी बात नहीं लानी चाहिए । ईश्वरों के लिए तो

१—समर्थ,

इस तरह का आचरण भी एक ऐश्वर्य ही है। अनीश्वर जब ऐश्वर्य की कामना भी करता हो तो उसका वध कर दिया जाता है, जैसे महाराज्य के अनधिकारी की महाराज्य की कामना करने पर गति होती है। अतः मन में भी ऐसे आचरण की बात नहीं लानी चाहिए। विपरीत आचरण का दुष्परिणाम बताते हैं "विनश्यति" से। ऐसे आचरण ऐश्वर्य के साथ तो हो सकते हैं, परन्तु इसे समझे बिना केवल आचरण करने पर तो स्वयं अपने कर्मों से ही व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

वही कर्म ऐश्वर्य रहने पर नाश नहीं करता और ऐश्वर्य न रहने पर कैसे नाश कर देता है सोदाहरण समझाते हैं "अरुद्र" द्वारा। जो रुद्र नहीं जिसमें रुद्र के समान पराक्रम नहीं वह व्यक्ति समुद्र से उत्पन्न विष-कालकूट पीकर नष्ट ही होगा अन्य कुछ नहीं। निन्दित कर्म भी कालकूट की तरह व्यक्ति को नष्ट कर देते हैं।

यह तो ईश्वर की शोभा है कि वे विष पीकर 'निलकण्ठ' बन गए; इसी तरह यह पुरुषोत्तम की शोभा है कि वे 'गोपीजनवल्लभ' हैं! ।।३१।।

आभास—ननूक्तं 'यद्वृत्तमनुतिष्ठ'न्निति, तत्राह **ईश्वराणामिति**।

आभासार्थ—इस चरित्र के करने से 'तेजस्वी पुरुषों के चरित्रों का अनुकरण कर लोक कल्याण प्राप्त करते हैं, इस वाक्य का विरोध आता है, इसका उत्तर 'ईश्वराणां वचस्तथ्यं' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**ईश्वराणाँ वचस्तथ्यं तथैवाचरितं क्वचित्।**
तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमाँस्तत् समाचरेत् ।।३२।।

श्लोकार्थ—ईश्वरों के वाक्य सत्य हैं वैसे उनके चरित्र कहां कहां सत्य हैं, बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि जो योग्य समझ में आवे वैसा आचरण करे ।।३२।।

सुबोधिनी—ईश्वराणां वच एव तथ्यम्, न त्वाचरितम्। क्वचिदाचरितमपि वचनानुगुणं चेत्। ईश्वराणां बहवो धर्माः। यथैश्वर्यम्, तथा धर्मात्मत्वम्, तथा दया। तत्रैश्वर्यज्ञानवैराग्यैर्यत् करोति, तत् स्वच्छन्दचरितमित्युच्यते। बुद्धिमान् तन्न समाचरेत्। ते ह्यन्यथा न वदन्ति। अन्यार्थं कथनमन्याधिकारेणेति। अतस्तद्विरुद्धं न कथयन्तीति ।।३२।।

व्याख्यार्थ—ईश्वरों-समर्थ पुरुषों के यचन तथ्यात्मक होते हैं न कि आचरण भी। आचरण को तभी तथ्यात्मक मानना चाहिए जब वह उनके वचनों के अनुसार हो। अन्यथा ईश्वरों में तो अनेक धर्म रहते हैं, जैसे उनमें ऐश्वर्य है वैसे वे धर्मात्मा भी होते हैं, उनमें दया भी रहती है। इन सब में ऐश्वर्य ज्ञान या वैराग्य से जो उनका आचरण होता है वह (स्वभावतः) स्वच्छन्द आचरण कहलाएगा। बुद्धिमान व्यक्ति इस तरह के स्वच्छन्द आचरण का अनुकरण नहीं करते। परन्तु समर्थ ईश्वरों के वचन कभी भी अन्यथा नहीं होते, क्योंकि कहने में सुनने वाले की अपेक्षा है (स्वयं अपनी नहीं) अतः सुननेवाले के विरुद्ध जाए ऐसी बात वे नहीं करते। अर्थात् जिसमें सुननेवाले का अहित होता हो ऐसी बात वे नहीं करते ।। ३२ ।।

आभास—ननु यथान्यस्मै न कथयन्ति, तथा स्वयमपि कुतो न कुर्वन्ति, तत्राह **कुशलाचरितेनेति** ।

आभासार्थ—जैसे दूसरों को वे असत्य नहीं कहते हैं वैसे आप भी सत्य क्यों नहीं करते हैं जिसका उत्तर शुकदेवजी 'कुशला चरितेन' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।
विपर्ययेण वानर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो ॥३३॥

श्लोकार्थ—निराभिमानी, इनको, अच्छे चरित्रों के करने से कोई लाभ होगा वैसा स्वार्थ नहीं है, बुरे कर्म करने से इनकी कोई हानि नही होती है ॥३३॥

सुबोधिनी—एषामीश्वराणां कुशलाचरितेन अर्थः प्रयोजनं न विद्यते, ततोऽप्यनन्तफलस्य प्राप्तत्वादेव । विपर्ययेण अकुशलाचरितेन अनर्थोऽपि न विद्यते। ईश्वराणामेव निषिद्धकर्मणा अनिष्टाभाव इति न, किन्तु ज्ञानिनामपीति ज्ञानवैराग्ययोस्तुल्यं स्वरूपमाह **निरहङ्कारिणा**मिति। अहङ्काररहितानाम् । न केनापि किमपि, कर्तृत्वाभिमानाभावात् । **प्रभो** इति सम्बोधनमीश्वरस्य लोकबिलक्षणत्वज्ञापनार्थम् ॥३३॥

व्याख्यार्थ—इन ऐश्वर्य युक्त ईश्वरों को अच्छे कर्म करने से कोई प्रयोजन[1] नहीं है, कारण कि अच्छे कर्म करने से जो फल मिलता है उससे भी अनन्त फल तो उनको आगे ही प्राप्त हैं। बुरे कर्म करने से उनका कोई अनर्थ[2] नहीं हो सकता है । निषिद्ध कर्म करने से केवल ईश्वरों को ही हानि नहीं होती है, यों नहीं है, किन्तु जो ज्ञानवान् हैं उनकी भी कोई बुराई नहीं होती है, कारण कि दोनों अहङ्कार रहित हैं, यों ज्ञान तथा वैराग्य दोनों का स्वरूप समान है । अतः ज्ञानी तथा विरक्त दोनों को किसी कर्म से भी कुछ भी लाभ व हानि नहीं है कारण कि उनमें कर्तापन का अभाव है । जिनमें ऐश्वर्य होता है वे जगत् से विलक्षण होते हैं इसको बताने के लिए परीक्षित्' को 'प्रभो' संबोधन किया है जिसका भावार्थ है कि तुम राजा हो जिससे तुममें ऐश्वर्य है और प्रजा में ऐश्वर्य नहीं है इसलिए दोनों में[3] विलक्षणता है दोनों के धर्म जुदे हैं ॥३३।

आभास—यत्र ज्ञानसहकृतमेव तत्कर्म नानिष्टजनकम्, किं वक्तव्यमैश्वर्यसहकृतमित्याह **किमुतेति** ।

आभासार्थ—ज्ञान के साथ रहने पर भी जब निषिद्ध कर्म कुछ अहित नहीं कर पाता तो ज्ञान ऐश्वर्य आदि सभी रहने पर तो वह क्या अहित करेगा ? यह "किमुताखिल" से समझाते हैं—

१—मतलब, २—हानि, ३—राजा तथा प्रजा में,

श्लोक—**किमुताखिलसत्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।**
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ।।३४।।

श्लोकार्थ—सर्व जीव, पशु पक्षी, मनुष्य तथा देवताओं के ईश्वर कृष्ण को, अपने सेवकों के साथ ऐश्वर्य से किए हुए कर्मों का इष्ट वा अनिष्ट फल का सम्बन्ध कैसे हो सकता है जब कि ज्ञानो का भी इष्ट वा अनिष्ट फल से सम्बन्ध नहीं होता है ।।३४।।

सुबोधिनी—ईश्वरस्य सेवकमारणे सेवकानामन्यथाकरणे च न काचित् शङ्का भवति । यथैहिकी, तथा पारलौकिकी । नियामकाद्धि शङ्का । भगवतो न नियामकोऽन्योऽस्तीत्याह । **अखिलसत्वानां** सर्वजीवानाम् । **तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसां** गुणत्रयकार्याणां जीवजडानामप्राकृतानां वा सर्वेषामेव ईशितुः प्रभोः कृष्णस्य । चकारादात्मनश्च । ईशितव्यानां सेवकानां सम्बन्धी । तत्कृतगुणदोषाभ्यां कुशलाकुशलयोरन्वयः कुतः । नहि दासीभिः स्वात्मभूताभिः सम्बन्धे अनियम्यस्य ऐहिके पारलौकिके वा कश्चनापकारः सम्भवति । अन्तरङ्गैरेव तथा ज्ञायत इति न सुश्लोक्यतानिवृत्तिः ।।३४।।

व्याख्यार्थ—ऐश्वर्य धर्म युक्त स्वामी अपने सेवक को दण्ड दे अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर तबदीली कर दे तो उसमें वह स्वतन्त्र है, जिसके लिए किसी[1] प्रकार भी शङ्का नहीं होती है। जिस प्रकार लौकिक विषय में यह नियम है ऐसे ही परलोक के विषय में भी समझना चाहिए । किसी नियम के कारण अथवा चलानेवाले हेतु के रहने पर शंका होती है सारे नियमों के स्वामी[2] का कोई अन्य नियामक[3] नहीं होता है वह अपना आप नियामक है । श्रीकृष्ण तो पशु पक्षी, मनुष्य तथा देवताओं के तीन गुणो के कार्य जो जीव, जड़ या प्राकृत, अप्राकृत आदि सर्व वस्तु मात्र के स्वामी हैं । श्लोक में 'च' है जिसका आशय है कि आत्मा के भी स्वामी हैं । सर्व सेवकों के संबन्धी हैं । उनके[4] किए हुए अच्छे बुरे कर्मों के इष्ट वा अनिष्ट फल से उनका[5] सम्बन्ध कैसे हो ? अर्थात् नहीं है । अपनी आत्मरूप दासियों के साथ सम्बन्ध होने से, जिसको कोई नियम में रखने वाला नहीं है वैसे स्वच्छन्द ईश्वर श्रीकृष्ण का इस लोक अथवा परलोक में किसी प्रकार का अपकार नहीं हो सकता है ।

इस विषय के तत्व का ज्ञान केवल अन्तरङ्ग भक्तों को ही है अतः जगत में भगवान् की निन्दा नहीं हो सकती है ।।३४।।

(लेखकार कहते हैं कि—ईश्वर होने से इस लोक में श्रीकृष्ण का कोई नियामक नहीं है, आत्मा अर्थात् ब्रह्म रूप होने से परलोक में भी इनके कोई भी नियामक नहीं है, अतः इनका कहीं भी अपकार नहीं हो सकता है।)

---

[1]—लोक और परलोक की, [2]—ईश्वर, [3]—मालिक-नियम में चलाने वाला, [4]—सेवकों के, [5]—श्रीकृष्ण का,

आभास—नापि कर्ममार्गविचारेण कर्मप्राधान्यपक्षेऽपि दोषः शङ्कनीयः। यथा 'परमेष्ठिनो वा **एष** यज्ञोऽग्र आसीत्' 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'स आत्मानमेवावैत्' इत्यादिश्रुतिषु यथा ज्ञानकर्मभ्यामुत्कर्षः, एवमपकृष्टज्ञानकर्मभ्यामपकर्षोऽपि सम्भाव्यत इति, तत्राह **यत्पादेति** ।

आभासार्थ—कर्म मार्ग के विचार से, कर्म की मुख्यता से भी ईश्वर में दोष नहीं लगता है। "ब्रह्मा का यह यज्ञ पहले था", "यह प्रथम ब्रह्म ही था", उसने आत्मा को ही जाना", इन श्रुतियों में जैसे कर्म तथा ज्ञान से उत्तमता दिखाई है, वैसे बुरे कर्म और ज्ञान से पतन भी हो सकता है इसका उत्तर 'यत्पाद' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।**
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३५॥

श्लोकार्थ—भगवान् के चरण कमल की रज के सेवन से जो तृप्त है, योग के प्रभाव से जिनके सम्पूर्ण कर्म बन्धन टूट गए हैं, और जो मुनि हैं वे भी स्वैर[1] आचरण करते हैं, तो वे भी जब बन्धन में नहीं **फ**सते हैं तब अपनी इच्छा से शरीर धारण करने वाले भगवान् को बन्ध कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा ॥३५॥

सुबोधिनी—नहि सर्वेषामेव जीवानां समानकर्मणा समानं फलमुपलभ्यते। अन्यथा शास्त्रवैफल्यापत्तिः। उत्कृष्टकर्मादौ प्रवृत्तो नापकृष्टकर्मणा कादाचित्केन अपकृष्टो भवति। तत्र मार्गत्रयम्। त्रिष्वपि प्रवृत्तो नापकर्षं यातीत्याह। तत्र प्रथमं भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य, तत्र पुष्टस्य, न केनाप्यपकर्ष इत्याह। यस्य भगवतः पादपङ्कजस्य परागभूता ये सेवकाः तेषां निषेवो निषेवणं तेन तृप्ताः। भगवद्भक्तैः सह भगवद्गुणस्मरणेनैव विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः स्वैरं चरन्ति। न तेषां कर्मोत्कर्षापकर्षौ साधकबाधकौ। तथा कर्ममार्गेऽपीत्याह **योगप्रभावेति**। योगो हि महान् धर्मः। 'अयं हि परमो धर्म' इति स्मृतेः। तस्य प्रभावः अणिमाद्यैश्वर्यसम्पत्तिः। ज्ञानादयश्च। तेनैव विशेषेण धुताः। पूर्वकर्मजनिता अपि अखिलकर्मबन्धाः विशेषेण धुता भवन्ति। तेऽपि स्वैरं चरन्ति। ज्ञानमार्गेऽप्याह **मुनयोऽपि स्वैरं चरन्तीती**। सर्व एव न नह्यमानाः अबध्यमानाः। णह बन्धने। सर्वत्रैव असम्बध्यमानाः। यत्र भगवत्प्रवर्तितमार्गेष्वप्येषा व्यवस्था, तत्र भगवतः किं वक्तव्यमित्याह **तस्येच्छयात्तवपुष** इति। इच्छया भोगार्थं आत्तानि वपूंषि 'यावतीर्गोपयोषित' इति तावन्ति येन। तस्य कुत एव बन्धो भवेत्। यो ही तावद्रूपो भवति, कार्यं कृत्वा च तान्याच्छादयति, तस्य केन कर्मणा बन्धो भवेत्। कर्म हि प्रतिनियतं व्यवस्थितम्। तत्र यदि भिन्नो भिन्नो जीवः स्यात्, तदा तेन कर्मणा बन्धो वा भवेत्। आकाशवद् भगवद्रूपाणि प्रतिपद-

---

१—अपनी इच्छानुकूल, स्वतन्त्र

मन्यान्येव भवन्ति। यथान्नभेदेनाप्येकदेहव्यवहारः, एवं देशभेदेनापि भगवतः सर्वतः पाणिपादान्तस्य तावत्परिच्छेदेन प्रादुर्भाव इच्छयेति । स्वामिनीनां वा वपूंषि। अतः सर्वथा प्रमाणप्रमेयविचारेणापि न बन्धः सम्भवति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—सब जीवों को समान कर्म करते हुए भी समान फल नहीं मिलता है, यदि सब को समान फल मिले तो शास्त्रों की विफलता + हो जाय। उत्तम कर्म करने वाले मनुष्य से यदि अचानक कोई निन्दित कर्म हो जावे तो उससे वह नीच नहीं होता है। जिसका कारण तीन मार्ग हैं, इन तीनों में से किसी पर भी चलने वाले का पतन नहीं होता है।

(१) उनमें से प्रथम, जो भक्ति मार्ग में पूर्ण रीति से स्थित है उसका अपकर्ष नहीं होता है उसको बताते हैं कि जो भगवान् के चरण कमलों की रज से शुद्ध हुए भक्तों की सेवा से तृप्त हो गए हैं, तथा भगवान् के भक्तों के साथ भगवद्गुणों के स्मरण करने से देखे और सुने जाने वाले सुख मात्र को जिन्होंने भुला दिए हैं, जिससे वे स्वेच्छा से कर्म करते हैं। उनको कर्मों के उत्कर्ष[1] और अपकर्ष[2] साधक वा बाधक नहीं होते हैं।

(२) इस प्रकार कर्म मार्ग में भी होता है जिसको समझाते हैं कि 'योग महान् धर्म है' यों स्मृति शास्त्र में कहा है। उसका प्रभाव अर्थात् फल अणिमादि ऐश्वर्य की सम्पत्ति तथा ज्ञानादि की प्राप्ति है। उससे पूर्व तथा अब के किए हुए सर्व कर्म बन्धन छूट जाते हैं जिससे वे भी स्वतन्त्र हो सर्व कर्म करते हैं।

(३) अब ज्ञान मार्ग के विषय में कहते हैं कि मुनि भी जो कर्म बन्धन से मुक्त हैं वे स्वतन्त्रता से कर्म करते हैं। जहां भगवान् के प्रवृत्त किए हुए मार्गों में भी यह मर्यादा है तो गोपियां जिन भगवान् की 'इच्छा शरीर' हैं अर्थात् जितनी गोपियां हैं भोगार्थ उतने स्वरूपों को स्वेच्छा से भगवान् ने धारण किया है। ऐसे स्वतन्त्र भगवान् को बन्ध कैसे हो सकता है? जो सर्व समर्थ प्रभु उतने रूप प्रकट कर कार्य करने के बाद उन रूपों का तिरोधान कर देते हैं उनको किस कर्म से बन्धन हो सकता है?

सभी के लिए स्व स्व कर्म नियत हैं। वहां जीव भिन्न-भिन्न हों △ तो उन-उन विहित अथवा निषिद्ध कर्मों के करने या न करने से जीव कर्म बन्धन में पड़ते हैं। भगवान् के रूप तो आकाश की तरह पद-पद पर विभिन्न हैं। जैसे अन्न भेद के रहते भी देह के बारे में एक होने का व्यवहार चलता है इसी तरह देश भेद होने पर भगवान् जिनके कर, चरण आदि सर्वत्र व्याप्त हैं, अपनी इच्छा से अनेक परिच्छिन्न आकारों को लेकर प्रादुर्भूत हो जाते हैं। स्वामिनीयों के देह के रूप में अथवा प्रादुर्भूत हो जाते हैं। अतः प्रमाण अथवा प्रमेय किसी का भी विचार करने पर भगवान् को कर्म-बन्धन नहीं होता। ३५॥

+जैसे कि साधारण मनुष्य निषिद्ध कर्म करता है तो उसका अनिष्ट न हो तदर्थ शास्त्रानुसार

---

[1]—अच्छापन, [2]—बुरापन,

वह प्रायश्चित करता है तो उसको अनिष्ट फल नहीं मिलता है। वैसे ही ज्ञानी, योगी तथा भक्त से भी निन्दित कर्म हो जावे तो उसका भी अनिष्ट नहीं होता है, कारण कि ज्ञान रूप अग्नि से ज्ञानी के कर्म जल कर भष्म हो जाते हैं, योग से भी पापों का दहन होता है, भगवन्नाम में पापों को भस्म करने की जितनी शक्ति है पापी उतने पाप नहीं कर सकता है। जो साधारण, ज्ञानी भक्त आदि सर्व को समान फल मिले तो इन सर्व शास्त्रों की व्यर्थता हो जाय।

△ ब्राह्मण को इस समय यह कर्म करना चाहिए, क्षत्रिय को यह, इस तरह इस अधिकारी को यह करना चाहिए वह नहीं इस तरह के कर्मों का विधान या निषेध सभी के लिए रहता है। ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि भेद देह के कारण जीव में आता है और उसके आने पर कर्मों का अधिकार और उसके बाद उन-उन कर्मों के करने या न करने पर कर्म बन्धन होता है। भगवान् में तो देह देही भाव है ही नहीं अतः भेद मूलक कर्माधिकार भी नहीं आता फलतः भगवान् विधिनिषेध के दायरे में नहीं आते। यह प्रमाण-विचार से सिद्ध होता है, प्रमेय विचार से भी स्वामिनीयों के देह के रूप में भगवान् ही तो आविर्भूत हुवे हैं अतएव भी विधिनिषेध एवं कर्मबन्धन की कल्पना भगवान् के बारे में नहीं की जा सकती है।

आभास—ननु तथापि लोकमर्यादाया भग्नत्वात् 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इति न्यायेन शब्दबल-विचारेण बन्धो भवेत्। ते ह्यवधूतास्त्रयोऽपि, न ते व्यवहारनियामकाः। अतो विषमो दृष्टान्त इति चेत्, तत्राह **गोपीनामिति**।

आभासार्थ—ऐश्वर्य के कारण उनको बन्ध नहीं है तो भी यों करने से 'लोक मर्यादा' का तो भङ्ग हुआ और 'यद्यदाचरति+श्रेष्ठः लोकस्तदनुवर्त्तते' इस न्यायानुसार यदि शब्द बल का विचार किया जाय तो बन्ध होना चाहिए। आपने जो तीन दृष्टान्त दिए वे तो तीनों ही योगी हैं, वे व्यवहार के नियामक नहीं है, ईश्वर तो व्यवहार के स्वयं नियामक हैं, अतः यह दृष्टान्त विषम[1] है। यदि यों कहो तो उसका उत्तार यह है जो 'गोपीनां' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं।

श्लोक—**गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम्।**
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥३६॥

श्लोकार्थ—गोपियों के, उनके पतियों के तथा सब जीवों के जो अन्तर्यामी हैं वह ही लीला से क्रीड़ा के लिए देह धारण कर प्रकट हुए हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—नहि स्वस्पर्शः स्वस्य क्वापि निषिद्धः। परा चासौ स्त्री च परस्य च स्त्री। उभयमपि न भगवति। यतः भगवान् गोपीनां तत्पतीनां च आत्मा। बान्धवाः सर्वे लौकिकाश्च

+ श्रेष्ठ पुरुष जैसे जैसे कर्म करते हैं उनको देखकर अन्य भी वैसे कर्म करते हैं—

[1] १—असमान,

न मन्यन्त इति चेत्, तत्राह । सर्वेषामपि देहिनामयमात्मेति । यों भगवान् अन्तश्चरति । आसन्यो जीवो वा । सर्ववादिसिद्धान्तसङ्ग्रहाय सामान्यवचनं **योऽन्तश्चरतीति** । स एवायं भगवानध्यक्षः प्रत्यक्षः क्रीडनेन कृत्वा नटवत् पुरुषदेहं भजते । वस्तुतस्तु नायं पुमान्, न च स्त्री, नाप्यन्यः कश्चित् । 'न स्त्री न षण्ढो न पुमा' निति श्रुतेः । अतः केनापि विचारेण नास्य दोषसम्भवः ॥३६ ।

व्याख्यार्थ—यह तो माना हुआ सिद्धान्त है कि स्वयं यदि अपने को स्पर्श करे तो उसका कहीं भी निषेध नहीं । यह स्त्री मुझसे अन्या है और यह पराई स्त्री है, ये दोनों बातें भगवान् पर लागू नहीं होती, कारण कि भगवान् गोपियों के तथा उनके पतियों की आत्मा है, यदि कहो कि इस बात को, बान्धव और सर्व लौकिक पुरुष, नहीं मानते हैं तो उसके उत्तर में कहते हैं कि न केवल गोपियों तथा उनके पतियों की आत्मा है किन्तु सकल देहधारी जीव मात्र की आत्मा है । जो भगवान् आसन्य[1] रूप से अथवा जीव रूप से अन्तःकरण में रहते हैं । सर्व वादियों का सिद्धान्त बताने के लिए कहते हैं कि 'अन्तःकरण में रहते हैं' अर्थात् वह ही भगवान् क्रीड़ा के लिए नटवत् पुरुष देह धारण कर प्रत्यक्ष हुए हैं । वास्तविक तो यह न पुरुष है, न स्त्री है न अन्य कुछ भी है, जिसमें प्रमाण यह श्रुति[2] है + अतः सर्व प्रकार विचार करने से यह सिद्ध है कि भगवान् को दोष नहीं लगता है ।३६।।

आभास—ननु तथापि एवंकरणे कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह **अनुग्रहायेति** ।

आभासार्थ—मान लिया जाय कि भगवान् को दोष स्पर्श नहीं करते हैं, तो भी इस प्रकार के मर्यादा भङ्ग करने वाला निन्दित कार्य क्यों किया ? उसके करने का अभिप्राय क्या है ? यह बतलाइए, जिसके उत्तर में निम्न 'अनुग्रहाय' श्लोक श्री शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—**अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः ।**
भजते तादृशीः क्रीडाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥३७॥

श्लोकार्थ—भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए मानव देह धारण कर, भगवान् ने इस प्रकार की लीलाएं की, जिनको सुनकर श्रोता भगवान् में तन्मय हो जावे ।३७।।

सुबोधिनी—भक्तानामनुग्रहार्थमेव भक्तसमानरूपं देहमास्थितः । विजातीये तेषां विश्वासो न भवेदिति । ततो यथा मनुष्यानुग्रहाय मानुषो देहः प्रदर्शितः, एवं गोपिकानामप्यनुग्रहाय स्वानन्दं गोकुले दातुं तादृशीः क्रीडाः भजते । तत्तद्धर्मप्रवेशव्यतिरेकेण तस्य तस्य दोषस्यानिवृत्तत्वात् । यद्वा । भक्तानां मानुषं देहं प्रति आस्था सञ्जातास्मिन्निति स तथा । तत्रापि महान् पूर्णकामः सर्वं

+ **टिप्पणीजी**—देह प्रयुक्त पुरुषत्व का निषेध है न कि स्वाभाविक पुरुषत्व का ।

[1]—मुख्य प्राण रूप जीवात्मा, [2]—'न स्त्री न षण्ढो न पुमान्' इति श्रुतिः

दातुं शक्तः। न त्वेवं निषिद्धप्रकारेणात्मानं दातुमिति। अत एतां लीलां निरोधपूर्वकादेयदानरूपां यः श्रोष्यति, सः सर्वथा भगवत्परो भविष्यतीति भगवता तथाचरणं कृतम्। तदाह **याः श्रुत्वा तत्परो भवेदिति** ॥३७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही उनके समान मनुष्य देह धारण किया है यदि मनुष्येतर देह धारण करते तो उनका विश्वास न होता। इसलिए मनुष्यों पर अनुग्रह के लिए मनुष्य रूप धारण किया। वैसे ही गोपियों पर अनुग्रह के लिए, गोकुल में अपने स्वरूप का आनन्द दान करने के लिए उसी प्रकार क्रीड़ा करते हैं। भक्तों के दोष जुदे जुदे प्रकार के हैं अतः उन पृथक् पृथक् दोषों को नाश करने के लिए भगवान् ने विविध क्रीडाएं कर उनमें अपने जुदे जुदे धर्म प्रवेश किए जिससे उनके सर्व प्रकार के दोष नष्ट हो गए।

अथवा भक्तों की मनुष्य देह में श्रद्धा रखकर ही भगवान् ने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए इस प्रकार की लीलाएं की हैं। तो भी पूर्ण काम और महान् हैं जिससे सर्व रसदान करने में समर्थ हैं, किन्तु निषिद्ध प्रकार से अपने स्वरूप का आनन्द नहीं देते हैं, यह लीला विशुद्ध अलौकिक प्रकार से की हुई है अतः यह अदेय दान लीला जो निरोध पूर्वक की हुई है उसका जो श्रवण करेगा वह सर्वथा भगवत्परायण होगा कारण कि भगवान् ने वैसा ही आचरण किया है, इसलिए श्री शुकदेवजी ने भी मूल श्लोक में कहा है कि 'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् अर्थात्' जिन लीलाओं को सुनकर श्रोता भगवत्परायण हो जाता है ॥३७॥

श्री प्रभुचरण टिप्पणीजी में आज्ञा करते हैं कि, श्रोताओं के भी दोष जब इन लीलाओं के श्रवण से नष्ट हो जाते हैं तब भगवल्लीलामध्यपाती भक्तों का दोष नाश होवे जिसके लिए कहना ही क्या है?

आभास—ननु तथापि लोकव्यवहारे स्त्रियोऽन्याधीना इति अदत्तोपादानं गोपानां मनसि खेदः तैः क्रियमाणा अपकीर्तिश्च भवेदित्याशङ्क्याह **नासूयन्निति**।

आभासार्थ—जैसा आपने कहा वैसा है तो भी लोक व्यवहार से स्त्रियां अन्य (पति) के आधिन हैं, अतः जो वस्तु वस्तु के मालिक से मिली नहीं है उसका उपभोग करने से मालिक के मन में खेद पैदा होता है। वैसे यहां गोपों के मन में खेद हुआ होगा तथा इसलिए मालिकों के द्वारा की हुई अपकीर्ति भी होंगी, इस प्रकार की शङ्का का उत्तर 'नासूयन्' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्स्वान्दारान् व्रजौकसः ॥३८॥

श्लोकार्थ—उनकी माया से मोहित गोपों ने, अपनी अपनी स्त्रियों को अपने पास ही स्थित मानी, अतः कृष्ण से उन्होंने ईर्ष्या नहीं की ॥३८॥